ॐ

भागवतपीयूषबिन्दुः

लेखक :
स्वामी अद्वैतानन्द पुरीजी

लेखक- स्वामी अद्वैतानन्द पुरी जी, ऋषिकेश।

ॐ

भागवतपीयूषबिन्दुः

लेखकः

स्वामी अद्वैतानन्द पुरीजी

श्री अद्वैत साधना कुटीर

विस्थापित-निर्मल ब्लॉक-बी II, प्लाट सं0 151

वीरपुरखुर्द मार्ग, पोस्ट : वीरभद्र, तहसील- ऋषिकेश

जिला- देहरादून, पिन-249202, उत्तराखण्ड (भारत)।

ग्रन्थनाम:- भागवतपीयूषबिन्दुः

प्रकाशक:- प. आ. म. मं. स्वामी विश्वात्मानन्द पुरी जी
साधना सदन, कनखल, हरिद्वार।

प्रथम संस्करण : सोमवार, माघ कृष्णपक्ष प्रतिपदा वि.सं. 2075
तदनुसार दिनांक 21 जनवरी ई.सं. 2019

प्रतियां : 500 (पाँच सौ)

सम्पादक मण्डल : स्वामी शान्तिधर्मानन्द सरस्वती
स्वामी सर्वेशानन्द सरस्वती
ब्र. एकनाथजी

पुस्तक प्राप्ति स्थान-

1. **श्री अद्वैत साधना कुटीर**
   विस्थापित-निर्मल ब्लॉक, बी-II,
   प्लाट नं0 151, पो0 वीरभद्र, ऋषिकेश।

2. **साधना सदन**
   शंकराचार्य चौक के निकट, कनखल, हरिद्वार।

अक्षर संयोजन व मुद्रण:
सेमवाल प्रिंटिग प्रेस, रेलवे रोड, ऋषिकेश
फोन- 0135-2430418

मूल्य : 500/-

प्रस्तावना

यह ग्रन्थ '**भागवत पीयूष बिन्दु**' लिखने के कारण यह है कि जब मैं कथा-प्रवचन-उपन्यास करने में प्रवृत्त था तब कई सन्त, महात्मा एवं सत्संगी भक्तों से प्रेरणा मिली की भागवत में वेदान्त दृष्ट्या साध्य-साधन पक्ष पर एक लघुकाय ग्रन्थ लिखा जाय ताकि जिज्ञासु, मुमुक्षु और साधकों को लाभ मिलें। अधिकतर लोग भागवत के कथा पक्ष को ही जानते हैं, लीलाओं का वर्णन करते हैं, अवतारों की चर्चा करते हैं किन्तु विरले ही हैं जो आध्यात्मिक पक्ष पर विचार करते हैं। अत: कहा भी गया है कि- ''**विदुषां भागवते परीक्षा**''।

यद्यपि मैं कोई प्रकाण्ड विद्वान् अथवा सकलशास्त्रों का मर्मज्ञ नही हूँ तथापि गुरुजनों की कृपा से वेदान्त दृष्ट्या भागवत में साधन व साध्य सम्बन्धी श्लोकों को संकलन करने का प्रयास किया हूँ। इसमें मूल श्लोकों के भावार्थ गीता प्रेस द्वारा मुद्रित : ''**श्रीमद्भागवतमहापुराण**'' सरल हिन्दी व्याख्या सहित से लिया हूँ। अपने भावाभिव्याक्ति को '**तात्पर्य अर्थ**' शीर्षक से प्रकट करने का दु:साहस किया हूँ। यथासंभव उपनिषद्, गीता, विवेकचूड़ामणि, पञ्चदशी आदि वेदान्त के ग्रन्थों से अपने बातों की पुष्टि में उद्धृत किया हूँ।

इस लघुकाय ग्रन्थ को चार श्लोकों के मङ्गलाचरणों से आरम्भ किया गया है। (1) प्रथम श्लोक के द्वारा भगवद्पाद-आद्यजगद्गुरु शङ्कराचार्य जी के प्रति अपनी सद्भावना प्रकट किया गया है। (2) दूसरा श्लोक के द्वारा अपने सद्गुरु को संस्मरण किया गया। (3) तीसरा श्लोक के द्वारा अन्य श्रद्धेय सन्तों-महात्माओं का परोपकारी जीवन को रेखांकित किया गया है। (4) चौथा श्लोक के द्वारा स्वरूप ब्रह्मानन्द का स्मरण करके जीवन में चरितार्थ होने के अनन्तर साधक-देह-पुत्र-कलत्रादि में अहमाभिमान से होने वाले आध्यात्मिक आदि ऐहिक और पारलौकिक दु:खों को सर्वथा छोड़कर सुखरूप ब्रह्म ही हो जाता है। अथवा बन्ध मोक्ष विनिर्मुक्त प्रतिपाद्य ब्रह्मानन्द और प्रतिपादकरूप इस ग्रन्थ का द्योतक है।

इस ग्रन्थ को तीन अध्यायों में लिखा गया है। प्रथम अध्याय साधना-अध्याय, जिसके अन्तर्गत दोभाग है- पूर्वार्ध और उत्तरार्ध। पूर्वार्ध में 12

प्रकरण और उत्तरार्ध में 6 प्रकरण हैं। साध्य पक्ष को द्वितीय और तृतीय अध्याय में वर्णन किया गया है। अतः द्वितीय में जीवन्मुक्ति प्रकरण नाम से प्रकरण है और तृतीय अध्याय में विदेहमुक्ति (कैवल्य) प्रकरण नाम से एक प्रकरण है। अतः यह विंशति प्रकरणात्मक त्र्यध्यायी साध्य-साधन परक लघुकाय ग्रन्थ है।

इस ग्रन्थ का नाम चयन भी मेरे कुछ अत्यन्त प्रिय व सदा हितैषी सन्त ने किया है। उनके अनुसार भागवत एक पीयूष (अमृत) का सागर है, उसमें से आपने लगभग 872 श्लोकों को चुन कर मधुमक्खी के द्वारा शहद का निर्माण कर लोकहित में अर्पण करने के समान साधकों, जिज्ञासुओं, मुमुक्षुओं का महान उपकार किया है।

लेकिन मेरा मानना है कि भगवान द्वारा मुझे इस सेवा के लिये चुन लिया गया है यही मेरे जीवन की सार्थकता है

अपने पाठकों को अब मैं इस कार्य में अपने सहयोगियों का परिचय देना चाहूँगा- इस ग्रन्थ के संशोधन एवं सम्पदन कार्य में अभिन्न आत्मा, सुहृद् एवं विद्या सम्बन्धी अपने गुरुभ्राता श्रीमत्स्वामी शान्ति धर्मानन्द जी सरस्वती का महतीय योगदान है। यद्यपि अध्ययन कार्य में व्यस्त होने से समय का अत्यन्त अभाव होने पर भी इस ग्रन्थ के कार्य को भली-भाँति प्रसन्नता पूर्वक पूर्ण कियें, इतना ही नहीं; इस ग्रन्थ की छपाई कार्य भी भली-भाँति अपना मानकर जो श्रम; तन-मन से निस्स्वार्थ भाव से अनपेक्ष बुद्धि से परिश्रम किये हैं। वह अत्यधिक सराहनीय एवं प्रशंसनीय हैं। इसके लिये मैं आपको बहुत-बहुत धन्यवाद देता हूँ और दीर्घायु तथा स्वस्थता की कामना करता हूँ, इसके अतिरिक्त मैं आपको और क्या दे सकता हूँ। और आप जैसे महानुभावों का जितनी प्रशंसा की जाय वह थोड़ी ही है। यदि मैं आपके गुणों का स्मरण करके लिखने लगूँ तो एक छोटी सी पुस्तिका की आकृति में हो सकती है। मैं तो आपके द्वारा प्रकाशित ई. (2001) में सर्व दर्शन सार से भी अनुभव प्राप्त की है। अतः अपनी लेखनी को विराम देता हूँ।

आशा करता हूँ कि इससे अधिक से अधिक लोग लाभान्वित हो।

स्वामी अद्वैतानन्द पुरी
अद्वैत साधना कुटीर
विस्थापित, ऋषिकेश

-: ॐ :-

प्राक्कथन - दो शब्द

"द्वितीयाद्वै भयं भवति" इस बृहदारण्यक श्रुतिवचनानुसार प्राणिमात्र के भय का कारण ज्ञातसत् द्वैत ही है। इस भय के हेतुभूत द्वैत की आत्यन्तिक निवृत्ति का एकमेव साधन **"आनन्द ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन"** इस तैत्तिरीयवचानुसार अद्वैततत्त्वानुभव ही है। अद्वैततत्त्व (ब्रह्मात्मैक्य) वेदप्रमाणैकगम्य है। अतः तत्त्वजिज्ञासुओं के परम हितैषी भगवान् विष्णु की ज्ञानकला अवतार महर्षि वेदव्यास जी ने उपक्रमोपसंहार आदि छह प्रमाणों द्वारा वेदों के तात्पर्यनिर्णायक ब्रह्मसूत्र नामक दर्शन ग्रन्थ की रचना कर समस्त वेदों का परमतात्पर्यविषय के रूप में अद्वैतब्रह्मतत्त्व को ही सुनिश्चित किया है। उन्हीं भगवान् वेदव्यासजी ने ही सर्वसाधारण मानवों के हितार्थ अट्ठाराह पुराणों की रचना करके वेदों के इसी परमतात्पर्य का ससाधन सदृष्टान्त विस्तारपूर्वक वर्णन किया। पुराणों में अद्वैततत्त्व ज्ञान की सचर्चा संक्षेप से तथा इस ज्ञान की साधनसामग्री का वर्णन दृष्टान्तों सहित अत्यधिक होने से सर्वसाधारण मुमुक्षुओं को ज्ञान की साधनसामग्री में से ही किसी न किसी साधन में साक्षात् मोक्षसाधनत्व की भ्रान्तियाँ होने की संभावनाओं को देखते हुये उत्तरवर्ती महापुरुषों ने पुराणों के अद्वैतब्रह्म में तात्पर्य को समझाने समय समय पर सत्प्रयास किया है। वर्तमान समय में धार्मिक समाज में अट्ठाराह पुराणों में श्री श्रीमद्भागवत महापुराण अतिश श्रद्धास्पद है। अतः समाज में इस पुराण के वास्तविक तात्पर्यार्थ को प्रकट करने के लिये ही प० पू० श्रीधर स्वामी जी ने उपनिषद्वचनों के आधार पर श्रीमद्भागवत की **"श्रीधरी"** नामक टीका लिख कर इस पुराण का अद्वैतब्रह्म में स्पष्टरूप से तात्पर्य वर्णन किया है। एक महापुरुष ने तो इस पुराण को **"वार्तिकोऽयं ब्रह्मसूत्राणाम्"** इस वचन से ब्रह्मसूत्र ग्रन्थ का वार्तिक ही कहा है।

हमारे गुरुभ्राता स्वामी श्री अद्वैत पुरी जी महाराज ने अपनी अद्वैत साधना कुटीर, हृषीकेश में निवास करते समय श्रीमद्भागवत के अठाराह हजार श्लोकों में से अद्वैततत्त्वपरक, अद्वैतज्ञानसाधनपरक एवं तत्त्वज्ञानफलपरक श्लोकविशेषों का संग्रह कर अपनी साधना के रूप में इन संग्रहित श्लोकों का चिन्तन किया।

उन्हें इन श्लोकों के चिन्तन से हुए लाभ से सर्वसाधारण समाज भी लाभान्वित हो इस भावना से उन्होंने राष्ट्रभाषा में अपने चिन्तन को लिखा। समय में संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ समाज भी श्रीमद्भागवतपुराण का तात्पर्य सरल सुबोध राष्ट्रभाषा में समझ सके इस उद्देश्य से हमारे गुरुभ्राता ब्रह्मलीन स्वामी श्री अद्वैत पुरी जी महाराज के शुभसंकल्पानुसार ग्रन्थ रूप में परमसम्मानीय सर्वशास्त्रमर्मज्ञ आचार्य स्वामी श्री शान्तिधर्मानन्द जी महाराज सम्पादन कार्य अपने शिष्यों के सहयोग से किये हैं।

प.आ.म.मं. स्वामी विश्वात्मानन्द पुरी जी महाराज
साधना सदन, शंकराचार्य चौक, कनखल, हरिद्वार, उत्तराखण्ड।

"सम्पादकीय"

जुलाई 2017 में स्वामी अद्वैतानन्द पुरीजी ने "**भागवत पीयूष बिन्दु**" का प्रकाशन हेतु अक्षरसंयोजन कार्य करने "**सेमवाल प्रिंटिंग प्रेस**" जब दिये तब मुझसे संशोधन और सम्पादन करने के लिये निवेदन किया था। उनको दिये हुये वचन को निभाते हुये मैंने अपने शिष्यों का सहयोग से संशोधन व संपादन कार्य कर ही रहा था इस बीच स्वामीजी 2 जनवरी 2018 को माघमास कृष्णपक्ष प्रतिपदा को ब्रह्मलीन हो गये। लेकिन मैं अपने वचन को पूरा करते हुये उनके निर्वाण का प्रथम वार्षिकोत्सव पर 21 जनवरी 2019 को विमोचन करने का प्रयास किया है। स्वामीजी के "**तात्पर्य अर्थ**" में सैद्धान्तिक त्रुटियों को छोड़कर केवल भाषा शुद्धि किया गया है। अतः पाठक स्वयं अपने कुशाग्र बुद्धि तथा गुरु-शास्त्र-ईश्वर कृपा से यथार्थ व वास्तविक तात्पर्य ग्रहण कर लाभान्वित होवे- इस उद्देश्य से उनकी अन्तिम इच्छा पूरी करते हुये साधना सदन के पीठाधीश्वर प.आ.म.मं. स्वामी विश्वात्मानन्द पुरीजी महाराज का आर्थिक सहयोग एवं प्रोत्साहन से प्रकाशन किया गया है।

सम्पादकगण
स्वामी शान्तिधर्मानन्द सरस्वती आदि

विषयसूची

प्रथमाध्याये पूर्वार्धः

प्रथमाध्याय उत्तरार्धः

द्वितीयोऽध्यायः

तृतीयोऽध्यायः

मंगलाचरणः

शंकरं शंकराचार्यं केशवं बादरायणं,
सूत्रभाष्यकृतौ वन्दे भगवन्तौ पुनः पुनः।
ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्तिभेदाविभागिने,
व्योमवद् व्याप्तदेहाय दक्षिणामूर्तये नमः।।

ब्रह्मानंदं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम्।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं,
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तन्नमामि।।

मुदमंगलमयसंतसमाजू जो जग जंगम तीरथ राजू।
जो सहि दुःख परिछिद्र दुरावा वंदनीय जेहि जग जस पावा।।

ब्रह्मानंदं प्रवक्ष्यामि ज्ञाते तस्मिन्नशेषतः।
ऐहिकामुष्मिकानर्थव्रातं हित्वा सुखायते।।

भागवतपीयूषबिन्दु

प्रथमोऽध्यायः

साधना अध्याय पूर्वार्धः

तत्त्वार्थी व मुमुक्षुओं को श्रद्धा-भक्ति से युक्त होना अति अनिवार्य होता है, क्योंकि जीवन में श्रद्धा भक्ति के बिना विवेक-वैराग्य का उदय नहीं होगा और विवेक (ज्ञान) वैराग्य के अभाव में आत्मसाक्षात्कार यानि आत्मानुभूति कर पाना दिवा स्वप्नवत् होगा। अर्थात् विवेक वैराग्य विहीन मानव जीवन का फल होगा- **''जायस्व म्रियस्व''।** अतः विवेक वैराग्य से युक्त होने को ही आत्मानुभूति के प्रथम सोपान एवं साधन रूप से सभी दार्शनिकों ने स्वीकार किया है। इसलिये हम भी इसी कड़ी के साथ आगे बढ़ते हैं।

(1) भक्ति पर नारद की अनुकम्पा का प्रकरण

1- **कलिना सदृशः कोऽपि युगो नास्ति वरानने।**
तस्मिंस्त्वां स्थापयिष्यामि गेहे गेहे जने जने।।2.13।।

अर्थात् नारदजी कहते हैं- हे सुमुखि भक्ति! कलिके समान कोई भी युग नहीं है। इस युग में तुम्हें घर-घर में यानि प्रत्येक पुरुष के हृदय में स्थापित करुँगा। तुम किसी प्रकार की चिन्ता मत करो।

तात्पर्य अर्थ- सन्तों का स्वभाव ही मृदु एवं कोमल तथा दयालुता से पूर्ण होता है। किसी के भी किसी भी प्रकार के दुःख को देखकर दुखित हो जाते हैं। अर्थात् सन्तों का जीवन परोपकार के लिये ही होता है, यथा- **परकार्याणि साध्नोति यः स साधुः।**

2- **न तपोभिर्न वेदैश्च न ज्ञानेनापि कर्मणा।**
हरिर्हि साध्यते भक्त्या प्रमाणं तत्र गोपिकाः।।2.18।।

भगवत् प्राप्ति (आत्मानुभूति) तप, वेदाध्ययन, ज्ञान और वैराग्य, कर्म आदि किसी भी साधन से सम्भव नहीं हैं। वह तो केवल भक्ति से ही सम्भव है। यथा कहा गया है कि- **'मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी'** (वि.चू. 32) गोपीजन ही इस विषय में प्रमाण है। कहा भी है-

अन्याश्च तदनुध्याननिवृत्ताशेषवृत्तयः।
नाभ्यजानन्निमं लोकमात्मलोकं गता इव।।' (10.39.15)

अर्थात् शुकदेव जी ने कहा- हे राजन्! गोपियों के मन में भगवान् के स्वरूप का ध्यान आते ही उनकी चित्तवृत्तियाँ विषयों से निवृत्त हो गयीं, मानों वे समाधिस्थ होकर आत्मा में स्थित हो गयी हों और उन्हें अपने शरीर एवं संसार का कुछ ध्यान ही न रहा।

तात्पर्य अर्थ-

''**निर्विषयं मनः समाधिः**'' - जब ज्ञानी-योगीजन समाधि में एकाग्र चित्त से बैठ जाते हैं और आत्म चिन्तन में तल्लीन हो जाते हैं, तब उस समय मनोवृत्तियाँ आत्ममय हो जाती हैं। प्रपंच का बाध हो जाता है। इसी का नाम है - असंप्रज्ञातसमाधि, वासनाशून्य समाधि और कैवल्य समाधि। इस समाधि के बाद और कोई साधना ही शेष नहीं रह जाती।

3- नृणां जन्मसहस्रेण भक्तौ प्रीतिर्हि जायते।
कलौ भक्तिः कलौ भक्तिर्भक्त्या कृष्णः पुरः स्थितः।।2.19।।

मनुष्यों के सहस्त्रों जन्म के पुण्य-प्रताप से भक्ति में अनुराग होता है। कलियुग में केवल भक्ति, केवल भक्ति ही सार है। भक्ति से तो साक्षात् श्रीकृष्णचन्द्र (अपना स्वरूप) ही सामने (मन में) उपस्थित हो जाते हैं (जाता है)।

तात्पर्य अर्थ-

भक्ति या उपासना, भावना प्रधान है, अपने इष्ट के प्रति भावविभोर यानि भावयुक्त होने से, ओतप्रोत हो जाने पर एकमात्र वे ही-वे ही सर्वत्र दिखाई पड़ते हैं। चाहे वह इष्ट किसी भी रूप में हों। अर्थात् पदार्थ के रूप में हों अथवा प्राणि के रूप में। यथा- स्वप्न की अवस्था में पदार्थों के अभाव होने पर भी सब कुछ देखने में आता है।

4- अलं व्रतैरलं तीर्थैरलं योगैरलं मखैः।
अलं ज्ञानकथालापैर्भक्तिरेकैव मुक्तिदा।।2.21।।

अर्थात् बस-बस! व्रत, तीर्थ, योग, यज्ञ, ज्ञान और ज्ञान चर्चा आदि बहुत से साधनों की कोई आवश्यकता नहीं है, एकमात्र भक्ति ही मुक्ति देने वाली है।

तात्पर्य अर्थ-

जब हम किसी के प्रति प्रगाढ़ मित्रता कर लेते हैं, तब उसमें हम गुण ही गुण का सेतु निर्माण करते हैं, दोष भी गुणों के रूप में प्रवर्तित हो जाते हैं। इसी को विद्वत्जन माहात्म्य की गाथा कहा है- '**अर्थवाद एषः**'' अर्थवाद भी कहा गया है, केवल महिमा। वैसे भक्ति भी भगवत्प्राप्ति में प्रथम सोपान है। कुछ आचार्यों ने भक्ति के द्वारा प्राप्य मुक्ति चार प्रकार माना है- सालोक्य, सामीप्य, सायुज्य, सारूप्य और कुछ आचार्य पाँच-पूर्व 4 के सहित सार्ष्टि।

5- **इति नारदनिर्णीतं स्वमाहात्म्यं निशम्य सा।**
सर्वांगपुष्टिसंयुक्ता नारदं वाक्यमब्रवीत्।।2.22।।

6- **अहो नारद धन्योऽसि प्रीतिस्ते मयि निश्चला।**
न कदाचिद्विमुञ्चामि चित्ते स्थास्यामि सर्वदा।।2.23।।

इस प्रकार नारदजी के निर्णय किये हुये अपने माहात्म्य को सुनकर भक्ति के सारे अंग पुष्ट हो गये और वे उनसे कहने लगी- हे नारदजी! आप धन्य हैं। आपकी मुझमें निश्चल प्रीति है। मैं सदा आपके हृदय में रहूँगी, कभी आपको छोड़कर नहीं जाऊँगी।

तात्पर्य अर्थ-

योगी, ज्ञानी, ध्यानी, तापसी आदि साधक किसी के द्वारा अपनी प्रशंसा सुनकर प्रफुल्लित हो जाते हैं, आनंदित हो जाते हैं प्रायः। फिर अज्ञानियों के लिये तो कहना ही क्या है। जब मन भावविभोर हो जाता है, तब शरीर और वाणी में भी शक्ति आ जाती है। यह बात स्वाभाविक ही है। आप किसी की प्रशंसा करते हैं, तो निश्चित है वह व्यक्ति आपके प्रति भी समर्पित हो जायेगा। आपका अनुगामी हो जायेगा। अर्थात् कठोर मन भी द्रवीभूत हो जाता है।

7- **कृपालुना त्वया साधो मद्बाधा ध्वंसिता क्षणात्।**
पुत्रयोश्चेतना नास्ति ततो बोधय बोधय।। 2.24।।

हे साधो! आप बड़े कृपालु हैं। आपने क्षणभर में ही मेरा सारा दुःख दूर कर दिया, किन्तु अभी मेरे पुत्रों में चेतना नहीं आयी है, आप इन्हें सचेत कर दीजिये-जगा दीजिये।

तात्पर्य अर्थः-

''दुःखालय एष संसारः'' प्राणिमात्र दुःखों की दावानल अग्नि से झुलस रहे हैं, सन्तप्त हो रहे हैं। इस महादुःख से बचाने वाले एक मात्र श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मज्ञानी, कृपालु एवं उदार हृदय के धनी सन्त महापुरुष ही हो सकते हैं।

(2) सुप्त ज्ञान-वैराग्य को जागृत करने का यत्न का प्रकरण

8- **तस्या वचः समाकर्ण्य कारुण्यं नारदो गतः।**
तयोर्बोधनमारेभे कराग्रेण विमर्दयन्।। 2.25।।

9- **मुखं संयोज्य कर्णान्ते शब्दमुच्चैः समुच्चरन्।**
ज्ञान प्रबुध्यतां शीघ्रं रे वैराग्य प्रबुध्यताम्।।2.26।।

10- वेदवेदान्तघोषैश्च गीतापाठैर्मुहुर्मुहुः।
बोध्यमानौ तदा तेन कथंचिच्चोत्थितौ बलात्।।2.27।।

11- नेत्रैरनवलोकन्तौ जृम्भन्तौ सालसावुभौ।
बकवत्पलितौ प्रायः शुष्ककाष्ठसमांगकौ।।2.28।।

भक्ति के ये वचन सुनकर नारद जी को बड़ी करुणा आयी और वे उन्हें हाथ से हिला-डुलाकर जगाने लगे। फिर उनके कान के पास मुँह लगाकर जोर से कहा- ओ ज्ञान! जल्दी जग पड़ो, और वैराग्य जल्दी जग पड़ो। फिर उन्होंने वेदध्वनि, वेदान्तघोष और बार-बार गीता पाठ करके उन्हें जगाया, इससे वे जैसे-तैसे बहुत जोर लगाकर उठे, किन्तु आलस के कारण वे दोनों जँभाई लेते रहे। नेत्र खोलकर देख भी नहीं सके। उनके बाल बगुलों की तरह सफेद हो गये थे, उनके अंग प्रायः सूखे काष्ठ के समान निस्तेज और कठोर हो गये थे।

तात्पर्य अर्थ-

करुणामय सन्त-महात्मा दुःखियों के दुःख देखकर उनके दुःख भरे शब्दों को सुनकर उस दुःख से मुक्ति दिलाने के लिए प्रयत्नरत हो जाते हैं, यही सन्तों की सन्तता है। गृह कार्य में उलझे हुए गृहस्थ और सिद्धि प्राप्ति की आकांक्षी तपस्वी, हठयोगी आदि को शुष्क ज्ञान-वैराग्य के द्वारा कुछ-कुछ आत्मबोध कराया तो जा सकता है किन्तु वह आत्मबोध स्थायी न होकर क्षणिक होगा। उस आत्मबोध को स्थायी रखने के लिये श्रवण, मनन आदि अन्तरंग साधन और विवेक, वैराग्य आदि बहिरंग साधन-द्वयकी अति अनिवार्यता होगी एवं गुरुभक्ति, सेवा-सुश्रुषा आदि की महति आवश्यकता है।

12- क्षुत्क्षामौ तौ निरीक्ष्यैव पुनः स्वापपरायणौ।
ऋषिश्चिन्तापरो जातः किं विधेयं मयेति च।।2.29।।

इस प्रकार भूख-प्यास के मारे अत्यन्त दुर्बल होने के कारण उन्हें फिर सोते देखकर नारद जी को बड़ी चिन्ता हुई और वे सोचने लगे, अब मुझे क्या करना चाहिये?

तात्पर्य अर्थ-

विवेकी एवं कल्याणेच्छुक साधक जब अपने किये हुए साधनों के द्वारा सफलता न मिलने पर उन्हें बड़ी पश्चात्ताप होता है और पुनः अनुसन्धान में तत्पर हो जाते हैं तब वे सोचकर समझने के लिये कोशिश करते हैं कि कहाँ कमी रह गयी अथवा कहाँ-कहाँ पर मुझ से प्रमाद हुआ है अथवा आगे मुझे क्या करना होगा।

13- अहो निद्रा कथं याति वृद्धत्वं च महत्तरम्।
चिन्तयन्निति गोविन्दं स्मारयामास भार्गव।।2.30।।

इनकी यह नींद और इससे भी बढ़कर इनकी वृद्धावस्था कैसे दूर हो? हे शौनकजी! इस प्रकार चिन्ता करते-करते वे नारदजी भगवान का स्मरण करने लगे। ऐसे सूतजी ने शौनकजी से कहा।

तात्पर्य अर्थ-

प्रत्येक साधक को मन की प्रमादता से और साधना में लापरवाही से बचकर रहना चाहिये और दूसरी बात यह है कि जन्म-मृत्यु से मुक्ति पाने के लिये आत्मचिन्तन सतत् करते रहे, यही साधकों का परम कर्तव्य है।

14- व्योमवाणी तदैवाभून्मा ऋषे खिद्यतामिति।
उद्यमः सफलस्तेऽयं भविष्यति न संशयः।। 2.31।।

उसी समय यह आकाशवाणी हुई कि हे मुने! खेद मत करो, तुम्हारा यह उद्योग निःसंदेह सफल होगा।

तात्पर्य अर्थ-

यह जीवन, यह शरीर एवं संसार विक्षेपमय होने के कारण, विक्षेप समय-समय पर आते ही रहेगा। उनसे मन को किसी भी प्रकार से प्रभावित न होने दें। अर्थात् इससे सजगता बरतें, तो किसी को भी इसी से ही निश्चित रूप से अपने कार्य में साधना में सफलता मिलेगी।

15- एतदर्थं तु सत्कर्म सुरर्षे त्वं समाचर।
तत्ते कर्माभिधास्यन्ति साधवः साधुभूषणाः।। 2.32।।

हे देवर्षे! इसके लिये तुम एक सत्कर्म करो, वह कर्म तुम्हें संतशिरोमणि महानुभाव बतायेंगे।

तात्पर्य अर्थ-

सत्कर्म से अन्तःकरण की शुद्धि होती है और अन्तःकरण की (मन आदि की) शुद्धि के द्वारा श्रद्धा, भक्ति तथा श्रद्धा, भक्ति से विवेक, वैराग्य और ज्ञान आदि का आविर्भाव होता है और इन्हीं विवेक आदि से परम सुख-शान्ति की प्राप्ति होती है। अर्थात् विवेक वैराग्य आदि ही मनुष्यों की अमूल्य सम्पत्ति है।

16- सत्कर्मणि कृते तस्मिन् सनिद्रावृद्धतानयोः।
गमिष्यति क्षणाद्भक्तिः सर्वतः प्रसरिष्यति।। 2. 33।।

इस सत्कर्म का अनुष्ठान करते ही क्षणभर में इनकी नींद और वृद्धावस्था चली जायेगी तथा सर्वत्र भक्ति का प्रसार होगा।

तात्पर्य अर्थ-

उपरोक्त मानव सम्पत्ति ही अनादि अज्ञान-अविद्यारूप, निद्रा और वृद्धावस्थारूपी असाध्य रोगों को यानि जन्म-मृत्यु के चक्कर को नष्ट करने के लिये महा औषधि है।

17- अनयाऽऽकाशवाण्यापि गोप्यत्वेन निरूपितम्।
किं वा तत्साधनं कार्यं येन कार्यं भवेत्तयोः।। 2.35।।

इस आकाशवाणी ने भी गुप्तरूप में ही बात कही है। यह नहीं बताया कि वह कौन सा साधन किया जाये जिससे इनका कार्य सिद्ध हो सके।

तात्पर्य अर्थ-

जिस मानव सम्पत्ति को सत्साधन के नाम से कहा गया है वह गोपनीय ही होती है, उसे तो अनुभव के द्वारा ही जाना जाता है अथवा सद्गुरु के द्वारा (आकाशवाणी का अभिप्राय है-श्रुति वाक्य) जिसका अर्थ देवता भी समझने में असमर्थ हैं।

18- ततश्चिन्तातुरः सोऽथ बदरीवनमागतः।
तपश्चरामि चात्रेति तदर्थं कृतनिश्चयः।।2.43।।

19- तावद्ददर्श पुरतः सनकादीन्मुनीश्वरान्।
कोटिसूर्यसमाभासानुवाच मुनिसत्तमः।।2.44।।

तब नारद जी बहुत चिन्तातुर हुए और बदरीवन में आये, ज्ञान-वैराग्य को जगाने के लिये, वहाँ उन्होंने यह निश्चय किया कि मैं तप करुँगा। इसी समय उन्हें अपने सामने करोड़ों सूर्यों के समान तेजस्वी सनकादि मुनिश्वर दिखायी दिये। उन्हें देखकर वे मुनिश्रेष्ठ कहने लगे।

तात्पर्य अर्थ-

हृदयस्थ सुप्त सा ज्ञान और वैराग्य को जागृत करने के लिये तप की आवश्यकता है तप यानि तितिक्षा-सहनशक्ति, इन्द्रियसंयम। जब इन्द्रियाँ स्ववश हो जाती हैं, तब ज्ञान वैराग्यादि का उदय होता है और भाग्यवशात् ब्रह्मनिष्ठ तत्त्वज्ञानी का भी समागम होता है। अथवा **'बदरीमयवनम् यत्तत् बदीरवनमागतः'** जो वन (जंगल) काँटों से युक्त बेरों का ही हो, उसे बदरी वन कहा जाता है। उस काँटों के वन में नारदजी आ गये। अर्थात् घोर दुःख सहन करके तपोमय जीवन व्यतीत करने के स्थानों में पहुँचकर अपने मनोंवाँछित उद्देश्य को पूर्ण करना। यह कारण-कार्यमय जगत् काँटों (दुःखों) का वन है, इस वन में प्राणिमात्र अपने-अपने संचित कर्मों के अनुसार सामान्य विशेष कष्ट भोग रहे हैं जिसके बारे में रामचरित मानस में भी कहा है- **'दैहिक, दैविक, भौतिक तापा। रामराज्य नहीं काहन व्यापा'**। दावानल अग्नि भी कहा जाता है।

20- इदानीं भूरिभाग्येन भवद्भिः संगमोऽभवत्।

कुमारा ब्रुवतां शीघ्रं कृपां कृत्वा ममोपरि।।2.45।।

21- भवन्तो योगिनः सर्वे बुद्धिमन्तो बहुश्रुताः।

पञ्चहायनसंयुक्ताः पूर्वेषामपि पूर्वजाः।।2.46।।

हे महात्माओं! इस समय मेरे बड़े भाग्य से आप लोगों के साथ समागम हुआ है, आप मुझ पर कृपा करके शीघ्र ही वह साधन बतलाइये। आप सभी लोग बड़े योगी, बुद्धिमान और विद्वान है। यद्यपि आप लोग देखने में पाँच-पाँच वर्ष के बालक से जान पड़ते हैं तथापि आप हमारे पूर्वजों के भी पूर्वज हैं। मैं बहुत दीन हूँ और आप लोग स्वभाव से ही दयायु हैं, इसलिये मुझ पर आपको अवश्य कृपा करनी चाहिये।

तात्पर्य अर्थ-

अहंकार की जो चादरें हमने ओढ़ी रक्खी है, वे चादरें विविध प्रकार की हो सकती हैं, उसे दूर से दूर फेंक देने की अवश्यकता है। जब तक किसी भी प्रकार से यह अहंकार रहेगा, तब तक हम आत्मतत्त्वज्ञानियों से समागम नहीं कर सकते। यह अहंकार ही कल्याण मार्ग एवं आत्मोपदेष्टा का समागम होने में बहुत बड़ा बाधक है। इसी से हम अनादिकाल से दीन-दुःखी हैं। अपने कल्याण से वंचित हैं। हम सभी साधकों को श्रीमद्देवर्षि नारदजी से सीख लेनी चाहिये। अर्थात् विनम्रता की शिक्षा प्राप्त कर लेनी चाहिये।

22- भक्तिज्ञानविरागाणां सुखमुत्पद्यते कथम्।

स्थापनं सर्ववर्णेषु प्रेमपूर्वं प्रयत्नतः।।2.52।।

भक्ति, ज्ञान और वैराग्य को किस प्रकार सुख मिल सकता है? और किस तरह इनकी प्रेमपूर्वक ब्राह्मण आदि सब वर्णों में प्रतिष्ठा की जा सकती है?

तात्पर्य अर्थ-

भक्ति, ज्ञानादि साधन चतुष्टय को हम अपने जीवन में किस प्रकार सुरक्षित रख सकते हैं? साधन-चतुष्टयमय जीवन के बिना हम स्वयं सुखमय नहीं हो सकते और दूसरे को भी सुखमय नहीं बना सकते।

23- मा चिन्तां कुरु देवर्षे हर्षं चित्ते समावह।

उपायः सुखसाध्योऽत्र वर्तते पूर्व एव हि।।2.53।।

हे देवर्षे! आप चिन्ता न करें, मन में प्रसन्नता हों, उनके उद्धार का एक सरल उपाय पहले से ही विद्यमान है।

तात्पर्य अर्थ-

जो कुछ हो रहा है या दिख रहा है, वह सबके सब पूर्व निर्धारित है, फिर भी मनुष्य अज्ञानवश अहंकार करता है कि मैंने यह किया वह किया (मैंने इतना दान किया, परोपकार किया, तप, यज्ञ किया इत्यादि) अरे! अज्ञानी तुमने कुछ नहीं किया यह सब तो निर्धारित था, तुम तो केवल मात्र निमित्त बना है, अर्थात् अपने पूर्व कर्मों का फल भोगना अवश्यमेव है।

इसी अहंकार को दूर करने के उद्देश्य से अर्जुन को निमित्त बनाकर भगवान श्रीकृष्ण ने गीता की रचना की है 700 श्लोकों में और वह बादशाहों की पुष्पवाटिका की तरह अट्ठारह अध्यायों में विभक्त हैं। उसमें स्पष्ट कहा है-

'**अहंकारविमूढ़ात्मा कर्ताहमिति मन्यते।।**' (3.27)

'**मयैवैते निहताः पूर्वमेव, निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।**' (11. 33)

24- सत्कर्म तव निर्दिष्टं व्योमवाचा तु यत्पुरा।
तदुच्यते शृणुष्वाद्य स्थिरचित्तः प्रसन्नधीः।।2.58।।

आपको आकाशवाणी ने जिस सत्कर्म का संकेत किया है, उसे हम बतलाते हैं, आप प्रसन्न और समाहित चित्त होकर सुनिये।

तात्पर्य अर्थ-

लोग सत्संग कथा में बैठते तो हैं किन्तु सुनते नहीं हैं। अथवा सुन पाते नहीं, क्योंकि चित्त समाहित नहीं हो पाता, मन एकाग्र नहीं हो पाता और जब तक सुनने के लिये चित्त की समाहितता और मन की एकाग्रता नहीं होगी तब तक सुनने का कार्य हो ही नहीं सकता। अर्थात् जो कुछ भी शरीर इन्द्रियों के द्वारा व्यवहार होता है, वे सबके सब मन से सम्बन्धित हैं।

(3) श्रीमद्भागवत श्रवण की महिमा का गुणगान प्रकरण

25- द्रव्ययज्ञस्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च ते तु कर्मविसूचकाः।।2.59।।

26- सत्कर्मसूचको नूनं ज्ञानयज्ञः स्मृतो बुधैः।
श्रीमद्भागवतालापः स तु गीतः शुकादिभिः।।2.60।।

27- भक्तिज्ञानविरागाणां तद्घोषेण बलं महत्।
व्रजिष्यति द्वयोः कष्टं सुखं भक्तेर्भविष्यति।।2.61।।

हे नारद जी! द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याय रूप वेद पाठ और ज्ञानयज्ञ ये सब तो स्वर्गादि की प्राप्ति कराने वाले कर्म की ही ओर संकेत करते हैं। पण्डितों ने

ज्ञानयज्ञ को वही सत्कर्म (मुक्तिदायक कर्म) का सूचक माना है। सत्कर्म का सूचक विद्वानों के द्वारा स्मृत जो ज्ञानयज्ञ है, वह श्रीमद्भागवत का पारायण है जिसका गान शुकदेव जी आदि महानुभावों ने किया है उसके शब्द सुनने से ही भक्ति, ज्ञान और वैराग्य को बड़ा बल मिलेगा। इससे ज्ञान-वैराग्य का कष्ट मिट जायेगा और भक्ति को आनन्द मिलेगा।

तात्पर्य अर्थ-

सुप्त हृदयस्थ-भक्ति, ज्ञान और वैराग्य आदि को जागृत करने के लिये यानि उत्साहित करने के लिये नित्य प्रति श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ परिव्राजक महानुभावों तथा सन्तों का सत्संग और स्वाध्याय आदि करते रहना चाहिये। इसी से मनोबल, आत्मबल की वृद्धि होगी तथा निर्भयता एवं अमृतत्व की प्राप्ति होगी, ऐसा हमारे पूर्वाचार्यों ने श्रुति स्मृतियों में कथन की है।

28- प्रलयं हि गमिष्यन्ति श्रीमद्भागवतध्वनेः।
कलेर्दोषा इमे सर्वे सिंहशब्दाद् वृका इव।।2.62।।

29- ज्ञानवैराग्यसंयुक्ता भक्तिः प्रेमरसावहा।
प्रतिगेहं प्रतिजनं ततः क्रीडां करिष्यति।।2.63।।

सिंह की गर्जना सुनकर जैसे भेड़ियों का झुण्ड भाग जाता है, अपने प्राण रक्षा के लिये। उसी प्रकार श्रीमद्भागवत की ध्वनि से कलयुग के सारे दोष नष्ट हो जायेंगे जब प्रेमरस प्रवाहित करने वाली भक्ति तब ज्ञान और वैराग्य को साथ लेकर प्रत्येक घर तथा व्यक्ति के हृदय में क्रीड़ा करेगी।

तात्पर्य अर्थ-

सम्पूर्ण दोषों को दूर करने के लिये सम्यक् ज्ञान की आवश्यकता है, क्योंकि भक्ति के बिना ज्ञान-वैराग्य शुष्क है, विनम्रता विहीन है, अहंकार का निमित्त बन सकता है, यह प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है। इसी सम्यक् ज्ञान से अपने लक्ष्य को पूरा कर सकते हैं।

30- वेदवेदान्तघोषैश्च गीतापाठैः प्रबोधितम्।
भक्तिज्ञानविरागाणां नोदतिष्ठत्त्रिकं यदा।।2.64।।

31- श्रीमद्भागवतालापात्तत्कथं बोधमेष्यति।
तत्कथासु तु वेदार्थः श्लोके श्लोके पदे पदे।।2.65।।

मैंने वेद-वेदान्त की ध्वनि तथा गीता पाठ करके उन्हें बहुत जगाया, किन्तु फिर भी ज्ञान और वैराग्य, ये दोनों नहीं जगे। ऐसी स्थिति में श्रीमद्भागवत सुनने से वे कैसे जगेंगे? क्योंकि उस कथा के प्रत्येक श्लोक तथा प्रत्येक पद में भी वेदों का ही तो सारांश है।

तात्पर्य अर्थ-

रोते हुए शिशु को प्रसन्न करना हो अथवा गाढ़ीनींद में सोया हुए व्यक्ति को जगाना हो, तो आत्मतत्त्वज्ञान, योग-समाधि तथा **''सर्वं खल्विदं ब्रह्म''** (छा. 3.14.1) इत्यादि की आवश्यकता नहीं है। उन्हें तो प्रसन्न करने के लिये मधुर दुग्धपान और सुषुप्ति में सोये हुए को जगाने के लिये ढोल-नगाड़े आदि वाद्य की आवश्यकता है। ''वाद्यभांडम्'' यथा कुम्भकरणको रावण ने जगाया था। **यह वृतान्त दसानन सुनेऊ । अति विषाद पुनि पुनि सिर धुनेऊ।। व्याकुल कुंभकरन पहि आवा। विविध जतन करि ताहि जगावा।।** (रा.मा. 6. 31.3)।

लक्ष्मण मूर्छितावस्था से यह जागृत (स्वस्थ) अवस्था में आ गये। यह वृत्तान्त जब सुने तब रावण अत्यन्त विषाद से बार-बार सिर को हाथों से पीटने लगा, वह व्याकुल होकर कुम्भकरण के पास आया और बहुत से उपाय करके कुम्भकरण को जगाया (ढोल नगाड़ों के द्वारा)।

32- छिन्दन्तु संशयं ह्येनं भगवन्तोऽमोघदर्शनाः।
विलम्बो नात्र कर्तव्यः शरणागतवत्सलाः।। 2.66।।

आप लोग शरणागतवत्सल हैं तथा आपका दर्शन कभी व्यर्थ नहीं होता, इसलिये मेरा यह संशय दूर कर दीजिये। इस कार्य में विलम्ब न कीजिये।

तात्पर्य अर्थ-

प्रायः संसार में देखा जाता है कि कोई भी शुभ कार्य के लिये लोग अत्यधिक सोच विचार करते हैं और अशुभ (बुरा) कार्य करने में लोगों को पता भी नहीं लगने देता। जबकि होना चाहिये शुभ कार्य को जितना जल्दी हो सके, उतना जल्दी कर लेना चाहिये क्योंकि इस मन बुद्धि का कोई विश्वास नहीं, कोई भरोसा नहीं कि किस क्षण बदल जाय या जीवन में जो श्वास-प्रश्वास चल रहा है वह कब रुक जाये। इसीलिये महापुरुषों ने जो कहा है वह ठीक ही कहा है- **श्वःकार्यमद्यैव कुर्यात्** (महा. भा. शान्ति. 277.13), **'शुभस्य शीघ्रं कुर्यात्।', 'कालह करन सो आज कर आज करन सो अब। पलमे परलय होत है फिर करोगे कब।'**

33- वेदोपनिषदां साराज्जाता भागवती कथा।
अत्युत्तमा ततो भाती पृथग्भूता फलाकृतिः।।2.67।।

34- आमूलाग्रं रसस्तिष्ठन्नास्ते न स्वाद्यते यथा।
स भूयः संपृथग्भूतः फले विश्वमनोहरः।।2.68।।

श्रीमद्भागवत की कथा वेद और उपनिषद के सार से बनी है। इसलिये उनसे अलग उनकी फलस्वरूप होने के कारण यह बड़ी उत्तम जान पड़ता है। जिस प्रकार

रस वृक्ष की जड़ से लेकर शाखाग्रपर्यन्त रहता, किन्तु इस स्थिति में उसका आस्वादन नहीं किया जाता है, वही जब अलग होकर फल के रूप में आ जाता है तब संसार में सभी को प्रिय लगने लगता है।

तात्पर्य अर्थ-

सर्वव्यापक-सर्वात्मा परब्रह्म ही जीवात्मा के रूप में विद्यमान है अथवा भोग्य-भोक्ता के रूप में प्रसिद्ध है। यदि माया शक्ति के द्वारा दो विभागों में नाम, रूपों में विभक्त न होवे तो आनन्द और क्लेश की परिभाषा (व्याख्या) करने की आवश्यकता ही समाप्त हो गयी होती। ऐसी स्थिति में न नाना सम्प्रदाय होते और न नाना शास्त्रों की रचना ही हुई होती। अर्थात् **'एकमेव अद्वितीयं ब्रह्म'** (अध्यात्मोपनिषत् 63) को ही, जब जीवात्मा के रूप में पृथक् करके मान लिया जाता है, तब आनन्द का विषय बनता है। यथा जल, कारणरूप में उसका कहीं उपयोग नहीं, किन्तु कार्यरूप में उसका प्रयोग (व्यवहार) प्राणिमात्र का जीवन प्रदाता है।

35- यथा दुग्धे स्थितं सर्पिर्न स्वादायोपकल्पते।
पृथग्भूतं हि तद्द्रव्यं देवानां रसवर्धनम्।।2.69।।

दुग्ध में घी रहता ही है किन्तु उस समय उसका अलग से स्वाद नहीं मिलता। वही जब उससे अलग हो जाता है तब देवताओं के लिये भी स्वादवर्धक हो जाता है तथा खाँड (चीनी) ईख के ओर-छोर और बीच में भी व्याप्त होकर रहती है। तथापि अलग होने पर उसकी कुछ और ही मिठास होती है। (अर्थात् ईख से बर्फी, पेड़ा, लड्डू, गुलाब जामुन आदि मिठाईयाँ नहीं बनायी जा सकती) ऐसी ही यह भागवत की कथा है।

तात्पर्य अर्थ -

कार्यभूत जगत और जगत के कार्य शरीर, घट-पट आदि और पँचमहाभूतों में आत्मा (ब्रह्म) समरूप से सदा-सर्वदा व्याप्त है, फिर भी आनन्द का अनुभव नहीं होता ओर वही जब श्रुतियों के निषेध वाक्य द्वारा प्रपञ्च का सदा-सर्वदा के लिये बाध करके, मिथ्यात्व करके उस सर्वात्म-ब्रह्म की अनुभूति करने पर **'रसोमयः, आनन्दमयः'** का परिपूर्ण रूप से, सच्चिदानन्द का, अहंब्रह्मास्मि का, नित्यानन्द का अनुभव होता है और आनन्दमग्न होकर तत्त्वज्ञानी गान करते हैं- **''न चोर्ध्वं न चाधो न चान्तर्न बाह्यं, न मध्यं न तिर्यङ् न पूर्वापरादिकं। वियद्व्यापकत्वादखण्डैकरूपः, तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम्।। न शास्ता न शास्त्रं न शिष्यो न दीक्षा, न च त्वं न चाहं न चायं प्रपञ्चः स्वरूपावबोधो विकल्पासहिष्णुः, तदेकोऽवशिष्टः**

शिवः केवलोऽहम्।। नचैकं तदन्यत् द्वितीयं कुतः स्यात्, न वा केवलत्वं न चाकेवलत्वम्। न शून्यं न चाशून्यमद्वैतकत्वात् कथं सर्ववेदान्तसिद्धं ब्रवीमि।।- शंकराचार्य कृत दशश्लोकी और श्रुति प्रमाण है- ''**नान्तः प्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिंत्यम-व्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।।** मा. उ.7।।

36- इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम्।
भक्तिज्ञानविरागाणां स्थापनाय प्रकाशितम्।।2. 71।।

यह भागवत पुराण वेदों के समान है। श्री व्यास देव ने इसे भक्ति, ज्ञान और वैराग्य की स्थापना के लिये प्रकाशित किया है।

तात्पर्य अर्थ-

प्रत्येक धार्मिक शास्त्र, संसार दावानल-अग्नि से मानव मात्र को प्रशान्ति प्रदान करने के लिये है अथवा भक्ति, ज्ञान, वैराग्यादि संसाधनों को प्रत्येक मनुष्यों के हृदय में स्थापित करके जन्म-मृत्यु से सदा के लिये मुक्ति पाने के लिये है।

37- कुत्र कार्यो मया यज्ञः स्थलं तद्वाच्यतामिह।
महिमा शुकशास्त्रस्य वक्तव्यो वेदपारगैः।।3.2।।

यह यज्ञ मुझे कहाँ करना चाहिये, आप इसके लिये स्थान बता दीजिये। आप लोग वेदों के मर्मज्ञ हैं, इसलिये मुझे इस शुकशास्त्र की महिमा सुनाइये।

तात्पर्य अर्थ-

शुकशास्त्र यानि सुलभ शास्त्र, सुष्ठुशास्त्र को श्रवण या अनुष्ठान करने के प्रबल जिज्ञासा की आवश्यकता है। जिज्ञासा के अभाव में न श्रवण किया जा सकता है और न ही यज्ञ कराया जा सकता है अर्थात् जिज्ञासा के बिना श्रवण और अनुष्ठान दोनों ही व्यर्थ हैं क्योंकि जिज्ञासा के अभाव में फलदायक सिद्ध नहीं हो सकते। यज्ञ श्रवणादि इसी प्रकार और भी कोई कार्यानुष्ठान को समझ लेना चाहिये।

38- शृणु नारद वक्ष्यामो विनम्राय विवेकिने।
गंगाद्वारसमीपे तु तटमानन्दनामकम्।।3.4।।

हे नारद जी! आप बड़े विनीत और विवेकी हैं। सुनिये हम आपको ये सब बाते बताते हैं। हरिद्वार के पास आनन्द नामक एक घाट है। वहाँ आप बिना किसी विशेष प्रयत्न के ही ज्ञानयज्ञ आरम्भ कर दीजिये। उस स्थान पर कथा में अपूर्व रस का उदय होगा।

तात्पर्य अर्थ-

यज्ञ का स्थान है-अन्तःकरण, मन की एकाग्रता में ही आनन्द है। क्लेश रहित, निरपेक्ष आत्मा की अनुभूति तभी सम्भव है, जब मनोवृत्ति शान्त की स्थिति बन जाय। '**आनन्दो वनम् यस्य स आनन्दवनम्**', अर्थात् आनन्द जिसका वन (भजन का लक्ष्य) सर्वत्र- आनन्द का ही अनुभव हो, उसे आनन्द वन कहना चाहिये। आनन्द वन तो अपना स्वरूप ही है, आत्मा ही है, बाकी प्रकृति तो गुणमयी होने से क्लेशों का मूर्तिमान रूप है। अध्यात्म चर्चा, ब्रह्मात्म विषयक विचार (व्याख्या) करने का नाम है ज्ञानयज्ञ, जिससे दबे हुए शुभ संस्कार, भक्ति, ज्ञान और वैराग्य का उदय होता है।

39- स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति।।1.2.6।।

मनुष्यों के लिये सर्वश्रेष्ठ धर्म वही है जिससे भगवान श्रीकृष्ण में भक्ति हो, भक्ति भी ऐसी, जिसमें किसी प्रकार की कामना न हो और जो नित्य-निरन्तर बनी रहे, ऐसी भक्ति से हृदय, आनन्द स्वरूप परमात्मा को उपलब्ध करके कृतकृत्य हो जाता है।

तात्पर्य अर्थ-

परमात्मा में, स्वरूप में अविच्छिन्न प्रेम, सौहार्द या मैत्रीयता को नित्य, निरन्तर बनाये रखना निःश्रेयस-प्रीति ही सर्वोपरि धर्म और आत्मा की उपलब्धि भी है।

40- वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम्।।1.2.7।।

भगवान् श्रीकृष्ण में भक्ति होते ही, अनन्य प्रेम से उनमें चित्त जोड़ते ही निष्काम भक्ति, ज्ञान और वैराग्य का आविर्भाव हो जाता है।

तात्पर्य अर्थ-

सुप्त भक्ति, ज्ञान और वैराग्यादि को जागृत करने के लिये इन्द्रियों के विषयों से विरत होना, अहंकार को मन में किसी भी प्रकार न आने देना और जन्म-मृत्यु , वृद्धा, जर्जरता, भूख-प्यास तथा व्याधियों के द्वारा दुःखों को एवं संसार की क्षणिकता आदि को दोषों के रूप में बारम्बार स्वाभाविक रूप से स्मरण करते रहना चाहिये। "**इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च। जन्ममृत्युजराव्याधिदुःख दोषानुदर्शनम्।।** (गी. 13.8)

(4) तत्त्वविवेक प्रकरण

41- धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विश्वक्सेनकथासु यः।
नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव ही केवलम्।। 1.2.8।।

धर्म का ठीक-ठीक अनुष्ठान करने पर भी यदि मनुष्य के हृदय में भगवान् की लीला कथाओं के प्रति अनुराग का उदय न हो तो वह निरा श्रम ही श्रम है।

तात्पर्य अर्थ-

धर्म (अन्तरंग और बहिरंग साधनद्वय) का उचित अनुष्ठान करने पर भी यदि मनुष्य के हृदय में, मन-बुद्धि में स्वात्म के प्रति अनुराग-प्रीति उदय न हो (जिज्ञासा की भावना) का उदय न हो तो वह धर्म कर्म व्यर्थ श्रम है। अर्थात् उसको ऐसा समझना चाहिये कि पूर्व-पूर्व जन्मों के मलिन संस्कारों का व्यवधान है अथवा अपने प्रारब्ध का सहयोग प्राप्त नहीं हो रहा है। (साधन द्वय:- विवेक, वैराग्य, षट्सम्पति और मुमुक्षता (बहिरंग) तथा श्रवण, मनन और निदिध्यासन को (अन्तरंग) साधन कहा गया है।)

42- धर्मस्य ह्यपवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते।
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः।।1.2.9।।

43- कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः।। 1.2.10।।

44- वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।।1.2.11।।

धर्म का फल मोक्ष है। उसकी सार्थकता अर्थ प्राप्ति नहीं। अर्थ केवल धर्म के लिये है। भोग विलास उसका फल नहीं माना गया है। भोग विलास का फल इन्द्रियों की तृप्ति करना नहीं है, उसका प्रयोजन है केवल जीवन निर्वाह। जीवन का फल भी तत्त्व जिज्ञासा है। बहुत कर्म करके स्वर्गादि प्राप्त करना उसका फल नहीं है। तत्त्ववेत्ता लोग ज्ञाता और ज्ञेय के भेद से रहित अखण्ड-अद्वितीय सच्चिदानन्द स्वरूप ज्ञान को ही तत्त्व कहते हैं। उसी को ब्रह्म, कोई परमात्मा और कोई भगवान के नाम से पुकारते हैं।

तात्पर्य अर्थ-

सर्वोत्तम मानव जीवन हमें सौभाग्य से आज प्राप्त है। ऐसे दुर्लभ जीवन को विषय-विलासता, इन्द्रियों की तृप्ति में व्यर्थ नहीं गँवाना चाहिये, क्योंकि अनादि काल से न जाने कितनी बार सम्राट हुए और विषय भोगों से परिपूर्ण रहने पर भी मन, इन्द्रियों की तृप्ति (तुष्टि) न हो सकी, तो क्या हम आज सन्तुष्ट कर पाने में सफल हो पायेंगे। क्या हम इस अपनी मूर्खता की घनघोर काले घटा को या काली स्याही की (वासना) दाग को धो पायेंगे। कदापि नहीं। अतः इन्द्रिय संयमपूर्वक जीवन काल यापन करते हुए, इसी जीवन के श्वास रहते-रहते आत्मतत्त्ववेत्ता, ब्रह्मनिष्ठ के शरणागत होकर आत्म-साक्षात्कार कर लेना ही इस जीवन की सफलता है, जन्म-मृत्यु से मुक्ति पाना प्रयोजन है।

45- तच्छ्रद्दधना मुनयो ज्ञानवैराग्ययुक्तया।

पश्यन्त्यात्मनि चात्मानं भक्त्या श्रुतिगृहीतया।। 1.2.12।।

श्रद्धालु मुनि जन भागवत श्रवण से प्राप्त ज्ञान-वैराग्ययुक्त भक्ति से अपने हृदय में उस परमतत्त्व रूप परमात्मा का (स्वस्वरूप का) अनुभव करते हैं।

तात्पर्य अर्थ-

तत्त्वज्ञानियों के सत्संग श्रवण से प्राप्त विवेक, वैराग्य और भक्ति के द्वारा सर्वव्यापक, अविनाशी तत्त्व को अपनी आत्मा के रूप में अनुभूति करने का सुअवसर मिलता है।

46- तस्मादेकेन मनसा भगवान् सात्वतां पतिः।

श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा।। 1.2.14।।

47- यदनुध्यासिना युक्ताः कर्मग्रन्थिनिबन्धनम्।

छिन्दन्ति कोविदास्तस्य को न कुर्यात्कथारतिम्। 1.2.15।।

इसलिये एकाग्र-मनसे भक्तवत्सल भगवान् का ही नित्य-निरन्तर कथा श्रवण, ध्यान और आराधना करनी चाहिये। कर्मों की गाँठ बड़ी कड़ी है। विचारवान् पुरुष भगवान् के चिन्तन रूपी तलवार से उस गाँठ को काट डालते हैं। तब भला, ऐसा कौन मनुष्य होगा, जो भगवान की लीला-कथा में प्रेम न करें।

तात्पर्य अर्थ-

हृदयस्थ संशय और विपर्ययात्मक अनादि वासनाओं की ग्रन्थि ही जन्म-मृत्यु, सुख-दु:खों का मुख्य कारण है। इससे मुक्ति पाने के लिये सत्पुरुषों, ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानियों का समागम एवं सत्संग, विचार, सद्ग्रंथों का नित्य निरंतर अवलोकन करते रहना चाहिये और उनसे प्राप्त ज्ञान, वैराग्य रूप तलवार के द्वारा उस ग्रन्थि को काट डालना चाहिये, तभी आत्मा-परमात्मा का साक्षात्कार होगा।

48- नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भगवत्सेवया।

भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी।।1.2.18।।

जब श्रीमद्भागवत अथवा भगवद्भक्तों के सेवन से अशुभ वासनाएं नष्ट हो जाती हैं तब पवित्र कीर्तिवाले भगवान श्रीकृष्ण के प्रति स्थायी प्रेम की प्राप्ति होती है। तब रजोगुण और तमोगुण के भाव (कार्य) काम और लोभादि शान्त हो जाते हैं और चित्त इनसे रहित होकर सत्त्वगुण में स्थित एवं निर्मल हो जाता है।

तात्पर्य अर्थ-

जब साधक साधनों के द्वारा कर्म जन्य वासनाओं का अन्त कर देते हैं, तब अन्तरात्मा-स्वस्वरूप में निमग्न हो जाता है, फिर शेष जीवन में रजोगुण से उत्पन्न

मनोविकार, काम, क्रोधादि भी अपने कारण सहित प्रकृति में सो जाते हैं, विलीन हो जाते हैं।

49- भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे।। 1.2.21।।

जब स्वात्मा से अभिन्न ईश्वर को अनुभव करते हैं यानि हृदय में आत्मस्वरूप भगवान् का साक्षात्कार हो जाता है तब हृदय ग्रन्थि का भेदन हो जाने से सर्व संशय रहित होने के साथ-साथ कर्मबन्धन क्षीण हो जाते हैं। तब बुद्धिमान लोग नित्य-निरन्तर बड़े आनन्द से आत्मस्वरूप के प्रति श्रद्धा विश्वास करते हैं जिससे आत्म प्रसाद की प्राप्ति होती है।

तात्पर्य अर्थ-

मुमुक्षु साधक जब निरन्तर आत्मचिन्तन में तत्पर हो जात हैं, तब हृदयस्थ जन्म-जन्मान्तरों के सञ्चित कर्म वासनाओं की ग्रन्थि जो भावी जन्म-मृत्यु का कारण हैं, नष्ट हो जाते हैं तथा सम्पूर्ण संशय-विपर्ययों के सहित कर्तृत्व-भोक्तृत्व भी क्षीण हो जाते हैं, फिर तो स्वस्वरूप में स्थित हो जाने में साधक को सुलभ हो जाता है अर्थात् संस्कारों का नाश ही आत्मानुभूति है और आत्म-अनुभूति करके कृतकृत्य हो जाता है। **''भिद्यते हृदयग्रन्थिरिछद्यन्ते सर्व संशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।।''** (मु. 2. 2.8)

50- सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तैर्युक्तः पुरुष एक इहास्य धत्ते।
स्थित्यादये हरिविरिञ्चिहरेति संज्ञाः, श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्नृणां स्युः।।
1. 2.23।।

51- पार्थिवाद्दारुणो धूमस्तस्मादग्निस्त्रयीमयः।
तमसस्तु रजस्तस्मात्सत्त्वं यद्ब्रह्मदर्शनम्।। 1.2.24।।

प्रकृति के तीन गुण हैं- सत्त्व, रज और तम, इनको स्वीकार करके इस संसार की स्थिति, उत्पत्ति तथा लय के लिये एक अद्वितीय परमात्मा ही विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र-ये तीन नाम ग्रहण करते हैं। फिर भी मनुष्यों का परम कल्याण तो सत्त्वगुण स्वीकार करने वाले श्री हरि से ही होता है। जैसे पृथ्वी के विकार लकड़ी की अपेक्षा धुआँ श्रेष्ठ है और उससे भी श्रेष्ठ है अग्नि, क्योंकि वेदोक्त यज्ञ-यागादि के द्वारा अग्नि सद्गति देने वाली है, वैसे ही तमोगुण से रजोगुण है श्रेष्ठ और रजोगुण से भी श्रेष्ठ सत्त्वगुण है, क्योंकि वह भगवान् का दर्शन कराने वाला है।

तात्पर्य अर्थ-

''**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**'' (छा. 3.14.1) ब्रह्म ही चराचर जगत् के रूप में प्रतिभासित हो रहा है और सृजनादि कार्य भी स्वप्नवत् हैं। अर्थात् एकमेव अद्वितीयं ब्रह्म का जब तक साक्षात्कार-अनुभूति नहीं हुई है, तभी तक यह कार्य-कारणमय जगत् सत्य सा प्रतीति का विषय बन रहा है। अथवा, अज्ञान का दूसरा नाम है जगत्। यथा- जल ही बादल, बर्फ, ओला, नदी-नाला और समुद्र के नामों से जाना जाता है।

52- वासुदेवपरा वेदा वासुदेवपरा मखाः।
वासुदेवपरा योगा वासुदेवपरा क्रियाः।।1.2.28।।

53- वासुदेवपरं ज्ञानं वासुदेवपरं तपः।
वासुदेवपरो धर्मो वासुदेवपरा गतिः।। 1.2.29।।

54- स एवेदं ससर्जाग्रे भगवानात्ममायया।।
सदसद्रूपया चासौ गुणमय्यागुणो विभुः।। 1.2.30।।

वेदों का तात्पर्य श्रीकृष्ण में ही है। यज्ञों के उद्देश्य श्री कृष्ण ही हैं। योग श्रीकृष्ण को प्राप्त करने के लिये ही किये जाते हैं और समस्त कर्मों की परिसमाप्ति भी श्रीकृष्ण में ही है। ज्ञान से ब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण की ही प्राप्ति होती है। तपस्या श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिये ही की जाती है। श्रीकृष्ण के लिये ही धर्मों का अनुष्ठान होता है और सभी गतियां श्रीकृष्ण में ही समा जाती हैं। यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण प्रकृति और उसके गुणों से अतीत हैं, फिर भी अपनी गुणमयी माया से (जो प्रपञ्च की दृष्टि से है और तत्त्व की दृष्टि से नहीं है) उन्होंने सर्ग के आदि में इस संसार की रचना की थी।

तात्पर्य अर्थ-

''**ईशावास्यामिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।।** (ई.उ.1) जगत में (अर्थात् तीनों लोकों में) जो कुछ जड़-चेतनमय संसार है, वह सब ईश पद लक्ष्य (निरुपाधिक परब्रह्म) से आच्छादित है। अथवा परब्रह्म ही नामरूपात्मक सम्पूर्ण जगत् रूप में प्रतिभासित हो रहा है। ''**स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद्यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिंगा व्युञ्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति तस्योपनिषत्सत्यस्य सत्यमिति।।**'' (बृ.उ.2.1.20)

ऊर्णनाभ तथा अग्नि विस्फुलिंग दृष्टान्त से जगत् उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। लोक में जैसे मकड़ी तन्तुओं पर ऊपर की ओर जाती है तथा जैसे अग्नि से अनेकों क्षुद्र चिंगारियां निकलती हैं उसी प्रकार इस आत्मा से सम्पूर्ण प्राण, सम्पूर्ण लोक, सभी देवगण, सभी भूत अनेक रूप से उत्पन्न होते हैं। वह सत्य का सत्य है, यही उस आत्मा का रहस्य उपनिषद् है। ''**न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु**

कामाय सर्वं प्रियं भवति।।'' (बृ.उ. 4.5.6) जो कुछ भी क्रिया-कलाप किया जाता है अथवा किया जा रहा है वह सबके सब अपनी आत्मा के लिये ही है। अथवा आत्मसत्ता के बिना एक तृण भी नहीं हिल सकती। यद्यपि आत्मा गुणातीत और निष्क्रिय है फिर भी उस आत्मा को सम्पूर्ण प्रपञ्च नाम रूपात्मक जगत् का आश्रय कहा जाता है। यह जगत् आत्मा में उसी प्रकार है जैसे आकाश में गन्धर्वनगर या पृथ्वी पर मृग्मरीचिका।

55- न वयं क्लेशबीजानि यतः स्युः पुरुषर्षभ।
पुरुषं तं विजानीमो वाक्यभेदविमोहिताः।।1.17.18।।

हे नरेन्द्र! शास्त्रों के विभिन्न वचनों से मोहित होने के कारण हम उस पुरुष को नहीं जानते, जिससे क्लेशों के कारण उत्पन्न होते हैं।

तात्पर्य अर्थ-

प्राचीन हमारे पूर्वाचार्यों ने ऋषि-महर्षियों ने इस जीवन एवं संसार को **'दुःखालयम् अशाश्वतम्'** (गी. 8.15) क्यों कहा है? इसका समाधान मनुष्य अभी तक नहीं कर पाया है। प्रयत्न तो अपने-अपने अनुभव अनुसार सभी महापुरुषों ने किये हैं। इससे सामान्य व्यक्ति और भी भ्रमित हो जाते हैं और भटक जाते हैं, क्योंकि शास्त्रों के अभिप्राय को समझ पाना बड़ा कठिन हो गया है क्योंकि कहीं पर कर्मों का प्रतिपादन किया गया है, तो कहीं पर भक्ति की व्याख्या और कहीं पर ज्ञान-वैराग्य का संकेत किया गया है। तो कहीं-कहीं पर इन सभी से विलक्षण अर्थवाद का प्रतिपादन मिलता है और इससे भी विलक्षण नेति-नेति कहकर श्रुतियाँ मौन हो जाती हैं, सो जाती हैं। इससे लोगों के मन में भ्रान्ति होना स्वाभाविक है। इसी शास्त्रजन्य भ्रान्ति को दूर करने हेतु कृष्णद्वैपायन व्यास जी ने (555) सूत्रों से युक्त ब्रह्मसूत्र नामक दर्शन की रचना की है। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है- **''श्रुतिविप्रतिपन्नास्ते यदा स्थास्यति निश्चला। समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि।।** गीता 2.53।।

56- केचिद् विकल्पवसना आहुरात्मानमात्मनः।
दैवमन्ये परे कर्म स्वभावमपरे प्रभुम्।। 1.17.19।।

57- अप्रतर्क्यादनिर्देश्यादिति केष्वपि निश्चयः।
अत्रानुरूपं राजर्षे विमृश स्वमनीषया।। 1.17.20।।

जो लोग किसी भी प्रकार के द्वैत को स्वीकार नहीं करते, वे अपने आपको ही अपने दुःख का कारण मानते हैं। कोई प्रारब्ध को कारण मानते हैं तो कोई कर्म को। कुछ लोग स्वभाव को, तो कुछ लोग ईश्वर को दुःख का कारण मानते हैं।

किन्हीं का ऐसा भी निश्चय है कि दु:ख का कारण न तो तर्क से जाना जा सकता है और न वाणी से वर्णन किया जा सकता है। अत: हे राजर्षे! इनमें से कौन सा मत ठीक हैं, यह आप अपनी बुद्धि से विचार कर निर्णय लीजियेगा।

तात्पर्य अर्थ-

सु:ख-दु:ख, हानि-लाभ, जन्म-मृत्यु, अहं-मम, स्त्री-पुरुष, दिन-रात आदि आदि प्रपञ्च सबके सब मन के ही विलास हैं, व्यवहार तक ही सीमित हैं। विचार करने पर वास्तिविकता तो यही तय होती है कि अज्ञानवश-स्वप्नवत् भास रहा है।

अत: स्वविवेक को जगाने के लिये साधक को धर्मनिष्ठ होकर अधर्म से बचना चाहिये। इसके लिये अधर्म को जानना चाहिये कि वह किस-किस वस्तु में है और जिनके व्यवहार से अधर्म होता है। वे हैं-

58- अभ्यर्थितस्तदा तस्मै स्थानानि कलये ददौ।
द्यूतं पानं स्त्रियः सूना यत्राधर्मश्चतुर्विधः।। 1.17.38।।

59- पुनश्च याचमानाय जातरूपमदात्प्रभुः।
ततोऽनृतं मदं कामं रजो वैरं च पञ्चमम्।। 1.17.39।।

60- अमूनि पञ्च स्थानानि ह्यधर्मप्रभवः कलिः।
औत्तरेयेण दत्तानि न्यवसत् तन्निदेशकृत्। 1.17.40।।

कलियुग की प्रार्थना सुनकर (स्वीकार) करके राजा परीक्षित् ने उसे चार स्थान दिये-द्यूत, मद्यपान, स्त्री संग और हिंसा। इन स्थानों में क्रमशः असत्य, मद, आसक्ति और निर्दयता है। ये चार प्रकार की वस्तु हैं जिनमें अधर्म निवास करते हैं। इस युग में उसने और भी स्थान माँगे। तब समर्थ परीक्षित ने उसे रहने के लिये एक और स्थान-सुवर्ण (सोना) को दिया। इस प्रकार कलियुग के पाँच स्थान हो गये- झूठ, मद, काम, रजोगुण और बैर। परीक्षित के दिये हुए अधर्म का मूल कारण इन्हीं पाँच स्थानों में कलि ने उनकी आज्ञाओं का पालन करते हुए निवास करने लगा।

तात्पर्य अर्थ-

कलियुग का अभिप्राय है- रजोगुण और तमोगुण की वृद्धि अथवा उन दोनों के प्रभाव का नाम ही कलियुग है। इन्हीं दोनों के प्रभाव से सम्पूर्ण अधर्म, अत्याचार, पापाचार कर्मों का विस्तार होता है। विचार से यही कलियुग का स्वरूप सिद्ध होता है। अथवा रजोगुण का स्वरूप है- झूठ बोलना, मदिरापान करना, स्त्री संग से कामुकता की वृद्धि करना, लोगों से या प्राणियों से अनावश्यक शत्रु की भावना बनाते रहना और चल-अचल सम्पत्ति में आसक्तिमय हो जाना। यही सब कलियुग का स्वरूप है। अथवा नाना प्रकार के मोटर, मशीनों, वाहनों का युग-विज्ञानों का युग भी कह सकते हैं।

61- अथैतानि न सेवते बुभूषुः पुरुषः क्वचित्।
विशेषतो धर्मशीलो राजा लोकपतिर्गुरुः।। 1.17.41।।

इसलिये आत्मकल्याणकामी पुरुष को इन पाँचों स्थान (विषयों) का सेवन कभी नहीं करना चाहिये। अर्थात् धार्मिक राजा, प्रजा वर्ग के लौकिक नेता और धर्मोपदेष्टा गुरुओं को तो बड़ी सावधानी से इसका त्याग करना चाहिये।

तात्पर्य अर्थ-

राजा यानि राष्ट्र के पति, स्वामी, राष्ट्रपति ही यदि आचरण भ्रष्ट हों तो भला देश का क्या होगा ? कहावत है- '**अन्धेर नगरी चौपट राजा। टका सेर भाजी टका सेर खाजा।।**'' इस प्रकार लोगों को नियन्त्रित करने वाले नेताजनों की बुद्धि भ्रष्ट हो जाये, स्वयं ही नियन्त्रण विहीन हो जाय तो लोगों पर नियन्त्रण कौन करेगा ? अनुशासन कौन करेगा ? और अनुशासन के बिना लोगों में पशुता व्यवहार आ जाना स्वाभाविक हो जाता है। नीतिकारों का कहना है- ''**गुणैर्हीना न शोभन्ते निर्गन्ध इव किंशुकाः।**'' अर्थात् धर्मगुरुओं का उत्तरदायित्व अत्यधिक सर्वश्रेष्ठ माना गया है और यदि धर्म के उपदेष्टा, लोगों के कल्याण करने वाले गुरुजन, मोक्ष का दावा करने वाले ही स्वयं कल्याण के पथ पर न चलते हों तो उन गुरुजनों का उपदेश कौन अनुसरण करेगा ? और शास्त्रों का अनुसरण न होने पर लोग अपने आप ही नरकगामी हो जायेंगे, जन्म-मृत्यु के बन्धन में बंधने के लिये विवश हो जायेंगे। इस सम्बन्ध में श्रुति का कहना है- ''**अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पंडितम्मन्यमानाः दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढ़ा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः।।** क.उ. 1.2.5।।

(5) निरभिलाष (निरपेक्ष) प्रकरण-

62- शाब्दस्य हि ब्रह्मण एष पन्था, यन्नामभिर्ध्यायति धीरपार्थैः।
परिभ्रमंस्तत्र न विन्दतेऽर्थान्, मायामये वासनया शयानः।। 2.2.2।।

63- अतः कविर्नामसु यावदर्थः, स्यादप्रमत्तो व्यवसायबुद्धिः।
सिद्धेऽन्ययार्थे न यतेत तत्र, परिश्रमं तत्र समीक्षमाणः।। 2.2.3।।

वेदों की वर्णन-शैली ही इस प्रकार की है कि लोगों की बुद्धि स्वर्गादि निरर्थक नामों के फेर में फँस जाती है, जीव वहाँ सुख की वासना से स्वप्न सा देखता हुआ भटकने लगता है किन्तु उन मायामय लोकों में कहीं भी उसे सच्चे सुख की प्राप्ति नहीं होती। इसलिये विद्वान् पुरुष को चाहिये कि वह विविध नामवाले पदार्थों से उतना ही व्यवहार करें, जितने से अपना प्रयोजन सिद्ध हो। अपनी बुद्धि को उनकी निस्सारता के

निश्चय से परिपूर्ण रखें और एक क्षण के लिये भी असावधान न हों। यदि संसार के पदार्थ प्रारब्धवश बिना परिश्रम के यों ही मिल जायें, तब उनके उपार्जन का परिश्रम भी व्यर्थ समझ कर उनके लिये कोई प्रयत्न न करे।

तात्पर्य अर्थ-

मनुष्य सुखाभिलाषी तो है किन्तु वह सुख कहाँ है और कैसे उसकी प्राप्ति होगी, इस विषय में नन्हें-नन्हें शिशुवत् अनभिज्ञ है, भ्रमित भी है। इसलिये प्राणि मात्र अनादिकाल से सुख, शान्ति के अभाव में यत्र-तत्र-सर्वत्र भटकते फिर रहे हैं। कदाचित् कभी मनोऽनुकूल प्राणी-पदार्थ मिल भी जाते हैं तो भी यह संसार अत्यन्त क्षणभंगुर स्वभाव वाला होने से दूसरे क्षण में दु:ख अशान्ति में परिवर्तित होता हुआ अनुभव होने लगता है, क्योंकि वासनामय प्राणी-पदार्थों के जगत् में सुख, शान्ति नाम की कोई वस्तु है ही नहीं, सुख-शान्ति तो अपने आप में है, आत्मा में है। इसलिये अपनी बुद्धि को विषय वासना की निस्सारता के निश्चय से परिपूर्ण रखें और एक क्षण के लिए भी असावधान न होने दें।

64- सत्यां क्षितौ किं कशिपोः प्रयासै, र्बाहौ स्वसिद्धे ह्युपबर्हणैः किम्।
सत्यञ्जलौ किं पुरुधान्नपात्र्या, दिग्वल्कलादौ सति किं दुकूलैः।।
2.2.4।।

65- चीराणि किं पथि न सन्ति दिशन्ति भिक्षां।
नैवाङ्घ्रिपाः फलभृतः सरितोऽप्यशुष्यन्।।
रुद्धा गुहाः किमजितोऽवति नोपसन्नान्।।
कस्माद् भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान्।।2.2.5।।

जब जमीन पर सोने के लिये स्थान पर्याप्त है तब पलंग के लिये प्रयत्न करने से क्या प्रयोजन। जब भुजाएँ अपने को भगवान् की कृपा से स्वयं ही मिली हुई है तब तकिया की क्या आवश्यकता। जब अञ्जली से काम चल सकता है, तब बहुत से बर्तन क्यों संग्रह करें। वृक्ष की छाल पहनकर या वस्त्रहीन रहकर भी यदि जीवन धारण किया जा सकता है तो वस्त्रों की क्या आवश्यकता है? अथवा पहनने को क्या रास्ते में चिथड़े नहीं हैं? भूख लगने पर दूसरों के लिये फल धारण करने वाले वृक्ष क्या फल-फूल की भिक्षा नहीं देते? जल चाहने वालों के लिये नदियाँ क्या बिल्कुल सूख गयी हैं? रहने के लिये क्या पहाड़ों की (पत्थरों की) गुफाएँ बन्द कर दी गयी है। अरे भाई! सब न सही क्या भगवान भी अपने शरणागतों की रक्षा नहीं करते? ऐसी स्थिति में बुद्धिमान लोग भी धन के नशे में चूर घमंडी धनियों की चापलूसी क्यों करते हैं।

तात्पर्य अर्थ-

मनुष्यों के दु:ख का, अशान्ति का कारण है प्राय: उनकी व्यसन (आदत), हम आवश्यकता से अधिक की कामना करते हैं, परिणाम स्वरूप वही कामना दु:ख का कारण बन जाती है। हम अपने पूर्वजों, प्राचीन ऋषि-मुनियों के गुण-आचरणों से शिक्षा ग्रहण करके परम सुख-शांति को प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु बड़ी दु:ख की बात है कि हमारे मन की वैसी गुणग्राह्यता की वृत्ति नहीं बनती। बल्कि पशुवत् निरन्तर विषय भोगों की वृत्ति बनती रहती है। भगवद्पाद शंकराचार्य जी का कहना है- **दोषेण तीव्रो विषय: कृष्णसर्पविषादपि। विषं निहन्ति भोक्तारं द्रष्टारं चक्षुषाप्ययम्।।** वि.चु.79।।

विषय काले सर्प के विष से भी अधिक तीव्र दोषवाला है, क्योंकि विष तो खाने वाले को ही मारता है किन्तु विषय तो आँख से देखने वालों को भी नहीं छोड़ता। अत: विषयरूपी विषम मार्ग में चलने वाले मलिन बुद्धि को पद-पद पर मृत्यु होती है, ऐसा समझकर **विषयाख्यग्रहो येन सुविरक्तयासिना हत:। स गच्छति भवाम्भोधे: पारं प्रत्यूहवर्जित:।।** वि.चु. 82।।

जिसने वैराग्यरूपी खड्ग से विषयैषणारूपी ग्राह को मार दिया है, वही निर्विघ्न, संसार समुद्र के उस पार जा सकता है। प्रस्तुत विषय पर गीता में कहा है-

'ध्यायतो विषयान्पुंस: संगस्तेषूपजायते। संगात्सञ्जायते काम: कामात्क्रोधोऽभिजायते।। क्रोधाद्भवति सम्मोह: सम्मोहात्स्मृतिविभ्रम:। स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति (गी. 2.62/63)।

66- एवं स्वचित्ते स्वत: एव सिद्ध, आत्मा प्रियोऽर्थो भगवाननन्त।
तं निर्वृत्तो नियतार्थो भजते, संसारहेतूपरमश्च यत्र।। 2.2.6।।

इस प्रकार विरक्त हो जाने पर अपने हृदय में नित्य विराजमान स्वत:सिद्ध, आत्मस्वरूप, परम-प्रियतम, परम सत्य जो अनन्त है, बडे प्रेम और आनन्द से दृढ़ निश्चय करके उन्हीं का भजन करें, क्योंकि उनके भजन से जन्म-मृत्यु के चक्कर में डालने वाले अज्ञान का नाश हो जाता है।

तात्पर्य अर्थ-

सर्वप्रथम साधक को प्रवाहरूप अनादि अविद्या की निवृत्ति को उद्देश्य बना लेना होगा जो कि अत्यनिवार्य है। तभी वह साधक अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता हैं। आत्मा की अनुभूति करने में समर्थ हो सकता है। इस अविद्या की आवरण और विक्षेप दो शक्तियाँ हैं। पहला आवरण जो वस्तु के स्वरूप को छिपा देती है। गीता में भगवान् ने कहा है- **'अज्ञानेनावृत्तं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तव:'** (गी. 5.15) अर्थात्

अज्ञान से ज्ञान आवृत्त हो रहा है, इसी कारण जीव मोह (अविवेक) में पड़े हुए हैं। इसी अज्ञान की महिमा से रज्जु में सर्प, सीप में रजत, अत्यन्त विविक्त आत्मा में अनात्म का भान उत्पन्न होता है। इसी ज्ञान का नाम अध्यास है। अध्यास का स्वाराज्य तब तक बना रहता है जब तक अधिष्ठान का साक्षात्कार नहीं होता। चित्त की चंचलता एवं विषय चिन्तन ही विक्षेप का स्वरूप है। दूसरा विक्षेप-उसे कहा जाता है जिसके द्वारा मन तत्काल क्षुब्ध हो जाये, व्याकुल हो जाये, अप्रियता का अनुभव करने लगे। (जैसे- अप्रिय ध्वनि, अप्रिय खान-पान, अप्रिय प्राणि पदार्थों का संग एवं अप्रिय प्रकृति का स्वभाव (प्रतिकूल मौसम) इत्यादि और इसके विपरीत प्रिय ध्वनि, प्रिय खान-पान, प्रिय प्राणि, पदार्थों का संग एवं प्रिय प्रकृति का स्वभाव (अनुकूल मौसम) इत्यादि। अर्थात् मन की अशान्ति व समस्त सांसारिक बहिर्मुखी प्रवृत्ति को विक्षेप समझना चाहिये। अविद्या के नष्ट हो जाने पर आवरण शक्ति और विक्षेपशक्ति ये दोनों स्वतः ही नष्ट हो जाती हैं। अविद्या को विद्या के द्वारा (ज्ञान) के द्वारा नष्ट करें, जैसे अन्धकार को प्रकाश से नष्ट किया जाता है या हो जाता है।

67- मनः स्वबुद्ध्यामलया नियम्य, क्षेत्रज्ञ एतां निनयेत् तमात्मनि।
आत्मानमात्मन्यवरुध्य धीरो, लब्धोपशान्तिर्विरमेत कृत्यात्।। 2.2.16।।

तदनन्तर अपनी निर्मल बुद्धि से मन को नियमित करके मन के साथ बुद्धि को क्षेत्रज्ञ में और क्षेत्रज्ञ को अन्तरात्मा में (शाश्वत आत्मा में) लीन कर दे। फिर अन्तरात्मा को परमात्मा में (ब्रह्म) में लीन करके धीर पुरुष उस परम शान्तिमय अवस्था में स्थित हो जाये फिर तो उसके लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता।

तात्पर्य अर्थ-

साधक अभ्यास काल में जैसे- असम्प्रज्ञात समाधि में (निर्बीज) स्थित हो जाने पर, उस काल में कोई कर्तव्य शेष नहीं रह जाता है उनके लिये। उसी प्रकार यदि वह स्थिति को चलते-फिरते, खाते-पीते, सोते-जागते या और कोई अन्य व्यवहार से युक्त होते हुए भी बनाये रक्खें, तो शेष जीवन में उनके लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रह जाता। इसी का नाम है जीवन्मुक्त जीते जी मुक्त।

इस प्रस्तुत प्रसंग में भगवान श्रीकृष्ण आत्मज्ञानी कपिल के रूप में सद्गुरु हैं और माँ देवहूति, साँसारिक जीवात्मा है। इसलिये संसार के बन्धनों को स्वीकार करके दुःख का अनुभव करता हुआ संशयात्मक जीवन यापन करता है यह जीव। इसी संशयात्मक वृत्ति से मुक्ति पाने के लिये ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानी गुरु की आवश्यकता है।।

68- अत एव शनैश्चित्तं प्रसक्तमसतां पथि।

भक्तियोगेन तीव्रेण विरक्तस्य च नयेद्वशम्।।3.27.5।।

इसलिये बुद्धिमान मनुष्य को उचित है कि असन्मति (विषयचिन्तन) में फँसे हुए चित्त को तीव्र भक्ति योग और वैराग्य के द्वारा धीरे-धीरे अपने वश में कर लेना चाहिये।

तात्पर्य अर्थ-

मन-बुद्धि को वश में किये बिना कोई भी कार्य को करने में मनुष्य सदैव ही असमर्थ होता है, वह कार्य चाहे लौकिक हो अथवा पारलौकिक। इसलिये मन-बुद्धि को वश में करने का प्रयत्न करना चाहिये, विशेष करके साधकों को। वश में करने का दो उपाय है- कभी भी मन में राग-द्वेष का न होना और चराचर-जगत् को आत्मा के रूप में देखना। जब तक साधक के भीतर राग-द्वेष रहते हैं, तब तक वह सबमें आत्मा को नहीं देख पाता और जब तक साधक सबमें आत्मा को (अपने आप) को नहीं देखता, तब तक मन सर्वथा वश में नहीं होता। कारण कि जब तक साधक की दृष्टि में एक आत्मा के प्रति अटूट विश्वास न हो और आत्मा से भिन्न दूसरी सत्ता की मान्यता रहती है, तब तक मन का सर्वथा निरोध नहीं हो सकता। अतः भगवान ने कहा है गीता में- "**असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्। अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।।**" गी. 6.35।।

69- संङ्ग न कुर्यात्प्रमदासु जातु, योगस्य पारं परमारुरुक्षुः।

मत्सेवया प्रतिलब्धात्मलाभो, वदन्ति या निरयद्वारमस्य।। 3.31.39।।

70- योपयाति शनैर्माया योषिद्देवविनिर्मिता।

तामीक्षेतात्मनो मृत्युं तृणैः कूपमिवावृतम्।। 3.31.40।।

जो पुरुष योग के परम पद पर आरूढ़ होना चाहता है अथवा जिसे मेरी सेवा के प्रभाव से आत्मा-अनात्मा का विवेक हो गया हो, वह स्त्रियों का सङ्ग कभी न करे, क्योंकि ऐसे पुरुष के लिये यह स्त्रीरूपिणी माया धीरे-धीरे सेवादि के माध्यम से पास आती है, इसे तिनकों से ढके कुएँ के समान अपनी मृत्यु ही समझें।

तात्पर्य अर्थ-

कल्याणार्थि मुमुक्षुओं के लिये विषय मात्र बन्धन का कारण है, केवल एक ही विषय को नहीं समझना चाहिये। यहाँ पर स्त्री विषय से (प्रसङ्ग से) शब्द, स्पर्श और रूप इन तीनों विषयों को समझना चाहिये, क्योंकि ये तीनों विषय पुरुषों के लिये स्त्री के माध्यम से और स्त्री के लिये पुरुष के माध्यम से मन में प्रविष्ट होकर जन्म-मृत्यु

का अथवा संसार बन्धन का कारण बनता है। (शब्द) प्रिय एवं मधुर वाणी, (स्पर्श) कोमलाङ्गों का-सङ्ग मन को पागल बना देता है, एक-दूसरे को बेहोश कर देता है, भर्तृहरि का कहना है- "**संपत्सु महतां चित्तं भवत्युत्पलकोमलम्**" (भर्तृहरि नीति 56) अर्थात् स्त्री के अंग में अत्यन्त कोमलता होने से चित्त आसक्त हो जाता है, यथा- काष्ठ को भी छिद्र करके निकल जाने वाले भौंरा कमल के सुकोमल पंखुड़ियों में बन्ध जाता है। भगवत्पाद जगद्गुरु शंकराचार्य जी का कहना है- **शब्दादिभिः पञ्चभिरेव पञ्च, पञ्चत्वमापुः स्वगुणेन बद्धा। कुरङ्ग मतङ्ग पतङ्ग मीन भृङ्गा नरः पञ्चभिरञ्चितः किम्।।** वि.चु. 78।। तथा "**रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं, भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजश्रीः। इत्थं विचिन्तयते द्विरेफो हा हन्त हन्त नलिनीं गन उज्जहार।।**" (सुभाषितरत्नभाण्डागारः)।

अपने-अपने स्वभाव के अनुसार शब्दादि पाँच विषयों में से केवल एक-एक से बँधे हुए हिरण, हाथी, पतङ्ग, मछली और भौरे मृत्यु को प्राप्त होते हैं, फिर इन पाँचों से जकड़ा हुआ मनुष्य कैसे बच सकता है? अर्थात् जो विषयों की आशा रूप कठिन बन्धन से छूटा हुआ है, वही मोक्ष का अधिकारी होता है और कोई नहीं, चाहे वह छहों दर्शनों का ज्ञाता ही क्यों न हो।

71- **जीवो ह्यस्यानुगो देहो भूतेन्द्रियमनोमयः।**
तन्निरोधोऽस्य मरणमाविर्भावस्तु सम्भवः।।3.31.44।।

हे देवी! यह जीवात्मा के उपाधिभूत सूक्ष्म शरीर द्वारा पुरुष एक लोक से दूसरे लोक में जाता है और अपने प्रारब्ध कर्मों को भोगता हुआ निरन्तर अन्य देहों की प्राप्ति के लिये दूसरे कर्म करता रहता है। यह उपाधिभूत लिङ्गदेह तो मोक्षपर्यन्त उसके साथ रहता है तथा भूत, इन्द्रिय और मन के मिलित कार्यरूप स्थूल शरीर इसका भोगाधिष्ठान है। इन दोनों का परस्पर संगठित होकर कार्य न करना ही प्राणी की मृत्यु है और दोनों का साथ-साथ प्रकट होना (उत्पन्न होना) जन्म कहलाता है।

तात्पर्य अर्थ-

इस जीवात्मा के आवागमन (जन्म-मृत्यु) का कारण अविद्याकृत कर्मवासना के सहित सूक्ष्म शरीर है अथवा देव, मनुष्य, पशु-पक्षी, कृमि, कीटादि शरीर धारण कराने में प्रारब्ध कर्मों से युक्त सूक्ष्म शरीर ही निमित्त है। एवं सूक्ष्म शरीर से युक्त जीवात्मा अपने अपने प्रारब्ध कर्मों के अनुसार भोग करता हुआ पुनर्जन्म की प्राप्ति के लिये ही नवीन से नवीनतम कर्म करता रहता है, यही वर्तमान कर्म कहलाता है। अर्थात् जीव में कर्मों का भोग अनवरत सुख-दुःख, हानि-लाभ, संयोग-वियोग, हर्ष-शोकादि,

इन्हीं दोनों (प्रारब्ध और वर्तमान) कर्मों के द्वारा प्राप्त होता है। ये दोनों कर्म एक-दूसरे के पूरक हैं, यथा-पक्षी के दो पँख। इसलिये इन दोनों कर्मों में कौन पहले और कौन पीछे का निर्णय कर पाना अत्यन्त दुस्तर है। इसलिये अनादि कहकर छोड़ दिया जाता है।

72- तस्मान्न कार्यः सन्त्रासो न कार्पण्यं न सम्भ्रमः।
बुद्ध्वा जीवगतिं धीरो मुक्तसङ्गश्चरेदिह।। 3.31.47।।

अतः मुमुक्षु पुरुष को मरणादि से भय, दीनता अथवा जल्दीबाजी में किसी प्रकार घबराना नहीं चाहिये। बल्कि उस मुमुक्षु को जीव के स्वरूप को जानकर धैर्यपूर्वक निःसङ्ग भाव से विचरना चाहिये।

तात्पर्य अर्थ-

मुमुक्षु साधक का परम कर्तव्य है कि मन-बुद्धि को स्वरूप में स्थिर करके जन्म-मृत्यु के भय, दीनतादि से रहित होकर शेष जीवन व्यतीत करें।

73- द्रव्योपलब्धिस्थानस्य द्रव्येक्षायोग्यता यदा।
तत्पञ्चत्वमहंमानादुत्पत्तिर्द्रव्यदर्शनम्।। 3.31.45।।

पदार्थों की उपलब्धि के स्थान रूप इस स्थूल शरीर में जब उनको ग्रहण करने की योग्यता नहीं रहती, यह उसका मरण है और यह स्थूल शरीर ही मैं हूँ-इस अभिमान के साथ उसे देखना, उसका जन्म है।

तात्पर्य अर्थ-

जन्म-मृत्यु की परिभाषा है, सबकी सहकारिता-असहकारिता का होना न होना। जैसे बीज को अंकुरित होने के लिये समयानुसार जल, मिट्टी, वायु और उष्णता और साथ ही इन सभी के संयोजक (कोई व्यक्ति) की महति आवश्यकता है। इसी का नाम है सहकारिता (सहयोग)। इन सभी की सहकारिता से बीज से अंकुर के प्रकटिकरण को ही उत्पत्ति माना गया है और इन सभी की या एक की सहकारिता में किसी कारण वशात् अभाव हो जाना आंशिक विनाश या पूर्ण विनाश कहा जाता है। इसी प्रकार शरीर, इन्द्रिय और उनके देवता आदि सहकारी साधन हैं, सूक्ष्म शरीर का (जीवात्मा का)। इनमें से एक का भी अभाव होने पर देखना, सुनना, चलना, बोलना, लेना-देना आदि व्यवहार सम्यक् नहीं हो सकते। इसे आंशिक मृत्यु और सहकारिता का सर्वथा विघटन होना पूर्ण मृत्यु है। इसके विपरीत सभी का यथावत् संगठन होना ही जन्म कहलाता है।

74- मार्गेणानेन मातस्ते सुसेव्येनोदितेन मे।
आस्थितेन परां काष्ठामचिरादवरोत्स्यसि।। 3.33.10।।

75- श्रद्धत्स्वैतन्मतं मह्यं जुष्टं यद्ब्रह्मवादिभिः।
येन मामभवं याया मृत्युमृच्छन्त्यतद्विदः।।3.33.11।।

हे माताजी! मैंने तुम्हें जो यह सुगम मार्ग बताया है, इसका अवलम्बन करने से तुम शीघ्र ही परमपद प्राप्त कर लेगी। तुम मेरे इस मत में विश्वास करो, ब्रह्मवादी लोगों ने इसका सेवन किया है, इसके द्वारा तुम जन्म-मृत्यु रहित मेरे स्वरूप को प्राप्त कर लेगी। जो लोग मेरे इस मत को नहीं जानते वे जन्म-मृत्यु के चक्र में पड़ते हैं।

तात्पर्य अर्थ-

ब्रह्मात्मनिष्ठ सद्‌गुरु की सद्‌भावना पूर्वक सेवा एवं उनके उपदेश या शास्त्रानुकूल आचरण पर विश्वास करके अपने जीवन में अपना लेता है अथवा शास्त्र-सद्‌गुरु में अटूट विवास बनाये रखने वाले मनुष्यों का कल्याण होने में कोई संशय नहीं और जो लोग इनमें विश्वास न करके केवल मात्र विषयों के भोग-विलास में ही रत रहते हैं अथवा अपनी बुद्धि की क्षमता आदि का भरोसा रखते हैं। वे लोग जन्म-मृत्यु रूप संसार बन्धन में पड़ जाते हैं अथवा संसार बन्धन से छुटकारा नहीं पाते।

विश्वास मनुष्य के लिये बहुत बड़ी वस्तु है, जीवन का बहुत बड़ा सम्बल है, सम्पत्ति है। अर्थात् लौकिक-पारलौकिक व्यवहारों में सर्वत्र विश्वास की आवश्यकता है, क्योंकि विश्वास के बिना कोई भी कार्य करने में मनुष्य उलझन में पड़ जाते हैं। अत: विश्वास के साथ यदि श्रद्धा भी हो तो अत्युत्तम होगा। क्योंकि जिसमें श्रद्धा होगी उसमें व्यक्ति समर्पित हो जाता है। अत: श्रद्धा के द्वारा ही अविनाशी परमपद को प्राप्त किया जा सकता है क्योंकि विद्वद्वर्य ब्रह्मज्ञानी जन अपने जीवन में विश्वास और श्रद्धा की दृढ़ता से ही अविनाशी पद को स्वस्वरूप को प्राप्त किया है। "**यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।।**" (गी. 3.21) **श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।** (गीता. 4.39)।

(6) आत्मप्रीति प्रकरण-

76- तदहं कृतविश्रम्भः सुहृदो वस्तपस्विनाम्।
संपृच्छे भव एतस्मिन् क्षेमः केनाञ्जसा भवेत्।। 4.22.15।।

77- व्यक्तमात्मवतामात्मा भगवानात्मभावनः।
स्वानामनुग्रहायेमां सिद्धरूपी चरत्यजः।। 4.22.16।।

आप संसार अनल से संतप्त जीवों के परम सुहृद् हैं, इसलिये आप में विश्वास करके मैं यह पूछना चाहता हूँ कि इस संसार में मनुष्य का किस प्रकार सुगमता से कल्याण हो सकता है? यह निश्चय है कि जो आत्मवान् (धीर) पुरुषों में आत्मा रूप

से प्रकाशित होते हैं और उपासकों के हृदय में अपने स्वरूप को प्रकट करने वाले हैं वे अजन्मा भगवान् नारायण ही अपने भक्तों पर अनुग्रह करने के लिये आप जैसे सिद्ध पुरुषों के रूप में इस पृथ्वी पर विचरण करते हैं।

तात्पर्य अर्थ-

आत्म ज्ञान से रहित मनुष्यों के कल्याण में निमित्त एकमात्र ब्रह्मनिष्ठ, ब्रह्मज्ञानी, गुणातीत-निर्द्वन्द्व, सर्वात्मभाव में स्थित महापुरुष ही हो सकता है। केवल शास्त्रज्ञ पण्डितों के परोक्ष ज्ञान तो, तत्वज्ञानियों, ब्रह्मवेत्ताओं से उधार (ऋण) लिया हुआ ज्ञान है। जैसे यन्त्रों का ज्ञान (टीवी, कम्प्यूटरादि)। अर्थात् किसी के कल्याण के लिये आत्मा के अनुभव ज्ञान की आवश्यकता है, ज्ञान के साथ तादात्म्य भाव की आवश्यकता है। उस ज्ञान के अनुसार जीने की आवश्यकता है। जैसे सनत्कुमारादि ज्ञानियों का जीवन व आचरण, तभी किसी अज्ञानी मनुष्य का कल्याण हो सकता है।

78- साधु पृष्टं महाराज सर्वभूतहितात्मना।
भवता विदुषा चापि साधूनां मतिरीदृशी।। 4.22.18।।

79- सङ्गमः खलु साधूनामुभयेषां च सम्मतः।
यत्सम्भाषणसम्प्रश्नः सर्वेषां वितनोति शम्।। 4.22.19।।

हे महाराज! आपने सब कुछ जानते हुए भी समस्त प्राणियों के कल्याण की दृष्टि से बड़ी अच्छी बात पूछी है। सच है साधु पुरुषों की बुद्धि ऐसा हुआ करती है। सत्पुरुषों का समागम श्रोता और वक्ता दोनों को ही अभिमत होता है क्योंकि उनके प्रश्नोत्तर सभी का कल्याण करते हैं।

तात्पर्य अर्थ-

प्रश्न करने का उद्देश्य तीन प्रकार से होता है- (क) लोक कल्याण की दृष्टि से प्रश्न किया जाता है, वह उत्तम है। क्योंकि उनके मन में किसी प्रकार का संशय तो नहीं है फिर भी लोक हितार्थ तत्त्ववेत्ताओं से प्रश्न कर लेते हैं। (ख) जिज्ञासा की दृष्टि से प्रश्न किया जाता है वह मध्यम है, क्योंकि जिन्हें कोई बात सुनने से मन में संशय हो गया है अथवा शास्त्राध्ययन से भी संशय हो जाता है। इसलिये उस संशय को दूर करने की जिज्ञासा से प्रश्न करना अनिवार्य हो जाता है। (ग) परीक्षा की दृष्टि से पूछा जाता है, वह प्रश्नकर्ता कनिष्ठ माना जाता है, क्योंकि उनके मन में उत्तुङ्ग-गिरीन्द्ररूप अहंकार उन्हें शान्ति से रहने नहीं देता, अनेकों ठोकरे खाने पर भी उस चट्टान पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, अर्थात् मैं बहुत बड़ा पण्डित हूँ (ज्ञानी) हूँ। ऐसा अहंकार से पूर्ण व्यक्ति किसी दूसरे के ज्ञान का, धन का (सम्पत्ति का), यश-कीर्ति का सम्मान नहीं

करते, बल्कि द्वेष (जलन) करते हैं क्योंकि दूसरों के ज्ञान, सम्पत्ति, कीर्ति आदि से अपने को किसी प्रकार भी न्यून या समानता समझना उनके लिये शर्म की बात है, मृत्यु जैसी बात है। अपना अपमान मृत्यु के समान ही मानता है। अर्थात् प्रश्न जिज्ञासा से ओतप्रोत होना चाहिये, जिससे अपना और अन्य का भी कल्याण हो। अथवा आचार्य अपने शिष्य के प्रति परीक्षा की दृष्टि से भी प्रश्न कर सकते हैं।

80- अस्त्येव राजन् भवतो मधुद्विषः, पादारविन्दस्य गुणानुवादने।
रतिर्दुरापा विधुनोति नैष्ठिकी, कामं कषायं मलमन्तरात्मनः।। 4.22.20।।

श्री मधुसूदन भगवान् के चरण कमलों के गुणानुवाद में अवश्य ही आपकी अविचल प्रीति है। हर किसी को इसका प्राप्त होना बहुत कठिन है और प्राप्त हो जाने पर यह हृदय के भीतर रहने वाले उस वासना रूप मल को सर्वथा नष्ट कर देती है जो और किसी उपाय से जल्दी नहीं छूटता।

तात्पर्य अर्थ-

परब्रह्म रूप अन्तरात्मा में दृढ़ विश्वास अथवा परब्रह्मरूप अन्तरात्मा ही चिन्तन-मनन या गुणानुवाद करने योग्य है और जो कोई निरन्तर उसके चिन्तन में तत्पर रहता है वह सर्वोत्तम अधिकारी है। इस प्रकार जीवनचर्या व्यतीत करना सभी के लिये सुलभ नहीं है अर्थात् अत्यन्त कठिन भी है और कदाचित् उपरोक्त कथनानुसार सौभाग्य से जिस किसी का जीवन व्यतीत होता है तो वह ज्ञान, वह अनुभव **''भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।।''** (मुं.उ. 2. 2.8) इस श्रुति के अनुसार हृदय के भीतर स्थित कर्मों के अनादि बीजवासना रूप मल को (दोष को) सदा-सर्वदा के लिये नष्ट कर देता है। जो और उपाय से जल्द नष्ट नहीं हो पाता।

81- शास्त्रेष्वियानेव सुनिश्चितो नृणां, क्षेमस्य सध्र्यग्विमृशेषु हेतुः।
असङ्ग आत्मव्यतिरिक्त आत्मनि, दृढ़ा रतिर्ब्रह्मणि निर्गुणे च या।। 4.22.21।।

शास्त्रों में जीवों के कल्याण के लिये भली-भाँति विचार कर निश्चित किया गया है कि आत्मा से भिन्न शरीर आदि के प्रति वैराग्य तथा अपने आत्मस्वरुप निर्गुण ब्रह्म में सुदृढ़ अनुराग होना, इतना ही कल्याण का साधन है।

तात्पर्य अर्थ-

जड़-चेतन का भली-भाँति विवेक करके जड़ के निस्सारता, दुःखरूपता, विनाशिता आदि पर गम्भीरता पूर्वक विचार करके उससे सदा-सर्वदा के लिये वैराग्य एवं दोष दर्शन हो जाने के पश्चात् आत्मा में, अपने आप में, स्वस्वरूप में अनुराग की स्थिरता

आती है। यही शास्त्र का उद्देश्य है। जैसे कोई प्राणि-गहरी सात (खाई) में या अन्धकूप में गिर जाने पर तड़फन में जीवन बीत रहा हो और उसे कोई दयालु दया करके बाहर निकाल दे, उसी प्रकार श्रुति दयामयी होती है।

82- यदा रतिर्ब्रह्मणि नैष्ठिकी पुमानाचार्यवान् ज्ञानविरागरहंसा।

दहत्यवीर्यं हृदयं जीवकोशं, पञ्चात्मकं योनिमिवोत्थितोऽग्निः।। 4.22.26।।

परब्रह्म में सुदृढ़ प्रीति हो जाने पर साधक सद्गुरु की शरण लेता है, फिर ज्ञान और वैराग्य के प्रबल वेग के कारण वासना शून्य हुए अपने अविद्यादि पाँच प्रकार के क्लेशों से युक्त अहंकारात्मक अपने लिङ्गशरीर को वह उसी प्रकार भस्म कर देता है जैसे अग्नि लकड़ी से प्रकट होकर फिर उसी को जला डालती है।

तात्पर्य अर्थ-

जब तक सूक्ष्म शरीर (लिङ्गदेह) की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं हो जाती तब तक संसार बन्धन रूप जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख आदि से छुटकारा पाना असम्भव है और प्रत्येक प्राणी को यह भवबन्धन स्वीकार्य नहीं है, ऐसी स्थिति में मनुष्य को क्या करना चाहिये? यह लिङ्गदेह क्या है? उस पर पहले विचार करते हैं-पञ्चदशीकार श्री विद्यारण्य मुनि जी महाराज का कहना है- ''**बुद्धिकर्मेन्द्रियप्राण, पञ्चकैर्मनसा धिया। शरीरं सप्तदशभिः, सूक्ष्मं तल्लिंगमुच्यते।।**'' (पं.द. 1.23) अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय 5, कर्मेन्द्रिय 5, प्राण 5, मन और बुद्धि 2- इन 17 तत्त्वों का नाम है- सूक्ष्म शरीर। अब हम भगवत्पाद आद्य शंकराचार्य जी महाराज के वचनों पर विचार करते हैं- ''**वागादिपञ्च श्रवणादिपञ्च, प्राणादिपञ्चाभ्रमुखानि पञ्च। बुद्ध्याद्यविद्यापि च कामकर्मणी, पुर्यष्टकं सूक्ष्मशरीरमाहुः।।** वि.चु. 98।।

अर्थात् (1) वागादि पाँच कर्मेन्द्रियाँ, (2) श्रवणादि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, (3) प्राणादि पाँच प्राण, (4) आकाशादि पाँच भूत, (5) बुद्धि आदि अन्तःकरणचतुष्टय, (6) अविद्या, (7) काम और (8) कर्म-यह पुर्यष्टक अथवा सूक्ष्म शरीर कहलाता है। यहाँ 24 तत्त्वों की अज्ञानता ही (पुर्यष्टक का छठा) अविद्या तत्त्व है, जिससे कामना (पुर्यष्टक का सातवाँ) और कामनावश नाना प्रकार के (पुर्यष्टक का आठवाँ) कर्म होते हैं और कर्मों के संस्कारों का आधारभूत भी यही लिङ्गदेह ही है। अर्थात् कामना और कर्म ही संस्कारों का साधन होने से गमनागमन एवं जन्म-मृत्यु का भी साधन इसी को समझना चाहिये।

आचार्य विद्यारण्यमुनि जी और भगवत्पाद शंकराचार्य जी के विचारों में 17 की सं. और 27 की संख्या देखने में आ रही है। इसका कारण है कि व्यास और समास की

परम्परा हमारे विद्वानों की शैली है। वास्तव में विचार करने पर अन्तर कुछ भी नहीं है। 27 भी 17 के अन्तर्गत ही है। जैसे- पाँच ज्ञानेद्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच भूत, एक मन और एक बुद्धि। इस प्रकार समास करने पर सं. 17 तत्त्व ही बनता है। एक ही मन से लक्षित है ''**प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः**'' (छा.उप)। प्राण को स्थान भेद से पाँच के नाम से जाना जाता है, इसी प्रकार एक ही अन्तःकरण को भी चार भेद से समझना चाहिये।

यह समस्त 17 जो व्यस्त 24 हैं वे अब कार्य हैं , शेष तीन (अविद्या, काम, कर्म) इनके कारण हैं। वास्तव में पुर्यष्टक कारणशरीरयुक्त सूक्ष्म शरीर है। अब थोड़ा विचार करने की बात यह रह गयी है कि इस लिङ्ग शरीर का आत्यन्तिक नाश कैसे हो, यह वासनामय लिङ्ग शरीर भूत सूक्ष्म है। अर्थात् जड़ पदार्थ है, जड़ पदार्थ होने से विशुद्ध चैतन्य, आत्मा को बाँधने में कदापि समर्थ नहीं हो सकते। अब प्रश्न होता है-फिर आत्मा का बन्धन क्या है? समाधान यह है कि बन्धन का अनुभव एक मात्र अज्ञानमय है और इस अज्ञान का विनाश होता है, ज्ञान से, यथा अन्धकार का विनाश प्रकाश से। ज्ञान की प्राप्ति होगी श्रद्धा विश्वास पूर्वक शास्त्र एवं सद्गुरु में अनन्य भाव होने पर। जैसा कि गीता (अ.4.37) में इसी विषय पर कहा है- ''**यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन। ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।।**''

83- नातः परो लोके पुंसः स्वार्थव्यतिक्रमः।
यदध्यन्यस्य प्रेयस्त्वमात्मनः स्वव्यतिक्रमात् ।। 4.22.32।।

84- अर्थेन्द्रियार्थाभिध्यानं सर्वार्थापह्नवो नृणाम्।
भ्रंशितो ज्ञानविज्ञानाद्येनाविशति मुख्यताम्।। 4.22.33।।

जिसके उद्देश्य से अन्य सब पदार्थों में प्रियता का बोध होता है, उस आत्मा का अपने द्वारा ही नाश होने से जो स्वार्थ हानि होती हैं, उससे बढ़कर लोक में जीव की और हानि नहीं है। इन्द्रियों के द्वारा धन और विषयों का चिन्तन होना ही मनुष्यों के सभी पुरुषार्थों का नाश करने वाला है, क्योंकि वृक्षादि स्थावर योनि में जन्म पाता है।

तात्पर्य अर्थ-

मनुष्यों को जो कुछ भी प्राणि-पदार्थों में सुख शांति का, आनन्द का अनुभव होता है, वह स्वयमात्मा का ही स्वभाव (गुण) है। क्योंकि आत्मा से भिन्न प्राणि पदार्थों में वह आनन्द या सुख शान्ति तीनों कालों में होना असम्भव है, फिर भी लोग उसी प्राणि पदार्थों में ही सुख-शान्ति की खोज किया करते हैं, यह कितनी बड़ी आश्चर्य की बात है। इसी को अज्ञानता की या मूढ़ता की पराकाष्ठा कहा गया है। कदाचित् विषयों में सुख-शान्ति न होने पर भी सुख-शान्ति मान लिया जाये, थोड़ी देर के लिये तो वह

आभास मात्र सुख-शान्ति स्वप्नवत् है, वास्तविक नहीं, क्योंकि क्षण बाद दु:ख में परिवर्तित हो जाता है। जैसे क्या सूखी हड्डी में रसानन्द का अनुभव हो सकता है? तो कहना पड़ेगा कदापि नहीं। फिर भी वह मूर्ख कुत्ता, रसस्वाद अनुभव की कल्पना करता है और चबाता रहता है। "**उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्, आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।।**" (गी. 6.5) अपने द्वारा अपना उद्धार करें, अपना पतन न करें, क्योंकि आप ही अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु भी हैं।

85- येनैवारभते कर्म तेनैवामुत्र तत्पुमान्।
भुङ्क्ते ह्यव्यवधानेन लिङ्गेन मनसा स्वयम्।। 4.29.60।।

86- शयानमिममुत्सृज्य श्वसन्तं पुरुषे यथा।
कर्मात्मन्याहितं भुङ्क्ते तादृशेनेतरेण वा।। 4.29.61।।

हे राजन्! (स्थूल शरीर तो लिङ्ग शरीर के अधीन है, अत: कर्मों का उत्तरदायित्त्व उसी पर है) जिस मन: प्रधान लिङ्ग शरीर के सहयोग से मनुष्य कर्म करता है, वह तो मरने के बाद भी उसके साथ रहता ही है, अत: वह परलोक में परोक्ष रूप से स्वयं उसी के द्वारा उनका फल भोगता है। स्वप्नावस्था में मनुष्य इस जीवित शरीर का अभिमान तो छोड़ देता है किन्तु उसी के समान अथवा उससे भिन्न प्रकार के पशु-पक्षी आदि शरीर से वह मन में संस्कार रूप से स्थित कर्मों का फल भोगता रहता है।

तात्पर्य अर्थ-

यह स्थूल शरीर एक यन्त्र के समान है, इस यन्त्र रूप यन्त्र को चलाने वाला यन्त्री प्राणवायु, मन-बुद्धि आदि से युक्त सूक्ष्म शरीर है। अत: कर्तृत्व, भोक्तृत्त्व सूक्ष्म शरीर में ही समझना चाहिये क्योंकि स्थूल शरीर बारम्बार जन्म-मृत्यु से ग्रस्त है, किन्तु सूक्ष्म शरीर का जन्म-मृत्यु नहीं होता। इस सूक्ष्म शरीर की जिस दिन मृत्यु हो जायेगी, उसी दिन जीवात्मा परमात्मा के परमानन्द, परमपद, कैवल्य-विदेह मुक्ति को प्राप्त हो जायेगा। इस अवस्था की प्राप्ति के लिये साधन चतुष्टय (बहिरंग साधन) और श्रवण, मननादि (अन्तरंगसाधन) को जीवन में अपनाना, आत्मसात् करना अत्यन्त आवश्यक है। अर्थात् जब तक सूक्ष्म शरीर जीवित रहेगा, तब तक जन्म-मृत्यु, सुख-दु:खादि से छुटकारा पाना भी असम्भव है। इस सम्बन्ध में श्रुति भगवती का कहना है- "**आत्मानँ रथिनं विद्धि, शरीरँ रथमेव तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि, मनः प्रग्रहमेव च।। इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाँस्तेषु गोचरान्। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं, भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।।**" (क.उप. 3.4) मन्त्रार्थ- कर्म फल भोगने वाले संसारी आत्मा को रथ का स्वामी जानो और शरीर को रथ समझो, बुद्धि को सारथी और संकल्पात्मक मन को लगाम समझो।

(इस रथ कल्पना में कुशल विवेकी पुरुष) इन्द्रियों को घोड़े कहते हैं। (उन इन्द्रियों में घोड़े की कल्पना करने पर) रूपादि विषयों को उनका मार्ग कहा है और शरीर, इन्द्रियाँ एवं मन से युक्त आत्मा को भोक्ता कहते हैं। अर्थात् शुद्धात्मा में भोक्तृत्व नहीं है।

87- ममैते मनसा यद्यदसावहमिति ब्रुवन्।
गृह्णीयात्तत्पुमान् राद्धं कर्म येन पुनर्भवः।। 4.22.62।।

इस मन के द्वारा जीव जिन स्त्री-पुरुषादि को ये मेरे हैं और देहादि को यह मैं हूँ, ऐसा कहकर मानता है, उसके ये किये हुए पाप-पुण्यादिरूप कर्मों को भी वह अपने ऊपर ले लेता है और उसी के कारण इसे व्यर्थ ही फिर जन्म लेना पड़ता है।

तात्पर्य अर्थ-

मनुष्यों के अहंकार ही सुख-दुःख, जन्म-मृत्यु आदि रूप भवबन्धन का निमित्त बनता है। अहंकार कोई पदार्थ नहीं है, सिर्फ मनोवृत्ति मात्र है, ये वृत्तियाँ अनेकों प्रकार की बनती हैं और बिगड़ती हैं। वृत्ति के अनुकूल विषय की प्राप्ति सुख का निमित्त और वृत्ति के प्रतिकूल विषय की प्राप्ति दुःख का कारण बनता है अर्थात् प्राप्ति-अप्राप्ति का संस्कार पुनर्जन्म का कारण है। इसलिये अहंकार को मिटाने के लिये मन को स्ववश करना चाहिये और मन को बस में करने के लिये भक्ति, विवेक, वैराग्य और ज्ञान आदि साधनों को जीवन में अपनाना होगा, तभी उस अहंकार रूप रावण पर विजय प्राप्त किया जा सकता है। अर्थात् इस अहंकार को ध्वस्त (मिटाने) के लिये दशरथनन्दन राम, लक्ष्मण और भरत-शत्रुघ्न के नामों को अथवा नामों के अनुसार जीवन को बनाना होगा, (ज्ञान, वैराग्य, विवेक और भक्ति को) अपनाना होगा, तभी रावण रूपी अहंकार पर विजय प्राप्त कर सकते हैं अन्यथा नहीं।

88- यथानुमीयते चित्तमुभयैरिन्द्रियेहितैः।
एवं प्राग्देहजं कर्म लक्ष्यते चित्तवृत्तिभिः।। 4.29.63।।

89- नानुभूतं क्व चानेन देहेनादृष्टमश्रुतम्।
कदाचिदुपलभ्येत यद्रूपं यादृगात्मनि।। 4.29.64।।

जिस प्रकार ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों की चेष्टाओं से उनके प्रेरक चित्त का अनुमान किया जाता है, उसी प्रकार चित्त की भिन्न-भिन्न प्रकार की वृत्तियों से पूर्व जन्म के कर्मों का भी अनुमान होता है, अतः कर्म अदृष्टरूप से फल देने के लिये कालान्तर में मौजूद रहते हैं। कभी-कभी देखा जाता है कि जिस वस्तु का इस शरीर के द्वारा कभी अनुभव नहीं किया, जिसे न कभी देखा, न कभी सुना ही, उसका स्वप्न में वह जैसी होती है, वैसा ही अनुभव हो जाता है।

तात्पर्य अर्थ-

पूर्व-पूर्व जन्मों और भविष्यत् जन्मों पर प्राय: लोगों को संशय बना रहता है कि कौन देखा है, हम पूर्व जन्म में देवी-देवता थे, मनुष्य थे, अथवा पशु-पक्षी आदि ? और भविष्य में भी किसको पता है कि हम कहाँ जन्म लेंगे ? अर्थात् यह सब कपोल-कल्पित मात्र है, न कहीं स्वर्ग है और न कहीं नरक ही है। कर्म हम कुछ भी करें या करते हैं, वह कर्म काल के गाल में प्रविष्ट हो जायेगा, काल के साथ-साथ विलीन हो जायेगा। भूत के गाल में कवलित हो जायेगा और शरीर भी उसी काल के हवाले हो जायेगा। फिर ऐसी स्थिति में कहाँ किसको जन्म-मरण और सुख-दु:खों का भोग करने को बचा रहेगा। इस प्रकार नास्तिकों एवं आस्तिक वादियों का विचार से प्रभावित लोगों के मन में जो भ्रान्ति होती है, उसे मिथ्या ज्ञान कहा जाता है। क्योंकि लोक में और शास्त्र में देखा जाता है कि कोई जन्म से जीवनपर्यन्त सुखी और कोई जन्म से जीवन पर्यन्त दु:खी एवं अंगविहीन, धनी-निर्धनी की विषमता, रूपवान् और कुरूपता आदि आदि। ऐसा क्यों ? क्योंकि अभी तो वह कर्म भी नहीं किया है फिर भी कर्मों का फल क्यों भोग रहा है ? यह सबको प्रत्यक्ष अनुभव है। इसी से अनुमान किया जाता है कि यह पूर्व जन्मों का शुभाशुभ कर्मों का फल अपना-अपना सब भोग रहा है, वर्तमान जीवन में। इससे यह सिद्ध हुआ कि लोकयुक्ति प्रमाण से पुनर्जन्म निश्चित है जो शास्त्रों में उल्लिखित है।

पूर्व जन्मों की और कर्मों का सिद्धि चित्त की भिन्न-भिन्न वृत्तियों से भी किया जा सकता है अथवा स्वप्नावस्था से भी प्रमाणित होता है। क्योंकि कभी-कभी देखा जाता है कि जो स्वप्न आज देख रहे हैं, जिसे हमने कभी न देखा है और न कभी सुना है, किन्तु वर्तमान और सञ्चित कर्मों का मिश्रण अथवा फलाभिमुखी प्रारब्ध कर्म और वर्तमान कर्मों का मिश्रण के विषय को देख रहे हैं। अत: उक्त संस्कारों के द्वारा जन्म की सिद्धि और जन्म से कर्मों की सिद्धि। कर्म संस्कार (बीजवासना) अदृश्य एवं अतिसूक्ष्मतम होने के कारण उसे अनुमानों के द्वारा ही सिद्ध किया जाता है। इसके अतिरिक्त और कोई उपाय भी तो नहीं है। जो भी प्रत्यक्ष का विषय न बनता हो उसे जानने के लिये एक मात्र प्रमाण अनुमान ही है। यथा जिस घट, मठ, वस्त्र, यन्त्रादि के कलाकार को देखा नहीं फिर भी इस अद्‌भुत कलाकारी को देखकर अनुमान करते हैं कि इसका कोई न कोई कलाकार अवश्य होगा। ''**यथा वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वत इति। तज्जन्यं पर्वतो वह्निमानिति ज्ञानमनुमितिः।।**'' (तर्क सं. 2. 3)

90- तेनास्य तादृशं राजँल्लिङ्गिनो देहसम्भवम्।

श्रद्धत्स्वाननुभूतोऽर्थो न मनः स्प्रष्टुमर्हति।। 4.29.65।।

हे राजन्! तुम निश्चय मानों कि लिङ्गन्देह के अभिमानी जीव को उसका अनुभव पूर्वजन्म में हो चुका है क्योंकि जो वस्तु पहले अनुभव की हुई नहीं होती तो उसकी मन में वासना भी नहीं हो सकती।

तात्पर्य अर्थ-

इस वर्तमान जीवन में सुख-दुःख या इतर व्यवहार देखने में आता है अथवा हो रहा है, वह सब पूर्वजन्म के कर्म-संस्कारों के अनुसार हो रहा है। अथवा संस्कारों का फलरूप है वर्तमान जीवन, साथ ही इस नवीन जन्म में कर्मों का संस्कार भी संचय हो रहा है, संग्रहालयरूप लिङ्ग देह में।

91- **सर्वे क्रमानुरोधेन मनसीन्द्रियगोचराः।**
आयान्ति वर्गशो यान्ति सर्वे समनसो जनाः।। 4.29.68।।

मन के सामने इन्द्रियों से अंनुभव होने योग्य पदार्थ ही भोगरूप में बार-बार आते हैं और भोग समाप्त होने पर चले जाते हैं, ऐसा कोई पदार्थ नहीं आता, जिसका इन्द्रियों से अनुभव ही न हो सके। इसका कारण यही है कि सब जीव मन सहित हैं।

तात्पर्य अर्थ-

सम्पूर्ण पदार्थ कार्य-कारणमय रूप हैं। कार्य पदार्थ स्थूल होने से इन्द्रिय ग्राह्य है और कारण पदार्थ अत्यन्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने से इन्द्रियातीत हैं। जैसे कि श्रुति में कहा है- **''द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च मर्त्यं चामृतं च स्थितं च यच्च सच्च त्यच्च।।** (बृ.उ.2. 3.1) अर्थात् ब्रह्म के दो रूप हैं। मूर्त और अमूर्त (कारण और कार्य रूप में) जो कार्यरूप है वह स्थूल है और मरणधर्मवाला है (बनने-बिगड़ने वाले हैं) और स्थावर जंगम के रूप में उसकी प्रसिद्धि है और इन्द्रियग्राह्य भी है। तथा दूसरा जो कारणरूप है वह अति सूक्ष्म है और अविनाशी, नित्यत्व धर्मवाला है। इसी बात को गीता में कहा है- **'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च। क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षरमुच्यते।।'** (15.16)।

92- **सत्त्वैकनिष्ठे मनसि भगवत्पार्श्ववर्तिनि।**
तमश्चन्द्रमसीवेदमुपरज्यावभासते।।4.29.69।।

साधारणतया तो सब पदार्थों का क्रमशः ही भान होता है, किन्तु यदि किसी समय भगवच्चिन्तन में लगा हुआ मन विशुद्ध सत्त्व में स्थित हो जाये तो उसमें भगवान् का संसर्ग हो जाने के कारण एक साथ समस्त विश्व का भी भान हो सकता है-जैसे राहु दृष्टि का विषय न होने पर भी प्रकाशात्मक चन्द्रमा के संसर्ग से दीखने लगता है।

तात्पर्य अर्थ-

आचरण एवं साधन सम्पन्न तत्त्वज्ञानीजन संकल्पसिद्ध भी होते हैं, अर्थात् जो संकल्प करते हैं वह तत्त्वतः सत्य होता है। दूसरी विशेषता यह भी है कि आत्मचिन्तन के साथ-साथ सर्वात्मक भाव के कारण विश्व के, यथार्थ स्वरूप का भी कभी-कभी मन में अनुभव करते हैं। क्योंकि उनकी दृष्टि में परमात्मा ही विश्व के रूप में है, आत्मा से भिन्न नहीं है, यद्यपि आत्मा मन, बुद्धि आदि के द्वारा दृष्टि का विषय नहीं है तो भी अभिन्न स्वरूप की अनुभूति तो होती ही है मूकगुड़न्यायवत्।

93- नाहं ममेति भावोऽयं पुरुषे व्यवधीयते।
यावद् बुद्धिमनोऽक्षार्थगुणव्यूहो ह्यनादिमान्।। 4.29.70।।

हे राजन्! जब तक गुणों का परिणाम एवं बुद्धि, मन, इन्द्रिय और शब्दादि विषयों का सङ्घात से यह अनादि लिङ्गदेह बना हुआ है, तब तक जीव के अन्दर स्थूल देह के प्रति (मैं-मेरा) इस भाव का अभाव नहीं हो सकता।

तात्पर्य अर्थ-

स्थूल देह के प्रति मैं की भावना और इतर प्राणि-पदार्थों के प्रति मेरा की भावना एवं सुख-दुःख, जन्म-मृत्यु आदि तभी तक समझो जब तक उसका वासनामय सूक्ष्मशरीर बना (विद्यमान) रहेगा। अतः कल्याणार्थियों को चाहिये कि कर्मों के संस्कार रूप बीज वासना का संग्रहालय, अधिष्ठानरूप लिङ्गदेह को ही ज्ञानाग्नि के द्वारा नष्ट कर दें। उस लिङ्गदेह को नष्ट करने के लिये तत्त्वज्ञानी, ब्रह्मनिष्ठ की महती आवश्यकता है। क्योंकि लिङ्गदेह का भी कारण है अनादि अविद्या और अविद्या का नाश आत्मतत्त्वज्ञान रूप विद्या से ही सम्भव होगा, जो सबका मूल कारण है। इसी का नाम है मूलाविद्या, जिसे कारण शरीर भी कहा जाता है।

94- सुप्तिमूर्छोपतापेषु प्राणायनविघाततः
नेहतेऽहमिति ज्ञानं मृत्युप्रज्वारयोऽपि।।4.29.71।।

95- गर्भे बाल्योऽप्यपौष्कल्यादेकादशविधं तदा।
लिङ्गं न दृश्यते यूनः कुह्वां चन्द्रमसो यथा।।4.29.72।।

96- अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते।
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा।।4.29.73।।

सुषुप्ति, मूर्च्छा, अत्यन्त दुःख, मृत्यु और तीव्र ज्वरादि के समय भी इन्द्रियों की व्याकुलता के कारण मैं और मेरेपन की स्पष्ट प्रीति नहीं होती, किन्तु उस समय भी उनका अभिमान तो बना ही रहता है। जिस प्रकार अमावस्या की रात्रि में चन्द्रमा रहते

हुए भी दिखायी नहीं देता, उसी प्रकार युवावस्था में स्पष्ट प्रतीत होने वाला यह एकादश इन्द्रियविशिष्ट लिङ्गशरीर गर्भावस्था में और बाल्यकाल में रहते हुए भी इन्द्रियों का पूर्ण विकास न होने के कारण प्रतीत नहीं होता। जिस प्रकार स्वप्न में किसी भी वस्तु का अस्तित्व न होने पर भी जागे बिना स्वप्न जनित अनर्थ की निवृत्ति नहीं होती, उसी प्रकार सांसारिक वस्तुएँ यद्यपि मिथ्या हैं तो भी अविद्यावश जीव उनका चिन्तन करता रहता है, इसलिये उसका जन्म-मरणरूप संसार से छुटकारा नहीं हो पाता।

तात्पर्य अर्थ-

कुछ लोगों का मानना है कि सुषुप्ति, मूर्च्छा, मृत्यु और तीव्र ज्वरादि में बेहोशी के समय सभी प्रकार के मोह, ममता तथा मैं, मेरा की भावना से मुक्त रहता है जीवात्मा, यदि कदाचिद् उसी समय इस शरीर का अन्त हो जाय, मृत्यु हो जाय तो सहज में ही विदेह कैवल्य मुक्ति को प्राप्त हो जायेगा, बिना साधना, बिना ज्ञान, वैराग्य के ही। अर्थात् विषय से विरत, निरस ज्ञान एवं नाना प्रकार की साधना करने की क्या आवश्यकता है? ऐसी आशंका या कुतर्क की भावना, नास्तिकता एवं श्रद्धा-विश्वास आदि से रहित बुद्धि पर आगे विचार करते हैं। तो भाई सुनो ध्यान से! ऐसा मानना या विचार करना निरा कल्पना मात्र ही है क्योंकि पहली बात है शास्त्रों की व्यर्थता और दूसरी बात है पूर्वाचार्य ऋषि महर्षियों की मूढ़ता, अज्ञानता आदि की सिद्धि होगी तथा तीसरी बात है धर्म शास्त्रों की व्यर्थता होने पर मानव जीवन में पशुता एवं जड़ता आना स्वाभाविक है। ऐसे कलंक लगाने वालों से मेरा विनम्र निवेदन है कि शास्त्रों की सत्यता, वास्तविकता एवं विश्वसनीयता पर कभी भी भूलकर मन में शंका नहीं करनी चाहिये और न पूर्वाचार्य ऋषि-महर्षियों में दोष की भावना बनानी चाहिये। देखो, विचार करो पृथ्वी में असंख्य बीज दबे पड़े हुए हैं, वह अपने समय आने पर अंकुरित होते रहते हैं किन्तु उन बीजों का कोई पता लगाना चाहे, तो क्या पता लगा सकते हैं? तो कहना पड़ेगा असम्भव है। इसी प्रकार सुषुप्ति आदि के समय भी अनादि काल के संचित बीज वासना एवं शेष प्रारब्ध कर्मों का फल भोग संस्कार भी सुप्तरूप से पड़े हुए हैं, जो पुनर्जन्म मृत्यु का कारण है। ऐसी स्थिति में आप नहीं कह सकते हैं कि वह अज्ञानी भी बिना ज्ञान ध्यान के देह-कैवल्य मुक्ति को प्राप्त कर सकता है या प्राप्त हो सकता है। क्योंकि इस संसार को विद्वद्वर्य आत्मज्ञानीजनों ने स्वप्नवत् कहा है- **''ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापर:''** (वेदान्त डिण्डिम 67)। फिर भी अविद्यावशात् मनुष्य अरमणीय जगत् को रमणीय और असत् में सत्य, अप्रिय में प्रियता की कल्पना करता है, ये कल्पनाएँ ही उसके जन्म-मृत्यु का कारण बनती हैं।

सुषुप्ति, मूर्च्छा और समाधि आदि में बेहोशी का कारण क्या है? तथा इनकी समता और विषमता पर किञ्चित् विचार आरम्भ करते हैं-

(क) सुषुप्ति में बेहोशी का कारण है-तमोगुण की प्रबलता से मन-बुद्धि (अन्तःकरण) आवृत हो जाते हैं, अतः सम्पूर्णेन्द्रियाँ मन के सहित निष्क्रिय हो जाती हैं। (ख) मूर्च्छा में अचेतनता का कारण है-आघात (गम्भीर चोट), जैसे कोई पत्थर, लाठी, डंडा से प्रहार करने पर अथवा अत्यधिक ज्वर या विषैले प्राणियों के द्वारा काटे जाने पर अथवा विषैले पदार्थों के सेवन आदि ही बेहोशी के कारण हैं। (ग) समाधि में उच्च कोटि के साधक जब अपनी साधना में स्थित होते हैं तब अभ्यास के द्वारा क्रमशः सत्त्वगुण के प्रभाव से तमोगुण को रजोगुण में लय कर देते हैं और रजोगुण को सत्त्वगुण में तथा सत्त्वगुण के द्वारा आत्मचिन्तन करते-करते जीवात्मा में स्वतः विलीन हो जाते हैं। फिर जीवात्मा को सर्वात्मा ब्रह्म में एकीकरण कर देते हैं "**अहं ब्रह्मास्मि**" में स्थित हो जाने पर मन, बुद्धि के सहित समस्तेन्द्रियाँ निष्क्रियता को प्राप्त हो जाती हैं और मन, बुद्धि में चेतनता का अभाव हो जाता है, अचेतनता आ जाती है, बेहोशी आ जाती है। इसी का नाम है लय प्रक्रिया। इस प्रकार इन तीनों में अचेतनता तो समान है किन्तु अचेतनता के कारण भिन्न-भिन्न हैं।

97- एवं पञ्चविधं लिङ्गं त्रिवृत् षोडशविस्तृतम्।
एष चेतनया युक्तो जीव इत्यभिधीयते।।4.29.74।।

98- अनेन पुरुषो देहानुपादत्ते विमुञ्चति।
हर्षं शोकं भयं दुःखं सुखं चानेन विन्दति।।4.29.75।।

इस प्रकार पञ्चतन्मात्राओं से बना हुआ तथा सोलह तत्त्वों के रूप में विकसित यह त्रिगुणमय सङ्घात ही लिङ्गदेह है। यही चेतना शक्ति से युक्त होकर जीव है। इसके द्वारा पुरुष भिन्न-भिन्न देहों को ग्रहण करता है और सुखादि का अनुभव होता है।

तात्पर्य अर्थ-

आत्मा का जन्म-मृत्यु एवं सुख-दुःखादि का अनुभव कराने में निमित्त है लिङ्गदेह, यह लिङ्गदेह कुछ तत्त्वों का संघात है, संघात का स्वरूप है-पञ्चतन्मात्राएँ (पँचभूत सूक्ष्म) मन, प्राण और इन्द्रियाँ दश-इन्हीं सत्रह तत्त्वों के सङ्घात को भोग का आयतन कहा जाता है, चेतन शक्ति के संयोग से (प्रतिबिम्ब के प्रभाव से) प्रभावित हो जाने पर इसी का नाम जीवात्मा भी है।

99- यथा तृणजलूकेयं नापयात्यपयाति च।
न त्यजेन्म्रियमाणोऽपि प्राग्देहाभिमतिं जनः।।4.29.76।।

100-यावदन्यं न विन्देत व्यवधानेन कर्मणाम्।।
मन एव मनुष्येन्द्र भूतानां भवभावनम्।। 4.29.77।।

जिस प्रकार जोंक जब तक दूसरे तृण को नहीं पकड़ लेती, तब तक पहले को नहीं छोड़ती, उसी प्रकार जीव मरणकाल उपस्थित होने पर भी देहारम्भक कर्मों की समाप्ति होने पर भी जब तक दूसरा शरीर प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक पहले शरीर के अभिमान को नहीं छोडता। हे राजन्! यह मनः प्रधान लिङ्ग शरीर ही जीव के जन्मादि का कारण है।

तात्पर्य अर्थ-

यह जीवात्मा पूर्व शरीर को तभी छोड़ती है, जब उसको जिस शरीर की प्राप्ति होनी है, उसकी सम्पूर्ण सामग्रियाँ एकत्रित एवं शरीर निर्माण की प्रक्रिया पूरी हो गई हो। अन्यथा बेहोशी की अवस्था में एक घण्टा से अड़तालिस घण्टों पर्यन्त भी उस शरीर में रह सकता है। वैसे, समय तो निश्चित रूप से पूर्व निर्धारित रहता है, प्रारब्ध की समाप्ति और इस शरीर को छोड़कर अन्य शरीर की प्राप्ति। "**तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरत्येवमेवायमात्मेदँ शरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वाऽन्यमाक्रममाकम्यात्मानमुपसंहरति।।** बृ.उ. 4. 4.3।। और गीता में इसी विषय को ध्यान में रखकर कहा गया है-"**यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।।** गीता 8.6।।

101-यदाक्षैश्चरितान् ध्यायन् कर्माण्याचिनुतेऽसकृत्।
सति कर्मण्यविद्यायां बन्धः कर्मण्यनात्मनः।। 4.29.78।।

102-अतस्तदपवादार्थं भज सर्वात्मना हरिम्।
पश्यंस्तदात्मकं विश्वं स्थित्युत्पत्त्यप्यया यतः।।4.29.79।।

जीव जब इन्द्रियजनित भोग का चिन्तन करते हुए बार-बार उन्हीं के लिये कर्म करता है, तब उन-उन कर्मों के होते रहने से अविद्यावश वह देहादि के कर्मों में बंध जाता है। अत एव उन भोगों को मिथ्या समझ कर भगवद्रूप देखते हुए सब प्रकार श्री हरि का ही भजन करो। उन्हीं से इस विश्व की उत्पत्ति और स्थिति होती है तथा उन्हीं में लय भी होता है।

तात्पर्य अर्थ-

स्वतन्त्र जीवात्मा की परतन्त्रता का, पराधीनता का कारण क्या हो सकता है? इसका उत्तर बिल्कुल स्पष्ट है कि मन के साथ जीव का अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध और उस पर पूर्ण विश्वास करके इन्द्रियों के द्वारा व्यवहार निरन्तर करते रहना और स्वदेह

सहित इतर प्राणि पदार्थों में प्रगाढ़तापूर्वक अहं, मम की भावना ही निरन्तर विषय चिन्तन में निमित्त बनता है, इसी से मरकट-मुट्ठिवत् बन्धन में पड़ा हुआ है। अतः परतन्त्रता उसकी विवशता है। "**मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।।**" यह ब्रह्मबिन्दु उपनिषद दूसरे मन्त्र का वचन है। "**बधेऊ कीरमरकट की नाई**"। (रा.मा.)

103-एतदध्यात्मपारोक्ष्यं गीतं देवर्षिणानघ।

यः श्रावयेद्यः शृणुयात्स लिङ्गेन विमुच्यते।। 4.29.83।।

हे निष्पाप विदुरजी! देवर्षि नारद के परोक्ष रूप से कहे हुए इस आत्मज्ञान को जो पुरुष सुनेगा या सुनायेगा, वह शीघ्र ही लिङ्गदेह के बन्धन से छूट जायेगा, इसमें कोई संशय नहीं।

तात्पर्य अर्थ-

भव बन्धन से मुक्ति तभी सम्भव है जब सूक्ष्य शरीर आत्यन्तिक रूप से निवृत्त हो जायेगा। इस शरीर के आत्यन्तिक नाश का उपाय है आत्मतत्त्ववेत्ता-ब्रह्मज्ञानी के द्वारा सत्संग यानि चर्चा को श्रद्धा, विश्वासपूर्वक जो कोई श्रवण-मनन, निदिध्यासनादि करता-कराता रहे और ध्यान समाधि के द्वारा स्वस्वरूप में स्थित होने के निरन्तर अभ्यास में तन्मय रहे तो शीघ्र ही इस दुःखालय संसार से वह मुक्त हो जायेगा, इसमें कोई विकल्प या संशय नहीं।

104-नायं देहो देहभाजां नृलोके, कष्टान् कामानर्हते विड्भुजां ये।

तपो दिव्यं पुत्रका येन सत्त्वं, शुद्ध्येद्यस्माद् ब्रह्मसौख्यं त्वनन्तम्।।5.5.1।।

हे पुत्रों! मर्त्यलोक में मनुष्य शरीर दुःखमय विषय भोग प्राप्त करने के लिये नहीं है। वे भोग तो विष्ठाभोजी सूकर-कूकरादि को भी मिलते ही हैं। इस शरीर से दिव्य तप ही करना चाहिये, जिससे अन्तःकरण शुद्ध हो, क्योंकि इसी से अनन्त ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होती है।

तात्पर्य अर्थ-

सौभाग्य से हमें आज यह दुर्लभ मानव शरीर प्राप्त है, अतः इस शरीर के द्वारा साधनामय जीवन व्यतीत करते हुए भक्ति, ज्ञान-वैराग्य अर्जित करके अनन्त ब्रह्मानन्द में अपने मन, बुद्धि की वृत्तियों की आहुति देकर स्वस्वरूप की अपरोक्षानुभूति करें, इसी में मानो जीवन की सफलता है एवं पूर्णता है।

(7) मन-इन्द्रियों से सचेत प्रकरण-

105-महत्सेवा द्वारमाहुर्विमुक्ते, स्तमोद्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम्।

महान्तस्ते समचित्ताः प्रशान्ता, विमन्यवः सुहृदः साधवो ये।। 5.5.2।।

106-ये वा मयीशे कृतसौहृदार्था, जनेषु देहम्भरवार्तिकेषु।

गृहेषु जायात्मजरातिमत्सु, न प्रीतियुक्ता यावदर्थाश्च लोके।। 5.5.3।।

शास्त्रों ने महापुरुषों की सेवा को मुक्ति का और स्त्री संगीकामियों के संग को नरक का द्वार बताया है। महापुरुष वे ही हैं जो समानचित्त, परमशान्त, क्रोधहीन, सबके हित चिन्तक और सदाचार सम्पन्न हों। अथवा मुझ परमात्मा के प्रेम को ही जो एकमात्र पुरुषार्थ मानते हों, केवल विषयों की ही चर्चा करने वाले लोगों में तथा स्त्री, पुत्र और धनादि सामग्रियों से सम्पन्न घरों में जिनकी अरुचि हो और जो लौकिक कार्यों में केवल शरीर निर्वाह के लिये ही प्रवृत्त होते हैं (वे ही महापुरूष हैं)।

तात्पर्य अर्थ-

भागवतकार भगवान् वेदव्यास जी महाराज ने भगवान् ऋषभदेव जी के द्वारा प्रस्तुत श्लोक में एक तरफ आत्मतत्त्वज्ञानियों का विशेषण एवं लक्षणों का संकेत किये हैं तो दूसरी तरफ नारकीय और नरक में ले जाने वालों का भी संकेत किया है। अर्थात् जन्म-मृत्यु रूप भवबन्धन का संकेत है। तथा कुसङ्ग का त्याग और सुसङ्ग का ग्रहण करके अपने मानव जीवन को सफल बनावें। यही शास्त्रों का मूलोद्देश्य व मुख्योपदेश है।

107-नूनं प्रमत्तः कुरुते विकर्म, यदिन्द्रियप्रीतय आपृणोति।

न साधु मन्ये यत आत्मनोऽयमसन्नपि क्लेशद आस देहः।।5.5.4।।

मनुष्य अवश्य प्रमादवश कुकर्म करने लगता है, उसकी वह प्रवृत्ति इन्द्रियों को तृप्त करने के लिये ही होती है। मैं इसे अच्छा नहीं समझता, क्योंकि इसी कारण आत्मा (जीव) को यह असत् और दुःखदायक शरीर प्राप्त होता है।

तात्पर्य अर्थ-

इस जीवात्मा को सुख-दुःख, पुनर्जन्म आदि की प्राप्ति का कारण है प्रमादवश किया गया कुकर्म, जिनके वजह से जीव को अनादि-अनन्त बन्धन के लिये भी विवश होना पड़ता है।

108-पराभवस्तावदबोधजातो, यावन्न जिज्ञासत आत्मतत्त्वम्।

यावत्क्रियास्तावदिदं मनो वै, कर्मात्मकं येन शरीरबन्धः।।5.5.5।।

जब तक जीव को आत्मतत्त्व की जिज्ञासा नहीं होती है, तभी तक अज्ञानवश देहादि के द्वारा उसका स्वरूप छिपा रहता है। जब तक यह लौकिक-वैदिक कर्मों में फंसा रहता है, तब तक मन में कर्म की वासनाएँ भी बनी रहती हैं और इन्हीं से देहबन्धन की प्राप्ति होती है।

तात्पर्य अर्थ-

जड़ाध्यास, देहाध्यास रूप आवरण के द्वारा स्वस्वरूप, आत्मा-परमात्मा का स्वरुप ढक जाता है और इन्हीं के कारण उस स्वस्वरूप आत्मा को जानने-समझने की जिज्ञासा समाप्त हो जाती है और इसी अज्ञान के कारण लौकिक-वैदिकादि कर्मों में रात-दिन मशीन की तरह लगे रहते हैं, इसी से पुन:-पुन: जन्म-मरण को प्राप्त होता रहता है। इसी बात को गीता में स्पष्ट किया है-"**धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च। यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्।। आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिण। कामरूपेणा कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च।।** 3.38/39।।

109-एवं मन: कर्मवशं प्रयुङ्क्ते, अविद्ययाऽऽत्मन्युपधीयमाने।
प्रीतिर्न यावन्मयि वासुदेवे, न मुच्यते देहयोगेन तावत्।।5.5.6।।

इसी प्रकार अविद्या के द्वारा आत्मस्वरूप के ढक जाने से कर्मवासनाओं के वशीभूत हुआ चित्त मनुष्य को फिर कर्म में ही प्रवृत्त कराता है। अत: जब तक उसको मुझ वासुदेव में प्रीति नहीं होती, तब तक वह देह बन्धन से छूट नहीं सकता।

तात्पर्य अर्थ-

देह बन्धन एवं संसार बन्धन से मुक्ति तभी मिल सकती है, जब वासुदेव यानि अन्तरात्मा में स्वस्वरूप में अनन्य प्रीति, निरन्तर चिन्तन, मनन तथा प्रशान्तस्थान पर निदिध्यासन होता रहेगा, अविद्या अन्यथा चैतन्यात्मा को, स्वस्वरूप को, आवरण करके आवृत्त हुए को, कर्मवासनाओं के वशीभूत हुआ चित्त और देंहेन्द्रियों द्वारा पुन:-पुन: कर्म में ही प्रवृत्ति कराती रहेगी और उसका जन्म से मृत्यु और मृत्यु से जन्म का चक्कर अनन्तकाल तक चलता ही रहेगा।

110-यदा न पश्यत्ययथा गुणेहां, स्वार्थे प्रमत्त: सहसा विपश्चित्।
गतस्मृतिर्विन्दति तत्र तापानासाद्य मैथुन्यमगारमज्ञ:।। 5.5.7।।

स्वार्थ में पागल, जीव जब तक विवेक दृष्टि का आश्रय लेकर इन्द्रियों की चेष्टाओं को मिथ्या नहीं देखता, तब तक आत्मा की स्मृति खो बैठने के कारण वह अज्ञानवश विषय प्रधान गृह दारादि में आसक्त रहता है और तरह-तरह के क्लेश उठाता रहता है।

तात्पर्य अर्थ-

यह जीवात्मा अज्ञानवश शरीर, मन इन्द्रियों की क्रिया को, सुख-दु:ख को, भूख-प्यास को, जन्म-मृत्यु आदि को अपने में आरोपित करके, अपने स्वरूप से दूर हो जाने के कारण अनन्त काल से, अनन्त योनियों में जन्म (शरीर) प्राप्ति के लिये

विवश हो गये हैं। यद्यपि जीवात्मा में न सुख-दु:ख है और न जन्म-मृत्यु आदि ही है। केवल मात्र अज्ञानता ही उनके भवबन्धन का कारण है। आद्य जगद्गुरु शंकराचार्य जी का मत है-''**अहमोऽत्यन्तनिवृत्त्या तत्कृतनानाविकल्पसंहृत्या। प्रत्यक्ततत्त्व-विवेकादयमहमस्मीति विन्दते तत्त्वम्।।** (वि.चू. 305) अहंकार की नि:शेष निवृत्ति होने पर और उससे उत्पन्न हुए नाना प्रकार के विकल्पों के नाश हो जाने पर आत्मतत्त्व का विवेक हो जाने से यह आत्मा ही मैं हूँ ऐसा तत्त्व बोध प्राप्त होता है। इसलिये हे कल्याणेच्छुक साधक! भोजन करने वाले पुरुष के गले में काँटे के समान चुभने वाले इस अहंकार रूप अपने शत्रु को विज्ञान रूप महाखड्ग से भली-भाँति छेदन कर आत्म साम्राज्य सुख का यथेष्ट भोग करो। इस अहंकार रूप शत्रु के निग्रह कर लेने पर फिर विषयचिन्तन के द्वारा इसे सिर उठाने का अवसर कभी नहीं देना चाहिये, क्योंकि नष्ट प्राय: हुए जम्बीर के वृक्ष के (चकोतरे के वृक्ष एक प्रकार के नींबू के) लिये जल के समान इसके पुनरुज्जीवन (फिर से जी उठने) का कारण यह विषय चिन्तन ही है।

111-पुंस: स्त्रिया मिथुनीभावमेतं, तयोर्मिथो हृदयग्रन्थिमाहु:।
अतो गृहक्षेत्रसुताप्तवित्तैर्जनस्य मोहोऽयमहं ममेति।।5.5.8।।

112-यदा मनोहृदयग्रन्थिरस्य, कर्मानुबद्धो दृढ आश्लथेत।
तदा जन: सम्परिवर्ततेऽस्माद् मुक्त: परं यात्यतिहाय हेतुम्।।5.5.9।।

स्त्री और पुरुष इन दोनों का जो परस्पर दम्पत्ति भाव है, इसी को पण्डित जन उनके हृदय की दूसरी स्थूल एवं दुर्भेद्य ग्रन्थि कहते हैं। देहाभिमान रूपी एक-एक सूक्ष्म ग्रन्थि तो मन में अलग-अलग पहले से ही है। इसी के कारण जीव को देहेन्द्रियादि के अतिरिक्त घर, खेल, पुत्र, स्वजन और धनादि में भी मैं, मेरापन का मोह हो जाता है, जिस समय कर्मवासनाओं के कारण पड़ी हुई इसकी यह दृढ़ हृदय ग्रन्थि ढीली हो जाती है, उसी समय यह दाम्पत्य भाव से निवृत्त हो जाता है और संसार के हेतुभूत अहंकार को त्याग कर सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो परमपद को प्राप्त कर लेता है।

तात्पर्य अर्थ-

अनादिकाल से स्त्री-पुरुषों की दाम्पत्य भावनारूपी संस्कार हृदय में मुख्य रूप से स्थित ग्रन्थि है और यह इसलिये दुर्भेद्य भी है क्योंकि यह संस्कार कीट-पतंग आदि समस्त प्राणियों में देखा जाता है। जो संस्कार मनुष्य योनि में बनता है, वही संस्कार अन्य योनियों में, प्राणियों में भोग के रूप में उलब्ध होता है अर्थात् कर्म करने के लिये मनुष्य योनि ही एकमात्र साधन है क्योंकि इतर योनियाँ कर्मफल भोगने के लिये निमित्त

मात्र हैं। न वहाँ कोई नवीन कर्म होता है और न कोई नवीन संस्कार ही बनता है। अर्थात् जो मनुष्य योनि के द्वारा नानाविध शुभाशुभ कर्म किये जाते हैं, उन्हीं कर्मों का बीज वासना ही फलभोग के रूप में इतर प्राणियों के रूप में देखने में आता है। अर्थात् मनुष्य से इतर प्राणिमात्र कर्मफल भोग का आयतन है।

वैसे विचार करके देखा जाये तो ये अनादि ग्रन्थियाँ एक-दो नहीं अनन्त हैं, जिन-जिन इन्द्रियों के द्वारा कर्म होता है, उन-उन इन्द्रियों के अनुरूप व्यवहार (भोग) हुआ है या किया जाता है, वह सबका संस्कार ही सूक्ष्मातिसूक्ष्म ग्रन्थियों के रूप में लिङ्गदेह में उपस्थित है। जब तक रजोगुण, तमोगुण की प्रधानता मन में रहेगी, तब तक कर्म और कर्मों के संस्कारों से छुटकारा नहीं और संस्कारों से छुटकारा नहीं तो पुनर्जन्म से मुक्त भी नहीं हो सकते, अतः सत्त्वगुण की वृद्धि करने का अभ्यास करना चाहिये ताकि रज-तम के प्रभाव को रोका जा सके। तभी साधक अपने आत्मचिन्तन में इस दुष्ट मन को लगा सकते हैं और उस आत्मचिन्तन के अभ्यास द्वारा दुर्भेद्य दाम्पत्य हृदय ग्रन्थि तथा देहाभिमानरूपी ग्रन्थि आदि को धीरे-धीरे शिथिल करके एक दिन सम्पूर्ण ग्रन्थियों की निवृत्ति हो जायेगी, बस यही परमपद की प्राप्ति है। जन्म-मृत्यु से मुक्ति पाना है। समस्त शास्त्रों का उद्देश्य केवल इतने के लिये ही है। "**यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येहग्रन्थयः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम्।।** (क.उ. 2.3.15)।

113-हंसे गुरौ मयि भक्त्यानुवृत्या, वितृष्णया द्वन्द्वतितिक्षया च।

सर्वत्र जन्तोर्व्यसनावगत्या, जिज्ञासया तपसेहानिवृत्त्या।। 5.5.10।।

114-मत्कर्मभिर्मत्कथया च नित्यं, मद्देवसङ्गाद् गुणकीर्तनान्मे।

निर्वैरसाम्योपशमेन पुत्रा, जिहासया देहगेहात्मबुद्धेः।। 5.5.11।

हे पुत्र! संसार सागर से पार होने के लिये कुशल तथा धैर्य, उद्यम एवं सत्त्वगुण विशिष्ट पुरुष को चाहिये कि सबके आत्मा और गुरुस्वरूप मुझ भगवान में भक्तिभाव रखने से, मेरे परायण रहने से, तृष्णा के त्याग से, सुख-दुःखादि द्वन्द्वों के सहन से, जीव को सभी योनियों में दुःख ही प्राप्त होने के विचार से, तत्त्वजिज्ञासा से, तप से, सकाम कर्म के त्याग से, मेरे ही लिये कर्म करने से, मेरी कथाओं का नित्य प्रति श्रवण करने से, मेरे भक्तों के सङ्ग और मेरे गुणों के कीर्तन से, वैर-त्याग से, समता से, शान्ति से और शरीर तथा घरादि में मेरेपन की भाव को त्यागने की इच्छा से अपने लिङ्गशरीर को लीन कर दे।

तात्पर्य अर्थ-

कल्याणाकाँक्षी साधक को चाहिये कि सर्वात्मरूप ब्रह्मनिष्ठ-तत्त्वज्ञानी सद्गुरु के प्रति समर्पित-भाव और तत्त्व-जिज्ञासा पूर्वक वित्तैषणा, लोकैषणा तथा पुत्रैषणाओं से रहित होकर आत्म चिन्तन का विचार करें। "**त्यागेनैवामृतत्वमानशुः**", "**त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्**" (गी.)।

115-गुरुर्न स स्यात्स्वजनो न स स्यात्, पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात्।
दैवं न तत्स्यान्न पतिश्च स स्यान्न मोचयेद्यः समुपेतमृत्युम्।। 5. 5.18।।

जो अपने प्रिय सम्बन्धि को भगवद्भक्ति का उपदेश देकर मृत्यु की फाँसी से नहीं छुड़ाता, वह गुरु गुरु नहीं है, स्वजन-स्वजन नहीं, पिता-पिता नहीं, माता-माता नहीं, इष्टदेव-इष्टदेव नहीं और पति-पति नहीं।

तात्पर्य अर्थ-

माता-पिता परिजन, अपने सन्तान को मोहवश गहरी खाई में, अन्धकार में, धकेल देते हैं, उनके बुद्धिरूपी नेत्रों में गृहजाल की पट्टी बाँध देते हैं जीवन भरके लिये। कदाचित्त् वे उस अन्धकूप से निकलना भी चाहे तो उनके निकलने में भी बाधक बन जाते हैं। इसी प्रकार कुछ उपदेशक गुरुजन भी अपने वाक्य जाल में फँसाये रखते हैं, उन्हें उस जाल से निकल पाना और भी कठिन हो गया है, यथा-पिञ्जरों के पक्षी। ऐसे माता-पिता एवं गुरुजनों को हितैषी कैसे कहा जा सकता है? भक्त शिरोमणि तुलसीदास जी महाराज का कहना है- '**जेहि जञ्जाल फँसे पितुमाता। पुत्र फँसावे कहि कुशलाता।।**' (रा.मा.) ऐसे लोगों के प्रति श्रुतियाँ कटाक्ष करती हैं। "**अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः। दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढ़ा अन्धेनैव नियमाना यथान्धा।। न साम्यपरायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढ़म्। अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे।।** (क.उ.1.2.5/6)" **असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः। ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।।** (ई.उ.3)।

116-एवमनुशास्यात्मजान् स्वयमनुशिष्टानपि लोकानुशासनार्थं महानुभावः।
परमसुहृद्भगवानृषभापदेश उपशमशीलानामुपरतकर्मणां।
महामुनीनां भक्तिज्ञानवैराग्यलक्षणं पारमहंस्यधर्ममुपशिक्षमाणः।। 5.5.28।।

117-जडान्धमूकबधिरपिशाचोन्मादकवदवधूतवेषोऽभिभाष्य-
माणोऽपि जनानां गृहीतमौनव्रतस्तूष्णीं बभूव।।5.5.29।।

ऋषभदेव जी के पुत्र यद्यपि स्वयं ही सब प्रकार से सुशिक्षित थे, तो भी लोगों को शिक्षा देने के उद्देश्य से महाप्रभावशाली परम सुहृद् भगवान ऋषभ ने उन्हें उपदेश दिया और स्वयं उपशमशील निवृत्तिपरायण महामुनियों के भक्ति, ज्ञान और वैराग्यरूप परमहंसोचित धर्मों की शिक्षा देने के लिये बिल्कुल विरक्त हो गये। परमहंसों को त्याग के आदर्श की शिक्षा देने के लिये इस प्रकार मोक्षपति भगवान् ऋषभदेव ने कई तरह की योगचर्याओं का आचरण किया। अत एव जड़, अन्धे, बहरे, गूँगे, पिशाच और पागलों की सी चेष्टा करते हुए वे अवधूत बने जहाँ-तहाँ विचरने लगे। लोगों के द्वारा अभद्र भाषा बोलने पर तथा अभद्र व्यवहार करने पर भी मौनव्रत धारण किये हुये शान्त (चुप-चाप) रहते थे।

तात्पर्य अर्थ-

भगवान ऋषभदेव जी की तरह अपने पुत्र परिजनों को यथार्थ तत्त्वज्ञान का उपदेश देकर स्वयं परमहंस संन्यास के पथ पर तत्पर होकर इसी जीवन में इस मानव जीवन को सार्थक बना लेना चाहिये। यदि कदाचित् ऋद्धि-सिद्धियाँ तथा यश-कीर्ति की प्रसिद्धि सर्वत्र होने लगे तो उससे अपनी वृत्तियाँ विचलित न होने दें, अर्थात् अपनी वृत्तियों को सावधानी पूर्वक आत्मचिंतन में स्थिर करने का अभ्यास करें। यही उपाय साधकों, संन्यासियों के लिये अति उत्तम है। इससे पूर्व आत्मतत्त्वज्ञानियों के शरणापन्न होकर उनसे अति विनम्रतापूर्वक प्रश्न करें- **"यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षत आकाशे तदोतं च प्रोतं चेति तथा कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति।।** (बृ. 3.8.6/7) अर्थात् जो द्युलोक से ऊपर, जो पृथिवी से नीचे तथा जो द्युलोक और पृथिवी के बीच में है एवं जो स्वयं द्युलोक और पृथिवी लोक है और जिन्हें भूत, वर्तमान तथा भविष्य, ऐसे शब्द से कहते हैं, वे सब किसमें ओतप्रोत हैं? आकाश में वे सब ओत प्रोत हैं। वह आकाश किसमें ओतप्रोत है। इस प्रकार प्रश्न करके अपनी जिज्ञासा की तृप्ति कर लेना चाहिये।

118-न नूनं भगव आत्मारामाणां योगसमीरित-

ज्ञानावभर्जितकर्मबीजानामैश्वर्याणि पुनः

क्लेशदानि भवितुमर्हन्ति यदृच्छयोपगतानि।।5.6.1।।

हे भगवन्! योग रूप वायु से प्रज्ज्वलित हुई ज्ञानाग्नि से जिनके रागादि बीज रूपी सब कर्म दग्ध हो गये हैं, उन आत्माराम मुनियों को दैववश यदि स्वयं ही अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त हो जायें तो वे उनके लिये राग-द्वेषादि क्लेशों का कारण तो किसी प्रकार हो नहीं सकती। फिर भी भगवान् ऋषभ देव ने उन्हें स्वीकार नहीं किया।

वे निरन्तर सर्वश्रेष्ठ महान् आनन्द का अनुभव करते रहते थे। उनकी दृष्टि में निरुपाधिक रूप से सम्पूर्ण प्राणियों की आत्मा अपने आत्मस्वरूप भगवान वासुदेव से किसी प्रकार का भेद नहीं था। इसलिये कि उनके सभी पुरुषार्थ पूर्ण हो चुके थे। उनके पास सभी प्रकार की ऋद्धि-सिद्धियाँ अपने आप ही सेवा में उपस्थित रही, किन्तु उन्होंने मन से उनका आदर या ग्रहण नहीं किया।

119-सत्यमुक्तं किन्त्वाह वा एके न मनसोऽद्धा।

विश्रम्भमनवस्थानस्य शठकिरात् इव सङ्गच्छन्ते।।5.6.2।।

120-न कुर्यात्कर्हिचित्सख्यं मनसि ह्यनवस्थिते।

यद्विश्रम्भाच्चिराच्चीर्णं चस्कन्द तप ऐश्वरम्।। 5.6.3।।

तुम्हारा कहना ठीक है किन्तु संसार में चालाक व्याध अपने पकड़े हुए मृग का विश्वास नहीं करते, उसी प्रकार बुद्धिमान लोग इस चंचल चित्त का भरोसा नहीं करते। ऐसा ही कहा भी है- इस चित्त पर विश्वास करने से ही मोहिनी रूप माया में फँस कर महादेव जी का संचित तप क्षीण हो गया था।

तात्पर्य अर्थ-

एक परमात्मा को (स्वस्वरूप को) छोड़कर किसी पर विश्वास नहीं करना चाहिये, फिर प्रमाथी चंचल-मन पर विश्वास तो कभी भी किसी भी स्थिति में नहीं करना चाहिये क्योंकि यह मन बहुरूपिया है। मन ही समस्त बन्धनों का कारण है, सुख-दुख और जन्म-मृत्यु का भी कारण है। यदि यौं कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी, कि यह अनन्त ब्रह्माण्ड मन का ही विलास है, मनोवृत्ति मात्र है। **'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'** (ब्रह्मनिन्दूषनिषत् 2), **'चंचल ही मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढ़म्। तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।।'** (गी.6.34) अतः अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है। अन्यथा यह चंचल मन, बुद्धिजीवी मनुष्य को भी पशु बना देगा। इतिहास कहता है कि जड़भरत जैसे निःस्पृह आत्मा को अपने वश में करके धोखा दिया, सौभरी ऋषि जैसे अनवरत ध्यान समाधि में एवं तपोमय जीवन बिताने वाले को अपने वृत्तिरूपी मुख का ग्रास बना लिया था, अर्थात् अपने ब्रह्मचर्य से च्युत होना पड़ा था। इस दुष्ट मन के विषयमें भगवत्पाद शंकराचार्य जी का कहना है। ''**शब्दादिभिः पञ्चभिरेव पञ्च, पञ्चत्वमापुः स्वगुणेन बद्धाः। कुरङ्गमातङ्गपतङ्गमीनभृङ्गा नरः पञ्चभिरञ्चितः किम्।।** (वि.चू.78) अपने-अपने स्वभाव के अनुसार शब्दादि पाँच विषयों से केवल एक-एक से बँधे हुए-हिरण, हाथी, पतंग, मछली और भौरे मृत्यु को प्राप्त होते हैं, फिर इन पाँचों से जकड़ा हुआ मनुष्य कैसे बच सकता है अर्थात् मनुष्य की दुरवगामी यातना की प्राप्ति निश्चित है।

121-नित्यं ददाति कामस्या च्छिद्रं तमनु येऽरयः।

योगिनः कृतमैत्रस्य पत्युर्जायेव पुंश्चली।।5.6.4।।

120-कामो मन्युर्मदो लोभः शोकमोहभयादयाः।

कर्मबन्धश्च यन्मूलः स्वीकुर्यात्को नु तद् बुधः।।5.6.5।।

जैसे व्यभिचारिणी स्त्री जार पुरुष को अवकाश देकर उनके द्वारा अपने में विश्वास रखने वाले पति का वध करा देती है उसी प्रकार जो योगी मन पर विश्वास करते हैं उनका मन काम और उनके साथी-क्रोधादि शत्रुओं को आक्रमण करने का अवसर देकर अपने को नष्ट-भ्रष्ट करा देता है। काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह और भय आदि शत्रुओं का तथा कर्मबन्धन का मूल तो यह मन ही है। इस पर कोई भी बुद्धिमान कैसे विश्वास कर सकता है।

तात्पर्य अर्थ-

यदि आप अपने को बुद्धिमान, विद्वान, सभ्य तथा सज्जन मनुष्यों में मानते हैं तो इस अत्यन्त चञ्चल मन पर एक क्षण के लिये भी विश्वास मत करो। क्योंकि यह मन ही समस्त पाप कर्मों का मूल कारण है, विधाता है। इसी से काम, क्रोध, लोभ, मोह और भयादि दोषों का उदय होता है। इसलिये मेरे प्रिय आत्मन्! मन पर सतत् निग्रह रखें, विशेष करके मेरा आग्रह है मुमुक्षु साधकों के लिये।

123-यावन्मनो रजसा पूरुषस्य सत्त्वेन वा तमसा वानुरुद्धम्।

चेतोभिराकूतिभिरातनोति, निरंकुशं कुशलं चेतरं वा।।5.11.4।।

124-स वासनात्मा विषयोपरक्तो, गुणप्रवाहो विकृतः षोडशात्मा।।

बिभ्रत्पृथङ्नामभिः रूपभेदमन्तर्बहिष्ट्वं च पुरैस्तनोति।। 5.11.5।।

जब तक मनुष्य का मन सत्त्व, रज अथवा तमोगुण के वशीभूत रहता है तब तक वह बिना किसी अंकुश के उसकी ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों से शुभाशुभ कार्य करता रहता है। यह मन वासनामय विषयासक्त, गुणों से प्रेरित, विकारी और भूत एवं इन्द्रियरूप सोलह कलाओं में मुख्य है। वही भिन्न-भिन्न नामों से देवता और मनुष्यादि रूप धारण करके शरीर एवं उपाधियों के भेद से जीव की उत्तमता और अधमता का कारण होता है।

तात्पर्य अर्थ-

मुमुक्षु साधकों के लिये मोक्ष प्राप्ति में सबसे बड़ा बाधक तीन गुणों से युक्त वासनामय विकारी मन ही है और सोलह कलाओं में मन को मुख्य माना जाता है, शुभाशुभ कर्मों में निमित्त भी मन ही है। मन के द्वारा किये गये कर्मों के अनुसार

फलरूप में उत्तम, मध्यम और अधम (देवगन्धर्वादि, मनुष्यादि और कृमिकीटपतंगादि) योनियों में विवशतापूर्वक जन्मना पड़ता है।

125-दुःखं सुखं व्यतिरिक्तं च तीव्रं, कालोपपन्नं फलमाव्यनक्ति।
आलिङ्ग्य मायारचितान्तरात्मा, स्वदेहिनं संसृतिचक्रकूटः।।5.11.6।।
126-तावानयं व्यवहारः सदाविः, क्षेत्रज्ञसाक्ष्यो भवति स्थूलसूक्ष्मः।
तस्मान्मनोलिङ्गमदो वदन्ति, गुणागुणत्वस्य परावरस्य।। 5.11.7।।

यह मायामय मन संसार चक्र में छलने वाला है, यही अपनी देह के अभिमानी जीव से मिलकर उसे कालचक्र में प्राप्त हुआ सुख-दुःख और इनसे व्यतिरिक्त मोहरूप अवश्यम्भावी फलों की अभिव्यक्ति करता है। जब तक यह मन रहता है तभी तक जाग्रत और स्वप्नावस्था रूपी व्यवहार प्रकाशित होकर जीव का दृश्य बनता है। इसलिये पण्डितजन मन को ही त्रिगुणमय अधम संसार का और गुणातीत परमोत्कृष्ट मोक्ष पद का भी कारण बताते हैं।

तात्पर्य अर्थ-

मनुष्य का यह मन जादूगर है, भ्रम का जाल बिछाने वाला है, डकैत है, जीवात्मा के सद्गुण रूपी सम्पत्ति को छल, कपट करके अपहरण करने वाला है, अतः डाकुओं का सरदार है। इस मन से प्रत्येक मानव को सतत् सावधान रहने की आवश्यकता है। क्योंकि जीव का सब कुछ लूटकर अपने अधीन कर लिया है, बन्दी बना लिया है, इतना ही नहीं भावी आकर्षक कर्मफलों की भी अभिव्यक्ति कराता है और जाग्रत स्वप्नावस्था का व्यवहार का प्रकाशक बनकर जीवात्मा का दृश्य पदार्थ बनकर सुख-दुःख का कारण भी बनता है। इसीलिये विद्वत्वर्य आचार्यों का मानना है कि बन्ध और मोक्ष का कारण मन ही है। ''**मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम्।।**'' (पं.द.यो.117)।

127-गुणानुरक्तं व्यसनाय जन्तोः क्षेमाय नैर्गुण्यमथो मनः स्यात्।
यथा प्रदीपो घृतवर्तिमश्नन् शिखरः सधूमः भजति ह्यन्यदा स्वम्।
पदं तथा गुणकर्मानुबद्धं, वृत्तीर्मनः श्रयतेऽन्यत्र तत्त्वम्।5. 11.8।।

विषयासक्त मन जीव को संसार-संकट में डाल देता है, विषय हीन होने पर वही मन उसे शान्तमय मोक्ष पद प्राप्त करा देता है जिस प्रकार घी से भीगी हुई बत्ती को रखने वाले दीपक से तो धूएँ वाली शिखा निकलती रहती है और जब घी समाप्त हो जाता है तब वह अपने कारण अग्नितत्त्व में लीन हो जाता है। उसी प्रकार विषय और कर्मों में आसक्त हुआ मन तरह-तरह की वृत्तियों का आश्रय लिये रहता है और इनसे मुक्त होने पर वह अपने तत्त्व में (अधिष्ठान ब्रह्म) में लीन हो जाता है।

तात्पर्य अर्थ-

संसार बन्धन में बाँधने वाला और कोई नहीं केवल एकमात्र विषयासक्त, भोगासक्त अहंकारमय मन ही है और जब वही मन विषयों में दोषदृष्टि की भावना करके शान्त द्वंद्वातीत हो जाता है, तब अपने कारण सहित गुणातीत, अजन्मा, अविनाशी सर्वात्मा में एकत्वभाव को प्राप्त हो जाता है। उसी को दूसरे शब्द में कहा गया है-ब्रह्माकार हो जाता है। "**ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति**" (मु-3.2.9), "**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**" (छा-3.14.1), "**यत्रत्वस्य सर्वात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्तत्केनकं मन्वीत तत्केन कं विजानियाद्येनेदं सर्वं विजानाति।**"(बृ.4.6.15), "**यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः। न स तत्पदमाप्नोति संसारमेवाधिगच्छति।।**" (क.उ. 1.3.7), "**यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः। स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते।।**" (क.1.3.8) इत्यादि श्रुतियाँ अमनी भाव के स्थिति में "**एकमेव अद्वितीयं**" (छा.6.2.1) आत्मा की सिद्धि करती है। "**नेह नानास्ति किंचन।।**" (अध्यात्मोपनिषद् 63)।

128-एकादशासन्मनसो हि वृत्तयः, आकूतयः पञ्च धियोऽभिमानः।
मात्राणि कर्माणि पुरं च तासां, वदन्ति हैकादश वीर भूमीः।। 5.11.9।।

129-गन्धाकृतिस्पर्शरसश्रवांसि, विसर्गरत्यर्त्यभिजल्पशिल्पाः।
एकादशं स्वीकरणं ममेति, शय्यामहं द्वादशमेक आहुः।। 5.11.10।।

हे वीरवर! पँच कर्मेन्द्रियाँ, पँच ज्ञानेन्द्रियाँ और एक अहंकार ये ग्यारह मन की वृत्तियां हैं तथा पँच प्रकार के कर्म, पाँच तन्मात्रा और एक शरीर ये ग्यारह उनके आधारभूत विषय कहे जाते हैं। गन्ध, रूप, स्पर्श, रस और शब्द-ये पाँच ज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं, मलत्याग, रसभोग, गमन, भाषण और लेना-देना आदि व्यापार-ये पाँच कमेन्द्रियों के तथा शरीर को यह मेरा है, इस प्रकार स्वीकार करना अहंकार का विषय है। कुछ लोग अहंकार को मन की बारहवीं वृत्ति और उसके आश्रय शरीर को बारहवाँ विषय मानते है।

तात्पर्य अर्थ-

वृत्तियाँ मन के द्वारा बनती हैं और वृत्तियाँ बनने का कारण है-शब्द, रूपादि पँच विषय (तन्मात्राएँ) और फिर गुणों के अनुसार तीन रूपों में विभक्त हो जाती है। इन्द्रियों का यह व्यवहार गुणों के अनुसार ही देखने में आता है। इन्द्रियों का आश्रय शरीर है, सूक्ष्मेन्द्रियों का आश्रय सूक्ष्म शरीर और स्थूल इन्द्रियों (ब्राह्य दश-पँच ज्ञान, पँच कर्म) का स्थूल शरीर है। प्रस्तुत श्लोक में संकेत किया है 11 अथवा 12 का,

किन्तु इतने ही को प्रमाण नहीं मान लेना चाहिये। मन में वृत्तियाँ अनेकों बनती हैं और बिगड़ती भी हैं दीपशिखावत्।

130-द्रव्यस्वभावाशयकर्मकालैरेकादशामी मनसो विकाराः।
सहस्रशः शतशः कोटिशश्च क्षेत्रज्ञतो न मिथो न स्वतः स्युः।। 5.11.11।।

131-क्षेत्रज्ञ एता मनसो विभूतीर्जीवस्य मायारचितस्य नित्याः।
आविर्हिताः क्वापि तिरोहिताश्च, शुद्धो विचष्टे ह्यविशुद्धकर्तुः।।
5.11.12।।

ये मन की ग्यारह वृत्तियाँ द्रव्य (विषय), स्वभाव, आशय (संस्कार), कर्म और काल के द्वारा सैकड़ों, हजारों और करोड़ों भेदों में परिणत हो जाती हैं, किन्तु इनकी सत्ता क्षेत्रज्ञात्मा की सत्ता से ही है। स्वतः या परस्पर मिलकर भी नहीं है। ऐसा होने पर भी मन से क्षेत्रज्ञ का कोई सम्बंध नहीं है, यह तो जीव की ही मायानिर्मित उपाधि है। यह प्रायः संसार बन्धन में डालने वाले अविशुद्ध कर्मों में प्रवृत्त रहता है। इसकी उपर्युक्त वृत्तियाँ प्रवाह रूप से नित्य ही रहती है। जाग्रत और स्वप्न के समय ये प्रकट हो जाती हैं और सुषुप्ति में छिप जाती हैं। इन दोनों ही अवस्थाओं में क्षेत्रज्ञ जो विशुद्ध चिन्मात्र है, मन की इन वृत्तियों को साक्षीरूप से देखता रहता है।

तात्पर्य अर्थ-

मन में जो वृत्तियाँ बनती हैं वह जल प्रवाहवत् प्रतिक्षण अनवरत बनती ही रहती हैं किन्तु स्वतः नहीं, आत्मसत्ता से ही वृत्तियाँ बनती हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं समझ लेना चाहिए कि आत्मा उन वृत्तियों का प्रेरक है अथवा आत्मा और मन दोनों मिलकर प्रेरित करते हैं। सो भी नहीं, क्योंकि श्रुति कहती है- ''**असङ्गो ह्ययमात्मा**'' (नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद् 9.8), गीता में भगवान् ने कहा- ''**अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः। शरीरस्थोऽपि कौन्तय न करोति न लिप्यते।।**'' (13.31) ''**यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।।**'' (13.32) अर्थात् आत्मा निर्गुण और अव्यय होने से अनादि अनन्त है। इसलिये शरीर में सर्वत्र (व्याप्त) होने पर भी न कुछ करता है ओर न शरीर एवं शरीर के कर्मों के साथ किसी प्रकार आत्मा का सम्बन्ध ही है। यथा आकाश अत्यधिक सूक्ष्मता होने के कारण सर्वत्र सर्वव्यापक होने पर भी किसी के साथ लिपायमान नहीं है।

132-न यावदेतां तनुभृन्नरेन्द्र, विधूय मायां वयुनोदयेन।
विमुक्तसङ्गो जितषट् सपत्नो, वेदात्मतत्त्वं भ्रमतीह तावत्।। 5.11.15।।

133-न यावदेतन्मन आत्मलिङ्गं संसारतापावपनं जनस्य।
यच्छोकमोहामयरागलोभवैरानुबन्धं ममता विधत्ते।। 5.11.16।।

हे राजन्! जब तक मनुष्य ज्ञानोदय के द्वारा इस माया का तिरस्कार कर सबकी आसक्ति छोड़कर तथा काम-क्रोधादि छह शत्रुओं को जीत कर आत्मतत्त्व को नहीं जान लेता और जब तक वह आत्मा के उपाधिरूप मन को संसार दुःख का क्षेत्र नहीं समझता, तब तक वह इस लोक में यों ही भटकता रहता है क्योंकि यह चित्त उसके शोक, मोह, राग, लोभ और वैराग्यादि के संस्कार तथा ममता की वृद्धि करता रहता है।

तात्पर्य अर्थ-

मनुष्य जब तक आत्मतत्त्वज्ञानी सद्‌गुरु के द्वारा शास्त्रानुमोदित ज्ञान प्राप्त कर माया और माया के कार्य गुणों से उत्पन्न काम, क्रोधादि के सहित मन को वश में करके संसारासक्ति से मुक्ति नहीं पा लेता, तब तक जन्म-मृत्यु के चक्कर में चक्कर काटता रहेगा और शुभाशुभ कर्मों का नवीनतम संस्कार भी बनता ही रहेगा। अतः बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि अपने विवेक शक्ति का सदुपयोग करके दुःखमय संसार बन्धन से मुक्त हो जाय, यही मानव जीवन की बहुत जड़ी सफलता है, विजयोपलब्धि है। "**ऋणमोचनकर्तारः पितुः सन्ति सुतादयः। बन्धमोचनकर्ता तु स्वस्मादन्यो न कश्चन।।**" (वि.चू.53), **शब्दजालं महारण्यं चित्तभ्रमणकारणम्। अतः प्रयत्नाज्ज्ञातव्यं तत्त्वज्ञैस्तत्त्वमात्मनः।।** (वि.चू.62), **न गच्छति विना पानं व्याधिरौषधशब्दतः। विनाऽपरोक्षाऽनुभवं ब्रह्मशब्दैर्न मुच्यते।।** (वि.चू. 64)।

134-दुरत्ययेऽध्वन्यजया निवेशितो, रजस्तमःसत्त्वविभक्तकर्मदृक्।

स एष सार्थोऽर्थपरः परिभ्रमन् भवाटवीं याति न शर्म विन्दति।।5.13.1।।

हे राजन्! यह जीव समूह सुखरूप धन में आसक्त-देश-देशान्तरों में घूम-फिर कर व्यापार करने वाले व्यापारियों के दल के समान है। इसे माया ने दुस्तर प्रवृत्ति मार्ग में लगा दिया है। इसलिये इसकी दृष्टि सात्त्विक, राजस, तामस भेद से नाना प्रकार के कर्मों पर ही जाती है। उन कर्मों में भटकता-भटकता यह संसार रूप जंगल में पहुँच जाता है। वहाँ उसे तनिक भी शान्ति नहीं मिलती।

तात्पर्य अर्थ-

यह जीव स्वर्गसुख का आकांक्षी (लालची) एवं सुखव्यवसायी है और इस स्वर्ग रूपी सुखमय सम्पत्ति की प्राप्ति के लिए निरन्तर अनेकों प्रकार के कर्मों का व्यापार करता रहता है, इसी कारण संसार बन्धन को प्राप्त होता रहता है तथा पुनः पुनः जन्म-मरणरूप चक्र में घूमता रहता है और भविष्य में भी घूमता ही रहेगा। जब तक यथार्थ तत्त्वज्ञानी सद्‌गुरु के शरणापन्न नहीं होता, तब तक ऐसी स्थिति बनी रहेगी, इसी का नाम है अनादिकाल। "**न अस्य आदिरित्यनादिः।**"

135-इत्येवमुत्तरामातः स वै ब्रह्मर्षिसुतः सिन्धुपतय आत्मसत्त्वं,
विगणयतः परानुभावः परमकारुणिकतयोपदिश्य।
रहूगणेन सकरुणमभिवन्दितचरण आपूर्णार्णव इव,
निभृतकरणोर्म्याशयो धरणिमिमां विचचार।।5.13.24।।

136-सौवीरपतिरपि सुजनसमवगतपरमात्मसतत्त्व आत्मन्यविद्या-
ध्यारोपितां च देहात्ममतिं विससर्ज, एवं हि नृप भगवदाश्रितानुभावः
।।5.13.25।।

हे उत्तरानन्दन! इस प्रकार उन परम प्रभावशाली ब्रह्मर्षिपुत्र ने अपना अपमान करने वाले सिन्धु नरेश रहूगण को भी अत्यन्त करुणावश आत्मतत्त्व का उपदेश दिया। तब राजा रहूगण ने दीन भाव से उनके चरणों की वंदना की। फिर वे परिपूर्ण समुद्र के समान शान्त चित्त और उपरतेन्द्रिय होकर पृथ्वी पर विचरने लगे। उनके सत्संग से परमात्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर सौवीरपति रहूगण ने भी अन्तःकरण में अविद्यावश आरोपित देहात्मबुद्धि को त्याग दिया। हे राजन् ! जो लोग भगवदाश्रित अनन्य भक्तों की शरण ले लेते हैं उनका ऐसा ही प्रभाव होता है, उनके पास अविद्या ठहर नहीं सकती।

तात्पर्य अर्थ-

ब्रह्मनिष्ठ परमहंस जीवन्मुक्त आत्मज्ञानियों का यह लक्षण है कि- जिस पर मान-अपमान का, लिङ्गभेद का, सुख-दुःख का, भूख-प्यास का प्रभाव न पड़ता हो, अर्थात् समस्थिति में सदैव वर्तता हो। इसी बात को गीता में स्पष्ट किया है "**जितात्मानः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः। शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः।।** (6.7), "**युक्त इच्युच्यते योगी समलोष्ठाश्मकाञ्चनः।।**" (6.8) जिसने अपने (शरीर, मन, बुद्धि आदि) पर विजय कर ली हो-शीतोष्ण (अनुकूल, प्रतिकूल), सुख-दुःख तथा मान-अपमान में निर्विकार भाव से रहते हों, अथवा मिट्टी के (पिण्ड) ढेले, पत्थर और स्वर्ण में भी समबुद्धि वाला है ऐसे लक्षणों से युक्त को योगी (योगारुढ़) कहना चाहिये। उपरोक्त लक्षण से युक्त योगियों का जीवन, आचरण एवं उपदेश से पत्थर के समान कठोर हृदयवाले (जड़ता बुद्धिवाले) भी सुविज्ञेय होकर अपने कल्याण मार्ग में तत्पर हो जाते हैं। यथा सिन्धु नरेश रहूगण एवं भगवत्स्वरूप सनत्, सनंदन, सनत्कुमार, सनातनादि।

(8) संसार की असारता द्वारा आत्मानुभव प्रकरण-

137-उवाच चाथ हर्यश्वाः कथं स्रक्ष्यथ वै प्रजाः।
अदृष्ट्वान्तं भुवो यूयं बालिशा बत पालकाः।।6.5.6।।

नारदजी ने हर्यश्वों से कहा–अरे हर्यश्वों! तुम प्रजापति हो तो क्या हुआ। वास्तव में तो तुम लोग मूर्ख ही हो। बतलाओ तो, जब तुम लोगों ने पृथ्वी का अन्त नहीं देखा तब सृष्टि कैसे करोगे? बड़े खेद की बात है।

तात्पर्य अर्थ–

कोई भी कर्म करने से पूर्व उस तत्त्व का, (उस आरम्भणीय) कर्म का यथार्थ रूप से ज्ञान होना अति अनिवार्य है, तभी उसको फल प्राप्ति में सफलता मिल सकती है। अन्यथा कर्म करना व्यर्थ (निष्फल) हो जायेगा। इसी प्रकार साधक साधना तो करते हैं किन्तु यथार्थ ज्ञान के अभाव में सांसारिक विषय भोग क्षणिक सुख को अपना लक्ष्य की प्राप्ति मान लेते हैं, इसके परिणाम स्वरूप आत्यन्तिक सुख–शान्ति से भटक जाते हैं, दूर हो जाते हैं, अर्थात् लक्ष्य स्वप्नवत् हो जाता है।

138–तथैकपुरुषं राष्ट्रं बिलं चादृष्टनिर्गमम्।

बहुरूपां स्त्रियं चापि पुमांसं पुंश्चलीपतिम्।।6 5.7।।

139–नदीमुभयतोवाहां पचपञ्चादूभुतं गृहम्।

क्वचिद्धंसं चित्रकथं क्षौरपव्यं स्वयं भ्रमिम्।। 6.5.8।।

140–कथं स्वपितुरादेशमविद्वांसो विपश्चितः।

अनुरूपमविज्ञाय अहो सर्गं करिष्यथ।।6.5.9।।

देखो एक ऐसा देश है जिसमें एक ही पुरुष है। एक ऐसा बिल है जिससे बाहर निकलने का रास्ता ही नहीं है। एक ऐसी स्त्री है जो बहुरूपिणी है। एक ऐसा पुरुष है जो व्यभिचारिणियों का पति है। एक ऐसी नदी है, जो आगे–पीछे दोनों ओर बहती है। एक ऐसा विचित्र घर है जो पच्चीस पदार्थों से बना है। एक ऐसा चक्र है, जो छुरे एवं वज्र से बना हुआ है और अपने आप घूमता रहता है। एक ऐसा हंस है जिसकी कहानी बड़ी विचित्र है। हे मूर्खहर्यश्वों! जब तक तुम लोग अपने सर्वज्ञ पिता के उचित आदेश को समझ नहीं लोगे और इन उपर्युक्त वस्तुओं को देख नहीं लोगे, तब तक उनके आज्ञानुसार सृष्टि कैसे कर सकोगे?

तात्पर्य अर्थ–

अधिदेव और अध्यात्म की दृष्टि से पुरुष यानि आत्मा एक ही है, दो या अनेक नहीं। विदेहमुक्तिरूप कैवल्यपद को प्राप्त हो जाने के बाद पुनर्जन्म का कोई कारण ही नहीं रह जाता। यह प्रकृति (माया) रूपी स्त्री एक ही है और वह इतनी चंचल है, चपल है, कि प्रतिक्षण बदलती रहती है, नाना नाम रूपों में असंख्य है। **'संसरति इति संसारः'**, देहाध्यास युक्त पुरुष (जीवात्मा) ने नानारूपिणी त्रिगुणात्मिका प्रकृतिरूप

स्त्री का पति (स्वामी) बना हुआ है, मान लिया है अधिपति हूँ। मनुष्य का अहंकार युक्त बुद्धि ही प्रवाहित नदी के समान है क्योंकि हम देखते हैं कभी यह बुद्धि सात्विक विचार करती है, अर्थात् इस दु:खमय संसार से अथवा जीवन से मुक्ति पाने के लिए विचार करती है तो कभी संसार के विषयभोगों का आनन्द लेने का विचार करती है। अत: यह बुद्धि ही उल्टी-सीधी बहने वाली नदी है। यह स्थूल शरीर एक घर के समान घर है, धर्मशाला है। क्योंकि प्राण-अपानादि पँच, इन्द्रियों के गोलकें दश-आदि का आश्रय है। इसी के अन्दर सूक्ष्मशरीर (लिंगदेह) का भी निवास स्थान है, जो अपँचीकृत भूतसूक्ष्म से निर्मित है, इस स्थूलशरीर के विनष्ट हो जाने पर भी इसका विनाश नहीं होता। इसी को आचार्य विद्वज्जन 17, 19, 22 और 25 तत्त्व से निर्मित मानते हैं। यह सूक्ष्म शरीर जन्मजन्मान्तरों के कर्मबीज वासनाओं का आश्रय है और इसीलिये पुनर्जन्म का (पुनरागमन) भी कारण माना जाता है।

जैसे पृथिवी अपने गर्भ में (भीतरी भाग में) पेड़-पौधों वनस्पति-औषधियों आदि के अनादि-अनन्त बीजों को एवं खनिज पदार्थों (तैल, गैस, सोना-चाँदी, अभ्रक, ताम्र, पीतल, लौह, अल्मुनियम, हीरा, मोती, पन्ना, पुखराज, नीलमणि, वैदूर्यादि पदार्थों) को संञ्चय किये हुए है। उसी प्रकार सूक्ष्मशरीर में भी समस्त कर्मों के अनादि-अनन्त कालों के संस्कार रूप बीजवासनाओं का संग्रहालय होने से गमनागमन (पुनर्जन्मों) का भी निमित्त कारण है। **''इदं शरीरं शृणु सूक्ष्मसंज्ञितं, लिङ्गं त्वपञ्चीकृतभूतसम्भवम्। सवासनं कर्मकलानुभावकं, स्वाज्ञानतोऽनादिरुपाधिरात्मनः।।''** (वि.चू.94/99)

एक हंस पक्षी रूप पँचप्राण हैं, वह हृदयरूपी मानसरोवर में रहते हैं जीवन रक्षक अन्न-जलरूप (मोती को) ग्रहण कर पूर्ण शरीर में वितरित करते हैं जिससे समस्तेन्द्रियाँ अपना-अपना व्यापार करती हैं (देखना, सुनना, बोलनादि तथा चलना, उठना-बैठना, लेना-देना आदि ये इन्द्रियों के व्यापार हैं)। यह वासनामय सूक्ष्म शरीर ही चक्र के समान दिन-रात (चौबीस घण्टों) चलता रहता है। स्थिर कभी रहता ही नहीं और स्वचालित है, दूसरे कोई संचालित नहीं करते, आत्मसत्ता मात्र को इसका संचालक माना जा सकता है। वैसे भी प्राण वायु स्वयं क्रियाशक्ति है एवं प्राण वायु प्रधान सूक्ष्मशरीर रजोगुणमय है, तमोगुणमय है। उसका **''रजसः क्रियात्मिका यतः प्रसृता।। सैव निदानं पुरुषस्य संसृतः।''** (वि.चू.113/115) ऐसा शास्त्रों का मानना है। इसलिये किसी को संदेह नहीं होना चाहिये।

141-तन्निशम्याथ हर्यश्वा औत्पत्तिकमनीषया।

वाचःकूटं तु देवर्षेः स्वयं विममृशुर्धिया।।6.5.10।।

हे परीक्षित! हर्यश्व जन्म से ही बड़े बुद्धिमान थे। वे देवर्षि नारद जी की यह पहेली, ये गूढ़ वचन सुनकर अपनी बुद्धि से स्वयं ही विचार करने लगे।

तात्पर्य अर्थ-

कल्याण मार्ग के उत्तम अधिकारी वही हो सकते हैं और वही साधक अपने लक्ष्य को प्राप्त कर पाते हैं जो शास्त्र श्रवणानन्तर, मनन और निदिध्यासन के अभ्यास में तत्पर हो जाते हैं। वैसे मनुष्य योनि को सभी विद्वानों ने, आचार्यों ने बुद्धिजीवी का विशेषण दिये है। क्योंकि आचार्यों, सद्‌गुरुओं के द्वारा मनुष्यों के मन-बुद्धि का विकास होता है। शुक्लपक्ष के चन्द्रमावत् स्थूल शरीर के साथ-साथ अन्त:करण का भी विकास देखने में आता है। प्रस्तुत विषय पर जीता-जागता प्रमाण है-जगद्‌गुरु आद्यशंकराचार्य भगवत्पाद जी जब एक वर्ष की अवस्था को प्राप्त हुए तब वह बालक अपनी मातृभाषा में अपने भाव को प्रकट करने लगे और दो वर्ष की अवस्था में माँ के द्वारा पुराणादि की कथाएं सुनकर कण्ठस्थ करने लगे। उनके पिता ने तीन वर्ष की आयु में उनका चूड़ाकर्म संस्कार करके दिवंगत (देहावसन) हो गये। पाँच वर्ष की आयु में यज्ञोपवीत कराके उन्हें गुरुकुल पढ़ने के लिये भेजा गया और केवल मात्र 8 वर्ष की अवस्था में ही वे वेद-वेदान्त और वेदाङ्गों का पूर्ण अध्ययन करके घर पर वापस आ गये। यहाँ तक प्रमाण मिलता है कि शेष बारह से 16 वर्ष की आयु में ही ब्रह्मसूत्र, उपनिषद्, गीतादि ग्रन्थों का भाष्य और उसके अतिरिक्त अनेकों स्तोत्रादि लिख दिये।

142-भू:क्षेत्रं जीवसंज्ञं यदनादि निजबन्धनम्।
अदृष्ट्वा तस्य निर्वाणं किमसत्कर्मभिर्भवेत्।।6. 5.11।।

विरक्त शिरोमणि श्री शुकदेव जी ने कहा- हे परीक्षित्! देवर्षि नारद जी ने हर्यश्व के (ब्रह्मा जी के मानस पुत्र) प्रति जो कहा, वह शतशः युक्तियुक्त है, इसमें कोई सन्देह नहीं। यह लिङ्ग शरीर ही, जिसे साधारणत: जीव कहते हैं, वह पृथ्वी आदि पाँच भूतों का भौतिक कार्य है और यही आत्मा का अनादि बन्धन है। इसका अन्त (विनाश) देखें बिना मोक्ष का अनुपयोगी कर्मों में लगे रहने से क्या लाभ है?

तात्पर्य अर्थ-

जिस प्रकार भूमण्डल समस्त प्राणि जगत् का सम्भरण (पालन-पोषण) करने वाला है, जीवन आश्रय है समस्त खनिज पदार्थों (हीरा, मोती) आदि का संग्रहालय है। उसी प्रकार सूक्ष्मशरीर समस्त कर्मबीज वासनाओं का संग्रहालय है। इसलिये यह शरीर ही गमनागमन (जन्म-मृत्यु) का कारण भी है और कर्तृत्व भोक्तृत्व भी इसी में

हैं। इसीलिये यह लिङ्गदेह को ब्रह्मनिष्ठ आत्मज्ञानीजन एवं शास्त्रों में जीवसंज्ञक कहा है और यही आत्मा का अनादि बन्धन है। इससे आत्यन्तिक निवृत्ति के बिना असत् कर्मों को करते रहने से क्या लाभ है।

143-एक एवेश्वरस्तुर्यो भगवान् स्वाश्रयः परः।
तमदृष्ट्वाभवं पुंसः किमसत्कर्मभिर्भवेत्।। 6.5.12।।
144-पुमान् नैवैति यद् गत्वा बिलस्वर्गं गतो यथा।
प्रत्यग्धामाविद इह किमसत्कर्मभिर्भवेत्।।6.5.13।।
145-नानारूपाऽऽत्मनोऽबुद्धिः स्वैरिणीव गुणान्विता।
तन्निष्ठामगतस्येह किमसत्कर्मभिर्भवेत्।।6.5.14।।
146-तत्सङ्गभ्रंशितैश्वर्यं संसरन्तं कुभार्यवत्।
सद्गतीरबुधस्येह किमसत्कर्मभिर्भवेत्।।6.5.15।।

सचमुच ईश्वर एक ही है। वह जाग्रत् आदि अवस्थाओं में और उनके अभिमानियों से भिन्न, उनका साक्षी तुरीय है। वह सबका आश्रय है परन्तु उसका आश्रय कोई नहीं है। वही भगवान् है। उस प्रकृति आदि से अतीत, नित्यमुक्त परमात्मा को देखे बिना, भगवान् के प्रति असमर्पित कर्मों से जीव को क्या लाभ? जैसे मनुष्य बिलरूप पाताल में प्रवेश करके वहाँ से नहीं लौट पाता, वैसे ही जीव जिसको प्राप्त होकर फिर संसार में नहीं लौटता, जो स्वयं अन्तर्ज्योतिस्वरूप है, उस आत्मा को जाने बिना विनाशवान् स्वर्गादि फल देने वाले कर्मों को करने से क्या लाभ?

यह अपनी बुद्धि ही बहुरूपिणी और सत्त्व, रजादि गुणों को धारण करने वाली है व्यभिचारिणी स्त्री के समान। इस जीवन में इसका अन्त जाने बिना (विवेक प्राप्त किये बिना) अशांति को अधिक बढ़ाने वाले कर्म करने का क्या प्रयोजन है? यह बुद्धि ही कुल्टा स्त्री के समान है। इसके संग से जीवरूप पुरुष का ऐश्वर्य (इसकी स्वतंत्रता) नष्ट हो गया है। इसके पीछे पीछे वह कुल्टा स्त्री के पति की भाँति जीवात्मा न जाने कहाँ-कहाँ भटक रहा है। उस कुल्टा स्त्री के विभिन्न पतियों, चालों को जाने बिना ही विवेक रहित कर्मों से क्या सिद्धि मिलेगी?

तात्पर्य अर्थ-

विचार करके देखा जाय तो आत्मा एक और असीम है। वही आत्मा जाग्रतादि अवस्थाओं में विद्यमान होने पर भी उन तीनों अवस्थाओं के अभिमानी विश्व, तैजस और प्राज्ञ से भिन्न उनका साक्षी, ज्ञाता, तुरीय (गुणतीत) है। जिसकी अनुभूति उच्च कोटि के साधक अपने समाधि काल में करते हैं, वह स्वस्वरूप ही है। उस प्रकृति

आदि से अतीत नित्यमुक्त आत्मा को अनुभव किये बिना, विहित कर्मों को निष्काम भाव से करने पर भी जीवात्मा का कल्याण होने वाला नहीं है। जैसे जीवात्मा इस स्थूल शरीर का प्रारब्ध के अन्त होने पर और अन्य शरीर की प्राप्ति हो जाने पर पुनः उस शरीर में वापस नहीं आती। उसी प्रकार प्रत्यगात्मा को मुमुक्षु साधक साक्षात् अपरोक्ष अनुभव करके फिर जन्म-मृत्यु रूप संसार बन्धन में नहीं बंधते, जो स्वयं अजन्मा, अबद्ध, अन्तर्ज्योति स्वरूप है। उस आत्मतत्त्व को जाने बिना पुनर्जन्म-मृत्यु को प्राप्त कराने वाले (इहलोक, परलोक का फल देने वाले) वैदिक कर्मों को भी करते रहने मात्र से क्या लाभ?

यह अपनी बुद्धि-सत्त्वादि गुणों के प्रभाव से बहुवृत्तिवाली हो जाती है और इसी से शुभाशुभ नाना प्रकार के कर्मों में जीवात्मा बंधा हुआ है। बिना विवेक के कर्म करते रहने से क्या प्रयोजन है? कुल्टा एवं व्यभिचारिणी स्त्रीरूपा बुद्धि के साथ जीवात्मा व्यामोहित होकर अपनी स्वतंत्रता को बलि चढ़ा दिया है। इसी से अनादि अनन्त काल से जन्म-मृत्यु रूप बन्धन को प्राप्त होता रहता है। अतः इस बुद्धि की गति के कुचाल को समझे बिना बहु आयास पूर्ण कर्म करने से भी कोई लाभ नहीं, सिवाय हानि के। अर्थात् कर्म बौद्धिक हो अथवा लौकिक, सकाम हो अथवा निष्काम, उभयविध कर्ममात्र, जीवात्मा के मुक्ति निमित्त नहीं बन सकते, क्योंकि यह बन्धन का निमित्त है। वैसे निष्काम कर्म को सात्त्विक माना जाता है किन्तु बिना स्वार्थ के, बिना प्रयोजन के कर्म करेगा ही क्यों? "**किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः**" इसलिये आगे कहा है- "**गहना कर्मणो गतिः।।**" (गी. 4.16/17)।

147-अधुना पुत्रिणां तापो भवतैवानुभूयते।
एवं दारा गृहा रायो विविधैश्वर्यसम्पदः।।6.15.21।।
148-शब्दादयश्च विषयाश्चला राज्यविभूतयः।
मही राज्यं बलं कोशो भृत्यामात्याः सुहृज्जनाः।।6.15.22।।

अब तुम स्वयं अनुभव कर रहे हो कि पुत्रवानों को कितना दुःख होता है। यही बात स्त्री, घर, धन विविध प्रकार के ऐश्वर्य, सम्पत्तियाँ, शब्द, रूप, रस आदि विषय, राज्य वैभव, पृथ्वी, राज्य, सेना, खजाना, सेवक, अमात्य (मन्त्री), सगे-सम्बन्धी, इष्टमित्र, ये सब के सब स्वप्न मात्र के समान हैं क्योंकि ये अनित्य हैं।

तात्पर्य अर्थ-

मनुष्य पुत्र और वित्त के अभाव में अपने को अभागा समझकर दुःखों से मरे-मुर्दे के समान एवं जीवन को व्यर्थ, निष्फल-निष्प्रयोजन समझते हैं। हे बुद्धिजीवी मानव! जरा विवेक पूर्वक गम्भीरता से विचार तो करके देखो, पुत्र, वित्तवानों को

कितना दुःख होता है। उसके पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा आदि में दुःख और यदि कदाचिद् उनके अस्वस्थ या विविध भोग विषयों के प्राप्ति होने पर भी प्रारब्धवशात् इन्द्रियों से अयोग्य अथवा मृत्यु हो गयी, तब तो फिर स्वयं की भी मृत्यु ही समझता है। उसी प्रकार राज्य, स्त्री, सेना, सेवक, मन्त्री, इष्टमित्र आदि को भी दुःख एवं पुनर्जन्म के हेतु हैं ऐसा समझे।

149-सर्वेऽपि शूरसेनेमे शोकमोहभयार्तिदाः।

गन्धर्वनगरप्रख्याः स्वप्नमायामनोरथाः।।6.15.23।।

150-दृश्यमाना विनार्थेन न दृश्यन्ते मनोभवाः।

कर्मभिर्ध्यायतो नानाकर्माणि मनसोऽभवन्।। 6.15.24।।

हे शूरसेन! ये सभी शोक, मोह, भय और दुःख के कारण हैं, मन के खेल-खिलौने हैं, सर्वथा कल्पित हैं क्योंकि ये न होने पर भी दिखायी पड़ रहे है। यही कारण है कि ये एक क्षण दिखने पर भी दूसरे क्षण लुप्त हो जाते हैं। ये गन्धर्वनगर, स्वप्न, जादू और मनोरथ की वस्तुओं के समान सर्वथा असत्य है। जो लोग कर्म वासनाओं से प्रेरित होकर विषयों का चिन्तन करते हैं, उन्हीं का मन अनेक प्रकार के कर्मों की सृष्टि करता रहता है।

तात्पर्य अर्थ-

ये संसार की वस्तुएँ एवं संसार अत्यन्त क्षणभंगुर, अनित्य और विनाशशील हैं तथा विनाशी होने के कारण असत्य भी हैं, केवल मनोरंजन मात्र हैं। क्योंकि जाग्रत् की वस्तुएँ स्वप्न में नहीं होती तथा स्वप्न की वस्तुएँ जाग्रत में नहीं होती और जाग्रत-स्वप्न के देखे हुए प्राणी पदार्थों का अभाव सुषुप्ति में देखा जाता है। इसलिये सम्पूर्ण कार्य कारणमय, त्रिगुणात्मक जगत् को मनः कल्पित सृष्टि कहा जाता है। जो लोग मन के द्वारा किये गये कर्मवासनाओं से प्रेरित होकर विषयों का (वस्तुओं) का चिन्तन करते रहते हैं उन्हीं का मन अनेकानेक प्रकार के नित्य नवीन से नवीनतम सृष्टि करता रहता है।

151-अयं हि देहिनो देहो द्रव्यज्ञानक्रियात्मकः।

देहिनो विविधक्लेशसन्तापकृदुदाहृतः।।6.15.25।।

152-तस्मात् स्वस्थेन मनसा विमृश्य गतिमात्मनः।

द्वैते ध्रुवार्थविश्रम्भं त्यजोपशममाविश।।6.15.26।।

यह देह जो पंचभूत, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों का संघात है जीव को विविध प्रकार के क्लेश और सन्ताप देने वाली कही जाती है। इसलिये तुम अपने मन को विषयों में भटकने से रोककर शान्त करो, स्वस्थ करो और उस मन के द्वारा अपने

वास्तविक स्वरूप का विचार करो तथा इस द्वैत भ्रम में नित्यत्व की बुद्धि छोड़कर परम शान्ति रूप परमात्मा में स्थित हो जाओ।

तात्पर्य अर्थ-

जीवात्मा के लिये यह स्थूल सूक्ष्म देह कल्याण का साधन है और नानाविध कर्म एवं भोगों का भी साधन है, इसलिये विविध दु:ख-सन्तापों का भी मुख्य कारण है। इतना ही नहीं अपितु अनादि काल से जगत् में पुनः-पुनः जन्म-मृत्यु रूप महाबन्धन का (अनादि बन्धन को जन्म देने में भी) मुख्य कारण है। यदि दु:ख-सन्ताप, जन्म-मृत्यु की विवशता से मुक्त होना जो कोई चाहता हो तो उसे अपने मन को विषयों में जाने से रोकना पड़ेगा, नियन्त्रित करना पड़ेगा, शान्त करना पड़ेगा और फिर उस मन को वास्तविक स्वस्वरूप में (सर्वात्मा ब्रह्म में) स्थिर करने का निरन्तर अभ्यास करने की आवश्यकता है। बुद्धिगत द्वैततत्त्व की भावना वासना बन गयी है, मन में भ्रान्ति आ गयी है, उसे शीघ्र निकालकर बाहर करो और परम शान्त-परमानन्द सर्वात्म भाव में स्थित हो जाओ। बस इतने ही के लिये शास्त्रों का उपदेश है, व्यपदेश है, निर्देश-आदेश है। यथा श्रुति- **''यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्धनुशासनम्।।''** (कठ. 2.3.15)।

153-जीवात्मन् पश्य भद्रं ते मातरं पितरं च ते।

सुहृदो बान्धवास्तप्ताः शुचा त्वत्कृतया भृशम्।।6.16.2।।

154-कलेवरं स्वमाविश्य शेषमायुः सुहृद्वृतः।

भुङ्क्ष्व भोगान् पितृप्रत्तानधितिष्ठ नृपासनम्।।6.16.3।।

हे जीवात्मन्! तुम्हारा कल्याण हो, देखो तुम्हारे माता-पिता, सुहृद सम्बन्धी, तुम्हारे वियोग से अत्यन्त शोकाकुल हो रहे हैं। इसलिये तुम अपने शरीर में जाओ और शेष आयु अपने सगे सम्बन्धी के साथ ही रहकर व्यतीत करो। अपने पिता के दिये हुये भोगों को भोगो और राजसिंहासन पर बैठो।

तात्पर्य अर्थ-

जिन माता-पिता के एक ही पुत्र हो और वह पुत्र भी अत्यन्त प्रतिभावान एवं सर्व गुण सम्पन्न हो। यदि कदाचित्त वह पुत्र विधिवशात् किसी निमित्त से माता-पिता को छोड़कर सदा-सर्वदा के लिये चला जाये तो माता-पिता के मनः स्थिति दु:ख के सागर में डूब जाना स्वाभाविक है, मृत्यु सन्न हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं समझना चाहिये। ऐसी विपत्ति की घड़ी में यदि ब्रह्मनिष्ठ आत्मज्ञानी सद्गुरु समुपस्थित हो जाये और सान्त्वना दे कि तुम दु:खी मत होओ, मैं अभी उस जीवात्मा को तुम्हारे सामने पुनः वापस बुलाता हूँ अपने मन को शान्त करो। ऐसा कहकर वह तत्त्वज्ञानी गुरु उस

जीवात्मा को सम्बोधित करके कहे- हे जीवात्मा तुम्हारा कल्याण हो! तुम अपने शेष जीवन को परिवार के साथ रहकर उनके मन को तुष्ट करते हुए सत्संग स्वाध्याय में रत होकर अपने स्वाराज्य (स्वस्वरूप)के राजसिंहासन पर विराजामन हो जाओ।

वास्तविकता तो यह है-अजन्मा आत्मा कभी मरता नहीं, कहीं जाता नहीं, कहीं से आता नहीं, क्योंकि सर्वव्यापक है और ''**एकमेवाद्वितीम्**'' (छा. 6.2.1) ऐसी श्रुति कहती है। फिर उस आत्मा का आना-जाना, जन्म-मृत्यु कैसे सम्भव हो सकता है? तथा यह शरीर एक घटीयन्त्र है, निरन्तर चलने वाला है। इस यन्त्र के चालक का सम्बन्ध कट जाने पर यन्त्र अपना कार्य करना बन्द कर देता है। अर्थात् देखना, सुनना, बोलना, चलना, खाना-पीना आदि क्रियाएँ बन्द हो जाती हैं। इसी को लोग कहते हैं मर गया।

155-कस्मिञ्जन्मन्यमी मह्यं पितरो मातरोऽभवन्।
कर्मभिर्भ्राम्यमाणस्य देवतिर्यङ्नृयोनिषु।।6.16.4।।

156-बन्धुज्ञात्यरिमध्यस्थमित्रोदासीनविद्विषः।
सर्व एव हि सर्वेषां भवन्ति क्रमशो मिथः।।6.16.5।।

हे देवर्षिजी! मैं अपने कर्मों के अनुसार देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि योनियों में न जाने कितने जन्मों से भटक रहा हूँ। उनमें से लोग किसी जन्म में मेरे माता-पिता हुए? विभिन्न जन्मों में सभी एक-दूसरे के भाई-बन्धु, नाती-पोते, शत्रु-मित्र, मध्यस्थ, उदासीन और द्वेषी होते रहते हैं। वास्तविक रूप से विचार करके देखा जाये तो यह सब स्वप्नवत् है।

तात्पर्य अर्थ-

कर्मों के अनुसार जन्म और जन्मों के अनुसार अनगिनत (असंख्य) माता-पिता हुए होंगे, अनादि काल से जगत में जन्म-कर्म, संयोग-वियोग, ये सब के सब प्रकृति के गुण हैं, स्वभाव हैं। नाम-रूप आत्मक माता-पिता, पितामह, पुत्र, मित्र आदि भी व्यवहार के लिये मन से कल्पना किया हुआ है और कल्पना मिथ्या सिद्ध होती है। अर्थात् इनमें कौन किसका माता, कौन किसका पिता और कौन किसका पुत्र? विचार करके देखा जाये तो अज्ञानता का द्योतक है, अज्ञानता की पराकाष्ठा है-स्वप्न माया है। इसी अज्ञानता के कारण दु:खों के अंगारों में झुलस रहे हैं, संसार के समस्त प्राणी मात्र। ''**सशक्तिमिव कृष्णवर्त्मनि**'' जैसे अग्नि में जलकर काष्ठ काला (कोयला) हो जाता है।

157-नित्यस्यार्थस्य सम्बन्धो ह्यनित्यो दृश्यते नृषु।
यावद्यस्य हि सम्बन्धो ममत्वं तावदेव हि।।6.16.7।।

158-यथा वस्तूनि पण्यानि हेमादीनि ततस्ततः।
पर्यटन्ति नरेष्वेवं जीवो योनिषु कर्तृषु।।6.16.6।।

इस प्रकार विचार करके देखा जाये तो ज्ञात होता है कि मनुष्यों की अपेक्षा अधिक दिन ठहरने वाले सुवर्णादि पदार्थों का सम्बध भी मनुष्यों के साथ स्थायी नहीं, क्षणिक ही होता है और जब तक जिसका जिस वस्तु से सम्बन्ध रहता है, तभी तक उसकी उस वस्तु से ममता भी बनी रहती है। जैसे सुवर्ण आदि क्रय-विक्रय की वस्तुएँ एक व्यापारी से दूसरे व्यापारी के पास जाती आती रहती हैं, वैसे ही जीव भी भिन्न-भिन्न योनियों में उत्पन्न होता रहता है।

तात्पर्य अर्थ-

काम्य कर्मरूपी व्यापार करके जीवात्मा मनुष्य, पशु, पक्षी, कृमि, कीटादि नाना योनियों में विवश होकर जन्म-मृत्यु को प्राप्त होता है। इस व्यापार में हानि होते हुए भी अज्ञानता के कारण छोड़ नहीं सकते, अर्थात् छोड़ पाना असम्भव हो गया है।

जीवात्मा एक महान् व्यापारी है, जुवारी, शराबी है, अपने को (दाँव में लगाकर) हारकर भी विवशता एवं पराधीनता को स्वीकार करता है। अथवा विषयरूपी नशे से, मन-बुद्धि भ्रष्ट हो जाने से, इस हाड़-माँस को अपना स्वरूप मान बैठा है, असत्य और अनित्य जगत् को सत्य-नित्य मान लिया है। अप्रिय एवं दु:खमय प्राणी पदार्थों को अत्यन्त प्रिय और सुखमय मान लिया है। इसीलिये जन्म-मृत्यु का शिकार बना हुआ है।

159-एवं योनिगतो जीवः स नित्यो निरहङ्कृतः।
यावद्यत्रोपलभ्येत तावत्स्वत्वं हि तस्य तत्।।6.16.8।।

160-एष नित्योऽव्ययः सूक्ष्म एष सर्वाश्रयः स्वदृक्।
आत्ममायागुणैर्विश्वमात्मानं सृजति प्रभुः।।6.16.9।।

जीव नित्य और अहंकार रहित है। गर्भ में आकर जब तक जिस शरीर में रहता है, तभी तक उस शरीर को अपना समझता है। यह जीव नित्य अविनाशी सूक्ष्म (जन्मादि रहित) सबका आश्रय और प्रकाशक है। इसमें स्वरूपत: जन्म-मृत्यु आदि कुछ भी नहीं है। फिर भी यह ईश्वर रूप होने के कारण अपनी माया के गुणों से ही अपने आपको विश्व के रूप में प्रकट कर देता है।

तात्पयार्थ-

यह जीवात्मा एक एव अद्वितीय होने से नित्य, अविनाशी, सूक्ष्मतम, जन्मादि षड्भावविकारों से रहित, सब का आश्रय और प्रकाशक है। फिर भी जब से गर्भवास (गर्भाशय) में आता है, तभी से और जब तक प्रारब्धशात् शरीर में रहेगा, तब तक उस

शरीर को अपना मान कर तादात्म्य भाव से रहता है एवं वासनावशात् नवीनतम सृष्टि क्रम में तल्लीन रहता है।

161–न ह्यस्यातिप्रियः कश्चिन्नाप्रियः स्वः परोऽपि वा।

एकः सर्वधियां द्रष्टा कर्तृणां गुणदोषयोः।।6.16.10।।

162–नादत्त आत्मा हि गुणं न दोषं न क्रियाफलम्।

उदासीनवदासीनः परावरदृगीश्वरः।।6.16.11।।

इसका न तो कोई अत्यन्त प्रिय है और न अप्रिय, न अपना और न पराया। क्योंकि गुण–दोष, हित–अहित, शत्रुमित्र आदि की भिन्न–भिन्न बुद्धि वृत्तियों की तथा कर्ता के गुण–दोषों का यह अकेला ही साक्षी है, वास्तव में यह अद्वितीय है। यह कार्य कारण का साक्षी और स्वतंत्र है। इसलिये यह शरीर आदि के गुण दोष अथवा कर्मफलों को ग्रहण नहीं करता, सदा उदासीन भाव से स्थित रहता है।

तात्पर्य अर्थ–

आत्मा, असङ्ग, निरपेक्ष, निर्विकार और निरवयव आदि लक्षणों से युक्त सिद्ध होने से इसके लिये प्रिय–अप्रिय, अपना–पराया, शत्रु–मित्र, कर्तृत्व–भोक्तृत्व आदि कुछ भी नहीं कहा जा सकता। फिर भी मिथ्या आरोपित करके दूषित करना, यह मनुष्यों की अज्ञानता, विमूढ़ता के कारण ही है। अथवा अज्ञानता की चरम सीमा है।

163–यन्न स्पृशन्ति न विदुर्मनोबुद्धीन्द्रियासवः।

अन्तर्बहिश्च विततं व्योमवत्तन्नतोऽस्म्यहम्।।6.16.23।।

यद्यपि आप (आत्मा) आकाश के समान बाहर भीतर एक रहकर व्याप्त हैं तथापि आप को (आत्मा को) मन–बुद्धि और ज्ञानेन्द्रियाँ अपनी ज्ञान शक्ति से नहीं जान सकती और प्राण तथा कर्मेन्द्रियाँ अपनी क्रियाशक्ति से स्पर्श भी नहीं कर सकती। मैं ऐसे चित्स्वरूप आप को नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य अर्थ–

चैतन्यात्मा को मनबुद्धि के सहित बाह्येन्द्रियाँ (जड़ पदार्थ होने से) जानने में सदैव असमर्थ हैं। **''न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो।''** (के–1.3) अतः **''श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो''** (के–1.2) इत्यादि। आत्मा की सत्ता होने पर ही, आत्मा अनात्मा का ज्ञान होना सम्भव है। अर्थात् केवल चैतन्य से भी न अपने आपका ज्ञान होना सम्भव है और न अनात्म जड़–वस्तुओं का ही ज्ञान सम्भव है। ऐसी स्थिति में ज्ञान का होने का मतलब मन–बुद्धि के द्वारा चैतन्य सत्ता को ही स्वीकार करना होगा। **''तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं**

विभाति।।'' (क.उ. 2.2.15) भावार्थ-उस ज्ञान स्वरूप आत्मा के ज्ञानरूप प्रकाश से चराचर जगत् प्रकाशित होता है। अर्थात् आत्मा के ज्ञान से ही सब को जाना जाता है।

164-देहेन्द्रियप्राणमनोधियोऽमी, यदंशविद्धाः प्रचरन्ति कर्मसु।

नैवान्यदा लोहमिवाप्रतप्तं, स्थानेषु तद् द्रष्ट्रपदेशमेति।।6.16.24।।

शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन और बुद्धि ये यब जाग्रत् तथा स्वप्न अवस्थाओं में आपके चैतन्यांश से युक्त होकर ही अपना-अपना काम करते हैं तथा सुषुप्ति और मूर्छा की अवस्थाओं में आपके चैतन्यांश से युक्त न होने के कारण अपना-अपना काम करने में असमर्थ हो जाते हैं। ठीक वैसे ही जैसे लोह अग्नि से तप्त हो जाने पर जला सकता है, अन्यथा नहीं। जिसे द्रष्टा कहते हैं वह भी आपका ही एक नाम है, जाग्रत आदि अवर अवस्था में आप उसे स्वीकार करते हैं। वास्तव में आपसे पृथक् उनका कोई अस्तित्व नहीं है।

तात्पर्य अर्थ-

चैतन्यात्मसत्ता और अन्तःकरण (मन-बुद्धि आदि सूक्ष्म शरीर) के मध्य में अविद्या (मूल प्रकृति) का आवरण आ जाने से सुषुप्ति तथा किसी प्रकार आघात की अत्यधिक पीड़ा से मूर्छा आदि की स्थिति में मन-बुद्धि सहित बाह्येन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य करने में असमर्थ हो जाती हैं। यथा सूर्य, चन्द्रमा का स्वग्रास-ग्रहण सूर्य और पृथ्वी के मध्य में चन्द्रमा अथवा सूर्य और चन्द्रमा के बीच पृथिवी) आ जाने पर भूलोक में अँधेरा छा जाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मन, बुद्धि इन्द्रियाँ आदि ज्ञान रहित हैं।

165-स्मृत्वेहायां परिक्लेशं ततः फलविपर्ययम्।

अभयं चाप्यनीहायां संकल्पाद्विरमेत्कविः।।6.16.59।।

166-सुखाय दुःखमोक्षाय कुर्वाते दम्पती क्रियाः।

ततोऽनिवृत्तिरप्राप्तिर्दुःखस्य च सुखस्य च।।6.16.60।।

हे राजन्! सांसारिक सुख के लिये जो चेष्टाएँ की जाती हैं उनमें श्रम है, क्लेश है और जिस परम सुख के उद्देश्य से वे कर्म की जाती हैं, उसके ठीक विपरीत परम दुःख देती है किन्तु कर्मों से निवृत्त हो जाने में किसी प्रकार का भय नहीं है, यह सोचकर बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि किसी प्रकार के कर्म अथवा उसके फलों का संकल्प न करे। जगत् के सभी स्त्री-पुरुष इसलिये कर्म करते हैं कि उन्हें सुख मिले और उनका दुःखों से पिण्ड छूटे, परन्तु उनके कर्मों से न तो उनका दुःख दूर होता है और न उन्हें सुख की ही प्राप्ति होती है।

तात्पर्य अर्थ-

मनुष्यों की आकांक्षाएँ ही नाना प्रकार के शुभाशुभ कर्मों में प्रवृत्ति कराती हैं अथवा मानव मात्र का उद्देश्य है कर्मों में प्रवृत्ति होना और उसका कारण है अन्तःकरण स्थित संस्कार (वर्तमान फलाभिमुखी), जिसे हम प्रारब्ध संस्कार भी कह सकते हैं। इन्हीं संस्कारों से प्रेरित होकर बुद्धि संसार के या सांसारिक विषय वासना में सुख-शान्ति प्राप्ति की खोज करती है, किन्तु कर्मों का फल मिलता है कड़वाहट से परिपूर्ण दुःख, फिर भी मनुष्य कर्म करने से निराश नहीं होता। कर्म करने से ऊबते नहीं। कर्मों के विपरीत फलों से पश्चाताप भी होता है तो क्षणमात्र के लिये, ऐसा नहीं पश्चाताप होता कि कर्मों से सदा सर्वदा के लिये वैराग्य हो जाये। अतः बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि कर्म करने का और कर्मों के फल प्राप्ति का संकल्प ही न करें। इसी में ही सुख-शान्ति है और दुःख-अशान्ति का अन्त है। **''आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं हि परमं सुखम्।''**

167-एवं विपर्ययं बुद्ध्वा नृणां विज्ञाभिमानिनाम्।
आत्मनश्च गतिं सूक्ष्मां स्थानत्रयविलक्षणम्।।6.16.61।।

168-दृष्टश्रुताभिर्मात्राभिर्निर्मुक्तः स्वेन तेजसा।
ज्ञानविज्ञानसन्तुष्टो मद्भक्तः पुरुषो भवेत्।।6.16.62।।

जो मनुष्य अपने को बहुत बड़ा बुद्धिमान मानकर कर्म के पचड़े में और विषयों के प्रपंच में पड़े हुए हैं उनको विपरीत फल मिलता है यह बात समझ लेनी चाहिये, साथ ही यह भी जान लेना चाहिये कि आत्मा का स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म है, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, इन तीनों अवस्थाओं तथा इनके अभिमानियों से (विश्व, तैजस, प्राज्ञ) विलक्षण है। यह जानकर इस लोक में देखे हुए और परलोक के सुने हुए विषय भोग से विवेक बुद्धि के द्वारा अपना पिण्ड छुड़ा लें और ज्ञान तथा विज्ञान में ही सन्तुष्ट रहकर मेरा भक्त हो जायें।

तात्पर्य अर्थ-

बुद्धिमान् मनुष्य वही हो सकता है, जो कर्मों के फल को जन्म-मृत्यु का एवं दुःखों का मूल कारण समझता है, अतः कर्म और कर्मों के फल की आशा त्याग देनी चाहिये। त्याग भी तभी सम्भव हो सकता है, जब कार्य-कारण जगत् से भिन्न आत्म-चैतन्यदेव को जानकर मनोनिग्रहः द्वारा मनोवृत्ति को चैतन्यदेव में स्थिर करें और ज्ञानविज्ञान स्वरूप आत्मा में ही सन्तुष्ट हो जाये।

169-'निन्दनस्तवसत्कारन्यक्कारार्थं कलेवरम्।
प्रधानपरयो राजन्नविवेकेन कल्पितम्।।7.1.22।।

170-हिंसा तदभिमानेन दण्डपारुष्ययोर्यथा।

वैषम्यमिह भूतानां ममाहमिति पार्थिव।।7.1.23।।

हे युधिष्ठिर ! निन्दा-स्तुति, सत्कार और तिरस्कार इस शरीर के ही तो हैं और इस शरीर की कल्पना, प्रकृति और पुरुष का ठीक-ठीक विवेक न होने के कारण ही हुई है। जब इस शरीर को ही अपनी आत्मा मान लिया जाता है, तब यह मैं हूँ, यह मेरा है, ऐसा भाव बन जाता है। यही सारे भेदभाव का मूल है। इसी के कारण ताड़ना और दुर्ववचनों से पीड़ा होती है।

तात्पर्य अर्थ-

पुनर्जन्म एवं नानाविध दु:खों-अशान्ति की प्राप्ति प्रकृति-पुरुष, जड़-चेतन, अहं-मम आदि का यथार्थ विवेक न होने के कारण ही है। इसी अविवेक के कारण ही इस शरीर को मैं मानकर तादात्म्य भाव को प्राप्त होता है तथा तादात्म्य भाव का परिणाम यह होता है कि शरीर की निन्दा-स्तुति, सत्कार तिरस्कार, आधि-व्याधि आदि को अपने में आरोपित कर लेता है और द्वैत बुद्धि का भी उदय इसी से होता है।

171-यन्निबद्धोऽभिमानोऽयं तद्वधात्प्राणिनां वधः।

तथा न यस्य कैवल्यादभिमानोऽखिलात्मनः।।7. 1.24।।

जिस शरीर में अभिमान हो जाता है कि यह मैं हूँ, उस शरीर के वध से प्राणियों को अपना वध जान पड़ता है किन्तु भगवान् में तो जीवों के समान ऐसा अभिमान है नहीं, क्योंकि वे सर्वात्मा हैं, अद्वितीय हैं।

तात्पर्य अर्थ-

जीवात्मा का अनादि स्वभाव है, जिस-जिस शरीर को प्राप्त करता है, उस-उस शरीर को अपने प्रारब्ध कर्मानुसार अपना स्वरूप ही मान लेता है, इसी से उस शरीर के वध से, विनाश से अपना वध या विनाश मान लेता है। किन्तु विचार करके देखा जाये तो आत्मा में वध-विनाश तो है ही नहीं, और प्रकृति के कार्यरूप शरीर का भी विनाश नहीं, केवल मात्र संगठन का विगठन (संयोग का वियोग) हो जाता है। विनाश तो किसी भी वस्तु का किसी काल में होता ही नहीं और न भविष्य में होने वाला है। गुणों के स्वभावानुसार आकृति-विकृति होती रहती है। इसी का नाम उत्पत्ति-विनाश है, जन्म-मृत्यु है। इसीलिये आत्मा को शास्त्रकारों ने अजन्मा, अविनाशी, सर्वव्यापक कहा है। "**न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।** (गी.2.20), **नैन छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।**" (गी.2.23)।

172-मतिर्न कृष्णे परतः स्वतो वा, मिथोऽभिपद्येत गृहव्रतानाम्।
अदान्तगोभिर्विशतां तमिस्रं, पुनः पुनश्चर्वितचवर्णानाम्।।7. 5.30।।
173-न ते विदुः स्वार्थगतिं हि विष्णुं, दुराशया ये बहिरर्थमानिनः।
अन्धा यथान्धैरुपनीयमाना, वाचीशतन्त्यामुरुदाम्नि बद्धाः।।7. 5.31।।

हे युधिष्ठिर! जब गुरु जी ने ऐसा उत्तर दिया तब हिरण्यकशिपु ने फिर प्रहलाद से पूछा-क्यों रे! यदि तुझे ऐसी अहित करने वाली खोटी बुद्धि गुरुमुख से नहीं मिलती तो बता कहाँ से प्राप्त हुई? हे पिताजी! संसार के लोग तो पिसे हुए को पीस रहे हैं, चबाये हुए को चबा रहे हैं। उनकी इन्द्रियाँ वश में न होने के कारण भोगे हुए विषयों को ही फिर-फिर भोगने के लिये संसार रूप कूप (घोर) नरक की ओर जा रहे हैं। ऐसे गृहस्थ पुरुषों की बुद्धि अपने आप किसी के सिखाने से अथवा अपने ही जैसे लोगों के संग से भगवान श्रीकृष्ण में नहीं लगती, जो इन्द्रियों से दिखने वाले बाह्य विषयों को परम सुख का साधन समझकर मूर्खतावश अन्धों के पीछे अंधों की तरह गड्ढे में गिरने के लिये चले जा रहे हैं और वेदवाणी रूप रस्सी के काम्यकर्मों के दीर्घबन्धनों में बँधे हुए हैं, उनको यह बात मालूम नहीं कि हमारे स्वार्थ और परमार्थ भगवान् विष्णु ही हैं, उन्हीं की प्राप्ति से हमें सब पुरुषार्थों की प्राप्ति हो सकती है।

तात्पर्य अर्थ-

नये पदार्थों के आविष्कार में, अनुसन्धान में, खोज में, सतत हमारी बुद्धि खोयी रहती है, व्यस्त रहती है, जिसे हम बुद्धि व्यायाम भी कह सकते हैं किन्तु हे मेरे प्रियमित्रों! विचार करके देखो, समझो तो नया कुछ भी नहीं है, न होता ही है, क्योंकि सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाशादि सब के सब अनादि वस्तुएँ हैं तथा घट-पट यन्त्रादि उन्हीं भौतिक पदार्थों के कार्य हैं। इसी प्रकार इन्द्रियों के भोग्य विषय भी अनादि हैं, इन्हीं भोगों में आसक्त होने के कारण इन्द्रियाँ बहिर्मुख हो जाती हैं तथा इन्द्रियों के बर्हिमुख हो जाने से स्वस्वरूप का ज्ञान न होना स्वाभाविक है और जब तक आत्मा का ज्ञान नहीं होगा, तब तक दिग्भ्रान्ति मनुष्यों में बनी रहेगी। नेत्र विहीन के सदृश सांसारिक भोगों के लिये भटकते फिरते रहेंगे, पशु-पक्षी, कृमि-कीटादि योनियों में जन्म पर जन्म लेते रहेंगे। यह हुआ नवीनतम विषयों की पदार्थों की खोज का परिणाम। लोगों के मन में धारणा है कि नयी वस्तुओं का आविष्कार कर रहे हैं और हम कहते हैं वस्तुओं का संयोजन मात्र किये हैं। न कि आप किसी नयी वस्तु का निर्माण किये हैं, हाँ इतना जरूर है कि नये नामों का और रूपों का तथा क्रियान्वयों का आविष्कार कह सकते हैं। और इन नामरूपों का कोई अस्तित्व ही नहीं है, केवल व्यवहार के सिवाय। "**स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्।।**" (छा.उप.6.2.1)।

174-भवतामपि भूयान्मे यदि श्रद्दधते वचः।

वैशारदी धीः श्रद्धातः स्त्रीबालानां च मे यथा।। 7. 7.17।।

यदि तुम लोग मेरी इस बात पर श्रद्धा करो तो तुम्हें भी वह ज्ञान हो सकता है क्योंकि श्रद्धा से स्त्री और बालकों की बुद्धि भी मेरे ही समान शुद्ध हो सकती है।

तात्पर्य अर्थ-

जिस प्रकार सांसारिक व्यक्ति, संसार और परिवार में श्रद्धा-विश्वास करके बँधे हुए हैं, उसी प्रकार यदि स्वस्वरूप परमात्मा में श्रद्धा-विश्वास हो जाये तो इसी जीवन में उनको संसार बन्धन से मुक्ति हो सकती है। चाहे वह स्त्री हो, बालक हो अथवा कोई भी वर्ण के क्यों न हों, उनका कल्याण होना निश्चित है।

175-जन्माद्याः षडिमे भावा दृष्टा देहस्य नात्मनः।

फलानामिव वृक्षस्य कालेनेश्वरमूर्तिना।।7. 7.18।।

176-आत्मा नित्योऽव्ययः शुद्ध एकः क्षेत्रज्ञ आश्रयः।

अविक्रियः स्वदृग् हेतुर्व्यापकोऽसङ्ग्यनावृतः।।7. 7.19।।

जैसे ईश्वरमूर्ति काल की प्रेरणा से वृक्षों के फल लगते हैं, ठहरते हैं, बढ़ते हैं, पकते हैं, क्षीण होते हैं और नष्ट हो जाते हैं। वैसे ही जन्म, अस्तित्व की अनुभूति, वृद्धि, परिणाम, क्षय और विनाश ये छह भाव विकार शरीर में ही देखे जाते हैं, आत्मा से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मा नित्य अविनाशी, शुद्ध, एक, क्षेत्रज्ञ, आश्रय, निर्विकार, स्वयंप्रकाश, सबका कारण, व्यापक असंग तथा आवरण रहित है।

तात्पर्य अर्थ-

यह प्रकृति, यह जगत् षड्भावविकार से ओतप्रोत हैं अथवा षड्विकार प्रकृति का स्वभाव है, गुणधर्म है। इसी से यह शरीर भी प्रकृति का कार्य होने के कारण षड्भाव-विकार वाला है। ''**यथा वृक्षो वनस्पतिस्तथैव पुरुषोऽमृषा। तस्य लोमानि पर्णानि त्वगस्योत्पाटिका बहिः। त्वच एवास्य रुधिरं प्रस्यन्दि त्वच उत्पटः। तस्मात्तदातृण्णात्प्रैति रसो वृक्षादिवाऽऽहतात्।।**'' (बृ.उ. 3.9.28)। भावार्थ- वनस्पति आदि गुणों से युक्त वृक्ष जिन धर्मों से युक्त होता है, जीव का शरीर रूप पुरुष भी वैसा ही होता है, यह सर्वथा सत्य है। वृक्ष के पत्ते होते हैं और उस पुरुष के शरीर में रोएँ होते हैं। वृक्ष के बाहरी भाग में छाल होती है और पुरुष के शरीर में त्वचा इत्यादि समानता है। जैसे- वनस्पति, औषधि आदि में उत्पत्ति से विनाश पर्यन्त भाव विकार देखने में आता है वैसे ही यह शरीर भी है, यही उक्त श्रुति का तत्पर्य हैं। किन्तु आत्मा इन भावविकारों का साक्षी द्रष्टा है, ज्ञाता है। इससे यही सिद्ध होता है कि शरीर आत्मा नहीं

और आत्मा शरीर नहीं हो सकती। आत्मा नित्य, विभु, असङ्ग, अद्वितीय, सनातन है। वही अपना स्वरूप है, वही मैं हूँ। "**अथ य एष संप्रसादोऽस्माच्छूरीरात्समुथाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति।**" (छा. 8.3.4) इति श्रुतिः प्रमाणम्।

177-एतैर्द्वादशभिर्विद्वानात्मनो लक्षणैः परैः।
अहं ममेत्यसद्भावं देहादौ मोहजं त्यजेत्।।7. 7.20।।

178-स्वर्णं यथा ग्रावसु हेमकारः क्षेत्रेषु योगैस्तदभिज्ञ आप्नुयात्।
क्षेत्रेषु देहेषु तथाऽऽत्मयोगैरध्यात्मविद् ब्रह्मगतिं लभेत।।7. 7.21।।

ये बारह आत्मा के उत्कृष्ट लक्षण हैं। आत्मा- 1. नित्य, 2. अविनाशी, 3. शुद्ध, 4. एक, 5. क्षेत्रज्ञ, 6. आश्रय, 7. निर्विकार, 8. स्वयंप्रकाश, 9. सबका कारण, 10. व्यापक, 11. असंग, 12. आवरणरहित। इसके द्वारा आत्मा को जानने वाले पुरुष को चाहिये कि शरीरादि में अज्ञान के कारण जो मैं और मेरे का झूठा भाव हो रहा है, उसे छोड़ दे। जिस प्रकार सुवर्ण की खानों में (पृथ्वी के भीतर के स्थान) पत्थर, मिट्टी से मिले हुए सुवर्ण को उसके निकालने की विधि जानने वाला स्वर्णकार उन विधियों से उसे प्राप्त कर लेता है, वैसे ही अध्यात्मतत्त्व को जानने वाले पुरुष आत्मप्राप्ति के उपायों द्वारा अपने शरीर रूप क्षेत्र में ही ब्रह्म पद का साक्षात्कार कर लेते हैं।

तात्पर्य अर्थ-

आत्म साक्षात्कार करने में अहंकार मुख्य रूप से बाधक है, चट्टान की तरह अवरोधक है। इस अहंकार का कारण है अज्ञानता, अविवेकता, उस अज्ञानता को दूर करने के लिये पूर्व प्रस्तुत श्लोकों में आत्मतत्त्व के 12 लक्षणों का वर्णन आया है, उनमें से एक -दो लक्षणों को भी दृढ़ता से जिज्ञासु अपने मन में (अन्तःकरण) धारण कर ले तो आत्म साक्षात्कार में कोई विलम्ब नहीं। जैसे आत्मा एक है '**नेहनानास्ति किञ्चन**' (बृ-4.4.19)। आत्म असङ्ग है '**असङ्गो ह्ययमात्मा**' (नृसिंहोत्तरतापिन्युन0 2)। अविनाशी है '**न जायते म्रियते वा कदाचित्**' (गीता)। मनुष्यों को जब तक आत्मानुभूति नहीं हुई है, तभी तक भूख प्यास का भय, मृत्यु का भय, प्राणी पदार्थों के वियोग का भय, शरीर सम्बन्धी व्याधियों का भय निरन्तर सताता रहेगा, भयरूपी ताप से संतप्त होते रहेंगे।

179-अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्तास्त्रय एव हि तद्गुणाः।
विकाराः षोडशाचार्यैः पुमानेकः समन्वयात्।।7.7.22।।

आचार्यों ने मूल प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार और पँचतन्मात्राएँ, इन आठ तत्वों को प्रकृति बताया है। उनके तीन गुण हैं-सत्व, रज और तम तथा उनके विकार हैं सोलह-दस इन्द्रियाँ, एक मन और पँचमहाभूत। इन सब में एक पुरुषतत्त्व अनुगत है।

तात्पर्य अर्थ-

भगवान वासुदेव ने अर्जुन के प्रति कहा है-"**भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।।** (गी.7.4) अर्थात् पाँच महाभूत, मन, बुद्धि और अहंकार इन आठों को भगवान का ही अपर प्रकृति (स्वभाव) कहा है। पँचतन्मात्राएँ, तीन गुण और गुणों के द्वारा षड्भाव विकार से युक्त स्वस्वरूप वाली को प्रकृति कहा गया है। आत्मा उन सभी में ओतप्रोत है, प्रकृति के स्वभावानुसार प्रपंचस्वरूप जगत् की उत्पत्ति, विकास और विनाश आदि का उदय होता है तथा यही जगत् जीवात्मा के लिये सुख-दु:ख, जन्म-मृत्यु का अनादि कारण है।

(9) आत्मानुसंधानप्रकरणम्

180-देहस्तु सर्वसंघातो जगत् तस्थुरिति द्विधा।
अत्रैव मृग्यः पुरुषो नेति नेतीत्यतत् त्यजन्।।7. 7.23।।

उपरोक्त श्लोक में किये गये संकेत (प्रकृति-अष्टधा) समुदाय ही देह है। यह दो प्रकार का है-स्थावर और जङ्गम। इसी में अन्त:करण, इन्द्रियाँ आदि अनात्म वस्तुओं का समुदाय 'यह आत्मा नहीं है' इस प्रकार बाध करते हुए आत्मा को ढूँढना चाहिये।

तात्पर्य अर्थ-

जिस प्रकार पैर में चुभे हुए काँटे को जाने बिना उसको निकाल बाहर करना असम्भव है और काँटे को बाहर किये बिना उसकी पीड़ा से छुटकारा नहीं पा सकते। इस प्रकार अनात्मवस्तु (जड़तत्त्व) का यथार्थ ज्ञान हुए बिना जगत् के कार्य कारण रूप के सहित मन-बुद्धि, देहेन्द्रियों आदि अनात्मा जो कि आत्मा के लिये महाबन्धन है, इसका त्याग कैसे सम्भव होगा ? अत: इन अनात्म वस्तुओं का ज्ञान पाना साधकों के लिये सर्वप्रथम कार्य है। ज्ञान हो जाने के पश्चात् "**नेति-नेति**" (बृ-3.9.26)इस श्रुति वाक्यादेशानुसार समस्त अनात्म पदार्थों का यह मैं नहीं यह मैं नहीं हूँ। इस प्रकार व्यावृत्तिपूर्वक '**अहं ब्रह्मास्मि**' (बृ-1.4.10) स्वस्वरूप में, उस वृत्ति को शान्त कर दें, वृत्ति शून्य हो जाये। '''**यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं मन्वीत तत्केन कं विजानीयाद्येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्स एष नेति नेत्यात्मा।।**'' (बृ.4.5.15) इति श्रुतिः।

181-अन्वयव्यतिरेकेण विवेकेनोशताऽऽत्मना।
सर्गस्थानसमाम्नायैर्विमृशद्भिरसत्वरैः।।7. 7.24।।

आत्मा सबमें अनुगत है, परन्तु है वह सबसे पृथक्। इस प्रकार शुद्ध बुद्धि से धीरे-धीरे संसार की उत्पत्ति, स्थिति और उसके प्रलय पर विचार करना चाहिये। उतावली (जल्दी करना) नहीं करनी चाहिये।

तात्पर्य अर्थ-

आत्मा-अनात्मा की जो अनादि ग्रन्थि है, तादात्म्य भाव है, उसको तर्क-वितर्क के द्वारा समझकर पृथक् कर लेना चाहिये, जैसे-दाल, चावल से कूड़ा-करकट, कंकणादि को पृथक् करके अपने व्यवहार में लिया जाता है, यानि खाने योग्य बनाया जाता है अथवा वस्त्र, घटादि को अपने से (आत्मा से) पृथक् समझा जाता है। वैसे ही प्राण, मन, बुद्धि आदि को भी पृथक् करके समझें।

182-बुद्धेर्जागरणं स्वप्नः सुषुप्तिरिति वृत्तयः।
ता येनैवानुभूयन्ते सोऽध्यक्षः पुरुषः परः।।7.7.25।।

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति, ये तीनों बुद्धि की वुत्तियाँ हैं। इन वृत्तियों का जिसके द्वारा अनुभव होता है, वही सब से अतीत, सब का साक्षी परमात्मा है।

तात्पर्य अर्थ-

जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाएँ मानव मात्र का नित्य प्रतिदिन का अनुभव है। वे शरीर का धर्म नहीं अपितु बुद्धि की वृत्ति समझना चाहिये। यह बुद्धिवृत्ति जब स्थूल शरीर के साथ में होती है उसे जाग्रत् के नाम से जाना जाता है और वही बुद्धि वृत्ति जब वासनामय सूक्ष्म-शरीर के साथ होती है, तब स्वप्नावस्था कही जाती है तथा कारण शरीर (मूल अविद्या) के साथ जब वह बुद्धिवृत्ति होती है, तब उस काल को सुषुप्ति के नाम से कहा जाता है और इन तीनों बुद्धिवृत्ति के साथ अनुगत अनुभविता को साक्षी आत्मा (चतुर्थ तुरीयावस्था) या आत्मा के नाम से भी विदित है।

183-एभिस्त्रिवर्णैः पर्यस्तैर्बुद्धिभेदैः क्रियोद्भवैः।
स्वरूपमात्मनो बुध्येद् गन्धैर्वायुमिवान्वयात्।।7. 7.26।।

जैसे गन्ध से उसके आश्रय वायु का ज्ञान होता है, वैसे ही बुद्धि की इन कर्मजन्य एवं बदलने वाली तीनों अवस्थाओं के माध्यम से नित्य, अविनाशी, शाश्वत आत्मा का अनुमान किया जाता है।

तात्पर्य अर्थ-

आत्मा-परमात्मा को आत्मतत्त्वज्ञानी सद्गुरु एवं शास्त्र के द्वारा ही जाना जा सकता है, क्योंकि आत्मा-अदृश्य, निराकार, इन्द्रियातीत एवं अनिर्वचनीय आदि

विशेषणों से युक्त होने से और श्रद्धा विश्वास ही उसको जानने का उपाय है, अन्य और कोई उपाय नहीं है। जैसा कि 'माण्डूकयोपनिषत् में उस अनीर्वचनीयात्मा का संकेत द्वारा बोध किया है- **'नान्तः प्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्।। अदृश्यमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणम्। अव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।।'** (मां.उ-7)।

184-एतद्द्वारो हि संसारो गुणकर्मनिबन्धनः।
अज्ञानमूलोऽपार्थोऽपि पुंसः स्वप्न इवेष्यते।। 7.7.27।।

185-तस्माद्भवद्भिः कर्तव्यं कर्मणां त्रिगुणात्मनाम्।
बीजनिर्हरणं योगः प्रवाहोपरमो धियः।।7.7.28।।

गुणों और कर्मों के कारण होने वाला जन्म-मृत्यु का चक्र आत्मा को शरीर और प्रकृति से पृथक् न करने के कारण ही है। यह अज्ञानमूलक एवं मिथ्या है। फिर भी स्वप्न के समान जीव को इसकी प्रतीति होती है। इसलिये तुम लोगों को सब से पहले इन गुणों के अनुसार होने वाले कर्मों का बीज ही नष्ट कर देना चाहिये। इससे बुद्धिवृत्तियों का प्रवाह निवृत्त हो जाता है। इसी को दूसरे शब्दों में योग या परमात्मा से मिलन कहते हैं।

तात्पर्य अर्थ-

मुमुक्षु साधक का सर्वप्रथम परम कर्तव्य है कि विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति तथा मुमुक्षता और श्रवण, मनन, निदिध्यासन रूपी साधन द्वय द्वारा प्राप्त आत्मतत्व ज्ञानरूपी अग्नि से अविद्या के कार्य बुद्धिवृत्ति प्रवाह को एवं कर्मवासनाओं के बीज को दग्ध करके स्वस्वरूप में, परमात्मज्योतिस्वरूप आत्मा में स्थित हो जाये। यथा अर्जुन का अन्तिम वाक्य- **''नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत। स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।।''** (गी-18.73)।

186-तत्रोपायसहस्राणामयं भगवतोदितः।
यदीश्वरे भगवति यथा यैरञ्जसा रतिः।।7.7.29।।

यों तो इन त्रिगुणात्मक कर्मों की जड़ उखाड़ फेंकने के लिये सहस्रों साधन हैं परन्तु जिस उपाय से और जैसे सर्वशक्तिमान भगवन् में स्वाभाविक निष्काम प्रेम हो जाय, वही उपाय सर्वश्रेष्ठ है। यह बात स्वयं भगवान् ने कही है।

तात्पर्य अर्थ-

सम्पूर्ण वेद-वेदान्त आदि शास्त्रों का तथा पूर्वाचार्यों का संपूर्ण अथक प्रयास हुआ केवल एकमात्र बुद्धिवृत्तियों को शान्त करके आत्मानुसन्धान में लगाना। किन्तु

बड़ी अफसोस की बात यह है कि अनेकानेक साधनों के होते हुए भी जन्म-मृत्युरूप आवागमन से मुक्त नहीं हो पा रहे हैं, ऐसा क्यों? तो कहना पड़ेगा कि आत्मतत्त्व निर्विषय, निराकार, नीरूप होने से अनुमान-प्रमाण अथवा युक्ति प्रमाण का विषय नहीं किन्तु एक मात्र श्रद्धा, विश्वास को ही ज्ञान करने-कराने का साधन माना जाता है। इसी से पूर्वाचार्यों का एकमत एक विचार नहीं बन सका, अनेकों संसाधनों का शास्त्रों में उल्लेख मिलता है और साधन भिन्न-भिन्न होने के कारण साधकों को और भी कठिनता हो जाती है। यही कारण है कि आत्मा का साक्षात् अपरोक्ष अनुभव का न हो पाना और जब तक अपरोक्ष ज्ञान नहीं हो पाता, तब तक जन्म-मृत्यु रूप संसार बन्धन से मुक्त होना असम्भव है। श्रुति कहती है-''**स एष नेति नेति आत्माऽग्राह्यो न हि गृह्यते।**'' (बृ-3.9.26)।

187-स इत्थं दैत्यपतिना परिपृष्टो महामुनिः।

स्मयमानस्तमभ्याह तद्वागमृतयन्त्रितः।।7.13.19।।

हे धर्मराज! जब दैत्यपति प्रह्लाद जी ने महामुनि दत्तात्रेय जी से इस प्रकार प्रश्न किया, तब वे उनकी अमृतमयी वाणी के वशीभूत हो मुस्कुराते हुए बोले।

तात्पर्य अर्थ-

सद्‌भक्तों का यही लक्षण होना चाहिए कि गुणातीत आत्मज्ञानी भी उनके बात व व्यवहार से अति प्रसन्न हो जायें।

188-वेदेदमसुरश्रेष्ठ भवान् नन्वार्यसम्मतः।

ईहोपरमयोर्नृणां पदान्यध्यात्मचक्षुषा।।7.13.20।।

हे दैत्यराज! सभी श्रेष्ठ पुरुष तुम्हारा सम्मान करते हैं। मनुष्यों को कर्मों की प्रवृत्ति और उसकी निवृत्तिका क्या फल मिलता है यह बात तुम अपनी ज्ञानदृष्टि से जानते ही हो।

तात्पर्य अर्थ-

शास्त्रों में मनुष्यों के लिये दो मार्गों का विधान है, प्रवृत्ति और निवृत्ति। प्रवृत्ति के मार्ग के द्वारा शुभाशुभ कर्मों को करके जन्म-मृत्युरूप संसार बन्धन (अन्धकूप) में प्रवेश करते हैं और निवृत्ति मार्ग के द्वारा उसके विपरीत संसार बन्धन से मुक्त होकर परमगति-परमानन्द, सर्वात्मभाव परम पद को, मोक्षपद को सदा-सर्वदा के लिये प्राप्त करते हैं। ''**यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।।**''(क.उ.2. 3.14) अर्थात् मनुष्य के हृदय में स्थित जो कामनाएँ हैं वे सब के सब जब अन्त (नष्ट) हो जाती हैं तब उस समय (अज्ञानता) से अपने को

जन्म-मृत्यु, भूख-प्यास आदि मानने वाला वह मनुष्य अमर हो जाता है और इसी वर्तमान शरीर में ही ब्रह्म भाव को प्राप्त हो जाता है।

189-यस्य नारायणो देवो भगवन्हृद्गतः सदा।

भक्त्या केवलयाज्ञानं धुनोति ध्वान्तमर्कवत्।।7.13.21।।

190-अथापि ब्रूमहे प्रश्नांस्तव राजन्यथाश्रुतम्।

सम्भावनीयो हि भवानात्मनः शुद्धिमिच्छताम्।।7.13.22।।

तुम्हारी अनन्य भक्ति के कारण देवाधिदेव भगवान् नारायण सदा तुम्हारे हृदय में विराजमान रहते हैं और जैसे सूर्य अन्धकार को नष्ट कर देता है वैसे ही वे तुम्हारे अज्ञान को नष्ट कर देते हैं। तो भी हे प्रह्लाद! मैंने जैसा कुछ गुरुजनों से सुना, उसके अनुसार मैं तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर देता हूँ। क्योंकि आत्मशुद्धि के अभिलाषियों को ऐसा ही (इस प्रकार जिज्ञासापूर्वक) प्रश्न अवश्य करना चाहिये।

तात्पर्य अर्थ-

हृदयस्थ परम तत्त्व-आत्मा को अनन्य भाव से सतत अनुसन्धान करते रहने से अनादि अविद्या (अज्ञान) का सर्वथा नाश हो जाता है, सदा-सर्वदा के लिये। जैसे सूर्य के प्रकाश से अन्धकार सूर्य में ही विलीन हो जाता है, एवं रज्जू के यथार्थ ज्ञान हो जाने पर सर्प की भ्रान्ति सदा के लिये निवृत्त हो जाती है।

191-तृष्णया भववाहिन्या योग्यैः कामैरपूरया।

कर्माणि कार्यमाणोऽहं नानायोनिषु योजितः।।7.13.23।।

192-यदृच्छया लोकमिमं प्रापितः कर्मभिर्भ्रमन्।

स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं तिरश्चां पुनरस्य च।।7.13.21।।

हे प्रह्लाद जी! तृष्णा एक ऐसी वस्तु है जो कि इच्छानुसार भोगों के प्राप्त होने पर भी पूरी नहीं होती। उसी के कारण जन्म-मृत्यु के चक्कर में भटकना पड़ता है। तृष्णा ने मुझसे न जाने कितने कर्म करवाये और उनके कारण न जाने कितनी योनियों में मुझे डाला। कर्मों के कारण अनेकों योनियों में भटकते-भटकते दैववश मुझे यह मनुष्य योनि मिली है जो स्वर्ग, मोक्ष, तिर्यग्योनि तथा इस मानव देह की भी प्राप्ति का द्वार है, इसमें पुण्य करें तो स्वर्ग, पाप करें तो पशु-पक्षी आदि योनि (नरक), दोनों के निवृत्त हो जाये तो मोक्ष और दोनों प्राप्त करके कर्म किये जायें तो फिर से मनुष्य योनि की ही प्राप्ति हो सकती है।

तात्पर्य अर्थ-

मनुष्यों की तृष्णा प्रायः तीन विभागों से गुजरती है- वित्तैषणा, पुत्रैषणा और लोकैषणा। अर्थात् इस लोक-परलोक में सुख-शान्ति के उद्देश्य से कर्म करने के

लिये एवं जीवन निर्वाह के लिये वित्त (अर्थ) की महती आवश्यकता है। तभी मनुष्य कर्म करने में सक्षम हो पायेंगे। इसी प्रकार पितृदेवताओं के ऋण से मुक्ति पाने के लिये अथवा पितृलोक में सुख-शान्ति के लिये, पुत्र की भी महती आवश्यकता होगी। उपरोक्त ये दोनों एषणाएँ लोकैषणा के अन्तर्गत ही समझनी चाहिये। क्योंकि शास्त्रों में ऐसा प्रमाण मिलता है-''**या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणे एव भवतः।।**''(बृ.3.5.1) जो भी पुत्रैषणा है फलतः वित्तैषणा ही है और जो वित्तैषणा है वही लोकैषणा है। ये दोनों साध्य साधन सम्बन्धी एषणा ही हैं।

मानव मात्र के मन का पेट कभी नहीं भरता, मनोगत इच्छा (एषणा)की पूर्ति होती नहीं, इसी का नाम है तृष्णा, यह तृष्णा मनोवृत्ति है और यह वृत्तियाँ धधकती हुई अग्नि के समान हैं, उसमें कुछ भी डालो क्षणभर में सब स्वाहा (भस्म) हो जाता है। दूसरी बात है शुभाशुभ कर्म कराके ये तृष्णा रूपी वृत्तियाँ जन्म-मृत्यु की अटूट श्रंखला में (लोहे की जंजीर) में बाँधती है। इस श्रृंखला के अन्तर्गत पशु-पक्षी, कृमि-कीट, पतंगादि योनियों में जन्म लेने के लिये विवश कर देती हैं। अनादि-अनन्त जन्म-मृत्यु बँधन में बाँध देती हैं। यों तो मनुष्य योनि एक ऐसी योनि है जो स्वर्ग, अपवर्ग (मोक्ष) और तिर्यगादि योनि तथा इस मनुष्य योनि की भी प्राप्ति का कारण (द्वार) मानी जाती है। इसी शरीर के द्वारा कर्म करने का विधान है शास्त्रों में, इसीलिये कर्मक्षेत्र भी इसे कहा जाता है। शुभ कर्म करने पर स्वर्ग और अशुभकर्म करने पर पशु-पक्षी आदि योनियों में तथा कर्मों से निवृत्त हो जाने पर मोक्ष (परमपदकी) प्राप्ति और दोनों प्रकार के मिश्रित कर्मों की गति को समझना अति अनिवार्य है- ''**कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः। अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः।।**''(गी.4. 17)। ''**स्वर्गापवर्ग निसेमी। ज्ञान विराग भक्ति सुख देनी।।**'' (रा.मा)।

193-इत्येतदात्मनः स्वार्थं सन्तं विस्मृत्य वै पुमान्।

विचित्रामसति द्वैते घोरामाप्नोति संसृतिम्।।7.13.27।।

मनुष्य अपने सच्चे स्वार्थ अर्थात् वास्तविक सुख को जो अपना स्वरूप ही है उसे भूलकर इस मिथ्या द्वैत को सत्य मानता हुआ अत्यन्त भयंकर और विचित्र जन्मों और मृत्युओं में भटकता रहता है।

तात्पर्य अर्थ-

जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख, भय आदि का कारण है, अपने स्वरूप का ज्ञान न होना और कदाचिद् शास्त्रों के द्वारा परोक्ष ज्ञान हो भी जाता है, तो उस ज्ञान में बुद्धि की स्थिरता न होना। इसी से विनाशशील असत्य द्वैत-प्रपञ्च को सत्य मान बैठा है।

"अस्ति ब्रह्मेति सामान्यज्ञानमत्र परोक्षधीः" बुद्धि आदि के द्वारा आनन्द स्वरूप अन्तरात्मा के स्वरूप को प्रत्यक्ष रूप से विषय न करके, शास्त्र और गुरु (ब्रह्म) उपदेश से "है" - ऐसा सामान्य ज्ञान है, उस ज्ञान को परोक्ष कहा जाता है।

194-जलं तदुद्भवैश्छन्नं हित्वाज्ञो जलकाम्यया।

मृगतृष्णामुपधावेद् तथान्यत्रार्थदृक् स्वतः।।7.13.28।।

जैसे अज्ञानी मनुष्य जल में उत्पन्न तिनके और सेवार से ढके हुए जल को जल न समझकर जल के लिये मृगतृष्णा (मरुस्थल भूमि) की ओर दौड़ता है, वैसे ही अपनी आत्मा से भिन्न वस्तु में सुख समझने वाला पुरुष आत्मा को छोड़कर विषय की ओर दौड़ता है।

तात्पर्य अर्थ-

यह जीवात्मा, अविद्या और अविद्या के कार्य-मल, विक्षेप, आवरणों से अथवा अनादि कर्म बीज वासनाओं से, बुद्धिवृत्ति के विषम प्रवाहों से ढक जाने के कारण हड्डी, माँस, रक्त, मज्जा आदि अष्टधातुओं के समूह रूप शरीर को ही सत्य, नित्य, आनन्दमय अपना स्वरूप (आत्मा) मान लिया है और इसको स्वस्थतापूर्ण बनाये रखने के लिये विवश होकर विषयों में सतत आसक्त हो जाता है। यही स्वरूप का अज्ञान -आवरण है। जैसे जल के विकार बादलों ने ज्योतियों के ज्योति भगवान् सूर्य को भी समय-समय पर ढक सकते हैं। वैसे तो विचार करके देखा जाये कि इतना बड़े विशालकाय सूर्य को एक छोटा सा बादलों का टुकड़ा (भाग) कैसे ढक सकता है। कैसे सूर्य का आवरण बन सकता है, फिर भी देखने में आता है, यह प्रत्यक्ष प्रमाण है। इसका कारण अज्ञानता-विमूढ़ता की पराकाष्ठा (चरमसीमा) को ही मानना पड़ेगा।

195-देहादिभिर्दैवतन्त्रैरात्मनः सुखमीहतः।

दुःखात्ययं चानीशस्य क्रिया मोघाः कृताः कृताः।।7.13.29।।

196-आध्यात्मिकादिभिर्दुःखैरविमुक्तस्य कर्हिचित्।

मर्त्यस्य कृच्छ्रोपनतैरर्थैः कामैः क्रियेत किम्।।7.13.30।।

हे प्रह्लाद जी! शरीर आदि तो प्रारब्ध के अधीन हैं। उनके द्वारा जो अपने लिये सुख पाना और दुःख मिटाना चाहता है, वह कभी अपने कार्य में सफल नहीं हो सकता। उसके बार-बार किये हुये सारे कर्म (परिश्रम) व्यर्थ हो जाते हैं। मनुष्य सर्वदा शारीरिक, मानसिक आदि दुःखों से आक्रान्त ही रहता है। मरणशील तो है ही, यदि उसने बड़े श्रम और कष्ट से कुछ धनादि प्राप्त कर ही लिया तो क्या लाभ?

तात्पर्य अर्थ-

मनुष्य सर्वदा शारीरिक, मानसिक आदि दु:खों से व्यथित क्यों रहते हैं? क्योंकि मरण-धर्मी शरीर-इन्द्रियों के माध्यम से भोगों की लिप्सा से आक्रान्तित मनुष्य नाना प्रकार के कर्मों में लिप्त होकर मिथ्या आकांक्षा कर आत्यन्तिक सुख-शान्ति की प्राप्ति चाहते हैं। ऐसा करने से कोई भी मनुष्य अपनी आकांक्षा की पूर्ति करने में सदा सर्वदा विफल ही रहे हैं और आगे भी रहेंगे। क्योंकि कर्मों का फल ही तो है जन्म-मृत्यु और इहलोक-परलोक का भोग, आत्यन्तिक सुख नहीं, शान्ति नहीं। दूसरी बात यह है कि शरीर और कर्मों का फल तो निश्चित प्रारब्ध के अधीन है, इसलिये मनुष्य के अति श्रम करने पर भी उनका परिश्रम व्यर्थ हो जाता है। कदाचित् भोग की सामग्री किञ्चित् उपलब्ध भी हो जाय, तो भी वह अत्यन्त क्षणभंगुर होने के कारण दु:खों के रूप में ही परिणत हो जाता है । क्योंकि-

197-पश्यामि धनीनां क्लेशं लुब्धानामजितात्मनाम्।

भयादलब्धनिद्राणां सर्वतोऽभिविशङ्किनाम्।। 7.13.31।।

198-राजतश्चोरत: शत्रो: स्वजनात्पशुपक्षित:।

अर्थिभ्य: कालत: स्वस्मान्नित्यं प्राणार्थवद्भयम्।।7.13.32।।

लोभी और इन्द्रियों के वश में रहने वाले धनियों का दु:ख तो मैं देखता ही रहता हूँ। भय के मारे उन्हें नींद नहीं आती। सब पर उसका सन्देह बना ही रहता है। जीवन और धन के लोभी वे राजा, चोर, शत्रु, स्वजन, पुत्र-बन्धुबान्धवादि, पशु-पक्षी, याचक, काल से और अपने ही शरीर से, यहाँ तक कि कहीं मैं भूल न कर बैठूँ कि अधिक खर्च न कर दूँ इस आशंका से अपने आपसे भी भयभीत रहते हैं।

तात्पर्य अर्थ-

एषणा-भय, संशय आदि की जननी है। एषणा तीन रूपवाली है-1. पुत्र-एषणा, 2. वित्त-एषणा और 3. लोक-एषणा। गृहस्थों में पुत्रैषणा, मुख्य रूप से रहती है, लोकैषणा भी रहती है किन्तु गौण होकर भी विरक्तों में (साधु-संन्यासियों में), किन्तु लोकैषणा की प्रबलता देखी जाती है। वित्तैषणा दूसरे नम्बर में होती है, पुत्रैषणा तो होती ही नहीं। कुछ ऐसे भी महापुरुष ज्ञानी, त्यागी होते हैं, जिनमें इन तीनों एषणाओं का अभाव होता है। इसी से परम शान्ति का अनुभव करते हैं और इतर साधु-संन्यासी तो उभय एषणाओं के कारण अशान्ति एवं व्यस्तता (भाग-दौड़) में जीवनयापन (कालक्षय) करते हैं। इसीलिये ऐसे साधु-सन्तों के लिये कुछ लोग महागृहस्थ भाषा (शब्द) का प्रयोग करते हैं। ये एषणाएँ ही क्लेश, लोलुपता, भय और संशय (अनिश्चितता) आदि को उत्पन्न करती हैं।

199-शोकमोहभयक्रोधरागक्लैब्यश्रमादयः।

यन्मूलाः स्युर्नृणां जह्यात् स्पृहां प्राणार्थयोर्बुधः।।7.13.33।।

इसलिये बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि जिसके कारण शोक, मोह, भय, क्रोध, राग, कायरता और श्रमादि का शिकार होना पड़ता है, उस धन और जीवन की स्पृहा का त्याग कर दे।

तात्पर्य अर्थ-

बुद्धिमान् मनुष्य का लक्षण है- जो शरीर और धन का सम्बन्ध कम से कम रक्खे, जितने में जीवन निर्वाह हो जाय और जितना अपने पास है, उसी में सन्तोष करे, क्योंकि '**सन्तोषं परमं सुखम्।**' महाभारत में कहा है। अर्थात् शरीर और धन से तादात्म्यभाव कभी रखे ही नहीं।

(10) यदृच्छालाभसन्तुष्ट प्रकरण-

200-मधुकरमहासर्पौ लोकेऽस्मिन्नो गुरूत्तमौ।

वैराग्यं परितोषं च प्राप्तायच्छिक्षया वयम्।।7.13.34।।

201-विरागः सर्वकामेभ्यः शिक्षितो मे मधुव्रतात्।

कृच्छ्राप्तं मधुवद् वित्तं हत्वाप्यन्यो हरेत्पतिम्।।7.13.35।।

202-अनीहः परितुष्टात्मा यदृच्छोपनतादहम्।

नो चेच्छये बह्वहानि महाहिरिव सत्त्वान्।।7.13.36।।

इस लोक में मेरे सबसे बड़े गुरु हैं, अजगर और मधुमक्खी। उनकी शिक्षा से हमें वैराग्य और सन्तोष की प्राप्ति हुई है। मधुमक्खी जैसे- मधु इकट्ठा करती है, वैसे ही लोग कष्ट से धन संचय करते हैं, परन्तु दूसरा ही कोई उस धन राशि के स्वामी को मारकर उसे छीन लेता है। इससे मैंने यही शिक्षा ग्रहण की है कि विषय भोगों से और भोग सामग्रियों का संग्रह से विरक्त ही रहना चाहिये। मैं अजगर के समान निश्चेष्ट पड़ा रहता हूँ और दैववशात् जो कुछ भी मिल जाता है उसी में सन्तुष्ट रहता हूं और यदि कुछ नहीं मिलता तो बहुत दिनों तक धैर्य धारण कर यों ही पड़ा रहता हूँ।

तात्पर्य अर्थ-

मानव मात्र के जीवन में सन्तोष और वैराग्य की अत्यन्त आवश्यकता है क्योंकि विषय भोगों से आज तक किसी को सुख-शान्ति नहीं मिली है और न भविष्य में किसी को मिलने वाली है। अतः प्रारब्ध को अपना आश्रय (आधार) मानकर शेष जीवन का कालक्षेप करना चाहिये। अर्थात् सन्तोष, वैराग्य एवं धैर्य को अपना परम गुरु मान लेना चाहिये। "**आशा ही परमं दुःखं वैराग्यं परमं सुखम्**", "**सन्तोषं परमं सुखम्**" इत्यादि। **सन्तोषादनुत्तमसुखलभः** (यो.सू.)।

अधर्म की पाँच शाखाएँ हैं-विधर्म, परधर्म, आभास, उपमा और छल। धर्मज्ञ पुरुष अधर्म के समान ही इनका भी त्याग कर दें। क्योंकि-

203-विधर्मः परधर्मश्च आभास उपमा छलः।
अधर्मशाखाः पञ्चेमा धर्मज्ञोऽधर्मवत् त्यजेत्।।7.15.12।।

204-धर्मबाधो विधर्मः स्यात् परधर्मोऽन्यचोदितः।
उपधर्मस्तु पाखण्डो दम्भो वा शब्दभिच्छलः।।7.15.13।।

205-यस्त्विच्छया कृतः पुम्भिराभासो ह्याश्रमात् पृथक्।
स्वभावविहितो धर्मः कस्य नेष्टः प्रशान्तये।।7.15.14।।

जिस कार्य को धर्म बुद्धि से करने पर भी अपने धर्म में बाधा पड़े वह विधर्म है। किसी अन्य के द्वारा अन्य पुरुष के लिये उपदेश किया हुआ धर्म परधर्म है। पाखण्ड या दम्भ का नाम उपधर्म है। अथवा उपमा है। शास्त्र के वचनों का दूसरे प्रकार का अर्थ कर देना छल है। मनुष्य अपने आश्रम के विपरीत स्वेच्छा से जिसे धर्म मान लेता है वह आभास है। अपने-अपने स्वभाव के अनुकूल जो वर्णाश्रमोचित धर्म है, वे भला किसे शान्ति नहीं देते।

तात्पर्य अर्थ-

''**ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप। कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभाव-प्रभवैर्गुणैः।।** (गी. 18. 41) हे परन्तप! (अपने शत्रुओं को ताप-सन्ताप, कष्ट देने वाला) हे अर्जुन! चारों वर्णों का विभाग मैंने उनके स्वाभाविक गुण कर्मों के अनुसार किया है। अर्थात् गुणों के अनुसार स्वभाव बना और स्वभावानुसार जिनका जैसा कर्म देखने में आया उस-उस कर्मों के अनुसार वर्णों का विभाग किया गया है। इसका अभिप्राय हुआ, प्रकृति से उत्पन्न तीनों गुणों के अनुसार प्राणिजगत अथवा चेतन-अचेतन (जीव-अजीव) समस्त जगत् का व्यवहार, व्यापार, क्रिया-कर्म जो कुछ भी हो रहा है वह सबके सब गुणों के अनुसार ही हो रहा है क्योंकि चेतन निष्क्रिय, निर्गुण आदि होने से निश्चेष्ट भी है और निर्गुण होने से निर्विकार भी है, परम शान्त है। इसलिये भगवान को कहना पड़ा- ''**तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः। गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते।।**'' (गी. 3.28) हे महाबाहो अर्जुन! आत्मतत्त्वज्ञजन गुणों के (पदार्थों) के विभाग को और कर्मों के (क्रिया के) विभागों को यथावत् जान लेने पर यह निश्चय कर लेते हैं कि जो कुछ भी क्रियाएँ (व्यवहार) हो रही हैं वह प्रकृति में हो रही हैं, आत्मा में नहीं। ऐसा आत्मज्ञानी जन मन-बुद्धि, शरीर आदि के माध्यम से शुभाशुभ कर्म होने पर भी उन कर्मों के साथ लिपायमान नहीं होते।

206-धर्मार्थमपि नेहेत यात्रार्थं वाधनो धनम्।

अनीहानीहमानस्य महाहेरिव वृत्तिदा।।7.15.15।।

धर्मात्मा पुरुष निर्धन होने पर भी धर्म के लिये अथवा शरीर निर्वाह के लिये धन प्राप्त करने की चेष्टा न करें। क्योंकि जैसे बिना किसी प्रकार की चेष्टा किये अजगर की जीविका चलती ही है, वैसे ही निवृत्तिपरायण पुरुष की निवृत्ति ही उनके जीविका का निर्वाह कर देती है।

तात्पर्य अर्थ-

जीवन्मुक्त, आत्मज्ञानी सदा सर्वदा आनन्दमय, प्रसन्नचित्त क्यों देखने में आता है? क्योंकि वे संग्रह रहित होते हैं, उनका अपना कुछ भी नहीं है बल्कि एक आत्मा से भिन्न कुछ है ही नहीं, फिर चिन्ता, शोक आदि किस बात की।

207-सन्तुष्टस्य निरीहस्य स्वात्मारामस्य यत् सुखम्।

कुतस्तत् कामलोभेन धावतोऽर्थेहया दिशः।।7.15.16।।

जो सुख अपनी आत्मा में रमण करने वाले निष्क्रिय सन्तोषी पुरुष को मिलता है, वह उस मनुष्य को भला कैसे मिल सकता है जो कामना और लोभ से धन के लिये हाय-हाय करता है और इधर-उधर दौड़ता फिरता है।

तात्पर्य अर्थ-

आत्मज्ञानी संन्यासी और अज्ञानी विषयभोगी, इन दोनों को ही आज सुरदुर्लभ मानवशरीर व जीवन प्राप्त है, किन्तु एक परमानन्द की और दूसरा परमदुःखमय जीवन का अनुभव करता है, ऐसा क्यों? इसका कारण है-आत्मज्ञानी, संन्यासी स्वस्वरूप को महत्त्व देकर निरन्तर आत्मचिन्तन में रत रहते हैं, आत्मा में ही रमण करते हैं, आत्मा में ही आराम करते हैं और दूसरी ओर अज्ञानी विषयभोगी विषयाकार वृत्ति बना करके विषयभोगों में ही रत रहता है, विषयरूपीविष को ही अमृत मानकर अहर्निश (दिन-रात) रमण करता है, चिन्तन-मनन करता रहता है जो विषय संयोग-वियोग स्वरूप है, सुख-शान्ति शून्य है, वह भला आपको दुःख-अशान्ति के सिवाय सुख-शान्ति कैसे दे सकता है। इस पर श्रुति का कहना है- ''**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।। समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः।।**'' (मु. 3.1.1/2) अर्थात् जो सर्वदा साथ रहने वाले और समान नामवाले दो पक्षी हैं। वे दोनों एक ही शरीर रूप वृक्ष के आश्रित हैं। उनमें एक तो क्षेत्रज्ञ जीव अपने कर्म से प्राप्त होने वाले स्वादिष्ट सुख-दुःख रूप फल का उपभोग

करता है और दूसरा (नित्य, शुद्ध, मुक्त स्वभाव वाला परमात्मा) कर्म फल का भोग न करता हुआ केवल देखता रहता है। (ईश्वर के साथ) एक ही शरीर रूप वृक्ष में रहने वाले जीव अपने अनीशत्व स्वभाव के कारण अपने को असमर्थ मानता हुआ मोह के वशीभूत होकर शोक करता है। पर वह जिस समय अपने विलक्षण, योगियों से सेवित परमेश्वर और उसकी संसार महिमा को देखता है, उस समय यह (जीव) शोक से मुक्त हो जाता है।

208-सदा सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः।
शर्कराकण्टकादिभ्यो यथोपानत्पदःशिवम्।।7.15.17।।

जैसे पैरों में जूता पहनकर चलने वाले को कंकड़ और काँटों से कोई डर नहीं होता, वैसे ही जिसके मन में सन्तोष है, उसके लिये सर्वदा और सर्वत्र (सभी ओर) ही सुख है, दु:ख है ही नहीं।

तात्पर्य अर्थ-

आत्यन्तिक सुख-शान्ति प्राप्ति की चाह-इच्छा, उत्कण्ठा प्राणिमात्र में निहित है। (ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त) यानि सबके अन्दर पायी जाती है किन्तु उस आत्यन्तिक सुख-शान्ति के अधिकारी तो सौभाग्य से मानव को ही एकमात्र प्राप्त है अन्य को नहीं। मानव में भी उसी को प्राप्ति का अधिकार हो सकता है, जिन्होंने अपने जीवन में सन्तोष को अपनाया (ग्रहण किया) है। सन्तोष एक ऐसा शब्द है, जो मानव के प्रत्येक व्यवहार में प्रयोग हो सकता है-जैसे खाने-पीने में सन्तोष, देखने-सुनने में सन्तोष, आधि-व्याधि आ जाने पर सन्तोष, कुछ मिले तो सन्तोष, न मिले तो भी सन्तोष, है तो भी सन्तोष और नहीं तो भी सन्तोष, कोई सम्मान करे तो सन्तोष और अपमान करे तो भी सन्तोष, जो बीत गया वह अच्छा बीता और जो बीत रहा है वह अच्छा बीत रहा है, भविष्य में जो बीतेगा वह भी अच्छा ही बीतेगा इत्यादि।

एक बात पर मेरे मन में विचार आया है, उसे भी मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। वह विचार है- आत्यन्तिक सुख-शान्ति के अभिलाषी तो ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त हैं किन्तु अधिकारी तो मनुष्य ही हो सकते हैं, इतर नहीं, ऐसा मैंने अभी-अभी उपरोक्त पंक्ति में लिखा है। इस पर शास्त्रविद् महात्माओं के बुद्धि में प्रश्न रेखांकित हो सकता है क्योंकि शास्त्र में यह भी कहा गया है कि देवराज इन्द्र को आत्मतत्त्व का ज्ञान प्रथम प्राप्त हुआ है। **''तस्माद्वा इन्द्रोऽतितरामिवान्यान्देवान्स ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्श स ह्येनत्प्रथमो विदांचकार ब्रह्मेति।''** (के.उ.4.3) यहाँ पर थोड़ा विचार करने की आवश्यकता है हमारे ऋषि-महर्षियों एवं पूर्वाचार्यों ने शास्त्रों में द्विविध ज्ञान का

प्रतिपादन किये हैं परोक्ष ज्ञान और अपरोक्षज्ञान, (शास्त्र एवं आचार्य के द्वारा प्राप्त ज्ञान को परोक्ष और अनुभूति ज्ञान को अपरोक्ष निर्धारित किये है। इस प्रकार विचार के माध्यम से यह सिद्ध होता है कि उमा भगवती अथवा शास्त्र विद्या (ब्रह्मविद्या) के द्वारा इन्द्र को आत्मज्ञान हुआ है, इसलिये परोक्ष ज्ञान ही मानना पड़ेगा, अपरोक्ष ज्ञान नहीं। "**परोक्षज्ञानानन्तरमपरोक्षज्ञानम्**" इति। अर्थात् परोक्ष ज्ञान के अनन्तर अपरोक्ष ज्ञान के अनुरूप जिसकी जीवनचर्या ही हो गयी हो, उसी को अपरोक्ष ज्ञान कहना चाहिये। (जिसकी मनोवृत्ति स्वस्वरूप में स्थिर हो गयी है) उसी की व्याख्या श्रुतियाँ करती हैं- "**आत्मरतिः आत्मक्रीड.**" (छा-7.25.2), "**आत्मारामः**" (त्रि.मा.ना-1.5), **ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति**" (मुं-3.2.9)इत्यादि। ब्रह्मविद् की स्थिति को श्रुति स्पष्ट करती है- "**नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च। यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च।।**" (के.उ. 2.10) अर्थात् ब्रह्म को अच्छी प्रकार जान लिया ऐसा मैं नहीं मानता हूँ और मैं उसे नहीं जानता हूँ ऐसा भी मैं नहीं समझता। अत: (ब्रह्म को) मैं जानता हूँ और नहीं भी जानता हूँ। "**यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।।**" (के.उ-2.3)।

209-सन्तुष्टः केन वा राजन्न वर्तेतापि वारिणा।
औपस्थ्यजैह्वयकार्पण्याद् गृहपालायते जनः।। 7.15.18।।

210-असन्तुष्टस्य विप्रस्य तेजो विद्या तपो यशः।
स्रवन्तीन्द्रियलौल्येन ज्ञानं चैवावकीर्यते।।7.15.19।।

हे युधिष्ठिर! न जाने क्यों मनुष्य केवल जल मात्र से ही सन्तुष्ट रहकर अपने जीवन का निर्वाह नहीं कर लेता, अपितु रसनेन्द्रिय और जननेन्द्रिय के फेर में पड़कर यह बेचारा घर की चौकसी करने वाले कुत्ते के समान हो जाता है। जो ब्राह्मण सन्तोषी नहीं, इन्द्रियों की लोलुपता के कारण उसके तेज, विद्या, तपस्या और यश क्षीण हो जाते हैं और वह विवेक भी खो बैठता है।

तात्पर्य अर्थ-

विषयभोग, सुख में प्राणिमात्र की समानता है, किन्तु यह सुख-सुख नहीं अपितु तृष्णा की वृद्धि में निमित्त है, विक्षेप एवं अशान्ति का भी कारण है। इसलिये बुद्धिजीवी मानव को चाहिये कि संयमित जीवन यापन करते हुए संग्रह से बचकर रहे। इसी में मनुष्यों की मनुष्यता या मानवता है।

211-कामस्यान्तं च क्षुत्तृड्भ्यां क्रोधस्यैतत्फलोदयात्।
जनो याति न लोभस्य जित्वा भुक्त्वा दिशो भुवः।।7.15.20।।

212-पण्डिता बहवो राजन्बहुज्ञाः संशयच्छिदः।

सदसस्पतयोऽप्येके असन्तोषात् पतन्त्यधः।।7.15.21।।

भूख और प्यास मिट जाने पर खाने-पीने की कामना का अन्त हो जाता है। क्रोध भी अपना काम करके शान्त हो जाता है परन्तु यदि मनुष्य पृथ्वी की समस्त दिशाओं को जीत ले और भोग ले, फिर भी लोभ का अन्त नहीं होता। अनेक विषयों के ज्ञाता, शंकाओं का समाधान करके चित्त में शास्त्रोक्त अर्थ को बैठा देने वाला और विद्वत्सभाओं के सभापति बड़े-बड़े विद्वान् भी असन्तोष के कारण गिर जाते हैं।

तात्पर्य अर्थ-

मनुष्य प्रायः बाहर के शत्रु पर विजय प्राप्ति के लिये संघर्ष करते रहते हैं, चाहे विजयी हो न हो। इसी प्रकार मनुष्य भी यदि मन में बैठे शत्रुओं (काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, राग-द्वेषादि) के प्रति संघर्षरत रहे तो निश्चित ही कभी न कभी वह दिन आयेगा विजयी होने का, गौरव प्राप्त करने का, तत्पश्चात् वह साधक परमानन्द का अनुभव करेगा, फिर तो तीनों लोकों का ऐश्वर्य (सम्पत्ति) भी मिट्टी कूड़ा के समान दिखने लगेगा। राख का ढेर दिखायी पड़ेगा। **''ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः। युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्ठाश्मकाञ्चनः।''** (गी. 6.8) प्रस्तुत विषय पर भगवान वासुदेव ने अर्जुन के प्रति आत्मवेत्ता का स्वभाव बताया है।

213-असंकल्पाज्जयेत् कामं क्रोधं कामविवर्जनात्।

अर्थानर्थेक्षया लोभं भयं तत्त्वावमर्शनात्।।7.15.22।।

214-आन्वीक्षिक्या शोकमोहौ दम्भं महदुपासया।

योगान्तरायान् मौनेन हिंसां कायाद्यनीहया।।7.15.23।।

215-कृपया भूतजं दुःखं दैवं जह्यात् समाधिना।

आत्मजं योगवीर्येण निद्रां सत्त्वनिषेवया।।7.15.24।।

216-रजस्तमश्च सत्त्वेन सत्त्वं चोपशमेन च।

एतत् सर्वं गुरौ भक्त्या पुरुषो ह्यञ्जसा जयेत्।। 7.15.25।।

हे धर्मराज! संकल्प के परित्याग से काम को, कामनाओं के त्याग से क्रोध को, संसारी लोग जिसे अर्थ कहते हैं उसे अनर्थ समझकर लोभ को और तत्त्व के विचार से भय को जीत लेना चाहिये। अध्यात्म विद्या से शोक और मोह को, संतों की उपासना से दम्भ पर, मौन के द्वारा योग के विघ्नों पर और शरीर प्राणादि को निश्चेष्ट करके हिंसा पर विजय प्राप्त करनी चाहिये। आधिभौतिक दुःखों को योगबल से एवं निद्रा को सात्त्विक भोजन से जीत लेना चाहिये। सत्त्वगुण के द्वारा रजोगुण एवं तमोगुण पर और

उपरति के द्वारा सत्त्वगुण पर विजय प्राप्त करनी चाहिये। श्रीगुरुदेव की भक्ति द्वारा साधक इन सभी दोषों पर सुगमता से विजय प्राप्त कर सकता है।

तात्पर्य अर्थ-

तीन प्रकार के तापों का शास्त्रों में विचार आया है, ताप यानि दु:ख, इन दु:खों का कारण है- शरीर, पँचभूत और जीव-जन्तुओं (प्राणि जगत्)। जिसे आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तापों के नाम से भी जाना जाता है। (क) शरीर के द्वारा भूख, प्यास, फोड़ा-फुंसी, ज्वर और प्रारब्धिक कष्ट तथा विषय लोलुपता आदि। (ख) पृथ्वी के द्वारा अथवा पृथ्वी के कार्य अस्त्र-शस्त्र, भूचालादि। जल के द्वारा अथवा जल के कार्य अधिक जलवृष्टि तथा ओलावृष्टि आदि। अग्नि के द्वारा किसी प्रकार से हाथ-पैर आदि के जलने से कष्टों की प्राप्ति। वायु के द्वारा अथवा वायु के कार्य आँधी-बवंडर आदि से पीड़ित होना। (ग) प्राणि जगत् (मनुष्य, पशु-पक्षी, सर्प आदि के द्वारा कष्टों की प्राप्ति। वैसे विचार करके देखा जाये तो अधिकतम दु:ख मनुष्यों के मानसिक होते हैं। जिन-जिन व्यवहार में प्रतिकूलता आयी मन में, वहाँ-वहाँ दु:ख होना स्वाभाविक है। अर्थात् मन की प्रतिकूलता ही दु:खों का मूल कारण है। इसलिये भगवान् वासुदेव को कहना पड़ा- '**मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय। निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशय:।।**'' (गी-12.8) अर्थात् मन और बुद्धि दोनों को मेरे में ही लगा दो, जोड़ दो, जिस दिन, जिस समय ये दोनों (मन-बुद्धि) जुड़ जायेंगे उसी दिन, उसी क्षण मुझे तू प्राप्त कर लेगा। इसमें कोई संशय नहीं है। मनुष्यों के ये मन-बुद्धि संसार में लगने से दु:ख पर दु:ख और जन्म-मृत्यु रूप महाबन्धन (असाध्यरोग) को प्राप्त होता है, अत: मेरे में ही इन दोनों को निवेश कर दो-प्रवेश कर दो। फिर तो तेरे लिये महादु:खमय संसार रहेगा ही नहीं। अत्र श्रुति:-''**पिताऽपिता माताऽमाता लोका अलोका, देवा अदेवा, वेदा अवेदा:।**'' (बृ-4.3.22) अर्थात् पिता, माता (जन्य-जनक) का भाव सम्बन्ध नहीं रह जाता। लोक-अलोक हो जाते हैं, देव अदेव और वेद अवेद हो जाते हैं अर्थात् सभी प्रकार के साध्य साधनों का अभाव हो जाता है।

217-यस्य साक्षाद् भगवति ज्ञानदीपप्रदे गुरौ।
मर्त्यासद्धी: श्रुतं तस्य सर्वं कुञ्जरशौचवत्।।7.15.26।।

218-एष वै भगवान् साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वर:।
योगेश्वरैर्विमृग्याङ्घ्रिर्लोको यं मन्यते नरम्।।7.15.27।।

हृदय में ज्ञान दीपक जलाने वाले गुरुदेव साक्षात् भगवान् ही हैं। दुर्बुद्धि पुरुष उन्हें मनुष्य समझता है, उसका समस्त शास्त्र श्रवण हाथी के स्नान के समान व्यर्थ है।

बड़े-बड़े योगेश्वर जिनके चरण कमलों का अनुसन्धान करते रहते हैं, प्रकृति और पुरुष के अधीश्वर वे स्वयं भगवान् ही गुरुदेव के रूप में प्रकट हैं। जिन्हें लोग भ्रम से मनुष्य मानते हैं।

तात्पर्य अर्थ-

सद्गुरु के कृपा प्रसाद को सभी आचार्यों ने, महर्षियों ने समझा है और अपने-अपने अनुभव के आधार पर उनके माहात्म्य को उत्कट भाव से (उत्कृष्ट भावसे) प्रस्तुत किया है। भगवत्पाद आद्यशंकराचार्य जी का कहना है- '**सर्ववेदान्तसिद्धान्तगोचरं तमगोचरम्। गोविन्दं परमानन्दं सद्गुरुं प्रणतोऽस्म्यहम्।।**'' (वि.चू-1) तुलसीदास जी महाराज का उद्गार है-''**बँदउ गुरुपद कंज कृपा सिंधु नररूप हरि। महामोह तम पुंज जासु बचन रविकर निकर।।**'' (रा.मा)। ज्ञानियों की प्रशंसा करते हुए भगवान् वासुदेव ने गीता के माध्यम से कहा है- ''**ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्। आस्थितः स हि युक्तात्मा।**'' (7.8) और भगवत में तो अपने से ही श्रेष्ठ (पूज्य) माना है। श्रीमद्भागवत में कहा-''**निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्। अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः।।**'' (11.14.16।।) अर्थात् अपेक्षा से रहित, शान्त, निर्वैर एवं समदर्शी मुनियों-ज्ञानियों के पीछे-पीछे मैं इसलिये घूमता-फिरता हूँ क्योंकि उनके चरणों की धूलिकण इस शरीर में पड़ जाय तो पवित्र हो जाये।

219-षड्वर्गसंयमैकान्ताः सर्वा नियमचोदनाः।

तदन्ता यदि नो योगानावहेयुः श्रमावहाः।।7.15.28।।

220-यथा वार्तादयो ह्यर्था योगस्यार्थं न बिभ्रति।

अनर्थाय भवेयुस्ते पूर्तमिष्टं तथासतः।।7.15.29।।

शास्त्रों में जितने भी नियम सम्बन्धी आदेश हैं, उनका एकमात्र तात्पर्य है कि काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर, इन छह शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली जाये अथवा 5 ज्ञानेन्द्रियों, 1 मन ये छह वश में हो जायें। ऐसा होने पर भी यदि उन नियमों के द्वारा भगवान् का ध्यान-चिन्तन आदि नहीं होता, तो उन्हें केवल श्रम ही श्रम समझना चाहिये। जैसी खेती, व्यापार आदि और उनके फल भी योगसाधन के फल भगवत्प्राप्ति या मुक्ति नहीं दे सकते, वैसे ही दुष्टपुरुष के श्रौत-स्मार्त कर्म भी कल्याणकारी नहीं होते, प्रत्युत उल्टा फल यानि जन्मादि फल देते हैं।

तात्पर्य अर्थ-

प्रायः देखा जाता है कि साधक अपनी साधना के (पुरुषार्थ) द्वारा शास्त्र नियमानुसार मन, इन्द्रियों को स्ववश कर भी लेता है और ध्यान-समाधि का अभ्यास भी करता है,

थोड़ी देर के लिये चित्त शान्त भी हो जाता है किन्तु आत्मानुभूति, परमात्मा प्राप्ति क्या है-इस विषय में संशय अथवा अनिश्चितता बनी ही रह जाती है। ऐसी स्थिति में उनका साधन-अभ्यास, ध्यान-समाधि का कोई अर्थ ही नहीं निकलता, अर्थात् निरर्थक या व्यर्थ प्रयास सिद्ध होता है। बल्कि उल्टा उस साधन अभ्यासों से अहंकार की वृद्धि हो सकती है। इसके फलस्वरूप पुनर्जन्म की प्राप्ति होगी, जिसे योगभ्रष्ट कहा गया है। ''**योगभ्रष्टोऽभिजायते**'' (गी.6.41) (योगभ्रष्ट का अभिप्राय है वर्तमान पुरुषार्थ के साथ प्रारब्ध का सहयोग न होना, न मिलना। तात्पर्य यह है कि पुरुषार्थ और प्रारब्धकर्म एक-दूसरे का पूरक है, सहयोगी है।)

221-यश्चित्तविजये यत्तः स्यान्निःसङ्गोऽपरिग्रहः।
एको विविक्तशरणो भिक्षुर्भिक्षामिताशनः।।7.15.30।।

222-देशे शुचौ समे राजन्संस्थाप्यासनमात्मनः।
स्थिरं समं सुखं तस्मिन्नासीतर्ज्वङ्ग ओमिति।।7.15.31।।

223-यतो यतो निःसरति मनः कामहतं भ्रमत्।
ततस्तत उपाहृत्य हृदि रुन्ध्याच्छनैर्बुधः।।7.15.33।।

224-एवमभ्यसतश्चितं कालेनाल्पीयसा यतेः।
अनिशं तस्य निर्वाणं यात्यनिन्धनवह्निवत्।।7.15.34।।

जो पुरुष अपने मन पर विजय प्राप्त करने के लिये उद्यत हो, वह आसक्ति और परिग्रह का त्याग करके संन्यास ग्रहण करे। एकान्त में अकेला ही रहे और भिक्षावृत्ति से शरीर निर्वाह मात्र के लिये स्वल्प और परिमित भोजन करे। हे युधिष्ठिर! पवित्र और समान भूमि पर अपना आसन बिछाये और सीधे स्थिर भाव से समान और सुख कर आसन से उस पर बैठकर ॐकार का जप करें। काम की प्रेरणा से घायल चित्त इधर-उधर चक्कर काटता हुआ जहाँ-तहाँ जाय, तो विद्वान् पुरुष को चाहिये कि वहाँ-वहाँ से उसे लौटा लाये और धीरे-धीरे हृदय में रोके। जब साधक निरन्तर इस प्रकार का अभ्यास करता है, तब ईन्धन के बिना जैसे अग्नि बुझ जाती है, वैसे ही थोड़े समय में उसका चित्त शान्त हो जाता है।

तात्पर्य अर्थ-

मनुष्यों का मन ही संसार है और मन ही उस संसार में बँधकर दुःखी-सुखी एवं जन्म-मृत्यु को प्राप्त होता है। इसलिये उस मन को वश में करके रखना चाहिये। मन पर विजय प्राप्त करने के लिये सर्वसंन्यास का निश्चय करे, सर्वसंन्यास ही एकमात्र

मन को स्ववश करने का महान्तम उपाय है, महाऔषधि है। अर्थात् मन पर विजय प्राप्त करना ही संसार-बंधन से मुक्ति है। इसीलिये मनीषियों ने कहा है- **''मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।''** (ब्र.बिं.उ-2)।

225-यः प्रव्रज्य गृहात् पूर्वं त्रिवर्गावपनात् पुनः।
यदि सेवेत तान्भिक्षुः स वै वान्ताश्यपत्रपः।।7.15.36।।

जो संन्यासी पहले तो धर्म, अर्थ और काम के मूल कारण घर आदि का परित्याग कर देता है और फिर उन्हीं का सेवन करने लगता है, वह निर्लज्ज अपने उगले हुए को खाने वाले कुत्ते के समान ही है।

तात्पर्य अर्थ-

जो साधक चतुर्थ आश्रम का आश्रय लिया हुआ है, वह उस आश्रम के नियमानुसार शेष जीवन को व्यतीत करे। यह आश्रम सर्वत्याग और निरन्तर आत्मानुसन्धान के लिये है, न कि बच्चों के खेल-खिलौने जैसे बना देने के लिये है। प्रायः आज के दिनों में देखा जाता है कि ऊपर से (बाह्य चिन्ह) तो चतुर्थ आश्रम यानि संन्यासी का है और भीतर-मन से महाभोगी, महालम्पटता से ओतप्रोत है। ऐसे लोग गृहस्थों से भी गये गुजरे हैं। इसीलिये भगवान् वेदव्यास जी को कहना पड़ा- **''तान्भिक्षुः स वै वान्ताश्यपत्रपः।।''**

226-यैः स्वदेहः स्मृतो नात्मा मर्त्यो विट्कृमिभस्मसात्।
त एनमात्मसात्कृत्वा श्लाघयन्ति ह्यसत्तमाः।।7.5.37।।

जिन्होंने अपने शरीर को अनात्मा, मृत्युग्रस्त और विष्ठा, कृमि एवं राख समझ लिया था, वही मूढ़ फिर उसे ही आत्मसात् यानि अपनाकर अपनी आत्मा मानकर उसकी प्रशंसा करने लगते हैं।

तात्पर्य अर्थ-

संन्यासी एवं आत्मज्ञानी वही हो सकता है, जो अपने लक्ष्य से विचलित न होकर तटस्थ भाव में स्थित रहे। अर्थात् दुःखों के मन्दिर रूप नश्वर शरीर की उपेक्षा करके निर्द्वन्द्वतापूर्वक विचरण कर रहा हो। **''मोह एव महामृत्युर्मुमुक्षोर्वपुरादिषु। मोहो विनिर्जितो येन स मुक्तिपदमर्हति।।''** (वि.चू.८८) अर्थात् शरीरादि में मोह करना ही मुमुक्षुओं की महान् से महान् मृत्यु है और जिसने मोह को अच्छी तरह से जीत लिया है वही मुक्ति पद का अधिकारी है।

227-गृहस्थस्य क्रियात्यागो व्रतत्यागो वटोरपि।
तपस्विनो ग्रामसेवा भिक्षोरिन्द्रियलोलता।।7.15.38।।

228-आश्रमापसदा ह्येते खल्वाश्रमविडम्बकाः।

देवमायाविमूढांस्तानुपेक्षेतानुकम्पया।।7.15.39।।

229-आत्मानं चेद् विजानीयात् परं ज्ञानधुताशयः।

किमिच्छन्कस्य वा हेतोर्देहं पुष्णाति लम्पटः।।7. 15.40।।

कर्मत्यागी गृहस्थ, व्रतत्यागी ब्रह्मचारी, गाँव में रहने वाला तपस्वी (वानप्रस्थ) और इन्द्रियलोलुप संन्यासी, ये चारों आश्रम के कलङ्क हैं और व्यर्थ ही आश्रमों का ढोंग रचते हैं। भगवान की माया से विमोहित उन मूढ़ों पर तरस खाकर उनकी उपेक्षा कर देनी चाहिये। आत्मज्ञान के द्वारा जिसकी सारी वासनाएँ निर्मूल हो गयी हैं और जिसने अपनी आत्मा को परब्रह्मरूप जान लिया है वह किस विषय की इच्छा और किस भोग की प्राप्ति के लिये इन्द्रियलोलुप होकर अपने शरीर का पोषण करेगा।

तात्पर्य अर्थ-

शास्त्रों में प्राचीन महर्षियों ने चार आश्रमों का विधान किया है। वे हैं-ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम। इन सभी आश्रमों के कुछ भिन्न-भिन्न विशेष नियम हैं-जैसे (1) ब्रह्मचारियों का-जनेऊ, चोटी, पीतवस्त्र या श्वेत या गेरुवा, वेदाध्ययन, ब्रह्मचर्यरक्षण आदि मुख्य हैं। (2) गृहस्थ का- चोटी, जनेऊ से युक्त वैदिक कर्म, जैसे नित्य व नैमित्तिक और काम्य आदि तथा परिवारिक व सामाजिक भरण-पोषण के दायित्व को सुचारु रूप से वहन करना। (3) वानप्रस्थ के लिये-चोटी, जनेऊ, ब्रह्मचर्य, नित्य, नैमित्तिक कर्म (काम्यकर्म का त्याग) और नित्य आत्मानुसन्धान में ही (संयतेन्द्रिय पूर्वक) तत्पर रहे। (4) संन्यासी के लिये-'**सम्यक्प्रकारेण न्यासः त्यागः इति संन्यासः**' अर्थात् एषणा त्रय का सर्वथा त्याग, आत्मचिन्तन में ही अहर्निश लीन रहे और प्रारब्धानुसार भूख-प्यास की तृप्ति, अर्थात् जो कुछ स्वाभाविक रूप से मिल जाये, उसी में सन्तुष्ट रहे एवं एकान्त सेवन। ये हैं चारों आश्रमों के संक्षिप्त नियम। उपरोक्त नियमों का जो उल्लंघन करे वह सामाजिक व धार्मिक दृष्टि से उपेक्षिणीय है।

230-प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम्।

आवर्तेत प्रवृत्तेन निवृत्तेनाश्नुतेऽमृतम्।।7.15.47।।

वैदिक कर्म दो प्रकार के हैं- शास्त्र विहित नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्मों को करते हुए निषिद्ध कर्मों को न करना '**प्रवृत्तिपरक**' और दूसरे वे जो वृत्तियों को उनके विषयों की ओर से लौटाकर शान्त एवं आत्मसाक्षात्कार के योग्य बना देते हैं '**निवृत्तिपरक**'। प्रवृत्तिपरक कर्म मार्ग से बार-बार जन्म-मृत्यु की प्राप्ति होती है और निवृत्तिपरक भक्तिमार्ग या ज्ञानमार्ग के द्वारा परमात्मा की प्राप्ति होती है।

तात्पर्य अर्थ-

मार्ग दो प्रकार के हैं, वे मार्ग हैं-कर्म मार्ग और ज्ञान मार्ग। कर्म मार्ग पुनः दो प्रकार के हैं- वैदिक और अवैदिक, जिसे प्रवृत्ति मार्ग के नाम से जाना जाता है। वैदिक कर्म भी दो प्रकार के हैं, यागादि इष्टकर्म और पूर्त, दत्त अनुष्ठानादि कर्म। अवैदिक कर्म-अवैदिक कर्म पुनः दो प्रकार के हैं। स्मार्त और स्वाभाविक मनु आदि से लिखित वेदाविरुद्ध व्रत, पूजा, पाठ आदि कर्म स्मार्त कर्म है। स्वाभाविक कर्म वह है जो सत्त्वादि तीनों गुणों के द्वारा मन-बुद्धि के स्वभावानुसार कर्म होते हैं। इन्हीं गुणों के कारण विविध कर्मों का उदय होता है। इस सम्बन्ध में गीता अध्याय 14 में भगवान् बासुदेव ने कहा है, अर्जुन के प्रति- ''**सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते। ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत।।** (14.11), **लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा। रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ।।** (14.12), **अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च। तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन।।** (14.13) अर्थात् जब इस मनुष्य शरीर के सभी द्वारों में (दस बाह्येन्द्रियाँ और चार अन्तःइन्द्रियों को) प्रकाश (प्रसन्नता, स्वच्छता) और विवेक हो जाय तब यह जानना चाहिये कि सत्त्वगुण बढ़ा हुआ है। हे भरतवंश में श्रेष्ठ अर्जुन! रजोगुण के बढ़ने पर लोभ, प्रवृत्ति, कर्मों का आरम्भ और स्पृहा-ये सभी वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। हे कुरुनन्दन! तमोगुण के बढ़ने पर, अज्ञानतावश, प्रवृत्तिरहित क्रियाहीनता, मूढ़ता, मोह तथा प्रमाद ये वृत्तियाँ भी पैदा होती हैं। कर्म वैदिक हों अथवा अवैदिक, सात्त्विक हों अथवा असात्त्विक ये सबके सब जीव के सुख-दुःख, जन्म-मृत्यु रूप बन्धनों के कारण हैं, मुक्ति में बाधक हैं। ''**कुर्तुरीप्सिततमं कर्म**'' (पाणिनीसूत्र 1.4.49), ''**एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वन-पेक्षकारणं कर्म**'' (वैशेषिक सू. 1.1.17)।

ज्ञानमार्ग भी दो प्रकार के हैं-आध्यात्मिक और भौतिक। (क) आत्मा-परमात्मा में आस्था, विश्वास एवं जीवात्मा के बन्ध-मोक्ष पर विचार किया जाता है उसे आध्यात्मिक ज्ञान कहा गया है और (ख) भौतिक ज्ञान की परिभाषा है-जड़पदार्थों के सम्बन्ध में ज्ञान हो और उसका अनेक विध उपयोग हो। जैसे यातायात सम्बन्धी वायुयान, रेलगाड़ी, मोटर आदि विज्ञान तथा खान-पान (भोग विषयों का) ज्ञान, खेलादि में निपुणता इत्यादि। पूर्वोक्त दो मार्गों को ही श्रुतियों में श्रेय और प्रेय मार्ग कहा है- ''**श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः। श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते।**'' (क.उ.1.2) अर्थात् श्रेयोमार्ग=ज्ञानमार्ग, प्रेयोमार्ग=कर्म मार्ग। मनुष्य को इन दोनों से प्राप्य फल पर विचार कर विवेकी पुरुष श्रेयो मार्ग को

अपनाता है। क्योंकि ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग के विपरीत है, कर्मसमूह रूपी काँटों से निवृत्ति कराके आत्मसाक्षात्कार की योग्यता प्रदान करके जन्म-मृत्यु रूपी बन्धनों की बेड़ी को ध्वस्त करके सदा सर्वदा के लिये मुक्त कर देता है। किन्तु मन्दबुद्धिवाले अविवेकी मनुष्य प्रेयोमार्ग यानि कर्म मार्ग जिससे लौकिक योग और क्षेम प्राप्त होता है उसे अपनाता है।

231-आबाधितोऽपि ह्याभासो यथा वस्तुतया स्मृतः।
दुर्घटत्वादैन्द्रियकं तद्वदर्थविकल्पितम्।। 7.15.58।।

दर्पणादि में दिख पड़ने वाला प्रतिबिम्ब विचार और युक्ति से बाधित है, उसका उनमें अस्तित्व है नहीं, फिर भी वस्तु के रूप में तो वह दिखता ही है। वैसे ही इन्द्रियों द्वारा दिखनेवाली वस्तुओं का भेदभाव भी विचार, युक्ति और आत्मभाव से असम्भव होने के कारण वस्तुतः न होने पर भी सत्य जैसा प्रतीत होता है।

तात्पर्य अर्थ-

गहन विचार-विमर्श एवं अनुभव के द्वारा एक अद्वितीय आत्मा ही सत्य, नित्य, अविनाशी और मुक्तस्वरूप सिद्ध होता है। बाकी भिन्न-भिन्न नाम रूपों में विभक्त होकर प्रतीत हो रही वस्तुएँ आभास मात्र हैं। जैसे-धागों के समूह ही वस्त्र है, वस्त्र कोई भिन्न वस्तु नहीं। ''**वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।।**'' (छा.उ. 6.1.4), ''**नेह नानास्ति किञ्चन**'' (बृ.4.4.19), ''**सर्वं खल्दिं ब्रह्म**'' (छा.3.14.1), ''**ब्रह्मैव सर्वं**'' (तेजोबिन्दूपनिषत् 6.31), ''**आत्मैव सर्वं**'' (छा.7.25.2) इत्यादि श्रुतियाँ ''**सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्**'' (छा.6.2.1) को ही सिद्ध कर रही है।

232-क्षित्यादीनामिहार्थानां छाया न कतमापि हि।
न संघातो विकारोऽपि न पृथङ् नान्वितो मृषा।।7.15.59।।

पृथ्वी आदि पंचभूतों से इस शरीर का निर्माण नहीं हुआ है। वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो न तो वह उन पंचभूतों का संघात है और न विकार या परिणाम ही है। क्योंकि यह अपने अवयवों से न तो पृथक् हैं और न उनमें अनुगत ही हैं, अत एव मिथ्या है।

तात्पर्य अर्थ-

पृथ्वी (मिट्टी) से बने नाना नाम रूप वाले वस्तुएँ मिट्टी से पृथक् नहीं और न उसे पृथ्वी ही कह सकते हैं। क्योंकि नाना नाम रूपादि के द्वारा जो व्यवहार हो रहा है, वह व्यवहार पृथ्वी या मिट्टी से नहीं हो सकता। इसलिए विचार करने पर घड़ादि

वस्तुओं की कोई सत्ता या अस्तित्व न होने से (मिट्टी से) भिन्न वस्तुएँ न होने से सत्य भी नहीं कह सकते। अर्थात् मिथ्या ही कहना पड़ेगा। यदि आप कहें कि व्यवहार हो रहा है यह प्रत्यक्ष देखने में आ रहा है। फिर मिथ्या कैसे कह सकते हैं। तो सुनिये ध्यान से- व्यवहार तो स्वप्न में भी होता है और उस समय सत्य भी अनुभव में आता है किन्तु क्या जग जाने पर वह व्यवहार या व्यवहार की वस्तुएँ रह जाती हैं? आप स्वयं स्वीकार करते हैं कि जो मैं स्वप्न देख रहा था और सत्यता प्रतीत हो रही थी, वह मिथ्या है, असत्य है, मन की कल्पना मात्र है। ठीक उसी प्रकार यह जगत् कभी आत्मसाक्षात्कार होने पर (वास्तव में जगने पर) असत्य हो जाता है।

233-धातवोऽवयवित्वाच्च तन्मात्रावयवैर्विना।
न स्युर्ह्यसत्यवयविन्यसन्नवयवोऽन्ततः।।7.15.60।।

इसी प्रकार शरीर के कारण रूप पंचभूत भी अवयवी होने के कारण अपने अवयवों सूक्ष्म भूतों से भिन्न नहीं, अवयव रूप से ही हैं। जब खोजबीन करने पर भी अवयवों के अतिरिक्त अवयवी का अस्तित्व नहीं मिलता, वह असत् ही सिद्ध होता है, जब अवयवी ही सिद्ध नहीं होता तो उसके कारणरूप से माना गया अवयव तब अपने आप ही असत्य ही सिद्ध होता है।

तात्पर्य अर्थ-

जिस पदार्थ से जो वस्तु बनती है, वह उस पदार्थ से भिन्न नहीं मानी जा सकती, भले ही उसका नाम, रूप कुछ भी रख दो किन्तु पदार्थ वही का वही रहेगा। यथा एक सोने से अनेकों आभूषण बन जाने पर भी वे आभूषण सोना ही रहेंगे, वैसे ही अनन्त नाम रूपों से सिद्ध होने वाला जगत् भी अपने कारण (अवयवों) से भिन्न नहीं है अर्थात् कार्यकारणमय नामरूपात्मक यह जगत् आत्मा परमात्मा से भिन्न वस्तु नहीं, अपितु ब्रह्मात्मा ही है। "**ब्रह्मैव सर्वं**" (तेजोबिन्दूपनिषत् 6.31), "**आत्मैव सर्वं**" (छा.7.25.2)।

234-भावाद्वैतं क्रियाद्वैतं द्रव्याद्वैतं तथात्मनः।
वर्तयन्स्वानुभूत्येह त्रीन्स्वप्नान्धुनुते मुनिः।।7.15.62।।

235-कार्यकारणवस्त्वैक्यमर्शनं पटतन्तुवत्।
अवस्तुत्वाद् विकल्पस्य भावाद्वैतं तदुच्यते।।7.15.63।।

236-यद् ब्रह्मणि परे साक्षात् सर्वकर्मसमर्पणम्।
मनोवाक्तनुभिः पार्थ क्रियाद्वैतं तदुच्यते।।7.15.64।।

237-आत्मजायासुतादिनामन्येषां सर्वदेहिनाम्।
यत् स्वार्थकामयोरैक्यं द्रव्याद्वैतं तदुच्यते।।7.15.65।।

जो विचारशील पुरुष स्वानुभूति से आत्मा के विविध अद्वैत का साक्षात्कार करते हैं वे जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और द्रष्टा, दर्शन दृश्य के भेद रूप स्वप्न को मिटा देते हैं। ये अद्वैत तीन प्रकार के हैं- भावाद्वैत, क्रियाद्वैत और द्रव्याद्वैत। जैसे वस्त्र सूत रूप ही होता है वैसे ही कार्य भी कारण मात्र ही है। क्योंकि भेद तो वास्तव में है नहीं। इस प्रकार सबकी एकता का विचार भावाद्वैत है। हे युधिष्ठिर! मन, वाणी और शरीर से होने वाले सब कर्म स्वयं परब्रह्म परमात्मा में ही हो रहे हैं, उसी में अध्यस्त हैं, इस भाव से समस्त कर्मों को समर्पित कर देना क्रियाद्वैत है। स्त्री, पुत्रादि, सगे-सम्बन्धी एवं संसार के अन्य समस्त प्राणियों के तथा अपने स्वार्थ और भोग एक ही हैं, उनमें अपने और पराये का भेद नहीं है, इस प्रकार का विचार द्रव्याद्वैत है।।

तात्पर्य अर्थ-

शास्त्रों में अनेकों प्रकार का अद्वैतवाद देखने में मिलते हैं, जैसा कि (1) विशिष्टाद्वैत, रामानुजाचार्य जी का, (2) शुद्धाद्वैत, विष्णुस्वामी जी और वल्भाचार्य जी का, (3) द्वैताद्वैत, निम्बार्काचार्यजी का, (4) केवलाद्वैत, भगवत्पाद शंकराचार्य जी का इत्यादि। इसी के अन्तर्गत भावाद्वैत, क्रियाद्वैत और द्रव्याद्वैत आदि का संकेत मिलता है। आगे हम वेदान्त सिद्धान्त से सम्बन्धित या अनुगत भावाद्वैत, क्रियाद्वैत और द्रव्याद्वैत, इन तीनों पर विचार करेंगे। बुद्धि में नानात्वकी वृत्तियाँ तभी तक बनती रहती हैं, जब तक सर्वात्मभाव का अभाव है, अर्थात् **''सर्वं खल्विदं ब्रह्म''** (छा.3.14.1) का यथार्थ बोध करके बाह्यवृत्तियाँ शान्त नहीं हो गई है। तभी तक वृत्तियों की नानात्व सत्यत्व है, अन्यथा इसका अस्तित्व है ही नहीं। (क) स्वस्वरूप का निरन्तर निदिध्यासन द्वारा मन-बुद्धि से नानात्वका त्याग कर देने का नाम है भावाद्वैत, क्योंकि ये नानात्व भावना प्रधान हैं। (ख) इसी प्रकार बाह्येन्द्रियों के द्वारा नाना कर्मों में अकर्मता का ज्ञान होने का नाम क्रियाद्वैत है क्योंकि जितने भी क्रिया या कर्म होते हैं, वे सबके सब इन्द्रियों द्वारा ही होते हैं। (ग) भोग पदार्थों में भिन्नता, केवल अज्ञानता से सम्बन्धित है। जिस दिन ज्ञान हो जाय कि भोग्य पदार्थ एक है, चाहे वह भोग्य नाना-नाम और रूपों में क्यों न हों, किन्तु हैं भोग्य पदार्थ। इस प्रकार का ज्ञान हो जाने का नाम है द्रव्याद्वैत, क्योंकि भोग्य द्रव्य है।

सर्वात्मभाव का अभिप्राय है- **''सर्वं खल्विदं ब्रह्म''** (छा.3.14.1), **''नेह नानास्ति किञ्चन''** (बृ.4.4.19) अर्थात् नाना कुछ भी नहीं है, सब कुछ ब्रह्म ही है अर्थात् जो कुछ नाम और रूपों में प्रतिभासित हो रहा है, वह सब का सब ब्रह्म ही है। यथा स्वप्नकाल में एक ही तत्त्व भोग्य और भोक्ता के रूप में जाना जाता है। अथवा

एक मिट्टी ही नाना नाम रूपों में प्रतीति का विषय बन रही है। **''यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।।''** (छा.6.1.4)।

238-यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
न दुह्यन्ति मनःप्रीतिं पुंसः कामहतस्य ते।।9.19.13।।

239-न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।।9.19.14।।

हे प्रिये! पृथ्वी में जितने भी धान्य (अन्न) खाद्य पदार्थ जौ आदि, सुवर्ण, पशु और स्त्रियाँ हैं वे सब के सब मिलकर भी उस पुरुष के मन को सन्तुष्ट नहीं कर सकते, जो कामनाओं के प्रहार से जर्जर हो रहा है। विषयों के भोगने से भोग वासना कभी शान्त नहीं होती। बल्कि जैसे घी की आहुति डालने पर आग और अधिक भड़क उठती है, उत्तेजित हो जाती है, वैसे ही भोग वासना भी भोग से प्रबल हो जाती है।

तात्पर्य अर्थ-

प्रत्येक प्राणी सुख-शान्ति का इच्छुक है, दु:ख-अशान्ति किसी को नहीं चाहिये और उसकी प्राप्ति के लिये अपने-अपने गुण-स्वभावानुसार प्रयत्न भी अनेकों विध करते हैं किन्तु सुख-शांति नहीं मिल रही है, ऐसा क्यों? इसका कारण है- जिसके द्वारा वे सुख-शांति की प्राप्ति चाहते हैं उनमें दु:ख और अशांति रूप जहर (गुण) ही भरा हुआ है, तो भला उसकी आकांक्षा की पूर्ति कैसे हो सकती है। जिस वस्तु में जो गुणधर्म होगा, वही उस वस्तु से प्राप्ति हो सकता है, विपरीत नहीं। दूसरी बात है प्रत्येक प्राणियों के सुख-शांति के प्रकार भिन्न-भिन्न हैं अर्थात् जिनमें या जिससे हम सुख की अभिलाषा करते हैं, वह अन्यों के लिये दु:ख स्वरूप हो सकता है और जिसमें या जिससे अन्य लोग सुख का अनुभव करते हैं, वह हमारे लिए दु:ख स्वरूप हो सकता है। वास्तव में आत्यन्तिक सुख-शांति तो मनुष्यों को चाहिये और मनुष्यों के लिए तो यह प्रक्रिया है भी, अन्य प्राणियों को केवल मात्र भोग चाहिये। भोग भी किसी प्राणी के लिए तो मल-मूत्र प्रियतर है और किसी के लिए त्याज्य है। किसी को मीठा प्रिय है तो किसी को कड़वा और किसी को कसैला तथा खट्टा आदि।

240-यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेष्वमङ्गलम्।
समदृष्टेस्तदा पुंसः सर्वाः सुखमया दिशः।।9.19.15।।

241-या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्जीर्यतो या न जीर्यते।
तां तृष्णां दुःखनिवहां शर्मकामो द्रुतं त्यजेत्।।9.19.16।।

जब मनुष्य किसी भी प्राणी या वस्तु के साथ राग-द्वेष का भाव नहीं रखता, तब वह समदर्शी हो जाता है तथा उसके लिए सभी दिशाएं सुखमयी बन जाती है।। विषयों की तृष्णा ही दुःखों का उद्गम स्थान है। मंदबुद्धि के लोग बड़ी कठिनाई से उसका त्याग कर पाते हैं। शरीर बूढ़ा हो जाता है पर तृष्णा नित्य नवीन ही होती जाती है, अतः जो अपना कल्याण चाहता है उसे शीघ्र ही उस तृष्णा (भोगवासना) का त्याग कर देना चाहिये।

तात्पर्य अर्थ-

आत्मज्ञानियों या जीवन मुक्त पुरुषों का एक विशेष लक्षण है- समदर्शिता। जिनके जीवन में समदर्शिता आ जाती है वे आकाशगामी जन्तुवत् हो जाते हैं अथवा संसार सागर पारगामी हो जाते हैं। पृथ्वी की समता-विषमता रूप उत्तालों से कभी विचलित नहीं होते , क्योंकि ''**असङ्गो ह्ययमात्मा**'' (नृ.उ.ता 2), ''**आत्मैव सर्वम्, आत्मक्रीड़ो भवति**'' (छा. 7.25.2), ''**आत्मारामो भवति**'' (त्रि.म.ना. 1.5) इत्यादि श्रुति वाक्यों से यही सिद्ध होता है कि उस समदर्शी पुरुष को त्रिगुणात्मक प्रकृति के द्वारा उद्वेगित उत्तालतरङ्गे (प्राकृतिक आपदाएँ एवं प्रारब्धिक भोगादि) किसी भी प्रकार से क्षोभित या विचलित नहीं कर सकतीं। समदर्शी का मनोभाव कैसा होता है? इस विषय पर भगवद् गीता में कहा है-''**विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि। शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।।** (5.18) अर्थात् समदर्शी तत्त्वज्ञानी की दृष्टि उसी प्रकार होती है जैसे सूर्य अपनी रश्मि (किरण) को सर्वत्र समरूप से प्रसारण करता है। चाहे वह गंदा नाला हो अथवा गंगा नदी हो, तत्त्वज्ञानी हो, चाहे महामूर्ख, संयम सदाचारी ब्राह्मण हो अथवा चाण्डाल हो, स्वर्गीय गाय हो अथवा सूअरी हो।

242-मात्रा स्वस्त्रा दुहित्रा वा नाविविक्तासने भवेत्।

बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति।।9.19.17।।

और तो क्या अपनी माँ, बहन और बेटी के साथ भी अकेले एक आसन पर नहीं बैठना चाहिये। इन्द्रियाँ इतनी बलवान हैं कि वे बड़े-बड़े विद्वानों को भी विचलित कर देती हैं।

तात्पर्य अर्थ-

सच्चा साधक, साधु-संन्यासी वही है, जो अपने दुष्ट मन को, दुष्टता और दोषों से रहित करके स्वबस में कर ले और आत्मचिंतन में ही अहर्निश लगा दे, क्षणमात्र के लिये भी वियुक्त न होने दे। मन की गति पर क्षणभर के लिये भी विश्वास न करें, क्योंकि इस दुष्ट मन ने बहुतों (बड़े-बड़े) ज्ञानी, ध्यानी और योगियों को पतित,

स्वधर्मभ्रष्ट कर दिया है, जिनका उदाहरण इतिहास रूप में प्रसिद्ध है, जैसे-सौभरी ऋषि, पराशर ऋषि, सृष्टिकर्ता ब्रह्मादि ये सभी स्वधर्म से पतित (भ्रष्ट) हुये हैं, जो कि ऋषियों में महान् ऋषि और देवताओं में सृष्टिकर्ता स्वयंभू माने जाने वालों में से हैं। अत: अपने माने हुए माँ, बहिन और बेटी आदि के साथ भी एकान्त में निवास न करें। हंसी-मजाक या अश्लीलता की बातें न करें। साधक उपरोक्त बातों को ध्यान में रखकर ऐसा दृढ़ निश्चय करें सर्वभोग सर्वसंबन्ध को त्याग कर परिव्राजक जीवन व्यतीत करूँगा। जैसा कि राजा ययाति कहते हैं-

243-तस्मादेतामहं त्यक्त्वा ब्रह्मण्याधाय मानसम्।
निर्द्वन्दो निरहंकारश्चरिष्यामि मृगैः सह।।9.19.19।।

सभी प्रकार की कामनाओं को त्याग कर अपने मन (बुद्धि) को अतिशीघ्र सर्वव्यापक ब्रह्म में , परमात्मा में लगाऊँगा और निर्द्वन्द्व एवं निरहंकार भाव से हिरणों के समान शीत-ऊष्ण, वर्षादि के सुख-दु:खों को सहन करते हुए उनके साथ विचरण करुँगा।

तात्पर्य अर्थ-

भोग-वासना की तृष्णा ही सुख-दु:ख और जन्म-मृत्यु का मुख्य कारण है, अत: इसे शीघ्रताशीघ्र त्याग कर अपने अन्त:करण (मन, बुद्धि आदि) को आत्मचिन्तन में लगाकर निर्द्वन्द्व भाव से शेष जीवन का कालयापन करें, इसी में मानव जीवन की सार्थकता है सफलता है (कल्याण) है। यथा यद्यपि आकाशगामी पक्षी भी वासना के वशीभूत होकर अपने माने हुये स्थान घोंसला (निवास स्थान) में पुन: वापस आ जाते हैं, फिर भी बहुत कुछ स्वतन्त्रता है (किसी भी दृष्टान्त का प्राय: कुछ अंश ही लिया जाता है।) भगवद्गीता में आया है-"**निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।**" (2.45) यह संसार द्वंद्वमय है अथवा द्वंद्व ही जिसका स्वरूप है उसे संसार कहना चाहिये और ये द्वंद्व ही अविनाशी, अद्वितीय आत्मा के जन्म-मृत्यु रूप बंधन के कारण हैं। द्वंद्व का अर्थ है दो अर्थात् प्रकृति और पुरुष, यह द्वैत जब तक रहेगा, तब तक जीवात्मा का जन्म-मृत्यु रूप द्वंद्व से मुक्त होना असंभव है।

244-दृष्टं श्रुतमसद् बुद्ध्वा नानुध्यायेन्न संविशेत्।
संसृतिं चात्मनाशं च तत्र विद्वान् स आत्मदृक्।।9.19.20।।

लोक-परलोक दोनों के ही भोग असत् हैं। ऐसा समझ कर न तो उनका चिंतन करना चाहिये और न भोग ही करना चाहिये। समझना चाहिए कि उनके चिंतन से ही जन्म-मरण रूप संसार की प्राप्ति होती है और उनके भोग से तो आत्मनाश ही हो जाता है। वास्तव में उनके इस रहस्य को जानकर उनसे अलग रहने वाला ही आत्मज्ञानी है।

तात्पर्य अर्थ-

आत्मज्ञानी का अभिप्राय है जो वीतराग एवं इन्द्रिय सयंम हो, अर्थात् मन, बुद्धि से विषयों का चिंतन ही न करे, उसका भोग करना तो दूर की बात है। क्योंकि विषयों का चिंतन ही इस विश्व प्रपंच का उद्‌गम स्थान है। यानि विषयों का चिंतन ही विश्वप्रपंच है और इसी में प्राणी जगत बंधा हुआ है। अत एव इस विषय चिंतन को जन्म-मरण का कारण समझकर अतिशीघ्र त्याग करके आत्मचिंतन में मन को लगा देना चाहिये।

245-स तत्र निर्मुक्तसमस्तसङ्ग आत्मानुभूत्या विधुतत्रिलिङ्गः।

परेऽमले ब्रह्मणि वासुदेवे, लेभे गतिं भागवतीं प्रतीतः।। 9.19.25।।

वन में जाकर राजा ययाति ने समस्त असत्यों से छुट्‌टी पा ली। आत्मसाक्षात्कार के द्वारा उनका त्रिगुणमय लिङ्गशरीर नष्ट हो गया। उन्होंने माया मल से रहित परब्रह्म परमात्मा वासुदेव में मिलकर वह भागवती गति को प्राप्त कर ली, जो बड़े-बड़े भगवान् के प्रेमी संतों को प्राप्त होती है।

तात्पर्य अर्थ-

प्रत्येक प्राणी का उद्‌देश्य (परम लक्ष्य) है आत्यन्तिक सुख-शांति की प्राप्ति, किन्तु दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति होने पर ही सम्भव है और यह सम्भावना भी सौभाग्यशाली मनुष्यों के लिए ही हो सकती है, इतर प्राणियों के लिए नहीं। इसके लिए हमें क्या करना होगा? यह एक प्रश्न है। सबसे पहले हमें अपने माने हुए संसार एवं प्राणी पदार्थों की आसक्ति का दृढ़तापूर्वक त्याग करके निर्जन, एकान्त स्थान में जाकर सुखपूर्वक बैठ जाएं अथवा निरन्तर-चलते फिरते, सोते-बैठते, उठते, इस भजन को गुनगुनाते रहें-

"न कुछ हुआ है न कुछ हो रहा है, मुझे सिर्फ होने का भ्रम दिख रहा है"-टेक

1. नजर आये तेरी नजर का नजारा, यह स्वप्न के तुल्य संसार सारा,
   अज्ञान की रात्रि में सो रहा है। मुझे सिर्फ होने का भ्रम दिख रहा है,
2. (दिखे कैसे) कैसे रंगीले तमाशे, कहीं पर बिनासे कहीं पर प्रकाश,
   कोई हंस रहा है, कोई रो रहा है, मुझे सिर्फ होने का भ्रम दिख रहा है।

"अनुक्षणम् यत्परिहृत्य कृत्यमनाद्यविद्याकृतबन्धमोक्षणम्। देहः परार्थोऽयममुष्य पोषणे, यः सज्जते सः स्वमनेन हन्ति।। वि.चु.85।। **शरीरपोषणार्थी सन् य आत्मानं दिदृक्षति। ग्राहं दारुधिया धृत्वा नदीं तर्तुं स इच्छति।।** वि.चु.86।। अर्थात् जो अनादि अविद्याकृत बंधन को छुड़ाना रूप अपने कर्तव्यों का त्याग कर

प्रतिक्षण इस परार्थ (दूसरों के भोग्य रूप) देह के पोषण में ही लगा रहता है, वह अपनी इस प्रवृत्ति से स्वयं अपना ही घात करता है। जो शरीर पोषण में लगा रहकर आत्मतत्त्व को देखना चाहता है (आत्यन्तिक) सुख चाहता है वह वैसे ही है जैसे मानो काष्ठ समझकर मगरमच्छ को पकड़कर कोई नदी (समुद्र) पार करना चाहता है। स्वरूप का अहर्निश चिंतनमय तत्पर हो जाये और इस प्रकार बहुत काल तक अभ्यास करते रहने पर उस माया मलमय अनादि कर्मबीज वासनाओं का अन्त हो जाएगा और वासनाओं के अन्त हो जाने पर लिङ्ग शरीर का भी अन्त हो जाना निश्चित है। जो जन्म-मृत्यु, सुख-दु:ख आदि का मुख्य कारण है। फिर तो दु:खों की आत्यन्तिक निवृत्ति और आत्यान्तिक सुख-शांति की प्राप्ति स्वतः प्राप्त हो जायेगी। अपनी आत्मा ही सुख स्वरूप है। अर्थात् दु:ख की निवृत्ति ही उत्कृष्ट सुख है, जिसे परमानंद कहा जाता है। वही अपना स्वरूप है।

246-सा संनिवासं सुहृदां प्रपायामिव गच्छताम्।
विज्ञायेश्वरतन्त्राणां माया विरचितं प्रभोः।।9.19.27।।

247-सर्वत्र सङ्गमुत्सृज्य स्वप्नौपम्येन भार्गवी।
कृष्णे मनः समावेश्य व्यधुनोल्लिङ्गमात्मनः।। 9.19.28।।

हे परीक्षित! स्वजन सम्बंधियों का मिलन ईश्वर के अधीन है। एक स्थान पर इकट्ठा हो जाना वैसे ही है जैसे प्याऊ पर पथिकों का, यह सब भगवान की माया का खेल और स्वप्न के समान ही है। ऐसा समझकर देवयानी ने सब पदार्थों की आसक्ति त्याग दी और अपने मन को भगवान श्रीकृष्ण में तन्मय करके बंधन के हेतु लिङ्ग शरीर का परित्याग कर दिया, वह भगवान को प्राप्त हो गयी।

तात्पर्य अर्थ-

सुख-दु:खों का एकमात्र कारण मन की भावना ही है। सुख-दु:ख न प्राणियों में है, न तो पदार्थों में ही है। किसी प्राणी को या पदार्थ को अपना मान लिया (यह मेरा) है, इस प्रकार की भावना बन जाने पर उस प्राणी या पदार्थों के प्रति तादात्म्यता का संचार होने लगता है, उदय होने लगती है और फिर उन प्राणी पदार्थ का वियोग या विकृति हो जाने पर दु:ख का आगमन (प्रवेश) होने लगता है। वियोग-संयोग, विकृति आदि होना गुणमयी प्रकृति से स्वाभाविक है। अज्ञानवश प्रकृति के गुणधर्मों को अपने में आरोपित करके सुखी-दु:खी होता है। इस मन के भ्रम को (भ्रान्ति को) त्याग कर सुख-दु:ख, जन्म-मृत्यु से रहित अपने स्वरूप का (अन्तरात्मा का) जिस दिन चिंतन-मनन होने लग जाए, उसी दिन प्रकृति के प्रति मोह भंग हो जाएगा, स्वप्नवत् हो

जायेगा। फिर तो तू ही तू रहेगा, आत्मा ही आत्मा रहेगी, आत्मा के अतिरिक्त और कुछ है भी नहीं। श्रुति कहती है- **"नेह नानास्ति किंचन"** (बृ.4.4.19) क्योंकि **"वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।"** (छा.उ.6.1.4)

(11)-जन्म-मृत्यु का विधिप्रकरण-

248-मृत्युर्जन्मवतां वीर देहेन सह जायते।

अद्य वाब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः।।10.1.38।।

हे वीरवर! जो जन्म लेते हैं, उनके शरीर के साथ ही मृत्यु भी उत्पन्न होती है। आज हो या सौ वर्ष बाद, जो प्राणी है उसकी मृत्यु होगी ही।

तात्पर्य अर्थ-

जन्म के साथ मृत्यु और मृत्यु के साथ जन्म का होना अथवा संयोग का वियोग और वियोग के पश्चात पुनः संयोग। यह प्रकृति का शाश्वत स्वभाव है। उसे किसी भी उपाय से टाला नहीं जा सकता। यदि कोई इस बात को गहराई से (गहन विचार-विमर्श के द्वारा) समझने का प्रयत्न करे अथवा समझ ले कि जैसे दिन-रात्रि के प्रति मन में किसी प्रकार की प्रतिक्रिया नहीं होती, वैसे ही संयोग-वियोग, जन्म-मृत्यु को भी मान ले तो संसार और शरीर के प्रति मोह, राग-द्वेष की भावना सदा सर्वदा के लिए भंग हो जाए तथा सुख-दुःख का झंझावात भी समाप्त हो जाय। जैसे कि गीता में भी कहा है- **'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च'।।** (गी.2.27)।

249-देहे पञ्चत्वमापन्ने देही कर्मानुगोऽवशः।

देहान्तरमनुप्राप्य प्राक्तनं त्यजते वपुः।।10.1.39।।

250-व्रजंस्तिष्ठन् पदैकेन यथैवैकेन गच्छति।

यथा तृणजलूकैवं देही कर्मगतिं गतः।।10.1.40।।

जब शरीर का अन्त हो जाता है तब जीव अपने कर्मों के अनुसार दूसरे शरीर को ग्रहण करके अपने पहले शरीर को छोड़ देता है। उसे विवश होकर ऐसा करना पड़ता है। जैसे चलते समय मनुष्य एक पैर को जमाकर दूसरे पैर उठाता है। और जैसे जोंक किसी अगले तिनके को पकड़ लेती है तब पहले के पकड़े हुए तिनके को छोड़ती है, वैसे जीव अपने कर्म के अनुसार किसी अगले शरीर को प्राप्त होने के बाद ही इस वर्तमान शरीर को छोड़ता है।

तात्पर्य अर्थ-

जीव का गमनागमन कर्मानुसार (कर्मवासना बीज) के अनुसार होता है। दूसरी बात है-सन्धिकाल यानि वर्तमान प्रारब्ध (जीवन) का अन्त और भविष्यत् प्रारब्ध का

फलोन्मुख होना (पुनर्जन्म), इसी काल में ही गति होती है। अर्थात् पूर्व शरीर के त्याग से पहले ही लिङ्गशरीर से युक्त जीवात्मा को जहाँ और (जिन 84 लाख योनियों में से) जिस योनि में अथवा गर्भाशय में प्रवेश करना है, वह योनि अथवा गर्भाशय पूर्णरूप से यथा योग्य सुव्यवस्थित हो जाने पर ही पूर्व शरीर को छोड़ता है। अन्यथा दो चार दिन चेतना विहीन अवस्था में भी रहना पड़ सकता है।

''तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्याऽऽत्मानमुपसहँरत्येवमेवायमात्मेदँ शरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मनमुपसँहरति।।4.4.3।। इस बृहदारण्यकोपनिषद् श्रुति का ही अनुसरण किये हैं भागवतकार (वेदव्यास जी) ने। इस श्रुति का अर्थ है-जैसे घास पर चलने वाले (तृष्णजलूका) जोंक नामक कीड़ा एक तृण के अन्तिम भाग पर पहुँचकर दूसरे तृणरूप आश्रय को पकड़कर अपने शरीर को सिकोड़ लेता हे, वैसे ही यह जीवात्मा इस वर्तमान देह को मारकर, अचेतन अवस्था को प्राप्त कराकर, दूसरे शरीर रूप आश्रय का आधार लेकर अपना उपसंहार कर लेता है। अर्थात् जिस शरीर को प्राप्त करना है उसी देह में आत्मभाव कर लेता है। यही देहान्तर के आरम्भ की विधि है।

251-स्वप्ने यथा पश्यति देहमीदृशं, मनोरथेनाभिनिविष्टचेतनः।
दृष्टश्रुताभ्यां मनसानुचिन्तयन् प्रपद्यते तत्किमपि ह्यपस्मृतिः।।10.1.41।।

जैसे कोई पुरुष जाग्रत् अवस्था में राजा के ऐश्वर्य को देखकर और इन्द्र के ऐश्वर्य को सुनकर उसकी अभिलाषा करने लग जाता है और उसका चिन्तन करते-करते उन्हीं बातों में (दृश्य में) घुल-मिलकर एक हो जाता है तथा स्वप्न में अपने को राजा या इन्द्र के रूप में अनुभव करने लगता है, साथ ही अपने दरिद्रावस्था के शरीर को भूल जाता है। कभी-कभी तो जाग्रत् अवस्था में ही मन ही मन उन बातों का चिन्तन करते-करते तन्मय हो जाता है और स्थूल शरीर की सुध (स्मरण) नहीं रह जाती। वैसे ही जीव कर्मकृत कामना और कामना कृत कर्म के वश होकर दूसरे शरीर को प्राप्त हो जाता है और अपने पहले शरीर को भूल जाता है।

तात्पर्य अर्थ-

जब पहले शरीर के प्रारब्ध की समाप्ति काल में यह जीवात्मा दुर्बलता को प्राप्त हो, मानो सम्मूढ़ता, अविवेकता को प्राप्त होता है और ये वागादि सभी इन्द्रियाँ (इन्द्रियों के देवता) हृदय में एकत्रित हो जाती हैं तब यह मरणासन्न पुरुष (जीवात्मा) रूपादि ज्ञान से हीन हो जाता है। इसी बात को श्रुति भगवती कहती हैं- **''एकीभवति न पश्यतीत्याहुरेकी भवति न जिघ्रतीत्याहुरेकी भवति न जिघ्रतीत्याहुरेकीभवति न**

रसयत इत्याहुरेकी भवति न वदतीत्याहुरेकीभवति न शृणोतीत्यहुरेकीभवति न मनुत इत्याहुरेकीभवति न स्पृशतीत्याहुरेकीभवति न विजानातीत्याहुस्तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैव आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यस्तमुत्क्रामन्तमनूत्क्रामति।। (बृ.उ.4.4.2) अर्थात् नेत्र आदि इन्द्रियाँ लिङ्गात्मा से जब एक रूप हो जाती हैं तब लोग कहते हैं अब नेत्र से यह देखता नहीं, घ्राणेन्द्रिय जब एक रूप हो जाती है, तब यह कहते हैं कि यह सूँघता नहीं। जब रसनेन्द्रिय एक रूप हो जाती है तब कहते हैं कि यह चखता (खाता) नहीं। वागिन्द्रिय जब एक रूप हो जाती है, तब कहते हैं कि यह बोलता नहीं। जब मन एक रूप हो जाता है, तब कहते हैं कि यह मनन करता नहीं, इत्यादि। उस समय इस हृदय से बाहर जाने वाला मार्ग अत्यन्त प्रकाशित होने लगता है। उसी से यह लिङ्गात्मा (जीवात्मा) नेत्र द्वारा, सिर द्वारा या शरीर के किसी अन्य भाग द्वारा बाहर निकल जाता है। उसके निकलते ही उसके साथ प्राण भी निकल जाता है, उस समय इसके साथ-साथ ज्ञान, कर्म और पूर्वानुभावजन्य संस्कार जाता है। पूर्व शरीर छोड़ने के बाद भावी शरीर प्राप्ति के लिये वैदिक मार्ग दो हैं-अर्चिमार्ग (प्रकाशमय) और धूममार्ग (अंधकार मार्ग) अर्चिमार्ग द्वारा मनुष्य ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं और धूममार्ग द्वारा पितृ, देवादि योनियों को तथा मनमानी (स्वभावानुसार) कर्म करने वालों के लिये तीसरा मार्ग है (जायस्व म्रियस्व वाली योनियाँ) पशु, पक्षी आदि योनियों कृमि-कीटादि शरीरों को प्राप्त होना, इन्हीं मार्गों के द्वारा प्राप्त स्थान को स्वर्ग-नरक नामों से भी जाना जाता है। इसमें बृ.उप. 6.2.15/16 प्रमाण है।

252-यतो यतो धावति दैवचोदितं, मनो विकारात्मकमाप पञ्चसु।
गुणेषु मायारचितेषु देह्यसौ, प्रपद्यमानः सह तेन जायते।।10.1.42।।

जीव का मन अनेक विकारों का पुञ्ज है। देहान्त के समय वह अनेक जन्मों के सञ्चित और प्रारब्ध कर्मों की वासनाओं के अधीन होकर माया के द्वारा रचे हुए अनेक पाञ्चभौतिक शरीरों में से जिस किसी शरीर के चिन्तन में तल्लीन हो जाता है और मान बैठता है कि 'यह मैं हूँ,' वही शरीर ग्रहण करके उसे जन्म लेना पड़ता है।

तात्पर्य अर्थ-

मनुष्य शुभाशुभ कर्म करते हैं, उन कर्मों के संस्कारों का आश्रय (आधार) है सूक्ष्मशरीर और उन्हीं संस्कारों के अधीन होकर जीवात्मा (लिंगदेह) को पुनः-पुनः जन्मना पड़ता है। विविधयोनियों में जाना पड़ता है। जिस योनि में जाना होता है उस शरीर का साक्षात्कार पूर्वशरीर में रहते-रहते कर लेता है, तब उस पूर्व शरीर को छोड़

देता है। पूर्व किये हुए कर्म-संस्कारों के अनुसार इस जन्म में जो प्राप्त होता है, वह जीवरचित सृष्टि है। अर्थात् सृष्टि दो प्रकार की है- ईश्वर सृष्टि और जीव सृष्टि (क) ईश्वर सृष्टि उसे कहा जाता जो ईश्वर द्वारा विरचित-अकाशादि पँचमहाभूतों सहित कार्य-कारणमय अनन्त ब्रह्माण्ड और (ख) इन्हीं अनन्त ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत कुछ अंशों को अपना मान कर कर्मों में प्रवृत्त होना और उसके संयोग वियोग को अपने में आरोपित करके सुख-दु:ख को प्राप्त होना यह जीव सृष्टि है।

253-ज्योतिर्यथैवोदकपार्थिवेष्वद:, समीरवेगानुगतं विभाव्यते।

एवं स्वमायारचितेष्वसौ पुमान् गुणेषु रागानुगतो विमुह्यति।।10.1.43।।

जैसे सूर्य, चन्द्रमा आदि चमकीली वस्तुएँ जल से भरे हुए घड़ों में या तेलादि तरल पदार्थों में प्रतिबिम्बित होती हैं और हवा के झोकों से उनके (जल आदि) के हिलने-डुलने पर उनमें प्रतिबिम्बित वस्तुएँ भी चंचल जान पड़ती हैं, वैसे ही जीव अपने स्वरूप के अज्ञान द्वारा रचे हुए शरीर में राग करके उन्हें अपना मान बैठता है और मोहवश उनके आने-जाने को, स्वस्थ-अस्वस्थ आदि को अपना आना-जाना इत्यादि मान लेता है।

तात्पर्य अर्थ-

आत्मा स्वत: अजर, अमर, अविनाशी, निर्विकारी होने पर भी देहाध्यास होने के कारण शरीर के जन्म-मृत्यु, बाल्य, युवा, वृद्ध, स्त्री-पुरुष, रोगी-निरोगी को अज्ञानवश अपना मान लेता है। यथा वायु संसर्गदोष, साहचर्यदोष के कारण वायु अथवा वातावरण को दूषित-अदूषित (सुगंधी-दुर्गंधी) आदि कहा जाता है। वास्तव में वायु अपने स्वरूप से सदा सर्वदा शुद्ध ही है, दूषित नहीं। दोष का कारण तो अन्य वस्तुओं का संयोग है।

254-तस्मान्न कस्यचिद् द्रोहमाचरेत् स तथाविध:।

आत्मन: क्षेममन्विच्छन् द्रोग्धुर्वै परतो भयम्।।10.1.44।।

इसलिये जो अपना कल्याण चाहता है उसे किसी से द्रोह नहीं करना चाहिए। क्योंकि जीव कर्म के अधीन हो गया है और जो किसी से भी द्रोह करेगा, उसको इस जीवन में शत्रु से और जीवन के बाद परलोक से भयभीत होना ही पड़ेगा।

तात्पर्य अर्थ-

यह जीवात्मा शुभाशुभ कर्मों को करता है और उसी कर्म संस्कारों के अधीन होकर उसका फल भी भोगना पड़ता है। इसलिये इस जीवन और पश्चात जीवन में सुख-शान्ति तथा अपना कल्याण चाहने वालों को किसी से भी किसी प्रकार भी

राग-द्वेष न करें क्योंकि राग-द्वेष ही शत्रुता-मित्रता के जनक हैं। अत: व्यवहार को अपना मधुर और सहज बनाकर जीवन यापन करें। "**कबीर खड़ा बाजार में सबसे माँगे खैर। न काहुसे दोसति न काहुसे बैर।।**" यह बात सन्त कबीर का कहना है। "**समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः। शीतोष्णसुखदु:खेषु समः सङ्गविवर्जितः।।**" (गी. 12.18), "**अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च। निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी।।** (गी. 12.13), "**ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।।** (गी. 5.3)।

255-ब्रह्मा भवश्च तत्रैत्य मुनिभिर्नारदादिभिः।
देवैः सानुचरैः साकं गीर्भिर्वृषणमैडयन्।।10.2.25।।

हे परिक्षित्! भगवान् शंकर और ब्रह्माजी कंस के कैदखाने में आये। उनके साथ अपने-अपने अनुचरों के सहित समस्त देवता और नारदादि ऋषि भी थे। वे लोग सुमधुर वचनों से सबकी अभिलाषा पूर्ण करने वाले श्री हरि की इस प्रकार स्तुति करने लगे।

तात्पर्य अर्थ-

किसी वस्तु या रूपादि विषय के लिये अभिलाषा होती है तो वह मन में होती है। उसकी पूर्ति इन्द्रियों के माध्यम से चैतन्य सत्ता के द्वारा होती है। आत्मसत्ता के अभाव में प्रपञ्चमय इस जगत् का अस्तित्व ही नहीं रह जाता है। क्योंकि यह जगत् है ऐसा कौन कहेगा (जानेगा) इसका ज्ञाता तो आत्मा ही है, अनात्मा जड़ नहीं हो सकता। यह अकाट्य सिद्धान्त है। अत: उस आत्मदेव को अपने मन, वाणी और सद्व्यवहारों के द्वारा सदा प्रसन्न रखना चाहिये। मन, वाणी आदि के द्वारा क्या करना चाहिये जिससे चैतन्यदेव प्रसन्न हो? इस सम्बन्ध में अगले श्लोक है-

256-योऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः, पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः।।10. 2.32।।

हे कमलनयन! जो लोग आपके चरणकमलों की शरण नहीं लेते तथा आपके प्रति भक्ति भाव से रहित होने के कारण जिनकी बुद्धि भी शुद्ध नहीं है वे अपने को झूठ-मूठ मुक्त मानते हैं। वास्तव में तो वे बद्ध ही हैं। ये यदि बड़ी तपस्या और साधना का कष्ट उठाकर किसी प्रकार ऊँचे से ऊँचे पद पर भी पहुँच जाये तो भी वहाँ से नीचे गिर जाते हैं।

तात्पर्य अर्थ-

प्राय: अधकचरे ज्ञान से युक्त साधक-भक्तजन ही अपने को सर्वश्रेष्ठ ज्ञानियों में से एक मानते हैं। अथवा अपने से श्रेष्ठ किसी को भी मानते ही नहीं। क्योंकि उनकी बुद्धि-रजोगुण और तमोगुणों से रंजित होकर उनके खिलौने बनकर रह गयी है। अथवा

रज और तम की विलासिता से विलसित होकर, पीड़ित होकर क्रीड़ा कर रही है। ऐसे लोग **''जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानं''** (छा. 5.10.8) इस तीसरे मार्ग द्वारा निकृष्ट योनियों को प्राप्त होते हैं। जैसा कि गीता में आया है-

''सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत। ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत।'' (गी. 14.9) अर्थात् सत्त्वगुण विषयों में सुख के लोभ (प्राप्ति) में जीवात्मा को बाँधता है और रजोगुण सुख प्राप्ति के साधन कर्म करने के लिये विवश करता है तथा तमोगुण आत्मानात्मा के बुद्धिगत विवेक यानि ज्ञान को ढक देता है। इन गुणों के परिणामस्वरूप यह है- **''ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः। जघन्यगुणवृत्तस्था अधो गच्छन्ति तामसाः।।''** (गी. 14.18) श्रीधरी व्याख्या- सत्त्वं सुखे संजयति संश्लेषयति। दुःखत्वादिकारणे सत्यपि सुखाभिमुखमेव देहिनं करोतीत्यर्थः। एवं सुखादिकारणे सत्यपि रजः कर्मणि एव संजयति संश्लेषयति। दुःखशोकादिकारणे सत्यपि कर्माभिमुखमेव देहिनं करोतीत्यर्थः। तमस्तु ज्ञानमावृत्याच्छाद्य प्रमादे संजयति महद्भिरुपदिश्यमानस्यानवधाने योजयति।।

257-तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद्, भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः।
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया, विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो।।10.2.33।।

परन्तु हे भगवन्! जो आपके अपने निज जन हैं, जिन्होंने आपके चरणों में अपनी सच्ची प्रीति जोड़ रक्खी है, वे कभी उन ज्ञानाभिमानियों की भाँति अपने साधन मार्ग से गिरते नहीं। हे प्रभो! वे बड़े-बड़े विघ्न डालने वालों की सेना के सरदारों के सिर पर पैर रखकर निर्भय विचरते हैं। कोई भी विघ्न उनके मार्ग में रुकावट नहीं डाल सकते क्योंकि उनके रक्षक आप स्वयं हैं।

तात्पर्य अर्थ-

जिन साधकों ने गुरुकृपा, शास्त्रकृपा, ईश्वरकृपा और निजकृपा (अपना पुरुषार्थ) के द्वारा परब्रह्म स्वरूप अपने अन्तरात्मा-सर्वात्मा को साक्षात् अनुभव कर लिया है और उसी में मन-बुद्धि समर्पित हो गयी है, अहर्निश रत हो गयी है, वे अतिशय निर्भयता को प्राप्त हो जाते हैं। उनके जीवन में चाहे जितने भी विघ्न-बाधाएँ आयें, किन्तु उनसे या उनके द्वारा बुद्धि विचलित नहीं होती, क्योंकि असत्य भ्रान्तिमय जगत् के प्रति मोहभंग हो चुका है। मोह के जाल से निवृत्त हो चुकी है।

''यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति।। एतँ ह वाव न तपति। किमहँ साधु नाकरवम् किमहँ पापमकरवमिति। स य एवं विद्वानेते आत्मानँ स्पृणुते। उभे ह्येवैष एते आत्मानँ स्पृणुते य एवं वेद।।'' (तै.उ. 2.9) जहाँ से वाणी मन के सहित उसे प्राप्त किये बिना

ही लौट आती है। उस ब्रह्म के आनन्द को जानने वाला विद्वान् किसी से भयभीत नहीं होता। मैंने शुभकर्म क्यों नहीं किया और पापकर्म क्यों किया। इस प्रकार की चिन्ता केवल इस विद्वान् को संतप्त नहीं करती, क्योंकि उसे तो ये दोनों आत्मरूप ही दिखायी पड़ते हैं, अतः वह जो इस प्रकार जानने वाला विद्वान् है, वह अपनी आत्मा को अद्वितीय सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म जानता है।

258-सत्वं विशुद्धं श्रयते भवान् स्थितौ, शरीरिणां श्रेय उपायनं वपुः।
वेदक्रियायोगतपःसमाधिभि, स्तवार्हणं येन जनः समीहते।। 10.2.34।।

आप संसार की स्थिति के लिए समस्त देहधारियों को परम कल्याण प्रदान करने वाले है विशुद्ध सत्त्वमय, सच्चिदानंदमय दिव्य मंगल-विग्रह प्रकट करते हैं। उस स्वरूप के प्रकट होने से ही आपके भक्त वेद, कर्मकाण्ड, अष्टाङ्ग योग, तपस्या और समाधि के द्वारा आपकी आराधना करते हैं। बिना किसी आश्रय के वे किसकी आराधना करेंगे?

तात्पर्य अर्थ-

सुव्यवस्थित किसी कार्य का होना सच्चिदानन्द चिन्मयविशुद्ध आत्मसत्ता का संकेत (सूचक) है, प्रकृति केवल मात्र क्रियाशक्तिरूपा है और वह शक्ति भी चेतन-आत्मा की ही कृपा प्रसाद है। "**पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ। जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु।।**" (गी. 7.9) पृथ्वी में पवित्र गन्ध मैं हूँ और अग्नि में तेज मैं हूँ तथा सम्पूर्ण प्राणियों में जीवनीशक्ति मैं हूँ और तपस्वियों में तपस्या मैं हूँ।

259-सत्त्वं न चेद्धातरिदं निजं भवेद्, विज्ञानमज्ञानभिदापमार्जनम्।
गुणप्रकाशैरनुमीयते भवान्, प्रकाशते यस्य च येन वा गुणः।।10.2.35।।

हे प्रभो! आप सबके विधाता हैं। यदि आपका यह विशुद्ध सत्त्वमय निज स्वरूप न हो, तो अज्ञान और उसके द्वारा होने वाले भेदभाव को नष्ट करने वाला अपरोक्ष ज्ञान ही किसी को न हो। जगत् में दिखने वाले तीन गुण आपके हैं और आपके द्वारा ही प्रकाशित होते हैं, यह सत्य है परन्तु इन गुणों की वृत्तियों के प्रकाशक आपके स्वरूप का केवल अनुमान ही होता है। वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार नहीं होता। आपके स्वरूप का साक्षात्कार तो आपके इस विशुद्ध सत्त्वमय स्वरूप की सेवा करने पर आपकी कृपा से होता है।

तात्पर्य अर्थ-

अन्तरिन्द्रियाँ (मन-बुद्धि) आदि और बाह्येन्द्रियाँ चक्षु आदि जड़ प्रकृति के कार्य होने से ज्ञान शून्य (चेतना रहित) हैं। इसलिये उपरोक्त इन्द्रियाँ आत्मतत्त्व-परब्रह्म

का ज्ञान करने में सदैव असमर्थ रही हैं और भविष्य में भी सदा ही असमर्थ रहेंगी। अभिप्राय यह हुआ कि जो कुछ भी ज्ञान होता या हो रहा है वह सब चैतन्यात्म सत्ता से ही बुद्धि आदि इन्द्रियाँ ज्ञान करने में समर्थ हो पाती हैं। ऐसी स्थिति में वह इन्द्रियाँ अपनी ऊर्जा शक्ति, ज्ञान शक्ति को कैसे जान सकती हैं? उन सभी इन्द्रियों को अपनी प्रकाशिका शक्ति को जानने के लिये यानि आत्मसाक्षात्कार करने के लिये स्वभिन्न विषयों से मनोवृत्तियों को रोकना होगा, अर्थात् विषयाकारवृत्तिशून्य स्थिति को अपनाना होगा। दूसरे शब्द में कहें तो तादृशवृत्तिशून्य स्थिति ही आत्म साक्षात्कार होगा। इन्द्रियों की वृत्तियाँ ही आत्मसाक्षात्कार करने में साधकों के लिये बहुत बड़ा बाधक हैं और साधक भी हैं। श्रुति कहती है- **''पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्त्वमिच्छन्।।''** (क.उ. 2.1.1), अर्थात् स्वयंभू (परमेश्वर) ने कर्म व संस्कार के अनुसार (शब्दादि विषयों को प्रकाशित करने के लिये प्रवृत्त होने वाली) इन्द्रियों को बहिर्मुख करके उनका हनन कर दिया है। अतः (जीव सर्वदा) अनात्मभूत बाह्य विषयों को ही देखता है। अन्तरात्मा को नहीं। फिर भी कोई धीर पुरुष विषयों की इच्छा वृत्ति को रोक कर अमृतत्व (आत्मा) का चाहते हुये प्रत्यगात्मा यानि अपने स्वरूप अनुभव कर लेते हैं।

260-यथानेवंविदो भेदो यत आत्मविपर्ययः।
देहयोगवियोगौ च संसृतिर्न निवर्तते।।10.4.20।।

जो लोग इस आत्म तत्त्व को उक्त प्रकार से नहीं जानते, वे इस अनात्म शरीर को आत्मा मान बैठते हैं। यही उलटी बुद्धि अथवा अज्ञान है। इसके कारण जन्म और मृत्यु होते हैं और जब तक यह अज्ञान नहीं मिटता, तब तक सुख-दुःख रूप संसार से छुटकारा नहीं मिलता।

तात्पर्य अर्थ-

यदि सुख-दुःख, जन्म-मृत्यु रूप संसार बन्धन से छुटकारा पाना है तो यथार्थ आत्मज्ञान प्राप्त करके देहाध्यास का निर्मूल करना अति आवश्यक है। अर्थात् जब तक अज्ञान रूपी कारण सहित देहाध्यास बना रहेगा, तब तक सुख-दुःख, जन्म-मृत्यु का चक्र चलता ही रहेगा।

261-तस्माद् भद्रे स्वतनयान् मया व्यापादितानपि।
मानुशोच यतः सर्वः स्वकृतं विन्दतोऽवशः।।10.4.21।।

हे मेरी प्यारी बहन! यद्यपि मैंने तुम्हारे पुत्रों को मार डाला है, फिर भी तुम उनके लिये शोक मत करो, क्योंकि सभी प्राणियों को विवश होकर अपने-अपने कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है।

तात्पर्य अर्थ-

यह त्रिगुणात्मक प्रकृति से उत्पन्न कार्य-कारणमय जगत् स्वभाव से ही संयोग-वियोग, जन्म-मृत्यु, सुख-दु:ख, हानि-लाभ आदि से ग्रसित है। दूसरी बात है-स्वत: अपने-अपने शुभाशुभ कर्मों का फल भी समस्त प्राणियों को भोगना ही पड़ता है। इसलिये किसी के आने-जाने, बनने-बिगड़ने, जन्म-मृत्यु आदि में हर्ष-शोक तथा सुख-दु:ख आदि भावविकार मन में नहीं आने देना चाहिये।

(12) भगवत् महिमा प्रकरण-

262-यावद्धतोऽस्मि हन्तास्मीत्यात्मानं मन्यतोऽस्वदृक्।
तावत्तदभिमान्यज्ञो बाध्यबाधकतामियात्।।10.4.22।।

अपने स्वरूप को न जानने के कारण जीव जब तक यह मानता रहता है कि मैं मारने वाला हूँ या मारा जाता हूँ, तब तक शरीर के जन्म और मृत्यु का अभिमान करने वाला अज्ञानी जीव बाध्य और बाधकभाव को प्राप्त होता है। अर्थात् वह दूसरों को दु:ख देता है और स्वयं दु:ख भोगता है।

तात्पर्य अर्थ-

मेरा जन्म हुआ है और मैं किसी दिन मर जाऊँगा या मरने वाला हूँ या मुझे कोई न कोई मार देगा। इस प्रकार की अज्ञानता का नाम है देहाध्यास, जड़ाध्यास और इसी जड़ाध्यास के कारण जन्म-मृत्यु, भूख-प्यास, हर्ष-शोक आदि की इस जीवात्मा को विवशता पूर्वक पराधीनता को स्वीकार करना पड़ता है।

263-पुरेह भूमन् बहवोऽपि योगिन, स्त्वदर्पितेह निजकर्मलब्धया।
विबुध्य भक्त्यैव कथोपनीतया, प्रपेदिरेऽञ्जोऽच्युत ते गतिं पराम्।।10.14.5।।

हे अच्युत ! हे अनन्त ! इस लोक में पहले भी बहुत से योगी हो गये हैं। जब उन्हें योगादि के द्वारा आपकी प्राप्ति हुई, तब उन्होंने अपने लौकिक और वैदिक समस्त कर्म आपके चरणों में समर्पित कर दिये। उन समर्पित कर्मों से तथा आपकी लीला कथा से उन्हें आपकी भक्ति प्राप्त हुई। उस भक्ति से ही आपके स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करके उन्होंने बड़ी सुगमता से आपके परमानन्द पद की प्राप्ति कर ली।

तात्पर्य अर्थ-

परमानन्द पद की प्राप्ति के लिये आत्मानुभूति की महति आवश्यकता है। प्रारम्भिक साधना काल में वैदिक कर्म, देवी-देवता एवं पूज्यवर शिष्टपुरुषों की सेवा (उपासना) और शास्त्र-आचार्य द्वारा प्राप्त आत्मज्ञान, इन (कर्म, उपासना तथा ज्ञान)

तीनों के सम्यग् अभ्यास की आवश्यकता होगी, क्योंकि ये सभी एक-दूसरे के पूरक हैं (एक-दूसरे की कमी की पूर्ति करने वाले हैं) यद्यपि इस परमपद की प्राप्ति में अनेकानेक उपाय (साधन) हो सकते हैं, वह सभी साधनाएँ महापुरुषों के अपने-अपने अनुभव की उपज हैं, उसमें कोई पूर्ण है तो कोई आधा-अधूरा भी है और कुछ तो केवल वाग्विलास मात्र है। इसलिये कर्म, उपासना और ज्ञान रूपी साधनों का ही आश्रय लेना चाहिये।

264-गुणात्मनस्तेऽपि गुणान् विमातुं, हितावतीर्णस्य क ईशिरेऽस्य।
कालेन यैर्वा विमिताः सुकल्पैर्भूपांसवः खे मिहिका द्युभासः।।10.14.7।।

परन्तु हे भगवन्! जिन समर्थ पुरुषों ने अनेक जन्मों तक परिश्रम करके पृथ्वी का एक-एक परमाणु, आकाश के हिम गण (ओसकी बूँदे) तथा उसमें चमकने वाले नक्षत्र एवं तारों को गिन डाला है, उनमें भी भला, ऐसा कौन हो सकता है जो आपके सगुण स्वरूप के अनन्त गुणों को गिन सके? हे प्रभो! आप केवल संसार के कल्याण के लिये ही अवतरित हुए हैं। सो हे भगवन्! आपकी महिमा का ज्ञान व गाना तो बड़ा ही कठिन है।

तात्पर्य अर्थ-

वैज्ञानिक लोग आकाश मण्डल में स्थित तारों के समूह एवं जल कणों के समूह की संख्या बतलाने में शायद समर्थ हो सकते हैं किन्तु परमात्मस्वरूप जीवात्मा के अनादि कर्म-बीज वासनाओं की संख्या गणना करके बता पाना असम्भव है अथवा किन-किन योनियों में कितने बार जन्म लेकर क्या-क्या लीलाएँ किये, उसकी गिनती करके बता पाना असम्भव है। जीवात्मा के स्वरूप का ज्ञान करना व कराना तो और भी अत्यन्त कठिनतर है। फिर भी इसी मनुष्य जीवन में ही अपने पुरुषार्थ के द्वारा उस आत्मदेव का अपरोक्ष अनुभव करके भव-बन्धन से मुक्त हुआ जा सकता है।

265-तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो, भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिविंदधन्नमस्ते, जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्।।10.14.8।।

इसलिये जो पुरुष क्षण-क्षण पर बड़ी उत्सुकता से आपकी कृपा का ही भली-भाँति अनुभव करता रहता है और प्रारब्ध के अनुसार जो कुछ सुख या दुःख प्राप्त होता है, उसे निर्विकार मन से भोग लेता है एवं जो प्रेमपूर्ण हृदय, गदगद वाणी और पुलकित शरीर से अपने को आपके चरणों में समर्पित करता रहता है, इस प्रकार जीवन व्यतीत करने वाला पुरुष वैसे ही आपके परमपद का अधिकारी हो जाता है, जैसे अपने पिता की सम्पत्ति का पुत्र।

तात्पर्य अर्थ-

जो साधक आत्मकृपा का प्रतिक्षण अनुभव करता है, यानि जो कुछ मन, वाणी और शरीर के द्वारा व्यवहार हो रहा है, वह सबके सब चैतन्य आत्मा की सत्ता से ही हो रहा है। क्योंकि शरीर, वाणी, मन आदि भौतिक तत्त्वों के कार्य हैं, अर्थात् जड़ हैं, ऐसा अनुभव करता है और सुख-दुःख, हानि-लाभ को सहज भाव से भोग करता हुआ प्रेमपूर्ण हृदय, गदगद वाणी आदि के द्वारा अपने अहंकार को चैतन्य देव में आहुति रूप से स्वाहा कर देता है, समर्पित कर देता है। वही साधक परम पद मोक्ष पद का अधिकारी हो जाता है।

266-अजानतां त्वद्पदवीमनात्म, न्यात्माऽऽत्मना भासि वितत्य मायाम्।
सृष्टाविवाहं जगतो विधान, इव त्वमेषोऽन्त इव त्रिनेत्रः।।10.14.19।।

जो लोग अज्ञानवश आपके स्वरूप को नहीं जानते, उन्हीं को आप प्रकृति में स्थित जीव के रूप से प्रतीत होते हैं और उन पर अपनी माया का परदा डालकर सृष्टि के समय मेरे (ब्रह्मा) रूप से, पालन के समय (विष्णु) रूप से और संहार के समय रुद्र (शिव) के रूप में प्रतीत होते हैं।

तात्पर्य अर्थ-

यह विश्व यानि प्रपञ्च की उत्पत्ति, विनाशादि की सिद्धि अज्ञानता से ही है। अर्थात् जब तक आत्मा में जीव भाव है या रहेगा, तभी तक इस प्रपञ्च की सिद्धि भी है तथा जन्म-मृत्यु का चक्कर भी तभी तक ही है। वास्तव में विचार करके देखो तो स्वप्नवत् ही है।

267-सुरेष्वृषिष्वीश तथैव नृष्वपि, तिर्यक्षु यादस्स्वपि तेऽजनस्य।
जन्मासतां दुर्मदनिग्रहाय, प्रभो विधातः सदनुग्रहाय च।।10.14.20।।

हे प्रभो! आप सारे जगत् के स्वामी और विधाता हैं। अजन्मा होने पर भी आप देवता, ऋषि, मनुष्य, पशु-पक्षी और जलचर आदि योनियों में अवतार ग्रहण करते हैं। इसलिये कि इन रूपों के द्वारा दुष्ट पुरुषों का घमण्ड तोड़ दें और सत्पुरुषों पर अनुग्रह करें।

तात्पर्य अर्थ-

अजन्मा आत्मा में आरोपित करके कहा जाता है कि परमात्मा ही देवता, ऋषि, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि योनियों के रूप में अवतीर्ण हुआ है और जगत् में कोई स्वामी तो कोई सेवक के रूपों में प्रसिद्धि है तथा इन्हीं के दृढ़ संस्कार हो जाने पर अहंकार आ जाता है कि मैं इस लोक का, इस देश का, इस घर परिवार का स्वामी हूँ, विधाता हूँ।

ये मेरे शत्रु हैं, ये मेरे मित्र हैं। इसको मारुँगा और इसका संरक्षण करुँगा इत्यादि। **''न मे मृत्युशंका न मे जातिभेदः, पिता नैव मे नैव माता न जन्म। न बन्धुर्न मित्रं गुरुर्नैव शिष्यः, चिदानन्दरूपः शिवोहं शिवोहम्।।''** (निर्वाणषट्कम्)।

268-एवं विधं त्वां सकलात्मनामपि, स्वात्मानमात्मात्मतया विचक्षते।

गुर्वर्कलब्धोपनिषत्सुचक्षुषा, ये ते तरन्तीव भगवानृताम्बुधिम्।।10.14.24।।

आपका यह ऐसा स्वरूप समस्त जीवों का ही अपना स्वरूप है। जो गुरु रूपी सूर्य से तत्त्वज्ञान रूप दिव्यदृष्टि प्राप्त करके उससे आपको अपने स्वरूप के रूप में साक्षात्कार कर लेते हैं। वे इस झूठे संसार सागर को मानो पार कर लेते हैं।

तात्पर्य अर्थ-

एक अद्वितीय आत्मा ही प्राणि मात्र की आत्मा है, स्वरूप है। इस भावना से उस आत्मा को, मैं को अन्तरात्मा के रूप में, आत्मज्ञानी सद्‌गुरु के द्वारा तत्त्वज्ञान रूप दिव्यदृष्टि प्राप्त करके जो मुमुक्षु अनुभव कर लेते हैं, वे संसार बन्धन रूप जन्म-मृत्यु से सदा-सर्वदा के लिये मुक्त हो जाते हैं। **''एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति।।''** (क.उ. 2.5.12), **''नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।''** (क.उ. 2.5.13)।

269-त्वात्मात्मानं परं मत्वा, परमात्मानमेव च।

आत्मा पुनर्बहिर्मृग्य अहोऽज्ञजनताज्ञता।। 10.14.27।।

हे भगवन्! इन अज्ञानियों की अज्ञता को देखो, कितने आश्चर्य की बात है कि आप हैं (सबके) अपने आत्मा, परन्तु लोग आपको पराया मानते हैं और शरीर आदि हैं पराये, किन्तु उनको अपना आत्मा मान बैठे हैं और उसके बाद आपको ही अन्यत्र ढूँढने लगते हैं। भला, अज्ञानी जीवों का यह कितना बड़ा अज्ञान है।

तात्पर्य अर्थ-

अज्ञानता की सीमा नहीं है, क्योंकि आत्मा निराकार, नीरूप और निष्क्रिय आदि होने के कारण उसका ज्ञान तो होता नहीं किसी को और जो देखने में आ रहा है, जिसमें क्रिया हो रही है और जो मन सुख-दुःखों का अनुभव कर रहा है अथवा जिसमें सुख-दुःख हो रहा है, उसको अपनी आत्मा, अपना स्वरूप मान लिया है, यही अज्ञानता की पराकाष्ठा है। गाँवों की एक कहावत है- **''काँधे लड़का गाँव गोहार''** वाली बात है यहाँ पर।

270-अन्तर्भवेऽनन्त भवन्तमेव, ह्यतत्त्यजन्तो मृगयन्ति सन्तः।

असन्तमप्यन्त्यहिमन्तरेण, सन्तं गुणं तं किमु यन्ति सन्तः।।10.14.28।।

हे अनन्त! आप तो सबके अन्तःकरण में ही विराजमान हैं, इसलिये सन्त लोग आपके अतिरिक्त जो कुछ प्रतीत हो रहा है, उसका परित्याग करते हुए अपने भीतर ही आपको ढूँढते हैं। क्योंकि यद्यपि रस्सी में सर्प नहीं है फिर भी उस प्रतीयमान साँप को मिथ्या निश्चय किये बिना भला, कोई सत्पुरुष सच्ची रस्सी को कैसे जान सकता है।

तात्पर्य अर्थ-

जो भी ज्ञानी, योगी, त्यागी आदि यशस्वी जन अन्तरात्मा, स्वस्वरूप की अनुभूति किये हैं अथवा वर्तमान में कर रहे हैं, वे सब बाह्य दृष्टिगोचर होने वाले, प्राप्त व अप्राप्त समस्त पदार्थों को परित्याग करके ही अन्तर्मुखी भाव में स्थित होकर ही अनुभव किये थे और करते हैं। अर्थात् जब तक कार्य-कारण रूप जगत् का मोह दृढ़तापूर्वक भङ्ग नहीं हो जाता, मिथ्यात्त्व की भावना नहीं बनती, तब तक अपने भीतर होते हुए भी उस चैतन्य देव को समझ पाना अत्यन्त कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव ही है। जैसे- रस्सी में सर्प का भ्रम तभी तक है, जब तक प्रकाश के द्वारा रस्सी का यथार्थ बोध नहीं हो जाता है। अर्थात् साधकों का मुख्य प्रयोजन होना चाहिये मन में बैठे भ्रान्ति को दूर करना, आत्मा को प्राप्त करना नहीं है, वह तो सदा-सर्वदा प्राप्त ही है।

271-अथापि ते देव पदाम्बुजद्वय, प्रसादलेशानुगृहीत एव हि।
जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नो, न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन्।।10.14.29।।

अपने भक्तजनों के हृदय में स्वयं स्फुरित होने वाले हे भगवन्! जो कोई आपके स्वरूप ज्ञान का और आपकी ऐसी महिमा को जान लेता है, उससे वह अपने अज्ञान से कल्पित जगत् का नाश कर लेता है। फिर भी जो पुरुष आपके युगल चरणों का तनिक भी कृपा प्रसाद प्राप्त कर लेता है, उससे अनुगृहीत हो जाता है, वही आपकी सच्चिदानन्दमयी महिमा का तत्त्व जान सकता है। दूसरा कोई भी ज्ञान, वैराग्यादि साधन के द्वारा अपने प्रयत्न से बहुत काल तक कितना भी अनुसन्धान करता है, वह आपकी महिमा का यथार्थ ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता।

तात्पर्य अर्थ-

जो साधक गुरुकृपा और शास्त्रकृपा के आश्रित होकर अपना परम लक्ष्य (आत्मतत्तव) ब्रह्मतत्व को जानना चाहता है या प्राप्त करना चाहता है, वह निजकृपा (प्रयत्नरत) होकर साधनद्वय- श्रवण, मनन, निदिध्यासन और विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति, मुमुक्षता को अपना कर अवश्य अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। केवल मात्र अपने प्रयत्न से उस तत्त्व को जान पाना असम्भव है, क्योंकि वह तत्त्व निराकार व नीरूप होने से अचिन्त्य है, मन-वाणी का विषय ही नहीं बनता। श्रुति

कहती है- **"स एष नेति नेति आत्मा"** (बृ.3.9.26), **"नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्"** (मा. 7) इत्यादि।

272-इत्थं स्वगोकुलमनन्यगतिं निरीक्ष्य, सस्त्रीकुमारमतिदुःखितमात्महेतोः।
आज्ञाय मर्त्यपदवीमनुवर्तमानः, स्थित्वा मुहूर्तमुदतिष्ठदुरङ्गबन्धात्।।10.16.23।।

273-एवं परिभ्रमहतौजसमुन्नतांसमानम्य तत्पृथुशिरःस्वधिरूढ आद्यः।
तन्मूर्धरत्ननिकरस्पर्शातिताम्रपादाम्बुजोऽखिलकलाऽदिगुरुर्ननर्त।।10.16.26।।

हे परीक्षित! यह साँप के शरीर से बँध जाना तो श्री कृष्ण की मनुष्यों जैसी एक लीला थी। जब उन्होंने देखा कि व्रज के सभी लोग स्त्री और बच्चों के साथ मेरे लिये इस प्रकार अत्यन्त दुःखी हो रहे हैं और सचमुच मेरे सिवाय इनका कोई दूसरा सहारा भी नहीं है तब वे एक मुहूर्ततक सर्प के बन्धन में रहकर उससे दूर हो गये और निकल आये। पैंतरा बदलते-बदलते उसका बल क्षीण हो गया, तब भगवान श्रीकृष्ण ने उनके बड़े-बड़े सिरों को तनिक दबा दिया और उछलकर उन पर सवार हो गये। कालिया नाग के स्पर्श से भगवान के सुकुमार तलुओं की लालिमा और भी बढ़ गयी। नृत्य-गान आदि समस्त कलाओं के आदि प्रवर्तक भगवान् श्री कृष्ण उसके सिरों पर कलापूर्ण नृत्य करने लगे।

तात्पर्य अर्थ-

सर्वव्यापक, सर्वात्मा, निराकार, नीरूप, निर्विकार, अजन्मा, निर्बन्धता आदि लक्षणों से लक्षित आत्मा का इस पाँचभौतिक शरीर में या सर्प से बँध जाना उसी प्रकार है, जैसे- घड़े और मकानादि में आकाश का बँध जाना। वास्तव में विचार करके देखा जाय तो शरीर, प्राण, मन आदि का आश्रय तो आत्मा ही है, जीवात्मा के बिना एक क्षण भी स्थिर रह पाना असम्भव है। कल्याणार्थी मुमुक्षु, साधक अपने शरीर, मन-बुद्धि आदि के बन्धन में तभी तक रहते हैं, जब तक स्वस्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं हुआ है। अथवा जब तक प्रारब्ध शेष है तब तक और स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर शरीर बन्धन में रहते हुए भी समाधि आदि काल में शरीर के बन्धन से रहितता का अनुभव करने लगते हैं। पुनः सहज (स्त्राभाविक) अवस्था में आ जाने पर यह चञ्चल मन नाना संकल्प-विकल्प के पहाड़ खड़ा कर देता है। ऐसी स्थिति में साधक नागरूप मन के अहंकार रूप फण को दबा देता है और मन को अपने वश में कर लेता है। तब उस समय साधक का पूर्व-पूर्व जन्मों का छिपे हुए योगभ्रष्ट संस्कार उदय होकर फल देने के लिये प्रवृत्त हो जाते हैं फिर तो साधक का कल्याण मार्ग प्रशस्त हो जाता है और साधक अपने अहंकार को कुचलकर परमानन्द सच्चिदानन्द का अनुभव करने लगता है।

अर्थात् निश्चिन्ततापूर्वक स्वस्वरूप में स्थित हो जाता है। इसी बात को गीता कहती है- **''न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभो''** (गी. 5.14) इसी से सिद्ध हो जाती है आत्मा की निर्बन्धता, असङ्गता।

274-यद् यच्छिरो न नमतेऽङ्ग शतैकशीर्ष्णस्तत्तन् ममर्द खरदण्डधरोऽङ्‌घ्रिपातैः।
क्षीणायुषो भ्रमत उल्बणमास्यतोऽसृङ्नस्तो वमन्परमकश्मलमाप नागः।।
10.16.28।।

हे परीक्षित! कालिया नाग के एक सौ एक सिर थे। वह अपने जिस सिर को नहीं झुकाता था, उसी को प्रचण्डदण्डधारी भगवान् अपने पैरों की चोट से कुचल डालते। इससे कालिया नाग की जीवन शक्ति क्षीण हो चली, वह मुँह और नथुनों से खून उगलने लगा। अन्त में चक्कर काटते-काटते वह बेहोस हो गया।

तात्पर्य अर्थ-

अहंकार रूप कालिया नाग के अनेक सिर थे, यानि भावव्यञ्जना थी कि मैं सुन्दर हूँ, मैं विद्वान् हूँ, मनुष्य हूँ, धनवान् हूँ, मैं गुणवान हूँ, मैं परिवारवान् हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, क्षत्रिय हूँ, मैं संन्यासी हूँ, मैं बलवान् हूँ, मैं ऐश्वर्यवान् हूँ इत्यादि। यही इस अहंकार के अनेकों सिर हैं। साधन चतुष्टय सम्पन्न साधक अहंकार के सिरों का शम, दम, तितिक्षादि साधन रूप पैरों से कुचल डालते हैं और प्रशान्त कर देते हैं ताकि फिर से सिर उठाने का उस अहंकार को अवसर ही न मिले। एक दिन ऐसी स्थिति आती है कि साधक के जीवन में अहंमम की भावना ही नष्ट हो जाती है और वह अखण्ड ज्योतिरूप आत्मा के प्रकाश (व्यापकता-सर्वात्मकता) से ओतप्रोत हो जाता है।

275-सरिद्भिः सङ्गताः सिन्धुश्चुक्षुभे श्वसनोर्मिमान्।
अपक्वयोगिनश्चित्तं कामाक्तं गुणयुग् यथा।।10.20.14।।

वर्षा ऋतु में हवा के झोंकों से समुद्र एक तो यों ही उत्ताल-तरंगों से युक्त हो रहा था, अब नदियों के संयोग से वह और भी क्षुब्ध हो उठा। ठीक वैसे ही, जैसे-वासनायुक्त योगी का चित्त विषयों के साथ सम्पर्क हो जाने पर कामनाओं के उभार से (आकांक्षाओं) से भर जाता है।

तात्पर्य अर्थ-

साधकों को अपने मन-इन्द्रियों पर विश्वास कभी नहीं करना चाहिये, क्योंकि प्रबल कर्मवासनाओं से युक्त होने के कारण ये साधक को उसके लक्ष्य से पतित कर सकते हैं। अतः प्रतिक्षण सावधान रहने की आवश्यकता है।

276-न रराजोडुपश्छन्नः स्वज्योत्सनाराजितैर्घनैः।
अहंमत्या भासितया स्वभासा पुरुषो यथा।। 10.20.19।।

277-मेघागमोत्सवा हृष्टाः प्रत्यानन्दञ्छिखण्डिनः।

गृहेषु तप्ता निर्विण्णा यथाऽच्युतजनागमे।।10.20.20।।

यद्यपि चन्द्रमा की उज्ज्वल चाँदनी से बादलों का पता चलता था, फिर भी उन बादलों ने ही चन्द्रमा को ढककर शोभाहीन बना दिया था, ठीक वैसे ही जैसे पुरुषों के आभास से आभासित होने वाला अहंकार ही उसे ढककर प्रकाशित नहीं होने देता। बादलों के शुभागमन से मोरों का रोम-रोम खिल रहा था, वे अपनी कुहुक और नृत्य के द्वारा आनन्दोत्सव मना रहे थे, ठीक वैसे ही, जैसे अपने गृहस्थी के जंजाल में फँसे हुए गृहस्थी लोग, जो अधिकतर तीनों तापों से जलते और घबराते रहते हुये भी भगवान् के भक्तों के शुभागमन से आनन्द मग्न हो जाते हैं।

तात्पर्य अर्थ-

समस्त प्राणि-पदार्थों को हम जानते हैं, देखते हैं और निरन्तर व्यवहार भी कर रहे हैं। इसी प्रकार हम अपने अन्तरात्मा को, स्वस्वरूप को क्यों नहीं जानते-देखते? इसका समाधान एकाग्रमन से श्रवण करें- चैतन्यात्मा के समीपस्थ निरन्तर चैतन्यवत् भासने वाले पाँचकोश (अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय) स्वयंप्रकाश ज्योतिस्वरूप आत्मा को आच्छादित कर रक्खा है जिस कारण मनुष्यों को अपना स्वरूप का अनुभव करना अत्यन्त कठिन सा हो गया है। जैसे- सूर्य के समीपस्थ रहने वाले जलकणों का समूह बादल बनकर सूर्य को ढक देता है।

अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव-इनके द्वारा होने वाले ताप या दुःख को तीन ताप कहा गया है शास्त्रों में, इसके अतिरिक्त भी बहुत से दुःख आते हैं जीवन में। इसको कहते हैं व्यास प्रक्रिया और इन्हीं को समास प्रक्रिया के द्वारा विचार करके कहा जाय तो एक ही ताप से काम चल सकता है वह है प्रारब्धिक ताप, अध्यात्म आदि निमित्त मात्र है। जो कुछ भी दुःख आते हैं या अनुभव करते हैं, वह सब अपने पूर्वकर्म या वर्तमान कर्मों के अनुसार फलों के रूप में भोग हो रहा है और वह भी अज्ञानता के कारण है, वह अज्ञान है, (मैं ये हूँ और ये सब मेरा है) इसी से समस्त तापों का उदय होता है तथा तापों के ताप से त्रसित जीवात्मा तब सुखी हो जाता है, जब आत्मज्ञानी, ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु के द्वारा अनादि अविद्या-अज्ञान नाशक औषधि रूप ब्रह्म विद्या, आत्मविद्या की प्राप्ति होती है, उससे **'अहं ब्रह्मास्मि'** (बृ. 1.4.10) और **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** (छा. 3.14.1) का दृढ़ता से निश्चय हो जाता है।

278-पीत्वापः पादपाः पद्भिरासन्नानात्ममूर्तयः।

प्राक्क्षामास्तपसा श्रान्ता यथा कामानुसेवया।।10.20.21।।

279-सरस्स्वशान्तरोधस्सु न्यूषुरङ्गापि सारसाः।

गृहेष्वशान्तकृत्येषु ग्राम्या इव दुराशयाः।।10.20.22।।

जो वृक्ष ज्येष्ठ आषाढ़ में सूख गये थे, वे अब अपनी जड़ों से जल पीकर पत्ते, फल-फूल तथा उँगलियों से खूब सज-धज गये, जैसे सकामभाव से तपस्या करने वाले पहले तो दुर्बल हो जाते हैं किन्तु कामना पूरी होने पर मोटे हो जाते हैं। हे परीक्षित! तालाबों के तट-काँटे, कीचड़ और जल के बहाव के कारण प्रायः अशान्त ही रहते थे, परन्तु सारस एक क्षण के लिये भी नहीं छोड़ते थे, जैसे-अशुद्धहृदयवाले विषयी पुरुष काम-क्रोध की उपद्रव से (झंझट) से छुटकारा नहीं पाते, फिर भी घरों में ही पड़े रहते हैं।

तात्पर्य अर्थ-

प्रायः कुछ ऐसे भी साधक होते हैं जो अपनी साधना या तपस्या के फल में ऋद्धि-सिद्धि (सांसारिक वस्तुओं) की प्राप्ति के लिये घोर तपस्या करते हैं जबकि ऋद्धि-सिद्धि का फल संयोग वियोग, क्षणभंगुर, विनाशशील एवं आदि-अन्त से युक्त अन्ततः परिणाम दुःखों से ओतप्रोत होता है, फिर भी उसी में सुख-शान्ति का अनुभव करते हैं। आत्यन्तिक सुख-शान्ति तो उपनिषद् विद्या के द्वारा स्वस्वरूप के ज्ञान से ही सम्भव है। अनेकों विषय-वासनाओं से ग्रसित मनुष्य एवं साधक विषयभोगों की लिप्सा से छुटकारा न पाने पर भी (विषय भोगों से उत्पन्न दुःखों से छुटकारा न मिलने पर भी) सन्मार्ग सदाचार के मार्ग का अनुसरण नहीं करते, यह खेद का विषय है।

280-सर्वस्वं जलदा हित्वा विरेजुः शुभ्रवर्चसः।

यथा त्यक्तैषणः शान्ता मुनयो मुक्तकिल्विषाः।। 10.20.35।।

बादल अपने सर्वस्व जल का दान कर देने पर आकाश उज्ज्वल कान्ति से सुशोभित होने लगे, ठीक वैसे ही, जैसे लोक-परलोक, स्त्री-पुरुष और धन-सम्पत्ति सम्बन्धी चिन्ता और उसकी कामनाओं का परित्याग कर देने पर संसार के बन्धन से छूटे हुए परम संन्यासी शोभायमान होते हैं।

तात्पर्य अर्थ-

संन्यासियों का लक्षण है-लोक-परलोक, घर-परिवार, धन-सम्पत्ति आदि की चिन्ता कामनाओं से सर्वथा मुक्त रहना और यही लक्ष्य की प्राप्ति का साधन भी है। अर्थात् त्याग, तितिक्षा और ज्ञान, वैराग्य ही कल्याण मार्ग में सर्वोपरि साधन रूप आभूषण हैं, संन्यासियों का। गीता कहती है- "**विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः। निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति।।**" (गी. 2.71)।

281-गिरयो मुमुचुस्तोयं क्वचिन्न मुमुचुः शिवम्।
यथा ज्ञानामृतं काले ज्ञानिनो ददते न वा।।10.20.36।।

अब पर्वतों से कहीं-कहीं झरने झरते थे और कहीं-कहीं वे अपने कल्याणकारी जल को नहीं भी बहाते थे, जैसे ज्ञानी पुरुष समय पर अपने अमृतमय ज्ञान का दान किसी अधिकारी को कर देते हैं और किसी-किसी को नहीं भी करते।

तात्पर्य अर्थ-

ज्ञान का अधिकार, अधिकारी को ही होता है, अनधिकारी को नहीं। क्योंकि अधिकारीजन (सुपात्र) अमृतमय ज्ञान मिलने पर उसका सदुपयोग करके इसी जीवन में अपना कल्याण कर लेंगे यानी भवबन्धन से मुक्त हो जायेंगे और अन्यों के लिये भी मार्गदर्शक सिद्ध होंगे और अनधिकारी (कुपात्र) को ज्ञान का उपदेश उसके लिये हितकर नहीं होगा, क्योंकि वह उस ज्ञान का सदुपयोग नहीं कर पायेगा, सदुपयोग न होने से उसका दुरुपयोग होगा, ज्ञान निरर्थक (व्यर्थ) हो जायेगा। जैसे- आँखविहीन मनुष्यों के लिये सूर्य का प्रकाश व्यर्थ है अथवा चट्टानों पर मूसलाधार जलवृष्टि के होने का कोई अर्थ नहीं चट्टान के लिये। अथवा ऊसर (छार) भूमि पर बीज डालना, अपना बचपना (अज्ञानता) का परिचय देना है।

282-नैवाविदन् क्षीयमाणं जलं गाधजलेचराः।
यथाऽऽयुरन्वहं क्षय्यं नरा मूढ़ाः कुटुम्बिनः।।10.20.37।।

जैसे छोटे-छोटे खड्ढों में भरे हुए जल के जलचर यह नहीं जानते कि इस खड्ढे का जल दिन-परदिन सूखता जा रहा है, वैसे-कुटुम्ब के भरण-पोषण में भूले हुए मूढ़, यह नहीं जानते कि हमारी आयु क्षण-क्षण क्षीण हो रही है।

तात्पर्य अर्थ-

आयु अर्थात् फल देने वाले कर्मों का संस्कार जिसे प्रारब्ध के नाम से जाना जाता है, वह संस्कार अपना फल देकर समाप्त हो जाता है। यथा दीपक में तेल बत्ती का आश्रय लेकर ज्योति के रूप में प्रतिक्षण समाप्त होता रहता है। एक दिन ऐसा भी आता है कि सम्पूर्ण तेल समाप्त हो जाने पर बत्ती भी जल जाती है। तद्वत् भोगायतन शरीर भी।

पदार्थों के व्यामोह से व्यामोहित (विषय भोग विलासी) मनुष्य यह नहीं जानते कि यह दुर्लभ मानव शरीर केवल भोग के लिये नहीं है, अपितु आत्मकल्याण के लिये भी है। अर्थात् मनुष्य जीवन को अज्ञानी लोगों ने पशु-पक्षी आदि के समान बना रक्खा है। विषयों के भोग करने में तो पशु-पक्षी आदि सभी प्रवीण-निपुण (चतुर) हैं।

283-शरदर्कांशुजांस्तापान् भूतानामुडुपोऽहरत्।

देहाभिमानजं बोधो मुकुन्दो व्रजयोषिताम्।।10.20.42।।

शरद् ऋतु में दिन के समय बड़ी कड़ी धूप होती है, वह लोगों को बहुत कष्ट कर होती है परन्तु चन्द्रमा रात्रि के समय लोगों के सन्ताप वैसे ही हर लेते है जैसे देहाभिमान से होने वाले दु:खों को ज्ञान से और भगवद्विरहसे होने वाले गोपियों के दु:ख को श्रीकृष्ण नष्ट कर देते हैं।

तात्पर्य अर्थ-

शारीरिक, मानसिक आदि जो कुछ भी दु:ख जीवन में अब तक आया और आ रहा है अथवा भविष्य में आयेगा वह सबके सब प्राय: अज्ञानता के कारण है, कुछ प्रारब्धिक दु:ख को छोड़कर। वैसे विचार करके देखा जाये तो प्रारब्ध भी पूर्व-पूर्व जन्मों के अज्ञानतापूर्वक कर्मों का ही अंग है। जिस दिन, जिस क्षण, दृढ़तापूर्वक स्वस्वरूप का ज्ञान हो जायेगा, उसी क्षण सम्पूर्ण दु:खों का अन्त भी हो जायेगा। **''ब्रह्म विद् ब्रह्मैव भवति''** (मुं-3.2.9) सर्वात्मभाव को प्राप्त हो जायेगा। फिर तो दु:ख देने में निमित्त कोई दूसरा पदार्थ ही नहीं बचा रहता।

इति प्रथमाध्याये पूर्वार्ध:।।

अथ प्रथमाध्याय उत्तरार्ध:

(13) जीव ब्रह्म की एकता प्रकरण-

284-मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं, सत्यं कुरुष्व निगमं तव पादमूलम्।

प्राप्तां वयं तुलसिदामपदावसृष्टं, केशैर्निवोढुमतिलंघ्य समस्तबन्धून्।।

10.23.29।।

हे अन्तर्यामी श्यामसुन्दर! आपकी यह बात निष्ठूरता से पूर्ण है। आपको ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये। श्रुतियाँ कहती हैं कि जो एक बार भगवान को प्राप्त हो जाता है, उसे फिर संसार में नहीं लौटना पड़ता है। आप अपनी इस वेदवाणी को सत्य कीजिये। हम अपने समस्त सगे-सम्बन्धियों की आज्ञा का उल्लंघन करके आपके चरणों में इसलिये आयी हैं कि आपके चरणों से गिरी हुई तुलसी की माला अपने केशों में धारण करने और अविनाशी स्वरूप में स्थिर हो जाये।

तात्पर्य अर्थ-

शास्त्रोपदेश अथवा आप्तपुरुष-आत्मज्ञानी, सद्गुरु की वाणी को, उनके आचरणों को यथावत् जीवन में अपना करके जो साधक स्वस्वरूप का अनुभव कर लेते हैं, वे फिर जन्म-मृत्यु रूप संसार बन्धन में नहीं आते। क्योंकि उसने अपने बुद्धिवृत्तियों को

आत्मा में आहुति कर दिया है। इसी प्रकार कोई भी साधक साधना में तत्पर होकर अपनी बुद्धिवृत्तियों को प्रशान्त करके भवबन्धन से छुटकारा पा सकता है। गीता जी का कहना है- **''यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम''** (गी.15.16) और श्रुति भी कहती है- **''यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।।''** (क.उ. 2.6.14), **''ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते।।''** (छा. 8.15.1)।

285-गृह्णन्ति नो न पतयः पितरौ सुता वा, न भ्रातृबन्धुसुहृदः कुत एव चान्ये।
तस्माद् भवत्प्रपदयोः पतितात्मनां नो, नान्या भवेद् गतिररिन्दम तद्वि धेहि।।
।।10.23.30।।

हे स्वामी! अब हमारे पति-पुत्र, माता-पिता, भाई-बन्धु और स्वजन-सम्बन्धी हमें स्वीकार नहीं करेंगे, फिर दूसरों की तो बात ही क्या है। हे अरिन्दम! (वीर शिरोमणि) अब हम आपके चरणों में आ पड़ी हैं। हमें और किसी का सहारा नहीं है। इसलिये अब हमें दूसरों की शरण में न जाना पड़े, ऐसी व्यवस्था कीजिये।

तात्पर्य अर्थ-

मुमुक्षु साधकों के लिये न कोई अपना है और न कोई पराया, न कोई शत्रु हैं और न कोई मित्र। उनका तो सब कुछ अन्तरात्मा-परमात्मा ही है और आत्मा के अन्तर्गत सब कोई-सब कुछ का समावेश है। **''तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधिभ्योऽन्नम्। अन्नात्पुरुषः।''** (तै.उ. 2.1.1) आत्मा-परमात्मा का जिसको अनुभूति एवं साक्षात्कार हो गया है, उनको क्षणभंगुर, विनाशशील, प्राणि पदार्थों से क्या प्रयोजन है।

286-येनेन्द्रियार्थान् ध्यायेत मृषा स्वप्नवदुत्थितः।
तन्निरुन्ध्यादिन्द्रियाणि विनिद्रः प्रत्यपद्यत।।10.47.32।।

287-एतदन्तः समाम्नायो योगः सांख्यं मनीषिणाम्।
त्यागस्तपो दमः सत्यं समुद्रान्ता इवापगाः।।10.47.33।।

मनुष्यों को समझने की आवश्यकता है कि जो स्वप्न में दिखने वाले पदार्थों के समान ही जाग्रत अवस्था में इन्द्रियों के विषय भी प्रतीत हो रहे हैं वे सब मिथ्या हैं। इसीलिये उन विषयों का चिन्तन करने वाले मन और इन्द्रियों को रोक ले ओर मानो सोकर उठा हो, इस प्रकार जगत् के स्वाप्निक विषयों को त्यागकर मेरा साक्षात्कार करे। जिस प्रकार सभी नदियाँ घूम-फिरकर समुद्र में ही पहुँच जाती हैं, उसी प्रकार

मनस्वी पुरुषों का वेदाभ्यास, योग-साधन, आत्मानात्मविवेक, त्याग, तपस्या, इन्द्रिय संयम और सत्यादि समस्त धर्म मेरी प्राप्ति में ही समाप्त होते हैं। सब का सच्चा फल है मेरा साक्षात्कार, क्योंकि वे सब वेदाभ्यासादि मन को निरुद्ध करके मेरे पास पहुँचा देते है।

तात्पर्य अर्थ-

साधकों का परम कर्तव्य यही होगा कि मन-इन्द्रियों को स्ववश करके विषयों का दृढ़ता से त्याग और आत्म-चिन्तन में तन्मयता से लग जाना। इसलिये शास्त्राध्ययन के द्वारा आत्मानात्मा का विवेक और वैराग्यादि साधनों के माध्यम से आत्मा की अनुभूति की जाती है। क्योंकि जितने भी शास्त्र या मत-पन्थ हैं उन सबका लक्ष्य आत्म साक्षात्कार में ही हैं।

288-यत्त्वहं भवतीनां वै दूरे वर्ते प्रियो दृशाम्।

मनसः सन्निकर्षार्थं मदनुध्यानकाम्यया।।10.47.34।।

289-यथा दूरचरे प्रेष्ठे मन आविश्य वर्तते।

स्त्रीणां च न तथा चेतः सन्निकृष्टेऽक्षिगोचरे।।10.47.35।।

हे गोपियों! इसमें सन्देह नहीं कि मैं तुम्हारे नयनों का ध्रुवतारा हूँ। तुम्हारा जीवन का सर्वस्व हूँ। किन्तु मैं तुमसे इतना दूर रहता हूँ, उसका कारण है। वह यही है कि तुम निरन्तर मेरा ध्यान कर सको, शरीर से दूर होने पर भी मन से तुम मेरी सन्निधि का अनुभव कर सको, अतः अपने मन को मुझ में रक्खो। क्योंकि स्त्रियों और अन्यान्य प्रेमियों का चित्त अपने परदेशी प्रियतम में जितना निश्चल भाव से लगा रहता है, उतना आँखों के सामने, पास रहने पर प्रियतम में चित्त नहीं लगता।

तात्पर्य अर्थ-

जो वस्तु जितनी दूर, जितनी सूक्ष्मतर एवं अदृश्य होती है, उतना ही उसकी प्राप्ति के लिये मन में उत्कण्ठा होती है, छटपटाहट होती है और नित्य आँखों के सामने, प्रत्यक्ष व्यवहार होते रहने से, उसी वस्तु या प्राणी परिवार से प्रियता हट (प्रियता में न्यूनता आ) जाती है। जैसे कोई खाद्य पदार्थ है, आप उसे कभी खाये नहीं हैं, सुना जरूर है कि अमुक खाद्य पदार्थ बहुत स्वादिष्ट या प्रियकर है और वह वस्तु कदाचिद् आपको मिल जाये तो उस समय आपके आनन्द का प्रमोद का कोई ठिकाना न रहेगा, लेकिन उसी खाद्य पदार्थ को आपको नित्य प्रति दिन खाना पड़े, तो आपका उस वस्तु के प्रति मोह भंग होगा, प्रियता हट गयी होगी, उत्सुकता की चिंगारियाँ शान्त हो गयी होंगी। इस कारण से आप खाना ही नहीं चाहेंगे। वस्तु वही है जिसके लिये प्राप्ति की

प्रतीक्षा थी, मन में बड़ी उत्सुकता थी कि कब मिले और कैसे मिले, मिलने का क्या उपाय है। इसी प्रकार आत्मा, परमात्मा अत्यन्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म निरवयव, निराकार, नीरूप, निर्विषय आदि होने से इन्द्रिय-अग्राह्य है। इसलिये मुमुक्षु साधकों के लिये अत्यन्त दुर्लभ हो गया है। **''योगीनामप्यगम्यः''**, यद्यपि आत्मा-स्वस्वरूप नित्य निरन्तर, प्रतिक्षण प्राप्त है, फिर भी अप्राप्त का अनुभव होता है क्योंकि हमारी बुद्धिवृत्ति बाह्य विषयों में उलझी हुई है निरन्तर चिन्तन में ही व्यस्त रहती है, अतः विषयों की ओर से निवृत्ति ही निरतिशय शान्त आत्मा की प्राप्ति है। आत्म-साक्षात्कार है। श्रुति कहती है- **''तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।।''** (ई.उ. 5) अर्थात् वह आत्मतत्त्व (सोपाधिक रूप से) चलता है और (निरुपाधिक रूप में) वह नहीं चलता है। वह अत्यन्त दूर में है (अज्ञानी के लिये) ओर वही आत्मा अत्यन्त निकट भी है (ज्ञानी के लिये) और बहुत क्या कहा जाये, इस वर्तमान सम्पूर्ण संसार के भीतर वह है और इसके बाहर भी वही आत्मा है।।ई.उ.5।। ऐसा जानकर विद्वान् आत्मा को सम्पूर्ण जगत् में और सम्पूर्ण जगत् को आत्मा में देखता हैं, वह विद्वान् किसी से घृणा नहीं करता। **''यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।।''** (क.उ. 2.6.14)

290-मय्यावेश्य मनः कृत्स्नं विमुक्ताशेषवृत्ति यत्।
अनुस्मरन्त्यो मां नित्यमचिरान्मामुपैष्यथ।।10.47.36।।

अशेष वृत्तियों से रहित सम्पूर्ण मन को मुझमें लगाकर जब तुम लोग मेरा अनुस्मरण करोगी, तब शीघ्र ही सदा के लिये मुझे प्राप्त हो जाओगी।

तात्पर्य अर्थ-

आत्मसाक्षात्कार के लिये स्वस्वरूप का नित्य-निरन्तर चिन्तन करते हुए विषयाकारमनोवृत्तियों की शून्यता की अति आवश्यकता है। आधे-अधूरे मन से आत्मा की उपलब्धि असम्भव है। लोगों की चाह है कि सांसारिक आनन्द भी मिले और ब्रह्मानन्द का भी अनुभव होता रहे। ऐसा विचार करने वालों के लिये तुलसीदास जी का कहना है- **''सेवक सुख चाहे मान भिखारी। नभ दुहि दूध चहे व्यभिचारी।''** सेवक सेवा करने वाले यदि सुख की इच्छा रक्खें तो वह सेवा क्या करेगा। इसी प्रकार भिक्षुक अभिमान करे कि दानदाता मेरे पास आकर दान करे और हाथ जोड़कर कहे, ऐसी कल्पना आकाश से दूध प्राप्त करने वाली बात है।

वृत्ति की अशेषतः का अर्थ हुआ मन के सहित बुद्धि को भी आत्मचिन्तन में लगाना तभी साधक अपनी साधना में सफल होगा, अन्यथा नहीं। जैसा कि गीता 12. 8

में भगवान् ने अर्जुन के प्रति कहा हे- "**मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।।**" (गी. 12.8)।

291-त्वयोदितोऽयं जगतो हिताय, यदा यदा वेदपथः पुराणः।
बाध्येत पाखण्डपथैरसद्भिस्तदा भवान् सत्त्वगुणं बिभर्ति।।10.48.23।।

आपने जगत् के कल्याण के लिये यह सनातन वेदमार्ग प्रकट किये हैं। जब-जब इस पथ में चलने वाले पाखण्डी दुष्टों के द्वारा क्षति पहुँचती है तब तब आप शुद्ध सत्त्वमय शरीर ग्रहण करते हैं।

तात्पर्य अर्थ-

वेद अर्थात् ज्ञान का उदय होना, वह ज्ञान मानव मात्र के हृदय में आत्मकल्याण की जिज्ञासा उत्पन्न करके उनको (जिज्ञासु को) कल्याण मार्ग में सुस्थित कर देता है और यह भी सुनिश्चित है कि जब-जब पाखण्डियों ने (नास्तिकों ने) कल्याण मार्ग को आघात (क्षति) पहुँचायी है, तब-तब उन पाखण्डियों को कुचल कर के पुनः कल्याण मार्ग की स्थापना करने के लिये कोई न कोई महापुरुष के रूप में अवश्य प्रकट हो जाया करते हैं। जैसे कि श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है- "**यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।**" (गी. 4.7)।

(14) उत्तिष्ठतजाग्रत प्रकरणम्

292-नेह चात्यन्तसंवासः कर्हिचित् केनचित् सह।
राजन् स्वेनापि देहेन किमु जायात्मजादिभिः।। 10.49.20।।

293-एकः प्रसूयते जन्तुरेक एव प्रलीयते।
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम्।।10.49.21।।

आप जानते ही हैं कि इस संसार में कभी कहीं कोई किसी के साथ सदा नहीं रह सकता, क्योंकि जिनसे जुड़े हुए हैं उनसे एक दिन बिछुड़ना पड़ेगा ही। हे राजन्! यह बात अपने शरीर के लिये भी सोलह आने सत्य है। फिर स्त्री, पुत्र, धन आदि छोड़कर जाना पड़ेगा, इनके विषय में तो कहना ही क्या है। जीव अकेले ही कर्मानुसार जन्म लेता है और अकेला ही मरकर जाता है। अपनी करनी-धरनी (शुभाशुभ) कर्मों का पाप-पुण्य फल भी अकेला ही भोगना पड़ता है।

तात्पर्य अर्थ-

मानव शरीर से इतर समस्त शरीर केवल कर्मों के फल भोग के लिये ही है। किसी प्रकार के नवीन कर्म करने के लिये नहीं है। अन्य शरीरों से मनुष्य शरीर की विशेषता यही है कि नवीन कर्म करने का भी साधन है और कर्मों के फल भोगने के

लिये भी साधन है। तथा आत्मानात्मा का यथार्थ रूप से विवेक करके अनात्म बुद्धि वृत्तियों को सर्वथा आत्मज्ञान के द्वारा विनष्ट कर देने पर भवबन्धन से मुक्त होने का भी साधन है। कुछ कर्मों को करने के लिये स्वतन्त्र है और कुछ कर्म करने में परतन्त्र भी है, जिसे कहा जाता है कि प्रारब्ध से प्रेरित होकर करना पड़ता है (न चाहते हुए भी पाप अथवा पुण्य कर्म विवश होकर करता है? जैसे- स्वयं आत्महत्या कर लेता है अथवा किसी के जीवन रक्षा में भी तत्पर होता है)। प्रकृति गुणमयी होने के कारण संयोग-वियोग प्रकृति का स्वभाव है। इसलिये किसी प्राणि-पदार्थों में मोह-ममता नहीं करनी चाहिये। यह शरीर भी अपना नहीं है, प्रकृति की देन है। प्रकृति से निर्मित है, ऐसा विचार करके इसके प्रति स्नेह प्रियता का त्याग करके आत्मचिन्तन में अहर्निश तन्मय हो जाना चाहिये।

294-अधर्मोपचितं वित्तं हरन्त्यन्येऽल्पमेधसः।
सम्भोजनीयापदेशैर्जलानीव जलौकसः।। 10.49.22।।

295-पुष्णाति यानधर्मेण स्वबुद्ध्या तमपण्डितम्।
तेऽकृतार्थं प्रहिण्वन्ति प्राणा रायः सुतादयः।। 10.49.23।।

जिन स्त्री-पुत्रों को हम अपना समझते हैं, वे तो 'हम तुम्हारे अपने हैं, हमारा पालन-पोषण करना तुम्हारा धर्म है', इस प्रकार की बात बताकर इस मूर्ख प्राणी के द्वारा अधर्म से इकट्ठे किये हुए धन को लूट ले जाते हैं। जैसे जल में रहने वाले जन्तुओं के सर्वस्व जल को उन्हीं के सम्बन्धी चाट जाती है। यह मूर्ख जीव जिन्हें अपना समझकर अधर्म करके भी पालता-पोषता है वे ही प्राण, धन और पुत्र आदि इस जीव को असन्तुष्ट छोड़कर चले जाते हैं।

तात्पर्य अर्थ-

यह जीव (मनुष्य) अज्ञानवश जिन शरीर, धन-सम्पत्ति, परिवार आदि को अपना मानकर मोह, ममता करता है, सजाने-सँवारने में ही लगा रहता है, अन्त में वे सब यहीं के यहीं रह जायेंगे, साथ में तो उस जीवात्मा के द्वारा शुभाशुभ किये हुए कर्मों के संस्कार ही वासना के रूप में जायेगा, जो भव-बन्धन का एवं सुख-दुःख के कारण हैं। जैसे स्वप्न में अपार सम्पत्ति मिलती है, स्वजन सम्बन्धी मिलते हैं और शरीर भी मिलता है किन्तु जग जाने पर क्षणभर में छूट जाते हैं, अकेला अपने आप ही रह जाता है। इसलिये श्रुति भगवती स्नेहवश जीव को जगाती हैं- **''उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।।''** कठ उप 1.3.14।। अनादि अविद्या में सोये हुए जीवों! उठो, (सम्पूर्ण अनर्थों की बीजभूत अज्ञान निद्रा से) जागो और ब्रह्मनिष्ठ आत्मज्ञानी के पास

जाकर (परमात्मतत्व को आत्मरूप से) अच्छी प्रकार जानो-समझो और अपने भवबन्धन से मुक्ति पाओ। **"न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढ़म्। अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे"** (क.उ. 1.2.7), **"श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।"** (क.उ. 1.1.26) अर्थात् धन के मोह से (अंधे हुए पुत्र पशु आदि में आसक्त) प्रमाद करने वाले मूर्ख को परलोक का साधन नहीं मिलता है। यही लोक है, परलोक नहीं है। ऐसा मानने वाला (पुरुष) बारम्बार मुझ मृत्यु के वश को प्राप्त होता रहता है। हे यमराज! ये भोग कल तक रहेंगे या नहीं, ऐसे अनित्य हैं और सम्पूर्ण इन्द्रियों के तेज को जीर्ण-शीर्ण कर देते हैं।

296-स्वयं किल्बिषमादाय तैस्त्यक्तो नार्थकोविदः।
असिद्धार्थो विशत्यन्धं स्वधर्मविमुखस्तमः।।10.49.24।।

297-तस्माल्लोकमिमं राजन् स्वप्नमायामनोरथम्।
वीक्ष्यायम्यात्मनाऽऽत्मानं समः शान्तो भव प्रभो।। 10.49.25।।

जो अपने धर्म से विमुख है, सच पूछिये तो वह अपना लौकिक स्वार्थ भी नहीं जानता, जिनके लिये वह अधर्म करता है, वे तो उसे छोड़ ही देंगे, उसे कभी सन्तोष का अनुभव भी नहीं होगा और वह अपने पापों की गठरी सिर पर लादकर स्वयं घोर नरक में जायेगा। इसलिये हे महाराज! यह बात समझ लीजिये कि यह दुनियाँ चार दिन की चाँदनी है, सपने का खिलौना है, जादू का तमाशा है और मनोराज्यमात्र है, आप अपने प्रयत्न से, अपनी शक्ति से चित्त को रोकिये, ममतावश पक्षपात न कीजिये। आप समर्थ हैं, समत्व में स्थित हो जाइये और इस संसार की ओर से उपराम-शान्त हो जाइये।

तात्पर्य अर्थ-

अपने चित्त को रोककर सर्वात्मभाव में (स्वस्वरूप) में स्थित हो जाना ही साधक की परिपूर्णता है। क्योंकि संसार के भोग्य विषयों से अनादि काल के जगत् में न कोई तृप्ति का अनुभव किये हैं और न भविष्य में तृप्ति होने वाली है और वर्तमान तो प्रत्यक्ष अतृप्ति का अनुभव कर ही रहे हैं। इसलिये विचार करो कि जब हम कामना पूर्ति की इच्छा से विषय भोग में प्रवृत्त होते हैं और विषयों का भोग करने लगते हैं, तब हमारी विषयभोग की कामना चारगुणा और वृद्धि को प्राप्त होती है, जैसे अग्नि में आहुति डालने पर पुनः प्रज्ज्वलित हो जाती है। अतः साधक शम, दम, तितिक्षादि साधनों द्वारा विषय लिप्तता और लोलुपता रूप असाध्य रोग से मुक्ति पा सकते हैं। अर्थात् विषयों का त्याग से ही परम शान्ति का अनुभव होगा और इसी से सर्वात्मभाव की प्राप्ति भी है।

इस बात को अर्जुन के प्रति गी.2.55 में कहा था- "**प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।।**" साधक का लक्षण- "**स त्वं प्रियान्प्रियरूपाँश्च कामनभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः। नैताँ सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः।।**" (क.उ. 1.2.3), "**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्**" (ई.उ.1), "**अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।**" (ई.उ.9) अर्थात् जो अविद्या (केवल अग्निहोत्रादि वैदिक और पारिवारिक, शारीरिकादि कर्मों में ही रत है। वे अज्ञानी पशु-पक्षी, कृमि-कीटादि (घोर अन्धकाररूप) योनियों को प्राप्त करते हैं। इसलिये नामरूपात्मक मिथ्या जगत का त्याग पूर्वक जीवन यापन करें, भोग की लिप्सा में न पड़ें।

298-विमोहितोऽयं जन ईश मायया, त्वदीयया त्वां न भजत्यनर्थदृक्।

सुखाय दुःखप्रभवेषु सज्जते गृहेषु योषित् पुरुषश्च वञ्चितः।।10.51.46।।

हे प्रभो! जगत् के सभी प्राणी आपकी माया से अत्यन्त मोहित हो रहे हैं। वे आपसे विमुख होकर अनर्थ में ही फंसे हैं और आपका भजन नहीं करते हैं। वे सुख के लिए घर-गृहस्थी के उन झंझटों में फँस जाते हैं जो सम्पूर्ण दुःखों के मूल स्रोत हैं। इस तरह स्त्री और पुरुष सभी ठगे जा रहे हैं।

तात्पर्य अर्थ-

मनुष्य-बुद्धिजीवी होते हुए भी प्रकृति के कार्यों से या कार्यों में 'मेरे' की भावना क्यों बना ली? अथवा क्यों बन गयी? इसका कारण है- विवेक शक्ति बुद्धि में प्रकृति से उत्पन्न तीनों गुण ही बुद्धि के शत्रु हैं। जैसा कि गीता में कहा गया है- "**प्रकृतेर्गुण संमूढ़ाः सज्जन्ते गुणकर्मसु**" (3.29) अर्थात् प्रकृतिजन्य गुणों से अत्यन्त मोहित हुए अज्ञानी मनुष्य गुणों और कर्मों में आसक्त रहते हैं। सत्त्वगुण सुख में और रजोगुण कर्म में प्रवृत्त कराके मनुष्यों पर विजय प्राप्त करते हैं परन्तु तमोगुण ज्ञान को ढककर एवं प्रमाद में आलस्य में लगा देता है। "**सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत। ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत।।**" (गी. 14.9)

299-लब्ध्वा जनो दुर्लभमत्र मानुषं कथञ्चिदव्यंगमयत्नतोऽनघ।

पादारविन्दं न भजत्यसन्मतिर्गृहान्धकूपे पतितो यथा पशुः।। 10.51.47।।

इस पापरूप संसार से सर्वथा रहित, हे प्रभो! यह भूमि अत्यन्त पवित्र कर्मभूमि है, इसमें मनुष्य का जन्म होना अत्यन्त दुर्लभ है। मनुष्य जीवन इतना पूर्ण है कि उसमें भजन के लिये कोई भी असुविधा नहीं है। अपने परम सौभाग्य और भगवान् की अहैतुकी कृपा से उसे अनायास ही प्राप्त करके भी जो अपनी मति, गति को असत्

संसार में ही लगा देते हैं और तुच्छ विषय सुख के लिये ही सारा प्रयत्न करते हुए घर-गृहस्थी के अँधेरे कूप में पड़ते रहते हैं, भगवान् के चरण कमलों की उपासना नहीं करते, भजन नहीं करते, वे तो ठीक उस पशु के समान हैं जो तुच्छ तृण के लोभ में अँधेरे कुएँ में गिर जाते हैं।

तात्पर्य अर्थ-

मानव जीवन की दुर्लभतम और महानता को सभी शास्त्रकारों ने स्वीकारा है, क्योंकि इसी शरीर को (कर्म करने का साधन होने से) कर्मभूमि कहा है। इतना ही नहीं अपितु भवबन्धन से (जन्म-मृत्यु से) भी मुक्त होने का साधन है। फिर मनुष्य अपने-अज्ञानवश विवश होकर नश्वर संसार में ही दिन-रात रत हैं, जो महादु:खों का कारण है। इसलिये दयामयि श्रुति कहती हैं-"**न सांपरायः प्रतिभाति बालं, प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्। अयं लोको नास्ति पर इति मानी, पुनः पुनर्वशमापद्यते मे।।**" (क.उ. 1.2.6), "**इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति, नो चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।।**" (के.उ. 2.5) अर्थात् धन के मोह से अन्धे हुये पुत्र-पशु आदि में आसक्त प्रमाद करने वाले मूर्ख को परलोक का साधन नहीं दिखता है। यही लोक है, परलोक नहीं है, ऐसा मानने वाला (पुरुष) बारम्बार मुझ मृत्यु के वश को प्राप्त होता रहता है। यदि इस मनुष्य जन्म में (ब्रह्म आत्मा) को जान लिया, तब तो ठीक है और यदि उसे इस मनुष्य जन्म के रहते-रहते नहीं जाना, तो बड़ी भारी क्षति (हानि) होगी। (भव बन्धन की प्राप्ति होगी)।

300-ममैष कालोऽजित निष्फलो गतो, राज्यश्रियोन्नद्धमदस्य भूपतेः।
मर्त्यात्मबुद्धेः सुतदारकोशभूष्वासज्जमानस्य दुरन्तचिन्तया।। 10.51.48।।

हे भगवन्! मैं राजा था, राज्यलक्ष्मी के मद से मैं मतवाला हो रहा था। इस मरने वाले शरीर को ही मैं आत्मा अपना स्वरूप समझ रहा था और राजकुमार, रानी, स्वजन तथा पृथ्वी के लोभ मोह में ही फँसा हुआ था। उन वस्तुओं के चिन्ता दिन-रात मेरे गले लगी रहती थी। इस प्रकार मेरे जीवन का यह अमूल्य समय बिल्कुल निष्फल (व्यर्थ) चला गया।

तात्पर्य अर्थ-

जड़ाध्यास बुद्धि ही वित्तैषणा, पुत्रैषणा और लोकैषणा आदि में निमित्त है और इन्हीं एषणाओं के कारण मनुष्य मदान्ध हो जाते हैं, पागल हो जाते हैं, उनकी विवेक, बुद्धि नष्ट हो जाती है। और इसी में अपना अमूल्य समय खो देता है (मैं और मेरा मानकर)। भगवान् के प्रियभक्त (मुचुकुन्द) को भगवद्भक्ति के प्रभाव से स्वप्नमय

जगत् मिथ्या प्रतीति का विषय बन गया है किन्तु अज्ञान निद्रा से ग्रसित मनुष्यों को तो जब तक आत्मतत्त्वज्ञानी सद्गुरु नहीं मिलेगा , तब तक यह वन्ध्यापुत्रवत् जगत् में सत्य, नित्य और आत्मीयता की प्रतीति होती रहेगी, इसमें किसी प्रकार सन्देह नहीं है।

301-कलेवरेऽस्मिन् घटकुड्यसन्निभे, निरूढ़मानो नरदेव इत्यहम्।
वृतो रथेभाश्वपदात्यनीकपैर्गां पर्यटंस्त्वागणयन् सुदुर्मदः।।10.51.49।।

302-प्रमत्तमुच्चैरितिकृत्यचिन्तया प्रवृद्धलोभं विषयेषु लालसम्।
त्वमप्रमत्तः सहसाभिपद्यसे क्षुल्लेलिहानोऽहिरिवाखुमन्तकः।।10.51.50।।

जो शरीर प्रत्यक्ष घड़े और दीवारादि के समान मिट्टी है और दृश्य होने के कारण उन्हीं के समान अपने से अलग भी है, उसी को मैंने अपना स्वरूप मान लिया था और फिर अपने को मान बैठा था (नरदेव) इस प्रकार मैंने मदान्ध होकर आपको तो कुछ समझा ही नहीं। हाथी, घोड़े, रथ और पैदल की चतुरंगी सेना तथा सेना पतियों से घिर कर मैं पृथ्वी में इधर-उधर घूमता रहा। मुझे यह करना चाहिये और यह नहीं करना चाहिये- इस प्रकार विविध कर्तव्य और अकर्तव्यों की चिन्ता में पड़कर मनुष्य शरीर को अनर्थ कार्यों में लगाकर अपने अमूल्य समय को खो दिया। इसी प्रकार संसारी मनुष्य अपने एकमात्र कर्तव्य भगवान् की प्राप्ति से विमुख होकर प्रमत्त हो जाते हैं असावधान हो जाते हैं। ससांर में बाँध रखने वाले विषयों के लिये उसकी लालसा दिन-दुगुनी, रात चौगुनी बढ़ती ही जाती है। परन्तु जैसे- भूख के कारण जीभ लपलपाता हुआ साँप असावधान चुचुन्दर आदि को दबोच लेता है- निगले तो मौत, थूक दें (छोड़ दें) तो अन्धा होने के अलावा भूख का निवारण नहीं होता, वैसे ही कालरूप से सदा-सर्वदा सावधान रहने वाले आप एकाएक उस प्रमादग्रस्त प्राणियों पर टूट पड़ते हैं और उन्हें ले बीतते हैं।

तात्पर्य अर्थ-

सुखाभिलाषी मनुष्यों को समझ लेना चाहिये कि यह देह-गेह, राज-पाट, सिंहासन पर बैठकर चक्रवर्ती राजा कहलाना, नाना प्रकार के सम्मानों से सम्मानित होना, लोगों के द्वारा, धन-सम्पत्तियों एवं परिजनों से सम्पन्न होना, उच्चतम पद की प्राप्ति तथा स्वर्गादि सुख की प्राप्ति भी सुख-शान्ति में निमित्त नहीं बन सकते बल्कि यह सब तो अशान्ति एवं मदान्धता के कारण बन सकते हैं। मदान्धता को बढ़ावा दे सकते हैं। यथा-रावण के बुद्धि को विकृत कर डाला, जो कि रावण के पतन का कारण बना। तीनों लोकों की सम्पत्ति, बाहुबल एवं बुद्धिबल सब कुछ स्वनाश और राज्य, वंश, आदि का नाशक बना। "**प्रमादो वै मृत्युः**"।

303- पुरा रथैर्हैमपरिष्कृतैश्चरन् मतंगजैर्वा नरदेवसंज्ञितः।
स एव कालेन दुरत्ययेन ते कलेवरो विट्कृमिभस्मसंज्ञितः।। 10.51.51।।

जो पहले सोने के रथों पर अथवा बड़े-बड़े गजराजों पर चढ़कर चलता था और नरदेव कहलाता था, वही शरीर आपके अनतिक्रमणीय काल का ग्रास बन कर बाहर फेंक देने पर पक्षियों की भोग बनकर विष्ठा, धरती में गाड़ देने पर सड़कर कीड़ा और आग से जला देने पर राख की ढेर बन जाता है या बन जायेगा।

तात्पर्य अर्थ-

जिस शरीर के साथ हम तादात्म्य भाव करते हैं या कर रहे हैं, वही एक दिन सड़कर, गलकर मिट्टी बन जाता है, या बन जायेगा। क्योंकि जो जल, मिट्टी आदि से बना था वह अन्त में जल, मिट्टी ही बन जायेगा। यह प्रकृति का शाश्वत नियम है। क्योंकि निर्मित कार्य कारण में ही विलीन हो जाता है। अर्थात् इस नश्वर शरीर को मैं और क्षणभंगुर प्राणी पदार्थों को मेरा मानकर कभी अहंकार नहीं करना चाहिये। यह मन विकार का मूर्तिमान् स्वरूप है। अतः इसे शीघ्र ही त्याग कर देना चाहिये क्योंकि इसके अध्यास से जीवात्मा को जन्म-मरण, बुढ़ापा आदि नाना प्रकार के दुःखों का भोग प्राप्त होता है।

304-निर्जित्य दिक्चक्रमभूतविग्रहो, वरासनस्थः समराजवन्दितः।
गृहेषु मैथुन्यसुखेषु योषितां, क्रीड़ामृगःपूरुष ईश नीयते।। 10.51.52।।

हे प्रभो! जिसने सारी दिशाओं पर विजय प्राप्त कर ली है और जिससे लड़ने वाला संसार में कोई रह नहीं गया है, जो श्रेष्ठ सिंहासन पर बैठता है और बड़े-बड़े नरपति जो पहले उसके समान थे, अब जिसके चरणों में सिर झुकाते हैं, वही पुरुष जब विषय सुख भोगने के लिये (जो घर-गृहस्थी की एक विशेष वस्तु है) स्त्रियों के पास जाता है, तब उनके हाथ का खिलौना, उनके पालतू पशु जैसा बन जाता है। बहुत से लोग विषय भोग छोड़कर पुनः राज्यादि भोग मिलने की इच्छा से ही दान, पुण्य करते हैं और 'मैं' फिर जन्म लेकर सबसे बड़ा परम-स्वतन्त्र होऊँ, ऐसी कामना रखकर तपस्या में भली-भाँति स्थित हो शुभ कर्म करते हैं। इस प्रकार जिसकी तृष्णा बढ़ी हुई है, वह कदापि सुखी नहीं हो सकते।

तात्पर्य अर्थ-

जो मनुष्य आत्यन्तिक सुख-शान्ति के अभिलाषी हैं, इच्छुक हैं, उसे संसार के विषय भोगों से उपरत होना पड़ेगा, विरक्त होना पड़ेगा। अन्तरात्ममुखी होना पड़ेगा। क्योंकि सांसारिक प्राणी पदार्थों में किंचिन्मात्र भी सुख-शान्ति नहीं है, जो प्रतीति का विषय है। लोगों के लिये है वह भी सुखाभास है, मन की कल्पना मात्र है।

305-भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेज्जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः।

सत्संगमो यर्हि तदैव सद्गतौ परावरेशे त्वयि जायते मतिः।। 10.51.54।।

अपने स्वरूप में एक रस स्थित रहने वाले हे भगवन्! जीव अनादि काल से जन्म-मृत्यु रूप संसार के चक्कर में भटक रहा है। जब उस चक्कर से छूटने का समय आता है, तब उसे सत्संग प्राप्त होता है। यह निश्चय है कि जिस क्षण सत्संग प्राप्त होता है, उसी क्षण से ही संतों के आश्रय लेकर कार्य कारण रूप जगत् के एकमात्र स्वामी, आप में उस जीव की बुद्धि अत्यन्त दृढ़ता से लग जाती है।

तात्पर्य अर्थ-

यह शाश्वत नियम है कि संयोग का वियोग, जन्म का मृत्यु आदि जो कुछ होता है वह सब पूर्व निर्धारित अनुसार ही होता है अर्थात् अपने कर्मों का फल समय आने पर ही होता है इसमें कोई संशय की बात ही नहीं है। यथा पेड़, पौधों में, फल-फूल एवं पृथ्वी में पड़े हुए गर्भस्थ बीज आदि अपने समय आने पर ही अंकुरित आदि होते हैं। फूल-फल, जन्म-मृत्यु रूप असाध्य रोग से ग्रसित जीवात्मा का जब मुक्त होने का समय आता है तब उसी समय उसके प्रारब्धानुसार (मृत्युग्रस्त जीवात्मा को) तत्त्वज्ञानियों का सत्संग रूप औषधि मिल जाती है, यथा डूबते को नाव का आश्रय मिल जाता है, फिर तो उसे सत्संग के प्रभाव से स्वस्वरूप का दृढ़तापूर्वक चिन्तन, मनन और निदिध्यासन में लग जाने से एक दिन वह समय आता है कि सदा-सर्वदा के लिये भव-बन्धन से मुक्त हो जाता है। "**भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।।**" (मुं. उ. 2.2.3)।

306-अप्यवध्यायथास्मान् स्विदकृतज्ञाविशंकया।

नूनं भूतानि भगवान् युनक्ति वियुनक्ति च।। 10.82.43।।

307-वायुर्यथा घनानीकं तृणं तूलं रजांसि च।

संयोज्याक्षिपते भूयस्तथा भूतानि भूतकृत्।। 10.82.44।।

मेरी प्यारी गोपियों! कहीं तुम लोगों के मन में यह आशंका तो नहीं हो गयी है कि 'मैं' अकृतज्ञ हूँ और ऐसा समझकर तुम लोग मुझे बुरा तो नहीं मानने लगी हों? निस्संदेह भगवान् ही प्राणियों के संयोग-वियोग के कारण हैं। जैसे वायु, बादलों, तिनको, रुई और धूल के कणों को एक-दूसरे से मिला देती है, और फिर स्वच्छन्द रूप से उन्हें अलग-अलग कर देती है, वैसे ही समस्त पदार्थों के निर्माता भगवान् भी सब का संयोग-वियोग अपने इच्छानुसार करते रहते हैं।

तात्पर्य अर्थ-

इस मानव जीवन की सफलता-पूर्णता में है, सन्तुष्टि में है, आत्मानन्द में है, अकेले में है। वर्तमान जीव के रहते-रहते स्वस्वरूप का साक्षात्कार कर लेना चाहिये। वैसे तो बड़े से बड़े इन्द्र, ब्रह्मादि देवताओं को भी यह आत्म साक्षात्कार कर पाना अत्यन्त दुस्तर है क्योंकि वह पद उनको कर्मों का फल भोग के लिये ही प्राप्त हुआ है, न कि मोक्ष के लिये। मोक्ष प्राप्ति का साधन तो केवल मात्र मनुष्य योनि (शरीर) की प्राप्ति है। फिर भी असावधान मनुष्य प्रमादवश विषय-भोगों में ही लिप्त रहा करते हैं। भगवान् भाष्यकार का कहना है- **''दोषेण तीव्रो विषयः कृष्णसर्पविषादपि। विषं निहन्ति भोक्तारं द्रष्टारं चक्षुषाप्ययम्।।''** (वि.चू.79), **''मोक्षस्य काङ्क्षा यदि वै तवास्ति त्यजातिदूराद्विषयान् विषं यथा। पीयूषवत्तोषदयाक्षमार्जवप्रशान्तिदान्तीर्भज नित्यमादरात्।।''** (वि.चू. 84) अर्थात् दोष में विषय काले सर्प के विष से भी अधिक तीव्र है क्योंकि विष तो खाने वाले को ही मारता है किन्तु विषय तो देखने, सुनने वाले को भी नहीं छोड़ते। जिसे मोक्ष की इच्छा हो तो उन्हें विषयों को विष के समान दूर से ही त्याग देना होगा और सन्तोष, दया, क्षमा, सरलता, शम और दम का अमृत के समान नित्य आदरपूर्वक सेवन करें।

308-किं स्वल्पतपसां नृणामर्चायां देवचक्षुषाम्।
दर्शनस्पर्शनप्रश्नप्रह्वपादार्चनादिकम्।। 10.84.10।।

309-न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः।।10.84.11।।

जिन्होंने बहुत थोड़ी तपस्या की है, जो लोग अपने इष्टदेव को समस्त प्राणियों के हृदय में दर्शन न करके केवल मूर्ति विशेष में ही दर्शन करते हैं, उन्हें आप लोगों के दर्शन, स्पर्श, कुशल प्रश्न, प्रणाम और पादपूजन आदि का सुअवसर भला कब और कैसे मिल सकता है। केवल मिट्टी या पत्थर प्रतिमादि ही देवता नहीं होते और जलमय तीर्थ ही तीर्थ नहीं कहलाते, अर्थात् सन्त पुरुष ही वास्तव में तीर्थ और देवता हैं क्योंकि उनका (देवता, तीर्थ आदि का) बहुत समय तक उपासना, अनुष्ठान आदि किया जाये तब पवित्र करते हैं, परन्तु सन्त पुरुष के तो दर्शन मात्र से ही कृतार्थ हो जाते हैं।

तात्पर्य अर्थ-

सन्तों का विशेषण है या विशेषता है-जिनका मन के सहित वासनाएँ शान्त हो गयी हैं अथवा वृत्तियों सहित मन का अन्त हो गया हो। वे तो आत्म स्वरूप में प्रतिष्ठित सन्त-महात्मा हैं। किन्तु जिन सामान्य लोगों की स्थिति ऐसी नहीं है वे मिट्टी, पत्थर या

धातु आदि से निर्मित मूर्ति (प्रतिमा) के बिना नीरूप, निराकार ब्रह्मात्मा की उपासना या पूजन करना चाहते हैं, फल-फूल समर्पित करना है, धूप-बत्ती एवं आरती आदि करनी हो तो कहाँ और कैसे करें ? ऐसी स्थिति में साधकों, भक्तों की भावना पूरी होना असम्भव है इस असम्भव को सम्भव करने के लिये प्रतीक रूप में प्रतिमा का आविष्कार किया गया है, अभिव्यक्त किया गया है, ताकि श्रद्धालु अपनी श्रद्धा समर्पित कर सकें। अथवा अज्ञानियों को समझाने के लिये नाम-रूपादि की शास्त्रों में महर्षियों ने पूर्वाचार्यों ने कल्पना की है। न कि नाम रूप को सत्यापित करने के लिये। वैसे मूर्ति पूजन से अधिक श्रेष्ठ पूजन है, परमात्मा स्वरूप सन्त-महात्माओं का पूजन क्योंकि भगवद्गीता में कहा गया है- **''ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्''** क्योंकि **''आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्''** (गी. 7.18) भावार्थ- ज्ञानी तो मेरा स्वरूप ही है, ऐसा मेरा मत है। कारण की मुझ आत्मा को वह अभिन्न रूप से देखता है और जिससे श्रेष्ठ दूसरी कोई गति नहीं है, ऐसा दृढ़ निश्चय है। **''एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च।''** (क.उ. 2.5.10)।

310-नाग्निर्न सूर्यो न च चन्द्रतारका, न भूर्जलं खं श्वसनोऽथ वाङ्मनः।
उपासिता भेदकृतो हरन्त्यघं, विपश्चितो घ्नन्ति मुहूर्तसेवया।। 10.84.12।।

311-यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके, स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचिज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः।। 10.84.13।।

अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, तारे, पृथ्वी, जल, आकाश, वायु, वाणी और मन के अधिष्ठातृ देवता, इनके उपासना करने पर पाप का पूरा नाश वे नहीं कर सकते, क्योंकि उनकी उपासना से भेद बुद्धि का नाश नहीं होता, वह और भी बढ़ जाती है। परन्तु यदि घड़ी दो घड़ी भी ज्ञानी महापुरुषों की सेवा की जाये तो उससे सारे पाप, ताप मिट जाते हैं क्योंकि वे भेद बुद्धि के विनाशक हैं। जो मनुष्य वात, पित्त और कफ, इन तीनों धातुओं से बने हुए शवतुल्य शरीर को ही मैं यानि आत्मा तथा स्त्री आदि को ही अपना मानता है और मिट्टी, पत्थर, काष्ठ आदि पार्थिव मूर्तियों (विकारों) को ही इष्टदेव मानता है तथा जो केवल जल को ही तीर्थ समझता है किन्तु ज्ञानी महापुरुषों में आत्मबुद्धि नहीं करता है वह मनुष्य होने पर भी पशुओं में नीच गधा के समान ही है।

तात्पर्य अर्थ-

भेद बुद्धि का कारण है- गुणत्रय (सत्त्व, रजस् और तमस्) इन तीनों गुणों के अनुसार मनुष्य कर्म करता है और कर्मों के अनुसार वासना (संस्कार) बनती है तथा उसी संस्कार के अनुसार बुद्धि में भेद आ जाता है। बुद्धि के भेद से 'मैं' 'मेरा' की

भावना उत्पन्न होती है और जहाँ मैं, मेरा की भावना होगी, वहाँ राग-द्वेष होना स्वभाविक है। इसी का नाम है कलह (लड़ाई-झगड़ा)। यदि आप कलह के (क्लेश) कष्ट से (कष्ट पंचविध-अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश) मुक्त होना चाहते हैं तो क्लेशों से रहित आत्मतत्त्व के ज्ञानी-महात्माओं की शरणापन्न होकर निष्कपट-भाव से सेवा-सुश्रुषा में तत्पर हो जाएँ। फिर तो उनकी अमृतमय कृपादृष्टि की वर्षा से सम्पूर्ण पाप-तापों का अन्त हो जायेगा। सदा-सर्वदा के लिये नष्ट हो जायेंगे। क्योंकि सभी देवताओं और तीर्थों का फल उनकी सेवा से प्राप्त हो जाता है। **''मुदमंगलमय सन्त समाजू। जो जग जंगम तीरथ राजू''।।** (रा.मा.) अन्यथा **''मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति''** (भर्तृहरिः), **''समानमेतत्पशुभिर्नराणाम्''** (हितोपदेशः) इन उक्तियों के अनुसार वे मनुष्यरूप में पशु ही हैं।

312-नमो वः सर्वदेवेभ्य ऋषयः श्रोतुमर्हथ।

कर्मणा कर्मनिर्हारो यथा स्यान्नस्तदुच्यताम्।। 10.84.29।।

हे ऋषियों! आप लोग सर्वदेव स्वरूप हैं। मैं आप लोगों को नमस्कार करता हूँ। आप लोग कृपा करके मेरी एक प्रार्थना सुन लीजिये। वह यह है कि जिन कर्मों के अनुष्ठान से कर्मों और कर्म वासनाओं का आत्यन्तिक नाश और मोक्ष हो जाये आप मुझे उनका उपदेश कीजिये।

तात्पर्य अर्थ-

आत्मज्ञानियों से प्रश्न करना चाहिये अपने कल्याण के लिये, अनावश्यक तर्क-वितर्क के लिये नहीं। आत्मकल्याण ही मनुष्यों के लिये सर्वोपरि कर्तव्य है। भोग और भोग संग्रह तथा सन्तति आदि की विपुलता तो प्राणि मात्र में देखी जाती है। फिर इतने मात्र से मनुष्य में मनुष्यत्व कहाँ रह जाता है। **''इतः को न्वस्ति मूढ़ात्मा यस्तु स्वार्थे प्रमाद्यति। दुर्लभं मानुषं देहं प्राप्य तत्रापि पौरुषम्''।।** (वि.चु. 5)।

313-सन्निकर्षो ही मर्त्यानामनादरणकारणम्।

गांगं हित्वा यथान्याम्भस्तत्रत्यो याति शुद्धये।। 10.84.31।।

संसार में बहुत पास रहना मनुष्यों में उसके प्रति अनादर भाव उत्पन्न होने का कारण हुआ करता है। जैसे- गंगा तट पर रहने वाला पुरुष गंगाजल को छोड़कर अपनी शुद्धि के लिये दूसरे तीर्थ में जाता है।

तात्पर्य अर्थ-

मुमुक्षु साधक अपना हित चाहता हो तो संसार एवं संसार के विषय पदार्थों से अत्यन्त घनिष्टता का, तादात्म्यता का व्यवहार न रक्खें। अर्थात् कम से कम व्यवहार

रक्खें। क्योंकि वे अपने कल्याण मार्ग में बाधक है साधक नहीं। अथवा जो वस्तु दूर होने पर मन में प्रियता होती है, वह समीप हो जाने पर नहीं रह जाती। ठीक उसी प्रकार मन इन्द्रियों का विषय उनसे दूर होने के कारण उसकी प्राप्ति की ललक (आकांक्षा) सदैव बनी रहती है। किन्तु आत्मा अत्यन्त समीप होने पर भी उसे जानने की जिज्ञासा नहीं होती क्योंकि इन्द्रिय अग्राह्य होने से उसे जाना भी नहीं जा सकता। उस आत्मा को जानने का अभिप्राय है, जो कुछ भी जानने योग्य दृश्य पदार्थ हैं उसे जानना बन्द कर दो, जानने की भावना, जिज्ञासा को रोक दो अथवा **'नेह नानास्ति किंचन'** (बृ. 4.4.19) के अनुसार दृश्य मात्र के प्रति मिथ्यात्व की भावना बना लो, फिर तो आत्मा ही शेष रह जायेगी। यथा इन्धन की समाप्ति होने पर अग्नि अपने ही वास्तविक स्वरूप में स्थित होती है और यही जानना है। **''तद्दूरे तद्वन्तिके, तदन्तरस्य सर्वस्य।''** (ई.उ. 5)।

314-अथोचुर्मुनयो राजन्नाभाष्यानकदुन्दुभिम्।
सर्वेषां श‍ृण्वतां राज्ञां तथैवाच्युतरामयोः।।10.84.34।।

315-कर्मणा कर्मनिर्हार एष साधु निरूपितः।
यच्छ्रद्धया यजेद्विष्णुं सर्वयज्ञेश्वरं मखैः।। 10.84.35।

हे परीक्षित! इसके बाद ऋषियों ने भगवान् श्री कृष्ण, बलराम जी और अन्यान्य राजाओं के सामने ही वसुदेव जी को सम्बोधित करके कहा- कर्मों के द्वारा कर्मवासनाओं और कर्मफलों का आत्यन्तिक नाश करने का सबसे अच्छा उपाय यह है कि यज्ञ आदि के द्वारा समस्त यज्ञों के अधिपति भगवान् विष्णु की श्रद्धापूर्वक आराधना करें। और निष्कामभाव से उन्हीं चरणों में समर्पित करें।

तात्पर्य अर्थ-

श्रवण, मनन आदि अन्तरंग साधन और विवेक, वैराग्य आदि बहिरंग साधन इन द्वय के अभ्यास द्वारा परिपक्वता को प्राप्त किया हुआ साधक, आत्मसाक्षात्कार, आत्म-अनुभूति एवं वृत्तिशून्यता में स्थित होकर ही, कर्मवासनाओं और कर्मफलों के आत्यन्तिक निवृत्ति (नाश) करने में समर्थ हो सकता है, अन्य नहीं।

कर्म वासना त्रिविध है- लोकवासना, शास्त्र वासना और देहवासना इन तीनों वासनाओं के कारण ही जीव को यथार्थ ज्ञान नहीं होता। अतः **''नाहं जीवः परं ब्रह्मेत्यसद्व्यावृत्तिपूर्वकम्। वासनावेगतः प्राप्तस्वाध्यासापनयं कुरु।।''** (वि.चू. 281) अर्थात् मैं जीव नहीं हूँ, पर ब्रह्म हूँ, इस प्रकार अपने में जीव भाव का निषेध करते हुए वासनात्रय के वेगसे प्राप्त हुए जीवत्व के अध्यास का त्याग कर देना चाहिए, तभी संसार बन्धन से मुक्त समझो।

316-अयं स्वस्त्ययनः पन्था द्विजातेर्गृहमेधिनः।

यच्छ्रद्धयाऽऽप्तवित्तेन शुल्केनेज्येत पूरुषः।। 10.84.37।।

317-वित्तैषणां यज्ञदानैर्गृहैर्दारसुतैषणाम्।

आत्मलोकैषणां देव कालेन विसृजेद् बुधः।

ग्रामे त्यक्तैषणाः सर्वे, ययुर्धीरास्तपोवनम्।। 10.84.38।।

अपने न्यायार्जित धन से श्रद्धापूर्वक पुरुषोत्तम भगवान की अराधना करना ही द्विजाति-ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य गृहस्थों के लिये परम कल्याण का मार्ग है। हे विचारवान् पुरुषों को चाहिए कि यज्ञ, दान आदि के द्वारा धन की इच्छा को तथा गृहस्थोचित भोगों द्वारा स्त्री-पुत्र आदि की इच्छा को त्याग करें जिससे कालक्रम से स्वर्गादि भोग की इच्छा भी नष्ट हो जाते है- इस विचार के द्वारा एषणाओं को त्याग दें। इस प्रकार धीर पुरुष घर में रहते हुए ही तीनों प्रकार की एषणाओं का परित्याग करके तपोवन का रास्ता लिया करते थे।

तात्पर्य अर्थः-

किसी काल में हमारे पूर्वजों ने यज्ञ, दानादि करके धन की इच्छा (वित्तैषणा) को सार्थक बनाकर और शास्त्रानुसार दाम्पत्य जीवन व्यवहार करते हुए पुत्रैषणा को प्राप्त कर तथा इन दोनों एषणाओं पर नियन्त्रण करके गहनविचार में तत्पर हो जाते थे। विचारों का निष्कर्ष अन्त में यही करते कि लोक-लोकान्तर की कामना करना भी अन्ततोगत्त्वा व्यर्थ ही है, क्योंकि "**क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति**" (गी. 9.21) अर्थात् स्वर्गादि लोकों के सुख का एक दिन अन्त ही होना है। ऐसा विचार कर लोक-लोकान्तरों की कामनाओं को भी त्याग करके सबसे उपरति हो जाते और भगवत् भजन में (आत्मकल्याण मार्ग में) प्रवृत्त हो जाते, यही हमारे पूर्वजों की परम्परा रही। आज वर्तमान का विचार, व्यवहार, परम्परा बिल्कुल विपरीत हो गयी है। न वित्तेषणा पर नियन्त्रण है और न पुत्रैषणा पर फिर ऐसी स्थिति में लोकैषणा की चर्चा करना ही व्यर्थ है। क्योंकि लोकैषणा से मानव मात्र प्रभावित हैं, उनमें भी गृहत्यागी (साधु-संन्यासी) धर्मगुरु भी इतनी निंदनीय वृत्ति से प्रभावित हैं, जिसे स्पष्ट करके कहना भी शर्म की बात है, अत्यन्त खेद की बात है।

318-ऋणैस्त्रिभिर्द्विजो जातो देवर्षिपितृणां प्रभो।

यज्ञाध्ययनपुत्रैस्तान्यनिस्तीर्य त्यजन् पतेत्।।10.84.39।।

हे समर्थ वसुदेव जी! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीनों देवता, ऋषि और पितरों

का ऋण लेकर ही पैदा होते हैं। इनके ऋणों से छुटकारा मिलता है यज्ञ, अध्ययन और सन्तानोत्पत्ति से। इनसे उर्ऋण हुए बिना ही जो संसार का त्याग करता है उसका पतन हो जाता है।

तात्पर्य अर्थ-

ऋण (कर्ज) तीन प्रकार के हैं-देवताओं का कर्ज, ऋषियों (आचार्यों) का कर्ज और पितरों का कर्ज। इन ऋणों का बोझ मनुष्यों के सिर पर क्यों लादा गया है शास्त्र के द्वारा ? यहाँ पर तीन वर्णों का उल्लेख किया गया है। चतुर्थ वर्ण का विचार क्यों नहीं किया गया है। जबकि गीता में भगवान् वासुदेव का कहना है कि **''चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।।''** (4.13) गुणों में विषमता होने के कारण स्वभाव में विषमता आ जाती है और स्वभाव के विषमता के कारण कर्मों में विषमता आ जाती है। इसलिये इन्हीं गुण-कर्मों के अनुसार चारों वर्णों का विभाग हुआ है। (सत्त्वप्रधान होने से ब्राह्मण, रजःप्रधान होने से क्षत्रिय, तम से युक्त रजःप्रधान होने से वैश्य और रज से युक्त तमःप्रधान होने से शूद्र हो जाता है। अर्थात् जिन मनुष्यों में गुणों के अनुसार कर्म देखा जायेगा, उन्हें उसी वर्ण का समझा जायेगा।

अब विचारणीय विषय यह है कि मनुष्यों पर ऋणों का बोझ कैसे व कितने। (क) देवऋण- देवताओं का कर्ज मनुष्य पर इसलिये है कि देवताओं के कृपा प्रसाद से इन्द्रियों का व्यवहार और खाद्य पदार्थों की सुलभता है अर्थात् मनुष्यों का समस्त व्यवहार देवकृपा से होता है। इस कारण मनुष्य उनके कर्जदार हैं। (ख) ऋषि कर्ज- मनुष्यों पर इसलिये है कि ऋषियों (आचार्यों) ने परम्परा से वेद-शास्त्रादि का अध्ययन करते कराते हैं, जिससे मनुष्य को साध्य-साधन का ज्ञान प्राप्त होता है। मनुष्य को इस कारण से उनका कर्जदार होना पड़ता है। (ग) पितृ कर्ज- मनुष्यों पर इसलिये बोझ आ जाता है कि माता-पिता की परम्परानुसार जन्म प्राप्ति अनादिसिद्ध है। इस कारण से उनका कर्जदार है मनुष्य। ये तीनों कारण चतुर्थ वर्ण शूद्रों पर भी लागू होना चाहिये। केवल मात्र ऋषि ऋण को छोड़कर, क्योंकि तब (वैदिक काल में) अशिक्षित होते थे और आज भी तमःप्रधान व्यक्ति शिक्षा ग्रहण करने में असमर्थ है। किन्तु सकल इन्द्रिय व्यवहार और खाद्य पदार्थों का उपभोक्ता होने से देव ऋण का और जन्म परम्परा से युक्त होने से पितृ ऋण का बोझ उन पर भी होना चाहिये। किन्तु ऐसा शास्त्रकारों ने उचित नहीं समझा क्योंकि जन्म से मरण पर्यन्त जीवन निर्वाह के लिये भोग्य पदार्थ प्राणि मात्र को चाहिए लेकिन क्या इतने मात्र से समस्त प्राणियों को ऋण चुकाना अनिवार्य है। तो कहना पड़ेगा कि नहीं। क्योंकि सत्त्व प्रधान और रजःप्रधान मनुष्य ही शास्त्राध्ययन के अधिकारी है, इतर मनुष्य नहीं।

319-गुणप्रवाह एतस्मिन्नबुधास्त्वखिलात्मनः।

गतिं सूक्ष्मामबोधेन संसरन्तीह कर्मभिः।। 10.85.15।।

यह जगत् सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणों का प्रवाह है, देह, इन्द्रिय अन्तःकरण, सुख-दुःख और राग-द्वेष लोभादि उन्हीं के कार्य हैं। इनमें जो अज्ञानी तुम्हारे सर्वात्मा के सूक्ष्म स्वरूप को नहीं जानते, वे अपने देहाभिमान रूप अज्ञान के कारण ही कर्मों के फन्दे में फँसकर बार-बार जन्म-मृत्यु के चक्कर में भटकते रहते हैं।

तात्पर्य अर्थ-

''**तद्धैषां विजज्ञौ तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव तन्न व्यजानत किमिदं यक्षमिति।** (के.उ. 3.3), ''**न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो।**'' (के. उ.1.3), ''**देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः।।** (क.उ.1. 1-21) अर्थात् उस सर्वात्म ब्रह्म में न चक्षु आदि बाह्येन्द्रियों की पहुँच है और न अन्तः इन्द्रियों की पहुँच है, (मनादि की)। क्योंकि इस विषय में पूर्व (सृष्टि के आदि) में देवताओं को भी सन्देह हुआ था कि यह यक्ष कौन है, ऐसा। सम्पूर्ण चराचर जगत् प्रकृति का स्वभाव रूप गुणों की अटूट श्रृंखला है और इस श्रृंखला की तरंग ही उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश के रूप में हमें दिख रही है। देहेन्द्रियाँ, मन-बुद्धि, सुख-दुःख, राग-द्वेषादि मनोविकार उन्हीं गुणों के कार्य हैं। इन गुणों के कार्यो को अज्ञानीजन अपने में आरोपित कर लेते हैं कि मैं मनुष्य हूँ, मैं जन्मा हूँ, मैं मर जाऊँगा, मैं खुश हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं देखता हूँ, सुनता हूँ, चलता हूँ इत्यादि। इन्हीं कारणों से उस सूक्ष्मातिसूक्ष्मतम आत्मा को जानने में, समझ पाने में सदैव असमर्थ रहता है। फलतः जन्म-मृत्यु को पुनः पुनः प्राप्त होता रहता है।

320-यदृच्छया नृतां प्राप्य सुकल्पामिह दुर्लभाम्।

स्वार्थे प्रमत्तस्य वयो गतं त्वन्माययेश्वर।।10.85.16।।

321-असावहं ममैवैते देहे चास्यान्वयादिषु।

स्नेहपाशैर्निबध्नाति भवान् सर्वमिदं जगत्।। 10.85.17।।

हे परमेश्वर! मुझे शुभ प्रारब्धानुसार इन्द्रियादि की सामर्थ्य से युक्त अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य शरीर प्राप्त हुआ है किन्तु तुम्हारी माया के वश होकर मैं अपने सच्चे स्वार्थ परमार्थ से ही असावधान हो गया और मेरी सारी आयु यों ही बीत गयी। हे प्रभो! यह शरीर मैं हूँ और इस शरीर के सम्बन्धी मेरे अपने हैं। इस अहन्ता एवं ममता रूप स्नेह की फाँसी से तुमने इस सारे जगत को बाँध रखा है।

तात्पर्य अर्थ-

यह जीवात्मा (सूक्ष्म शरीर) ज्ञान शक्ति से परिपूर्ण होने पर भी क्षणभंगुर अशाश्वत और असत्य जगत् के जाल में क्यों फँस जाता है? क्योंकि प्रकृति भोग्य होते हुए मोहिनी स्वरूपिणी भी है। साथ ही स्नेहशक्ति वाली है और रसास्वादिनी आदि गुणमयी होने के कारण अपनी माया जाल में जीवात्मा को मोहित कर लेती है, फँसा लेती है। यथा चंचल बंदर चने के लोभ में पकड़े जाते हैं, भौरा कोमल फूलों में बंद हो जाता है। ''**शब्दादिभिः पञ्चभिरेव पञ्च, पञ्चत्वमापुः स्वगुणेन बद्धाः। कुरङ्गमातङ्गपतङ्गमीनभृङ्गा नरः पञ्चभिरञ्चितः किम्।।**'' (वि.चू.78)।

322-शृण्वतां गदतां शश्वदर्चतां त्वाभिवन्दताम्।
नृणां संवदतामन्तर्हृदि भास्यमलात्मनाम्।। 10.86.46।।

जो लोग सर्वदा आपसी लीला-कथा का श्रवण, कीर्तन तथा आपकी प्रतिमाओं का अर्चना, वंदन करते हैं और आपस में आपकी ही चर्चा करते हैं, उनका हृदय शुद्ध हो जाता है और आप उसमें प्रकाशित हो जाते हैं।

तात्पर्य अर्थ-

जो जिज्ञासु नित्य, निरन्तर सत्संग, सद्ग्रन्थ और साधना परायण हं तथा आत्मविषयक वार्तालाप में ही अपना अमूल्य समय का सदुपयोग करते हैं, उन्हें धीरे-धीरे आत्मा-अनात्मा का ज्ञान हो जाता है और अनात्म पदार्थ को दुःखमय एवं जन्म-मृत्यु का कारण समझकर उसकी उपेक्षा करके स्वस्वरूप में अपने मनोवृत्ति को स्थिर कर देते हैं अथवा शुद्ध स्वरूप आत्मा की अनुभूति हो जाने पर जीवभाव देहाध्यास रूप अज्ञानता का अस्तित्व समाप्त हो जाता है और अहम् ब्रह्मास्मि की दृढ़ता हो जाती है। ''**भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।।**'' (मु.उ.2.2.8) कार्य-कारण से रहित स्वरूप को जान लेने पर बुद्धिगत अनादि अध्यास की ग्रन्थि का भेदन और कर्मों का नाश के सहित किसी प्रकार के संशय भी नहीं रह जाते।

323-देवाः क्षेत्राणि तीर्थानि दर्शनस्पर्शनार्चनैः।
शनैः पुनन्ति कालेन तदप्यर्हत्तमेक्षया।। 10.86.52।।

हे स्वयं प्रकाश स्वरूप प्रभु! हम आपके सेवक हैं। हमें आज्ञा दीजिए की हम आपकी क्या सेवा करें? नेत्रों के द्वारा आपका दर्शन न होने तक ही जीवों के क्लेश रहते हैं। आपके दर्शन में ही समस्त क्लेशों की परिसमाप्ति है। देवता, पुण्य क्षेत्र और तीर्थादि तो दर्शन, स्पर्शन, अर्चन आदि के द्वारा धीरे-धीरे बहुत दिनों में पवित्र करते हैं किन्तु भगवत्स्वरूप आत्मज्ञानी पुरुषों की दृष्टि मात्र से ही सब कुछ पवित्र हो जाता है। यही नहीं देवता आदि में जो पवित्र करने की शक्ति है वह भी उन्हें सन्तों की कृपादृष्टि से ही प्राप्त हुई है।

तात्पर्य अर्थ-

आत्मा स्वतः मंगलमय प्रकाश स्वरूप है। इनकी ही मंगलमयता से सम्पूर्ण चराचर जगत् मंगलमय भासित हो रहा है और प्रिय, मोद, प्रमोद की कल्पना करता है। मन से ऐसे ज्योतिर्मय ज्ञान स्वरूप आत्मा का जब तक साक्षात्कार नहीं हुआ है तभी तक जीवों को दुःख, शोक, मोह आदि क्लेशों का, संयोग-वियोग का जन्म-मृत्यु का अनुभव होता रहेगा। अर्थात् स्वस्वरूप के साक्षात्कार में ही समस्त क्लेशों का अन्त है, समाप्ति है। ऐसी स्थिति को चाहने वाले जिज्ञासु, साधक, ब्रह्मनिष्ठ आत्मज्ञानी की शरण में जायें। "**उक्तसाधनसम्पन्नस्तत्त्वजिज्ञासुरात्मनः। उपसीदेद् गुरुं प्राज्ञं यस्माद् बन्ध-विमोक्षणम्।।**" (वि.चू. 33)।

324-सैषा ह्युपनिषद् ब्राह्मी पूर्वेषां पूर्वजैर्धृता।
श्रद्धया धारयेद् यस्तां क्षेमं गच्छेदकिञ्चनः।। 10.87.3।।

ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाली उपनिषद् द्वारा प्रतिपादित आत्मा का यही स्वरूप है। इसे पूर्वजों के भी पूर्वज सनकादिक ऋषियों ने आत्मनिश्चय के द्वारा धारण किया है। जो भी मनुष्य इसे श्रद्धापूर्वक धारण करता है वह बन्धनों के कारण समस्त उपाधियों, अनात्मभागों से मुक्त होकर अपने परम कल्याणरूप परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।

तात्पर्य अर्थ-

साधक, जिज्ञासु अपने लक्ष्य की प्राप्ति तभी कर सकते हैं जब श्रुतियों के उपदेशानुसार अपने जीवन को बना लें। श्रुति उपदेश को आत्मसात् कर लें। आचार्यों के माध्यम से श्रुति यानी वेद-वेदान्तों का, उपनिषदों का अध्ययन तो कर लेते हैं किन्तु जीवन में अपना नहीं पाते। बल्कि उस विद्या के द्वारा पर उपदेश में लग जाते हैं अथवा उस विद्या को पर उपदेश का साधन मात्र मान लेते हैं। फलतः स्वयं के लिए इस विद्या का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। "**विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँ सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।।**" (ई.उ. 11), "**विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः। निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति।।**" (गी. 2.71)।

(15) ज्ञानाज्ञानसमीक्षा प्रकरणम्

325-स्वायम्भुवब्रह्मसत्रं जनलोकेऽभवत् पुरा।
तत्रस्थानां मानसानां मुनीनामूर्ध्वरेतसाम्।।10.87.9।।

326-श्वेतद्वीपं गतवति त्वयि द्रष्टुं तदीश्वरम्।
ब्रह्मवादः सुसंवृत्तः श्रुतयो यत्र शेरते।
तत्र हायमभूत् प्रश्नस्त्वं मां यमनुपृच्छसि।।10.87.10।।

हे नारद जी! प्राचीन काल की बात है एक बार जनलोक में वहाँ रहने वाले ब्रह्मा के मानस पुत्र नैष्ठिक ब्रह्मचारी सनक, सनन्दन, सनातन आदि परम ऋषियों का ब्रह्मसत्र (ब्रह्मविषयक विचार या प्रवचन) हुआ था, उस समय तुम मेरी श्वेतद्वीपाधिपति अनिरुद्ध मूर्ति का दर्शन करने के लिए श्वेतद्वीप चले गये थे। उस समय वहाँ उस ब्रह्म के विषय में बड़ी ही सुन्दर चर्चा हुई थी। जिसके सम्बन्ध में श्रुतियाँ भी मौन धारण कर लेती है। (स्पष्ट वर्णन न करके तात्पर्य रूप में लक्षित करती हुई उसी में सो जाती है।) उस ब्रह्मसत्र में यही प्रश्न उपस्थित किया गया था, जो तुम मुझसे पूछ रहे हो।

तात्पर्य अर्थ-

आत्मा-अनात्मा विषयक विचार विमर्श (चर्चा) ऋषि-महर्षियों पूर्वाचार्यों द्वारा परम्परा से चली आ रही है। यह हमारे सनातनीय धरोहर वर्तमान में हम सभी जिज्ञासु साधकों के लिए बिरासत में मिली है।

327-उदरमुपासते य ऋषिवर्त्मसु कूर्पदृशः,
परिसरपद्धतिं हृदयमारुणयो दहरम्।
तत उदगादनन्त तव धाम शिरः परमं,
पुनरिह यत् समेत्य न पतन्ति कृतान्तमुखे।। 10.87.18।।

ऋषियों ने आपकी प्राप्ति के लिए अनेकों मार्ग माने हैं। उनमें जो स्थूल दृष्टि वाले हैं, वे मणिपूरक चक्र में अग्नि रूप से आपकी उपासना करते हैं। अरुण वंश के ऋषि समस्त नाड़ियों के स्थान हृदय में आपके परम सूक्ष्म स्वरूप दहर ब्रह्म की उपासना करते हैं। हे प्रभो! हृदय से ही आपको प्राप्त करने का श्रेष्ठ मार्ग सुषुम्ना नाड़ी ब्रह्मरन्ध्र तक गयी हुई है। जो पुरुष उस ज्योर्तिमय मार्ग को प्राप्त करते हैं और उससे ऊपर की ओर बढ़ते हैं वे फिर जन्म-मृत्यु के चक्कर में नहीं पड़ते।

तात्पर्य अर्थ-

आत्मा सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतम होने के कारण सर्वव्यापक है। (शरीर के) बाहर, भीतर सर्वत्र है। इसलिये सूक्ष्म दृष्टि वाले विचारकों ने, महानुभावों ने अपने-अपने परम्परा से प्राप्त साधना के अनुसार उस सर्वात्मा का अनुसन्धान किये हैं और वह अनुसन्धान ही अनुभव के बाद में विभिन्न सिद्धान्तों के रूपों में धारण कर लिया गया, वही सनातन परम्परा आज भी देखने में आ रही है। (शरीर के भीतर किसी ने मस्तिष्क में अनुभव किया उस आत्मा का, किसी ने हृदय में तो किसी ने नाड़ी में, किसी ने अन्तःकरण (मनबुद्धि) को ही आत्मा मान लिया, कोई प्राण को)। प्रायः अज्ञानवश स्थूल शरीर को ही आत्मा मानते हैं क्योंकि व्यावहारिक जीवन में सभी यही कहते हैं और

देखने में आता है कि मैं दु:खी हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं भूखा हूँ, मैं प्यासा हूँ, मैं जा रहा हूँ, मैं आ रहा हूँ, मैं खा रहा हूँ, मैं सो रहा हूँ, मैं मरने वाला हूँ, मैं मर जाऊँगा, मैं जवान हूँ, मैं बूढ़ा हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं नपुंसक हूँ, मैं सेवक हूँ, मैं संन्यासी हूँ, इत्यादि शरीर मन-बुद्धि, वर्ण-आश्रम, गुण-अवस्था क्रियादि को मानकर समस्त व्यवहार हो रहा है।

328-नृषु तव मायया भ्रममीष्ववगत्य भृशं,
त्वयि सुधियोऽभवे दधति भावमनुप्रभवम्।
कथमनुवर्ततां भवभयं तव यद् भ्रुकुटिः,
सृजति मुहूस्त्रिणेमिरभवच्छरणेषु भयम्।।10.87.32।।

हे भगवन्! सभी जीव आपकी माया से भ्रम में भटक रहे हैं परन्तु बुद्धिमान पुरुष इस भ्रम को समझ लेते हैं और भक्ति भाव से आपकी शरण ग्रहण करते हैं क्योंकि आप जन्म-मृत्यु के चक्कर से छुड़ाने वाले हैं। यद्यपि शीत, ग्रीष्म और वर्षा इन तीनों ऋतुओं में मुक्त भाव वाला कालचक्र आपका भ्रूविलास मात्र है। वह सभी को भयभीत करता है परन्तु वह बार-बार उन्हीं को भयभीत करता है जो आपकी शरण नहीं लेते, जो आपके शरणागत भक्त हैं उन्हें भला जन्म-मृत्यु रूप संसार का भय कैसे हो सकता है।

तात्पर्य अर्थ-

नित्य, सत्य, अविनाशी, गुणातीत, शाश्वत आत्मा का (भूत, भविष्य और वर्तमान) ये काल एवं जन्म-मृत्यु आदि क्या बिगाड़ सकता है। यह सब तो अज्ञानियों के लिये है। सत्संगी शास्त्र अध्ययनशील मनुष्यों को, साधकों को ज्ञान हो जाता है कि जन्म-मृत्यु आदि विकारी प्रकृति का स्वभाव है, न कि आत्मा का, ऐसा ज्ञान हो जाने पर निर्भयता आ जाती है। संशय विपर्यय से मुक्त हो जाते हैं और जब तक इस प्रकार यथार्थ बोध की प्राप्ति नहीं हुई है तभी तक अनेकानेक भयों से ग्रस्त रहते हैं। "**स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमृतोऽभयो ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयं हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद।।**" (बृ. 4.4.25) अर्थात् वही यह अजन्मा आत्मा, महान्, अजर, अमृत एवं अभय ब्रह्मरूप है। अभय ही ब्रह्म है। जो कोई उक्त आत्मा को अभय ब्रह्म समझता है वह अभय ब्रह्मरूप ही हो जाता है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं। "**यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कुतश्चनेति।।**" (तै.उ. 2.9)।

329-विजितहृषीकवायुभिरदान्तमनस्तुरगं,
य इह यतन्ति यन्तुमतिलोलमुपायखिदः।
व्यसनशतान्विताः समवहाय गुरोश्चरणं,
वणिज इवाज सन्त्यकृतकर्णधरा जलधौ।। 10.87.33।।

हे अजन्मा प्रभो! जिन योगियों ने अपनी इन्द्रियों और प्राणों को वश में कर लिया है, वे भी जब गुरुदेव के चरणों की शरण न लेकर उच्छृङ्खल एवं अत्यन्त चञ्चल मन रूपी घोड़े को अपने वश में करने का प्रयत्न करते हैं तब भी अपने साधनों में सफल नहीं होते। उन्हें बारम्बार खेद और सैकड़ों विपत्तियों का सामना करना पड़ता है। केवल श्रम और दु:ख ही उनके हाथ लगता है। उनकी ठीक वही दशा होती है जैसी समुद्र में बिना कर्णधार की नाव पर यात्रा करने वाले व्यापारियों की होती है अर्थात् मन को वश में करने के लिये सद्गुरु की अति आवश्यकता है।

तात्पर्य अर्थ-

गुरु के बिना कोई भी कार्य करने में मनुष्य सदैव विफल रहा है, गुरु परम्परा शास्त्रीय और सनातन है। कुछ लोग मनमानी ढंग से पुस्तकों को पढ़ते रहते हैं और यह कहते हैं गुरु बनाने की क्या आवश्यकता है। अरे भले आदमी! बिना गुरू के तो तुम बोल भी नहीं सकते, चल भी नहीं सकते, खा भी नहीं सकते, जब जन्म लिये हो तब आँख भी बन्द थी तो पढ़े-लिखने की बात ही छोड़ो, फिर इन्द्रियातीत, गुणातीत, निराकार आत्मा को कैसे तुम समझ पाओगे, कैसे जान पाओगे। अत: सद्गुरु के माध्यम से इन्द्रिय संयमन की कला सीख कर सुखमय जीवन यापन करना मनुष्यों का सर्वप्रथम कर्तव्य है।

330-स्वजनसुतात्मदारधनधामधरासुरथै-
स्त्वयि सति किं नृणां श्रयत आत्मनि सर्वरसे।
इति सदजानतां मिथुनतो रतये चरतां,
सुखयति को न्विह स्वविहते स्वनिरस्तभगे।। 10.87.34।।

हे भगवन् ! आप अखण्ड आनन्द स्वरूप और शरणागतों के आत्मा हैं। आपके रहते स्वजन, पुत्र, देह, स्त्री, धन, महल, पृथ्वी, प्राण और रथादि से क्या प्रयोजन है? जो लोग इस सत्य सिद्धान्त को न जानकर स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध से होने वाले सुखों में ही रम रहे हैं, उन्हें संसार में भला ऐसी कौन सी वस्तु है, जो सुखी कर सके। क्योंकि संसार की सभी वस्तुएँ स्वभाव से ही विनाशी हैं किसी न किसी दिन विनष्ट हो जाती हैं और वे भला क्या सुख दे सकती हैं।

तात्पर्य अर्थ-

जिन फलों में, फलियों में जो गुणधर्म हैं उसी के अनुरूप उससे रसों की प्राप्ति होती है, विपरीत नहीं। इसी प्रकार परिवार, धन, पृथ्वी आदि में न सुख है और न दु:ख ही है, फिर भी मनुष्य अपने-अपने अनुकूलता-प्रतिकूलता के अनुसार सुख-दु:ख की

कल्पना कर लेते हैं। कल्पना ही नहीं करते, बल्कि सुख की, शान्ति की, आनन्द प्रमोद की प्रबल आकांक्षा, आशाओं का, मन ही में भवन खड़ा कर देते हैं। परमानन्द, सुख-शान्ति तो अपने आप में है आत्मा में है। अन्यत्र जो भी है सब कुछ, मरु-मरीचिका जल के समान है। **''न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा।''**, **''श्वो भावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।।''**(क.उ. 1.1.27/26)।

331-भुवि पुरुपुण्यतीर्थसदनान्यृषयो विमदा-
स्त उत भवत्पदाम्बुजहृदोऽघभिदङ्घ्रिजलाः।
दधति सकृन्मनस्त्वयि य आत्मनि नित्यसुखे,
न पुनरुपासते पुरुषसारहरावसथान्।।10.87.35।।

हे भगवन्! जो ऐश्वर्य, लक्ष्मी, विद्या, जाति, तपस्या आदि के घमण्ड से रहित हैं, वे सन्त पुरुष इस पृथ्वी तल पर परम पवित्र और सबको पवित्र करने वाले पुण्यमय सच्चे तीर्थ स्थान हैं। क्योंकि उनके हृदय में आपके चरणारविन्द सर्वदा विराजमान रहते हैं और यही कारण है कि उन सन्तपुरुषों का चरणामृत समस्त पापों को सदा के लिए नष्ट कर देने वाला हैं। हे भगवन्! आप नित्य आनन्दस्वरूप आत्मा ही हैं। जो एक बार भी आपको अपना मन समर्पित कर देते हैं, आपमें मन लगा देते हैं, वे उन देह-गेहों में कभी नहीं फँसते, जो जीवन के विवेक, वैराग्य, धैर्य, क्षमा और शान्ति आदि गुणों का नाश करने वाले हैं।

तात्पर्य अर्थ-

इस अशुद्धमय अथवा पापमय, प्राणी-पदार्थों के संघातरूप जगत् को पुण्यमय, पावन-पवित्र करने वाले विजितेन्द्रिय, सर्वगुण सम्पन्न, ज्ञान-वैराग्य से विभूषित, आत्माराम आत्मक्रीड आत्मरति सन्त-पुरुष ही हैं। **''शश्वत्परार्थसर्वेहः परार्थैकान्तसम्भवः। साधुः शिक्षेत भूभृत्तो नगशिष्यः परात्मताम्।।''** (भा.11.7.38) पर्वत और वृक्षों से यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि जैसे उनकी सारी चेष्टाएँ सदा सर्वदा दूसरों के हित के लिये ही होती हैं, बल्कि यों कहना चाहिये कि उनका जन्म ही एकमात्र दूसरों का हित करने के लिये ही हुआ है। साधु-पुरुषों को चाहिये कि उनकी शिष्यता स्वीकार करके उनसे परोपकार की शिक्षा ग्रहण करें। ऐसा विरक्त एवं ब्रह्मनिष्ठ शिरोमणि दत्तात्रेय जी महाराज का कहना है। सच है यह शिक्षा साधु पुरुषों के लिये भूषण है, उनका सिरताज है। क्योंकि वे सर्वात्मरूप हैं, राग-द्वेष से रहित हैं, **''निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा''** (गी. 15.5) हैं। ऐसे सन्तों के चरणों में जो कोई भी अपनी बुद्धि को एक बार भी समर्पित कर

देते हैं, स्वयं अबोध बालक के समान निरहंकारी हो जाते हैं, वे फिर जन्म-मृत्यु रूप भवबन्धन में नहीं पड़ते। सदा के लिये मुक्त हो जाते हैं। **''घटे नष्टे यथा व्योम व्योमैव भवति स्फुटम्। तथैवोपाधिविलये ब्रह्मैव ब्रह्मवित्स्वयम्।।''** (आ.उ.22)।

332-सत इदमुत्थितं सदिति चेन्ननु तर्कहतं,

व्यभिचरति क्वच क्वच मृषा न तथोभययुक्।

व्यवहृतये विकल्प इषितोऽन्धपरम्परया,

भ्रमयति भारती त उरुवृत्तिभिरुक्थजड़ान्।।10.87.36।।

हे भगवन्! जैसे मिट्टी से बना हुआ घड़ा मिट्टी रूप ही होता है, वैसे ही सत् से बना हुआ जगत् भी सत् ही है यह बात युक्तिसंगत है। क्योंकि कारण और कार्य का निर्देश ही भेद का द्योतक है। यदि केवल भेद का निषेध करने के लिये ही ऐसा कहा जा रहा है तो पिता और पुत्र में, दण्ड और घटनाश में कार्य कारण भाव होने पर भी एक दूसरे से भिन्न हैं। इस प्रकार कार्य कारण की एकता सर्वत्र एक सी नहीं देखी जाती। यदि कारण शब्द से निमित्त कारण न लेकर केवल उपादान कारण लिया जाय-जैसे कुण्डल का सोना, तो भी कहीं-कहीं कार्य की असत्यता प्रमाणित होती है, जैसे- रस्सी में सर्प। यहाँ उपादान-कारण के सत्य होने पर भी उसका कार्य सर्प सर्वथा असत्य है। यदि यह कहा जाय कि प्रतीत होने वाले सर्प का उपादान कारण केवल रस्सी नहीं है, उसके साथ अविद्या का मेल भी है तो यह समझना चाहिये कि अविद्या और सत् वस्तु के संयोग से इस जगत् की उत्पत्ति हुई है। इसलिये, जैसे- रस्सी में प्रतीत होने वाला सर्प मिथ्या है, वैसे ही सत् वस्तु में अविद्या के संयोग से प्रतीत होने वाला, नाम रूपात्मक जगत् भी मिथ्या है। यदि केवल व्यावहारिक दृष्टि से जगत् की सत्ता अभीष्ट हो, तो उसमें कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि वह पारमार्थिक सत्य नहीं होकर केवल व्यावहारिक सत्य है। यह भ्रम व्यावहारिक जगत् में माने हुए काल की दृष्टि से अनादि है और अज्ञानीजन बिना विचार किये पूर्व-पूर्व भ्रम से प्रेरित होकर अन्धपरम्परा से इसे मानते चले आ रहे हैं। ऐसी स्थिति में कर्मफल को सत्य बतलाने वाली श्रुतियाँ केवल उन्हीं लोगों को भ्रम में डालती हैं, जो कर्म में जड़ हो रहे हैं और यह नहीं समझते कि इनका तात्पर्य कर्मफल की नित्यता बतलाने में नहीं, अपितु उनकी प्रशंसा करके उन कर्मों में लगाने में है।

तात्पर्य अर्थ-

''ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः'' (वेदान्तडिण्डिमः 67) अर्थात् दिखाई देने वाला जगत् स्वप्नवत् मिथ्या है, फिर भी अज्ञान एवं भ्रान्ति से भासित हो रहा

है। इस जगत् की सिद्धि न युक्ति से है और न श्रुति प्रमाण से ही है। अब रह गयी बात देहस्थ-देही (जीव) की, उसके बारे में कहा गया है- **''जीवो ब्रह्मैव नापरः''** अर्थात् जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है। **''जगद्विलक्षणं ब्रह्म ब्रह्मणोऽन्यन्न किञ्चन। ब्रह्मान्यद्भाति चेन्मिथ्या मायामरु- मरीचिका।।''** ब्रह्म से विलक्षण जो जगत् देखने में आ रहा है। वह ब्रह्म से भिन्न नहीं है। यदि कहो कि जो प्रत्यक्ष दीख रहा है, इसका क्या समाधान है? तो सुनो- **'मिथ्या माया मरुमरीचिका'** का अर्थ है- जैसे मायावी, जादूगर के द्वारा सृजित वस्तु मिथ्या होती है, अथवा मरुस्थल पर जल न होने पर भी जल देखने में आता है, वह मिथ्या है, असत्य है। **''मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते'** (पैङ्गल.उ.4.20, मा.का.3.31) अर्थात् जब तक विषय वासनाओं से मन ओतप्रोत है, तभी तक यह प्रपञ्च जगत् भी है और जिस दिन वही मन ज्योतिर्मय आत्मा में सो जायेगा, लीन हो जायेगा, अपना अस्तित्व खो देगा, उसी दिन उसी क्षण **''द्वैतं नैवोपलभ्यते''**(मां.का.), **''नेहनानास्ति किञ्चन''** (बृ.4.4.19) इति श्रुतिः, **''सर्वं खल्विदं ब्रह्म''** (छा.3.14.1) की सिद्धि स्वतः हो जाती है।

333-स यदजया त्वजामनुशयीत गुणांश्च जुषन्,
भजति सरूपतां तदनु मृत्युमपेतभगः।
त्वमुत जहासि तामहिरिव त्वचमात्तभगो,
महसि महीयसेऽष्टगुणितेऽपरिमेयभगः।।10.87.38।।

हे भगवन्! जब जीव माया से मोहित होकर अविद्या को अपना लेता है, उस समय उसके स्वरूपभूत आनन्दादिगुण ढक जाते हैं, वह गुणों से प्रेरित इन्द्रियों की वृत्तियों और देहों में फँस जाता है तथा उन्हीं को अपना मानकर उनकी सेवा करने लगता है। अब उनकी जन्म-मृत्यु को अपनी मानकर उनके चक्कर में पड़ जाता है। परन्तु हे प्रभो! जैसे सर्प अपनी कैंचुली से कोई सम्बन्ध नहीं रखता, उसे छोड़ देता है, वैसे ही आप, माया-अविद्या से कोई सम्बन्ध नहीं रखते हैं। इसी से आपके सम्पूर्ण ऐश्वर्य, सदा-सर्वदा आपके साथ रहते हैं। अणिमा आदि अष्टसिद्धियों से युक्त परमैश्वर्य में आपकी स्थिति है। इसी से आपका ऐश्वर्य, धर्म, श्री, ज्ञान और वैराग्य अपरिमित है, अनन्त है, वह देश, काल और वस्तुओं की सीमा से आबद्ध नहीं है।

तात्पर्य अर्थ-

अविद्यावशात् प्रकृति की सुहावनी एवं प्रियमयी चमक-दमक से विमोहित होकर अन्तःपुर के परमानन्द को भूलकर बाहर प्राणी पदार्थों में, तीर्थों में, पहाड़-पत्थरों में प्राप्त करने का प्रयत्न करते हुये अपने अमूल्य जीवन के समय को समाप्त कर देते हैं किन्तु

उस परमानन्द की प्राप्ति से वञ्चित ही रह जाते हैं। आत्मा में, स्वयं में जो आनन्द है, सुख-शान्ति है, वह निर्विषय और सातिशयता से रहित है, नित्य निरन्तर, अक्षुण्ण रूप से रहने वाली है, आगन्तुक नहीं, अपितु स्वाभाविक है। क्योंकि वह आपकी आत्मा आनन्द स्वरूप ही है, यथा- जल की शीतलता, अग्नि की उष्णता आदि स्वधर्म है। और प्राणि-पदार्थों में जो सुख या आनन्द का अनुभव है, वह केवल मन की कल्पना है, मन का व्यसन है और क्षणिक है। क्योंकि एक ही वस्तु किसी के लिये सुखकर है तो किसी के लिये दु:खकर। ऐसा प्रत्यक्ष देखने में आता है। इसलिये सुखाभास है। मृगतृष्णा है। ''**मृगतृष्णाम्भसि स्नात:**'' (तै.भाष्यं 2.1.1) इत्यादि। ''**अत: प्राहुर्मनोऽविद्यां पण्डितास्तत्त्वदर्शिन:। येनैव भ्राम्यते विश्वं वायुनेवाभ्रमण्डलम्।।**'' (वि.चू. 182)।

334-यदि न समुद्धरन्ति यतयो हृदि कामजटा,
दुरधिगमोऽसतां हृदि गतोऽस्मृतकण्ठमणि:।
असुतृपयोगिनामुभयतोऽप्यसुखं भगव-,
न्नपगतान्तकादनधिरूढपदाद् भवत:।। 10.87.39।।

हे भगवन्! यदि मनुष्य योगी-यती होकर भी अपने हृदय की विषयवासनाओं को उखाड़ नहीं फेंकते, तो उन साधकों के लिये आप हृदय में रहने पर भी, वैसे ही दुर्लभ हैं, जैसे कोई अपने गले में मणि पहने हुए हो, परन्तु उनकी स्मृति न होने पर उसे ढूँढता फिरे इधर-उधर। जो साधक अपने इन्द्रियों को तृप्त करने में ही लगे रहते हैं, वे विषयों से विरक्त नहीं होते, उन्हें जीवन भर और जीवन के बाद भी दु:ख ही दु:ख भोगना पड़ता है क्योंकि वे साधक नहीं दम्भी हैं, ढोंगी हैं। एक तरफ तो अभी उन्हें मृत्यु से छुटकारा नहीं मिला है, लोगों को रिझाने, धन कमाने आदि के लिये क्लेश उठाने पड़ रहे हैं और दूसरे तरफ आपका स्वरूप न जानने के कारण अपने धर्म, कर्म का उल्लंघन करने से परलोक में नरकादि प्राप्त होने का भय भी बना ही रहता है।

तात्पर्य अर्थ-

भगवन् वासुदेव जी ने गीता में कहा है- ''**चतुर्विधा भजन्ते मां जना: सुकृतिनोऽर्जुन। आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।।**'' (8.16) भक्त (साधक) चार प्रकार के हैं, अर्थात् चार प्रकार के स्वभाव से युक्त हैं- (क) आर्त जो अति संकट के समय आने पर ही भगवान् को स्मरण करते हैं, वह आस्तिकता का बोधक है। (ख) अर्थार्थी- जो अर्थ (सम्पत्ति) की प्राप्ति के लिये स्मरण करता है, वह आसुरी स्वभाव वाले साधक है अथवा ये दोनों भगवत् प्रेमी लाचारी या मजबूरी में ही हैं। (ग) जिज्ञासु- जो जानने की इच्छा करने वाला, जिसके मन या बुद्धि में यह जानने की अभिलाषा है कि

इस जगत् के रचयिता कौन हो सकता है ? कब इसकी रचना हुई ? रचना की सामग्री क्या हो सकती है, अथवा किन-किन सामग्रियों के द्वारा इसकी रचना हुई है ? और उस रचयिता से कोई मिलना चाहे या उसे जानना चाहे तो उसका क्या उपाय है? शरीर और आत्मा (जीवात्मा) दोनों भिन्न-भिन्न हैं या एक हैं? इत्यादि यह जिज्ञासु का लक्षण है। यह भगवत् प्रेमी सात्विक भावनाओं से ओतप्रोत मानवता का परिचायक है। (घ) ज्ञानी- जिसने उपरोक्त प्रश्नों को अपने आचार्य (सद्गुरु) द्वारा भली-भाँति समझने के कारण जिसका मन स्थिर हो गया है, (कर लिया है) हो। वह परमात्मा रूप है। इसलिये अगले श्लोक में कहा- '''**ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्**'' (गी. 7.18) अर्थात् ज्ञानी तो मेरा स्वरुप ही है, ऐसा मेरा मत है, क्योंकि वह मुझसे अभिन्न है, उसकी दृष्टि में दूसरा कुछ है ही नहीं ''**नेह नानास्ति किञ्चन**'' (बृ.4.4.19), ''**चाह गयी चिन्ता मिटी मनुवा बेपरवाह। और कछु न चाहिये सो है शाहन के शाह।**'' प्रस्तुत श्लोक में भगवान् वेदव्यास जी ने भगवत परायण साधक और जगत् के विषय-वासनाओं से ग्रसित साधक पर विचार किये हैं, किन्तु हमने भगवान् वासुदेव द्वारा सम्बोधित अर्जुन के प्रति चार प्रकार के भक्तों को उधृत किया है। इसका अभिप्राय है वासुदेव एक ही हैं और उनके परम मित्र (सखा) दो हैं। गीता में अनन्य प्रिय मित्र अर्जुन हैं और महापुराण भागवत में अनन्य प्रिय मित्र हैं उद्धव जी। दोनों ही मित्र अनन्यता विशेषण से सुसम्बोधित होते हुए गीता स्थित मित्र (अर्जुन) कर्म के अधिकारी हैं और उन्हें कर्म करने के लिये प्रेरित किया जाता है तो दूसरी ओर भागवत महापुराण के मित्र उद्धव जी को कर्म से ऊपर उठकर ज्ञानमार्ग के द्वारा आत्मचिन्तन करते हुए जन्म-मृत्यु रूपसंसार बन्धन से मुक्त होने के लिये प्रेरित किया गया है। इसका क्या अभिप्राय है ? यह एक विचारणीय विषय है। एक सज्जन (जिज्ञासु) मेरे पास, कभी आये थे और उन्होंने बड़े आग्रहपूर्वक निवेदन किया था कि इस मेरी शंका का समाधान अवश्य करने का प्रयत्न करें और इस समाधान को इस पुस्तक के अन्तर्गत कहीं पर समावेश करें। इसी संस्कार से प्रेरित होकर उनकी जिज्ञासा एवं इच्छा की पूर्ति के लिये विशेष रूप से टीका-टिप्पणी करनी पड़ रही है।

यह विषय बहुत सामान्य है, जटिल या कठिन नहीं है, मेरे विचार से, थोड़ा सा गम्भीरतापूर्वक विचार करने की बात है फिर समझ में आ जायेगा कि अर्जुन गीता में वर्णित चार प्रकार के भक्तों में से अर्थार्थी भक्त के श्रेणी में नहीं आता है। यद्यपि वह शूरवीर क्षत्रिय होकर भी पूर्णरूपेण मोहजाल से ग्रसित होते हुए दीन-हीन के समान रो ही रहा है, अत: आर्त नहीं तथापि मोह से पीड़ित होने के कारण उसे आर्त कोटि में रख

सकते हैं किन्तु लाचार-भिखारी के समान लाचारी प्रकट नहीं किया है अतः अर्थार्थी नहीं। इसी प्रकार अर्जुन में न जिज्ञासु का लक्षण दिखता है और न तो ज्ञानी (आत्मतत्त्व ज्ञानी) का। जिसमें जिज्ञासा का अभाव हो वह जिज्ञासु कैसे हो सकता है तथा विषाद से युक्त व्यक्ति ज्ञानी कैसे हो सकता है? इसलिये भगवान् वासुदेव को कहना पड़ा कि **''कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्व-कर्मणि।।''** (2.47) दूसरी बात है- अर्जुन मोह का एक मूर्तिमान स्वरूप हैं क्योंकि स्वयं अर्जुन का कहना है- **''दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्। सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति। वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते। गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।।''** (गी. 1.28.-30), **''न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च। किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा।।''**(1. 32)। अर्जुन ने कहा- हे कृष्ण! युद्ध की इच्छा वाले इस कुटुम्ब समुदाय को अपने सामने उपस्थित देखकर मेरे अंग शिथिल हो रहे हैं और मुख सूख रहा है तथा मेरे शरीर में कँपकँपी आ रही है एवं रोंगटे खड़े हो रहे हैं। हाथ से गाण्डीव धनुष गिर रहा है और त्वचा भी जल रही है। हे कृष्ण! मैं न तो विजय चाहता हूँ, न राज्य चाहता हूँ और न ही सुखों को ही चाहता हूँ। हे गोविन्द! हम लोगों को राज्य से क्या लाभ ? भोगों से क्या लाभ ? अथवा जीने से भी क्या लाभ ? इसके अतिरिक्त अर्जुन संशययुक्त भी है, क्योंकि वे कहते हैं- **''अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः। कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति।।''** (4.4), **''संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि। यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्।।''** (5.1) आपका जन्म तो अभी का है और सूर्य का जन्म बहुत पुराना है, अतः आपने ही सृष्टि के आरम्भ में (सूर्य से) यह योग कहा था- यह बात मैं कैसे समझूँ ? हे कृष्ण! आप कर्मों का स्वरूप से त्याग करने की और फिर कर्मयोग की प्रशंसा करते हैं। अतः इन दोनों साधनों में से जो एक निश्चित रूप से कल्याणकारक हो, उसको मेरे लिये कहिये। दूसरी ओर उद्धव जी जिज्ञासु साधक हैं, वे कहते हैं- **''गुणेषु वर्तमानोऽपि देहजेष्वनपावृतः। गुणैर्न बद्ध्यते देही बद्ध्यते वा कथं विभो।।''** (11.10.35), **''वदन्ति कृष्ण श्रेयांसि बहूनि ब्रह्मवादिनः। तेषां विकल्पप्राधान्यमुताहो एकमुख्यता।।''** (11.14.1), **''यथा त्वमरविन्दाक्ष यादृशं वा यदात्मकम्। ध्यायेन्मुमुक्षुरेतन्मे ध्यानं त्वं वक्तुमर्हसि।।''** (11.14.31), **''यमः कतिविधः प्रोक्तो नियमो वारिकर्शन। कः शमः को दमः कृष्ण का तितिक्षा धृतिः प्रभो।।''** (11.19.28) इत्यादि। हे भगवन् ! यह जीव देहादि रूप गुणों में ही रह रहा है। फिर देह से होने वाले कर्मों या सुख-दुःख आदि रूप फलों में क्यों नहीं बँधता है ? अथवा यह आत्मा गुणों से निर्लिप्त है, देहादि के सम्पर्क से सर्वथा रहित है, फिर इसे

बन्धन की प्राप्ति कैसे होती है? हे कमलनयन श्यामसुन्दर! आप कृपा करके यह बतायें कि मुमुक्षु पुरुष आपका किस रूप में, किस प्रकार और किस भाव से ध्यान करें। हे रिपुसूदन! यम और नियम कितने प्रकार के हैं ? शम क्या है ? दम क्या है? हे प्रभो! तितिक्षा और धैर्य क्या है ? इत्यादि उद्धव जी की वाक्यों से यह ज्ञात होता है कि उनकी कितनी बड़ी उत्कृष्ट जिज्ञासा है, कल्याण के विषय में। इस प्रकार तुलनात्मक दृष्टिकोण से विचार करने पर ज्ञात होता है कि वासुदेव उनकी पात्रता के अनुसार उचित उपदेश करना युक्ति-युक्त समझकर कर्म और ज्ञान में प्रेरित करते हैं। इतने वाक्यों से उस प्रश्नकर्ता सज्जन को सन्तोष हो जाना चाहिये, ऐसी मैं आशा करता हूँ। अर्थात् उद्धव जी ज्ञानी, जिज्ञासु भक्त में से हैं और अर्जुन अज्ञानी, संसारी भक्तों में से हैं।

335-इत्येतद् ब्रह्मणः पुत्रा आश्रुत्यात्मानुशासनम्।
सनन्दनमथानर्चुः सिद्धा ज्ञात्वाऽऽत्मनो गतिम्।। 10.87.42।।

हे देवर्षि नारद! इस प्रकार सनकादि ऋषियों ने आत्मा और ब्रह्म की एकता कराने वाला उपदेश सुनकर आत्मस्वरूप को जाना और नित्य सिद्ध होने पर भी उस उपदेश से कृत-कृत्य होकर उन लोगों ने सनन्दन महर्षि की पूजा की। सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार ये चारों भाई ज्ञान-वैराग्य की दृष्टि से समान हैं। फिर भी किसी काल में बड़े भाई को वक्ता बनाकर आत्मा-अनात्मा पर गहन विचार किया था।

तात्पर्य अर्थ-

जीवात्मा और परमात्मा (ब्रह्म) की एकता का अभिप्राय है- मैं, मेरा, अहंकार का व ममकार का सर्वथा अन्त हो जाना अथवा मन-बुद्धि से दृश्यमान प्रपंच की आत्यन्तिक निवृत्ति यानि मिथ्यात्व निश्चयपूर्वक बाधितानुवृति ही एकत्व की सिद्धि है। श्रुति के उपदेश भी इसी में सार्थक हैं- **"नेह नानास्ति किञ्चन।"** (बृ.4.4.19) अर्थात् नानात्व का निषेध ही आत्मा और ब्रह्म की एकता है।

336-नवाभवन् महाभागा मुनयो ह्यर्थशंसिनः।
श्रमणा वातरशना आत्मविद्याविशारदाः।। 11.2.20।।

337-कविहरिरन्तरिक्षः प्रबुद्धः पिप्पलायनः।
आविर्होत्रोऽथ द्रुमिलश्चमसः करभाजनः।। 11.2.21।।

नारद जी ने कहा- हे वसुदेव जी! ऋषभदेव जी के सौ पुत्रों में नौ संन्यासी हो गये थे। वे बड़े ही भाग्यवान् थे। उन्होंने आत्मविद्या के सम्पादन में बड़ा परिश्रम किया था और वास्तव में वे सबके सब बड़े निपुण थे। वे प्रायः दिगम्बर ही रहते थे और अधिकारियों को परमार्थ वस्तु का उपदेश किया करते थे। उनके नाम थे- 'कवि, हरि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस और करभाजन।

तात्पर्य अर्थ-

भौतिक पदार्थों के विशेषज्ञ को विज्ञानी कहा जाता है और अध्यात्म विशेषज्ञ को आत्मज्ञानी, ब्रह्मज्ञानी, तत्त्वज्ञानी कहा जाता है। आत्मतत्त्व के ज्ञानी आपको किसी भी रूप में (वेश) में मिल सकते हैं, वह निर्वस्त्र भी हो सकते हैं और सवस्त्र भी, मौनी भी हो सकते हैं और वाक्चपल एवं उन्मत्त भी हो सकते हैं। बालकवत् व्यवहार करते हुए भी मिल सकते हैं और उपदेश करते हुए वाक्यनिपुण विद्वान् के रूप में भी मिल सकते हैं, इत्यादि। अर्थात् निश्चित किसी लक्षण से नहीं जाना जा सकता क्योंकि वे सर्वात्म हो जाते हैं। जाति-सम्प्रदाय, मत-पंथ, स्त्री-पुरुष, विद्वान-अविद्वान आदि भेदों के परिच्छिन्नता से शून्य होते हैं। "**दिगम्बरो वापि च साम्बरो वा त्वगम्बरो वापि चिदम्बरस्थः। उन्मत्तवद्वापि च बालवद्वा पिशाचवद्वापि चरत्यवन्याम्।।**" (वि.चू. 541)।

338-त एकदा निमेः सत्रमुपजग्मुर्यदृच्छया।

वितायमानमृषिभिरजनाभे महात्मनः।। 11.2.24।।

339-तान्दृष्ट्वा सूर्यसंकाशान्महाभागवतान्नृपः।

यजमानोऽग्नयो विप्राः सर्व एवोपतस्थिरे ।।11.2.25।।

एक दिन की बात है, इस अजनाभ (भारत) वर्ष में विदेहराज महात्मा निमि बड़े-बड़े ऋषियों के द्वारा एक महान् यज्ञ करा रहे थे। पूर्वोक्त नौ योगीश्वर स्वच्छन्द विचरण करते हुए उनके यज्ञ में जा पहुँचे। हे वसुदेव जी ! वे योगीश्वर भगवान के परम प्रेमी भक्त और सूर्य के समान तेजस्वी थे। उन्हें देखकर राजा निमि, आहवनीय आदि अग्नि का मूर्तिमान होकर और ऋत्विज आदि ब्राह्मण सबके सब उनके स्वागत में खड़े हो गये।

तात्पर्य अर्थ-

सर्वात्मभाव में स्थित ज्ञानी पुरुष आकाशगामी पक्षिवत् होते हैं, वे कहीं भी जा सकते हैं सम्पूर्ण विश्व उनके लिये खुले द्वार के समान है अर्थात् उनके आने-जाने में कोई व्यवधान नहीं है, कोई रोक-टोक नहीं है। यदि कदाचिद् ऐसे निर्द्वन्द्व, निर्लिप्त महान् आत्मा भाग्यवशात् संयोग से मिल जाय तो अपना अहोभाग्य का उदय समझकर उनका यथोचित सम्मान या व्यवस्था करके तन, मन, धन और वाणी आदि से सेवा में तत्पर हो जाना चाहिये। इनकी सेवा करने वाले भी ज्ञान-वैराग्य के धनी हो जायेंगे, मानव जीवन की सफलता भी हो जायेगी। "**वैराग्यबोधौ पुरुषस्य पक्षिवत् पक्षौ विजानीहि विचक्षणस्त्वम्। विमुक्तिसौधाग्रतलाधिरोहणं ताभ्यां विना नान्यतरेण**

सिध्यति।।'' (वि.चू. 375) हे मुमुक्षु साधक! वैराग्य और ज्ञान, इन दोनों को पक्षी के दोनों पंखों के समान मोक्षकामी पुरुष के पंख समझो। इन दोनों में से किसी भी एक के न होने पर (केवल एक पंख के द्वारा) कोई भी साधक मुक्ति रूपी महल की अन्तिम मंजिल पर नहीं पहुँच सकता अर्थात् मोक्षप्राप्ति के लिये विषयों से वैराग्य और ज्ञान (बोध) दोनों की ही आवश्यकता है।

340-विदेहस्तानभिप्रेत्य नारायणपरायणान्।

प्रीतः सम्पूजयाञ्चक्रे आसनस्थान् यथार्हतः।। 11.2.26।।

341-तान् रोचमानान् स्वरुचा ब्रह्मपुत्रोपमान् नव।

पप्रच्छ परमप्रीतः प्रश्रयावनतो नृपः।। 11.2.27।।

विदेहराज निमि ने उन्हें भगवान् के परम प्रेमी भक्त मानकर यथा योग्य आसनों पर बैठाकर प्रेम तथा आनन्द से आनन्दित होकर विधिपूर्वक उनकी पूजा की। वे नवों योगीश्वर अपने अंगों की कान्ति से इस प्रकार चमक रहे थे, मानो साक्षात् ब्रह्मा जी के पुत्र सनकादि मुनीश्वर ही हों, राजा निमि ने विनय से झुक कर परम प्रेम के साथ उनसे प्रश्न किया।

तात्पर्य अर्थ-

साधु-संन्यासी, आत्मज्ञानी, बिना बुलाये आपके घर पर आ जाये तो उनको साक्षात् परब्रह्म परमात्मा समझ कर सेवा-सत्कार करना चाहिये श्रद्धापूर्वक। क्योंकि श्रुति कहती है- **''अतिथिदेवो भव''** (तै.1.11.1) अतिथि साक्षात् देवाधिदेव रूप हैं। **''ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम्। एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि।।''** (गुरुगीता अ. 2)

342-मन्ये भगवतः साक्षात् पार्षदान् वो मधुद्विषः।

विष्णोर्भूतानि लोकानां पावनाय चरन्ति हि।। 11.2.28।।

हे भगवन्! मैं ऐसा समझता हूँ कि आप लोग मधुसूदन भगवान् के पार्षद ही हैं क्योंकि भगवान् के पार्षद संसारी मनुष्यों को पवित्र करने के लिये विचरण करते हैं।

तात्पर्य अर्थ-

पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु आदि का कारण रूप में अथवा कार्यों के रूपों में जो क्रियाएँ हो रही हैं, वह निरर्थक नहीं अपितु प्राणिमात्र के लिये अत्यन्त सार्थक एवं उपयोगी हैं। इसी प्रकार आत्मज्ञानियों का भी धरातल पर विचरण करना है, वह विचरण स्वार्थ के लिये नहीं हो सकता अपितु निःस्वार्थ ही है। लोक कल्याण के लिये ही है।

यदि कोई कहे कि वे तो अपने जीवन निर्वाह के लिये विचरण करते हैं तो ऐसी बात भी नहीं है क्योंकि एक स्थान पर स्थिर रहने पर भी प्रारब्धानुसार जीवन का निर्वाह तो हो ही जायेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। जैसे अजगर का जीवन निर्वाह एक स्थान पर रहने पर भी हो जाता है। यथा-"**ग्रासं सुमृष्टं विरसं महान्तं स्तोकमेव वा। यदृच्छयैवापतितं ग्रसेदाजग- रोऽक्रियः।।**" (भा. पु. 11.8.2) हे राजन्! बिना मांगे, बिना इच्छा किये ही प्रारब्धानुसार जो मिल जाता है और वह भिक्षा स्वादिष्ट हो अथवा अस्वादिष्ट, वह बहुत हो या थोड़ा। उसे ही मैं भगवत्कृपाप्रसाद मानकर ग्रहण कर लेता हूँ। यथा अजगर-सर्प बिना कुछ प्रयत्न किये ही जो उसके सामने जीव-जन्तु आदि आ जाते हैं उसे खाकर सन्तुष्ट रहते हैं।

343-दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभंगुरः।
तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम्।। 11.2.29।।

344-अत आत्यन्तिकं क्षेमं पृच्छामो भवतोऽनघाः।
संसारेऽस्मिन् क्षणार्धोऽपि सत्सङ्गः शेवधिर्नृणाम्।। 11.2.30।।

जीवों के लिये मनुष्य शरीर का प्राप्त होना दुर्लभ है। यदि यह प्राप्त भी हो जाता है तो प्रतिक्षण मृत्यु का भय सिर पर सवार रहता है, क्योंकि यह क्षणभंगुर है। इसलिये अनिश्चित मनुष्य जीवन में भगवान् के प्यारे और उनको प्यार करने वाले भक्तजनों का, सन्तों का दर्शन तो और भी दुर्लभ है। इसलिये हे त्रिलोक पावन महात्माओं! हम आप लोगों से यह प्रश्न करते हैं कि परम कल्याण का स्वरूप क्या है ? और उसका साधन क्या है ? इस संसार में आधे क्षण का सत्संग भी मनुष्यों के लिये श्रेष्ठ निधि है।

तात्पर्य अर्थ-

यह मानव जीवन ही संसार एवं जन्म-मृत्यु रूप भवबन्धनों से मुक्ति पाने के लिये, सदा-सर्वदा, सुख-शान्ति पाने के लिये एकमात्र साधन है। ऐसा सुअवसर प्राप्त हो जाने पर भी प्रमादवश मोहान्ध के कारण अतिदुर्लभ सुनहरा(स्वर्णिम) अवसर को खो देते हैं, व्यर्थ कर देते हैं। यह बड़ी चिन्ता की बात है तथा मानव जीवन से भी दुर्लभ है, आत्मतत्त्वज्ञानी महापुरुषों का संयोग और उनके सत्संग में रुचि होना, प्रेम होना और भी दुर्लभ है। "**दुर्लभं त्रयमेवैतद्दैवानुग्रहहेतुकम्। मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः।**" (वि.चू.3) जिनकी कृपा द्वारा भव-बन्धन से मुक्ति मिलती है, वे तीन हैं- मनुष्यत्व का प्राप्त होना, मोक्ष की उत्कृष्ट जिज्ञासा और आत्मतत्त्वज्ञानियों का संयोग यानि सत्संग। ये तीनों के तीनों उत्तरोत्तर क्रमशः अति दुर्लभ से दुर्लभ कहा गया है। ये तीनों दैवानुग्रह से ही प्राप्त होते हैं।

345-मन्येऽकुतश्चिद्भयमच्युतस्य पादाम्बुजोपासनमत्र नित्यम्।

उद्विग्नबुद्धेरसदात्मभावाद् विश्वात्मना यत्र निवर्तते भीः।। 11.2.33।।

हे राजन्! भक्तजनों के हृदय से कभी दूर न होने वाले अच्युत भगवान् के चरणों की नित्य-निरन्तर उपासना ही इस संसार में परम कल्याण आत्यन्तिक क्षेम है और सर्वथा भयशून्य है, ऐसा मेरा निश्चित मत है। देह-गेह आदि तुच्छ एवं असत् पदार्थों में अहन्ता एवं ममता हो जाने के कारण जिन लोगों की चित्तवृत्ति उद्विग्न हो रही है उनका भय भी उसकी उपासना तथा पूजा पाठ आदि अनुष्ठान करके परिपूर्णतया निवृत्त हो जाता है।

तात्पर्य अर्थ-

सम्पूर्ण भयों का मूल कारण है- देहासक्त, जड़ासक्त होकर अनित्य, क्षणभंगुर प्राणी पदार्थों में अहन्ता, ममता आदि करके उसी में बंध जाना, जो जरामृत्यु आदि विकारों से सर्वथा ग्रसित है और उसके विपरीत हृदयस्थ भयशून्य, निर्विकार, जरा, जन्म-मृत्यु आदि से रहित आत्मा की उपासना एवं निरन्तर ध्यान समाधि के द्वारा साक्षात्कार करके अभय पद, मोक्ष पद को प्राप्त करने पर पूर्ण निर्भयता की प्राप्ति होती है। **''स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयं हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद।''** (बृ. 4.4.25)।

346-यो वै भगवता प्रोक्ता उपाया ह्यात्मलब्धये।

अञ्जः पुंसामविदुषां विद्धि भागवतान् हि तान्।। 11.2.34।।

347-यानास्थाय नरो राजन् न प्रमाद्येत कर्हिचित्।

धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह।। 11.2.35।।

भगवान् ने भोले-भाले अज्ञानी पुरुषों को भी सुगमता से साक्षात् अपनी प्राप्ति के लिये जो उपाय स्वयं श्रीमुख से बतलाये हैं, उन्हें ही भागवत धर्म समझो। हे राजन्! इन भावगत धर्मों का अवलम्बन करके मनुष्य कभी विघ्नों से पीड़ित नहीं होते और नेत्र बन्द करके दौड़ने पर भी न तो मार्ग से स्खलित ही होता है और न तो पतित यानि फल से वंचित ही होता है।

तात्पर्य अर्थ-

जो साधक (मुमुक्षु) आत्मचिन्तन की पुनरावृत्ति और अभ्यास में निरन्तर रत हैं, तत्पर हैं और इस दृश्यमान प्रपञ्च को अथवा नाना भेदवाली सृष्टि के प्रति स्वप्नवत् की भावना बुद्धि में दृढ़ करके स्वस्वरूप में चित्तवृत्तियों को निरुद्ध करके आत्माराम हो जाता है **''आत्मारामो भवति''** (त्रि.म.ना. 1.5) तब वह मुमुक्षु साधक अपने लक्ष्य से

कभी भी पतित (भ्रष्ट) नहीं होता। अर्थात् "**प्रारब्धावसाने सर्वात्मा भवति**", "**ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति**" (मुं.3.2.9) इत्यादि।

348-कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा, बुद्ध्याऽऽत्मना वानुसृतस्वभावात्।
करोति यद् यत् सकलं परस्मै, नारायणायेति समर्पयेत्तत्।।11.2.36।।

भागवत धर्म का पालन करने वाले के लिये यह नियम नहीं है कि वह एक विशेष प्रकार का कर्म ही करे। वह शरीर से, मन से, वाणी से, इन्द्रियों से, बुद्धि से, अहंकार से अनेक जन्मों अथवा एक जन्म की आदतों से स्वभाववश जो जो करे, वह सब परम पुरुष भगवान् नारायण के लिये ही है- इस भाव से उन्हें समर्पण कर दें। यही सरल से सरल, सीधा सा-भागवतधर्म है।

तात्पर्य अर्थ-

"**आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहम्। पूजा ते विषयपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः। संचारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्।।**" (परापूजास्तोत्रम्), "**यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।।** (गी. 9.27)।

जब मुमुक्षु साधक साधना करते-करते साधना के चरम सीमा तक पहुँच जाते हैं, अपने लक्ष्य को, गन्तव्य को प्राप्त हो जाते हैं, आत्म साक्षात्कार कर लेते हैं, तब वे कोई भी शास्त्रीय नियमों को पालन करने के लिये किसी प्रकार बाध्य नहीं हैं कि अमुक प्रकार के कर्म को उन्हें करना अनिवार्य है। यदि कदाचित् प्रारब्धवशात् शरीर, अन्तःकरण एवं बाह्यकरणों द्वारा कर्म होता है या हो रहा है, वह उनके बन्धन का कारण नहीं बन सकता, क्योंकि आत्मा-अकर्ता है, आत्मा निर्विकार है, ऐसा उन्हें दृढ़ निश्चय हो गया है। "**न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः। न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते।**" (गी.5.14)। "**व्यवहारो लौकिको वा शास्त्रीयो वान्यथापि वा। ममाकर्तुरलेपस्य यथारब्धं प्रवर्तताम्**" (प.द. 7.267)

349-भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यादीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः।
तन्माययातो बुध आभजेत्तं, भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा।। 11.2.37।।

ईश्वर से विमुख पुरुष का उनकी माया से अपने स्वरूप की विस्मृति हो जाती है और इस विस्मृति से ही मैं देवता हूँ, मैं मनुष्य हूँ, इस प्रकार का भ्रम-विपर्यय हो जाता है। इस देह आदि अन्य वस्तु में अभिनिवेश, तन्मयता होने के कारण ही बुढ़ापा, मृत्यु, रोग आदि अनेकों भय होते हैं। इसलिये अपने गुरुदेव को ही आराध्यदेव परमप्रियतम मानकर अनन्य भक्ति के द्वारा उस ईश्वर का भजन करना चाहिये।

तात्पर्य अर्थ-

आत्मापरमात्मा, नीरूप, निराकार होने के कारण अदृश्य है, अप्रत्यक्ष है और अप्रत्यक्ष होने के कारण इन्द्रियग्राह्य नहीं बन सकता, इसलिये मानव उसका दर्शन, स्पर्शन, वार्तालाप, विचार-विमर्श नहीं कर पाते। अत: उनके ही स्वरूप में सगुण-साकार रूप धरा पर विचरण करने वाले आत्मनिष्ठ, तत्त्वज्ञानी, साधु-संन्यासी का (सद्गुरु का) शरण ग्रहण करके अपने जन्म-मृत्यु रूप भवरोग को सद्गुरु के द्वारा उपदेश रूपी औषधि प्राप्त करके सदा-सर्वदा के लिये मिटा देना चाहिये। ''**सर्ववेदान्तसिद्धान्त-गोचरं तमगोचरम्। गोविन्दं परमानन्दं सद्गुरुं प्रणतोऽस्म्यहम्।।**'' (वि.चू.1)।

350-अविद्यमानोऽप्यवभाति हि द्वयोर्ध्यातुर्धिया स्वप्नमनोरथौ यथा।
तत्कर्म संकल्पविकल्पकं मनो, बुधो निरुन्ध्यादभयं ततः स्यात्।।
11. 2.38।।

हे राजन्! सच पूछे तो भगवान के अतिरिक्त आत्मा के अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं है। परन्तु न होने पर भी इसकी प्रतीति और इसका चिन्तन करने वालों को, उधर मन लगाने के कारण ही चिन्तन होता है। जैसे- स्वप्न के समय स्वप्नद्रष्टा की कल्पना से अथवा जाग्रत् अवस्था में नाना प्रकार के मनोरथों से एक विलक्षण ही सृष्टि देखने में आती है। इसलिये विचारवान् पुरुष को चाहिये कि सांसारिक कर्मों के सम्बन्ध में संकल्प-विकल्प करने वाले मन को रोक दे, कैद कर ले। बस ऐसा करते ही उसे अभय पद की, परमात्मा की प्राप्ति हो जायेगी।

तात्पर्य अर्थ-

यह संसार तीनों कालों में असत्य (मिथ्या) होने पर भी इसकी प्रतीति क्यों होती है ? इसका कारण है- पूर्व-पूर्व अनादिकाल के संस्कारों को ही यह मन पुनरावृत्ति करता रहता है, दिन रात। वही संस्कार असत्य अनित्य होने पर भी सत्य नित्य सा मालूम पड़ता है। जैसे-स्वप्न के समय मन की कल्पना ही एक विलक्षण सृष्टि के रूप में अनुभव में आती है। अत: विवेकी पुरुष को चाहिये कि जिस मन के द्वारा जगत् की उत्पत्ति है, उस मन को, उस मनोवृत्ति को स्वस्वरूप में निरुद्ध कर दे, वृत्तियों का अवसान कर दे। अर्थात् ''**अहं ब्रह्मास्मि**'' (बृ.1.4.10), ''**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**'' (छा. 3.14.1) इत्यादि श्रुतियों के अभ्यास द्वारा मनोवृत्ति क्रियाओं का निग्रह करके नष्ट करना चाहिये, जैसे-''**यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।।**'' (गी. 4.37) अथवा ज्ञान-वैराग्य की दृढ़ता से निर्मूल कर दे। ऐसा करने पर ही परमपद की प्राप्ति है, अभयपद की, निर्भय पद की पहचान है (लक्षण) है, साधन की पूर्णता। ''**मन की तरंग मार लो बस हो गयी भजन, आदती बुरी सम्भार लो बस हो गयी भजन।।**''

351-शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणेर्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके।

गीतानि नामानि तदर्थकानि, गायन् विलज्जो विचरेदसङ्गः ।।11.2.39।।

352-एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।

हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः।। 11.2.40।।

संसार में भगवान् के जन्म की और लीला की बहुत सी मंगलमयी कथाएँ प्रसिद्ध है। उनको सुनते रहना चाहिये। उनके गुणों और लीलाओं का स्मरण दिलाने वाले भगवान् के बहुत से नाम भी प्रसिद्ध है। लज्जा, संकोच छोड़कर उनका गान करते रहना चाहिये। इस प्रकार किसी भी व्यक्ति, वस्तु और स्थान में आसक्ति न करके विचरण करते रहना चाहिये। जो इस प्रकार विशुद्ध व्रत नियम ले लेता है, उसके हृदय में अपने परम प्रियतम प्रभु के नाम कीर्तन से अनुराग का, प्रेम का अंकुर उग जाता है। उसका चित्त द्रवित हो जाता है। अब वह साधारण लोगों की स्थिति से ऊपर उठ जाता है। लोगों की मान्यताओं के अवधारणाओं से परे हो जाता है। और दम्भ से नहीं बल्कि स्वभाव से ही मत्तवाला सा होकर कभी खिल-खिलाकर हँसने लगता है। कभी ऊँचे स्वरों से भगवान को पुकारने लगता है तो कभी मधुर स्वर से उनके गुणों का गान करने लगता है। कभी-कभी जब वह अपने प्रियतम को अपने नेत्रों के सामने अनुभव करता है तब उन्हें रिझाने के लिए नृत्य करने लगता है।

तात्पर्य अर्थ-

ज्ञानारूढ़साधक भाव-विभोर होकर गाने लगते हैं- "**यदानन्दरूपं प्रकाशस्वरूपं, निरस्तप्रपञ्चपरिच्छेदशून्यम्। अहं ब्रह्म वृत्त्यैकगम्यं तुरीयं परं ब्रह्म नित्यं तदेवाहमस्मि।।**" (स्वरूपानुसन्धानाष्टकम् 3) अपने हृदय में स्थित अन्तरात्मा को निरन्तर चिन्तन, मनन, ध्यान-समाधि आदि साधनों के द्वारा अभ्यास करते रहने से मनोबल एवं आत्मबल की वृद्धि होती है और निर्भयता की प्राप्त होती है। एक दिन ऐसी भी स्थिति आ जाती है कि वह साधक गुणातीत अवस्था को प्राप्त करके निर्द्वन्द्व भाव से विचरण करता है, तो कभी अजगर के समान एक ही स्थान में पड़े रहता है और कभी-कभी पागल एवं मत्तवालों के समान भी व्यवहार करने लगता है। इस प्रकार के निर्द्वन्द्व अवस्था को साधना का उत्कृष्ट फल कहा जाता है।

353-इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या, भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः।

भवन्ति वै भागवतस्य राजंस्ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात्।। 11.2.43।।

हे राजन्! इस प्रकार जो प्रतिक्षण एक-एक वृत्ति के द्वारा भगवान के चरणकमलों का ही भजन करता है, उसे भगवान के प्रति प्रेममयी भक्ति, संसार के प्रति विरक्ति और

अपने प्रति भगवान के स्वरूप की स्फूर्ति ये सब अवश्य ही प्राप्त हो जाते हैं, वह भागवत हो जाता है और तब वह स्वयं परम शान्ति का अनुभव करने लगता है।

तात्पर्य अर्थ-

कोई भी कार्य सम्पन्न करने में मनोवृत्ति या बुद्धि वृत्ति की महति आवश्यकता होती है, अर्थात् वृत्ति के अभाव में किसी भी कार्य की सिद्धि होना अत्यन्त असम्भव है। अतः कल्याण के इच्छुक साधक को चाहिये कि अपनी मनोवृत्तियों को समेटकर अन्तर्मुख कर उन्हें आत्मचिन्तन में, आत्मानुभूति करने में लगाये रखने का अभ्यास करे, ऐसा करने से नित्य ही आत्मानुभूति की ओर बढ़ते जायेंगे और संसार के प्रति या संसार के विषय वासनाओं के प्रति विरक्ति आयेगी तथा स्वस्वरूप की दृढ़तापूर्वक अनुभूति होगी, साक्षात्कार होगा और साक्षात्कार से परमानन्द, ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होगी, फिर तो आत्मा में ही रमण होगा, आत्मा में ही आराम होगा, क्रीड़ा होगी। **''ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति''** (मुं 3.2.9) ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है।

354-अथ भागवतं ब्रूत यद्धर्मो यादृशो नृणाम्।
यथा चरति यद्ब्रूते यैलिङ्गैर्भगवत्प्रियः।। 11.2.44।।

हे योगीश्वर! अब आप कृपा करके भगवद्भक्त का लक्षण वर्णन कीजिये। उसके क्या धर्म हैं? और कैसा स्वभाव होता है? वह मनुष्यों के साथ व्यवहार करते समय कैसा आचरण करता है ? क्या बोलता है? और किन लक्षणों के कारण भगवान का प्यारा हो जाता है?

तात्पर्य अर्थ-

जिज्ञासुओं की यही उदारता है कि सांसारिक वैभव को जानने की या प्राप्ति की इच्छा नहीं होती, बल्कि उसके विपरीत आध्यात्मिक विषयों को जानने की व प्राप्त करने की आकांक्षा होती है। ऐसी सद्बुद्धि ग्राही भगवत् प्रेमीजन अपने कल्याण मार्ग में दृढ़ता से लगे रहते हैं या लग जाते हैं और अपने लक्ष्य को, मंजिल को प्राप्त करने में भी कुछ भी शेष नहीं रखते। लक्ष्य या मंजिल स्वस्वरूप में अनादि अध्यारोप की अत्यन्त निवृत्ति, कार्य कारणमय जगत् की अशेषतः निवृत्ति होती है।

355-नानुतृप्ये जुषन् युष्मद्वचो हरिकथामृतम्।
संसारतापनिस्तप्तो मर्त्यस्तत्तापभेषजम्।। 11.3.2।।

हे योगीश्वर! मैं मृत्यु का शिकार हूँ। संसार के तरह-तरह के तापों ने मुझे बहुत दिनों से तपा रक्खा है। आप लोग जो भगवत् कथारूप अमृत का पान करा रहे हैं, वह उन तापों को शान्त करने की (मिटाने की) एकमात्र औषधि है, इसलिये मैं आप लोगों की इस वाणी का सेवन करते हुए भी तृप्त नहीं हो रहा हूँ। आप कृपा करके और कहिये।

तात्पर्य अर्थ-

सृष्टि के कर्ता ब्रह्मा से स्थावर पर्यन्त सम्पूर्ण चराचर विश्व, जन्म-मृत्यु एवं संयोग-वियोग से ग्रसित है, अर्थात् इनसे अछूता कोई भी प्राणी पदार्थ नहीं मिलेगा। और दूसरी बात है जन्म-मृत्यु के बीच (मध्य) काल में प्रारब्ध कर्माधीन प्राणी, विशेषत: मनुष्यों को आध्यात्मिक आदि तीनों तापों से तपना पड़ता है। शरीरों की प्राप्ति ही भोग के लिये होती है। इन तापों से (जन्म-मृत्यु से) मुक्ति पाने के लिये एकमात्र औषधि है तो आत्मतत्त्वनिष्ठ ज्ञानियों का अमृतमय सदुपदेश एवं उनके गुण-आचरणों को ग्रहण करके आत्मसात कर लेना, तद्‌रूप हो जाना। "**नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्।।**" (क.उ. 2.2.13) अर्थात् नित्य अविनाशी चेतन, अनित्य (जड़) पदार्थों में और पिपीलिका से लेकर देवाधिदेव ब्रह्मादि में चेतनता (गुणधर्म) या शक्ति आदि देखने में आती है, वह उनकी नहीं, अपितु अविनाशी चेतन की सत्ता से है। ऐसा जो विद्वान् देखता है, वह परम शान्ति को प्राप्त होता है, दूसरा नहीं।

356-एभिर्भूतानि भूतात्मा महाभूतैर्महाभुज।
ससर्जोच्चावचान्याद्यः स्वमात्रात्मप्रसिद्धये।।11.3.3।।

357-एवं सृष्टानि भूतानि प्रविष्टः पञ्चधातुभिः।
एकधा दशधाऽत्मानं विभजञ्जुषते गुणान्।। 11.3.4।।

358-गुणैर्गुणान् स भुञ्जान आत्मप्रद्योतितैः प्रभुः।
मन्यमान इदं सृष्टमात्मानमिह सज्जते।। 11.3.5।।

हे राजन्! भगवान् की माया स्वरूपत: अनिर्वचनीय है, इसलिये उसके कार्यों के द्वारा ही उसका निरूपण होता है। पुरुष-परमात्मा जिस शक्ति से सम्पूर्ण भूतों के कारण बनते हैं और उनके विषय भोग तथा मोक्ष की सिद्धि के लिये अथवा अपने उपासकों की उत्कृष्ट सिद्धि के लिये स्वनिर्मित पञ्चभूतों के द्वारा नाना प्रकार के देव, मनुष्य आदि शरीरों की सृष्टि करते हैं, उसी शक्ति को माया कहते हैं। माया शक्ति से ही कार्यरूप नानाविध पञ्चमहाभूतों के द्वारा निर्मित हुए प्राणियों के शरीरों में उन्होंने अन्तर्यामी रूप से प्रवेश किया और अपने को ही पहले के कार्य एक मन के साथ और इसके बाद पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ इन दश इन्द्रियों के साथ तादात्म्याध्यास करके विषयों को प्रकाशित करता है, किन्तु अनादि देहाभिमानी जीव अन्तर्यामि के द्वारा प्रकाशित इन्द्रियों के विषयों का भोग करता है और इन पँचभूतों के द्वारा निर्मित शरीर को आत्मा, अपना स्वरूप मानकर उसी में आसक्त हो जाता है। (यह भगवान् की माया है)।

तात्पर्य अर्थ-

यह दृश्यमान जगत् मायामय है, मृगमरीचिका है और मायामय या भ्रान्ति होने से मिथ्या होते हुए भी सत्य सा प्रतीत होने लगता है। इसी से बुद्धि भ्रमित हो जाती है, किसी निष्कर्ष में नहीं पहुँच पाती और किसी निष्कर्ष में न पहुँचने का परिणाम है- देहाध्यास, जड़ाध यास, विषयाक्त विषयाध्यासी हो जाना। स्वप्नमय पदार्थों को मैं, मेरा मानकर बँधा हुआ है। **''पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्त्वमिच्छन्।।''** क.उ. 2.1.11।। अर्थात् स्वयंभू (परमात्मा) ने बाह्याभ्यन्तर इन्द्रियों को बहिर्मुख करके जीवात्मा का हनन कर दिया है। इस लिये स्वस्वरूप का ज्ञान करने में असमर्थ हो गया है। फिर भी कोई-कोई धीर पुरुष इन्द्रियों का संयमन करके उस आत्मा को जानने की इच्छा से निरन्तर अभ्यास-वैराग्य द्वारा अपने लक्ष्य को प्राप्त कर पाते हैं।

359-इत्थं कर्मगतीर्गच्छन् बह्वभद्रवहाः पुमान्।

आभूतसम्प्लवात् सर्गप्रलयावश्नुतेऽवशः।। 11.3.7।।

इस प्रकार यह जीव ऐसी अनेक अमंगलमय कर्म गतियों को, उनके फलों को प्राप्त होता है और महाभूतों के प्रलय पर्यन्त विवश होकर जन्म के बाद मृत्यु और मृत्यु के बाद जन्म को प्राप्त होता रहता है। (यह भगवान की माया है।)

तात्पर्य अर्थ-

मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है। लेकिन कुछ कर्म प्रारब्ध के अधीन होते हैं। कर्म तीन प्रकार के होते हैं जिसे संचित, वर्तमान (क्रियमाण) और प्रारब्ध के नामों से जाना जाता है। संचितकर्म वे हैं जो अभी फल देनें प्रवृत्त नहीं है। वर्तमान (क्रियमाण) कर्म वे हैं जो इस जन्म में पुरुषार्थ कर किया गया है तथा जो कर्म फलाभिमुखी हो जाता है, उसे प्रारब्ध कर्म कहा जाता है, उन कर्मों के सुख-दु:ख रूप फल भोगने में मनुष्यों को विवश होना पड़ता है, अधीन होकर भोग करना ही पड़ता है। कर्मों का फल मनुष्य के अधिकार के बाहर है, अर्थात् फल प्रारब्ध कर्मानुसार ही प्राप्त होता है। शरीरों की प्राप्ति भी प्रारब्ध (भूतपूर्व) कर्मों का फल है। **''कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।''** (गी. 2.47)

360-धातूपप्लव आसन्ने व्यक्तं द्रव्यगुणात्मकम्।

अनादिनिधनः कालो ह्यव्यक्तायापकर्षति।। 11.3.8।।

जब पञ्चभूतों के प्रलय का समय आता है, तब अनादि और अनन्त काल स्थूल तथा सूक्ष्म द्रव्य एवं गुण रूप इस समस्त व्यक्त सृष्टि को अव्यक्त की ओर, उसके मूल कारण की ओर खींचता है- यह भगवान की माया है।

तात्पर्य अर्थ-

प्रकृति का स्वभाव है नित्य-निरन्तर प्रतिक्षण संयोग और वियोग। संयोग का नाम है सृष्टि (जगत्) और वियोग का अर्थ है विनाश (प्रलय)। यह आंशिक रूप से भी हो सकता है और पूर्ण रूप से भी। अर्थात् आंशिक रूप से तो नित्य हो रहा है और पूर्ण रूप से कभी-कदा, (करोड़ों वर्ष बाद महाप्रलय का समय आता है)। इसी संयोग-वियोग को व्यक्त-अव्यक्त के नाम से भी जाना जाता है। जिसे जाग्रत्-सुषुप्ति के द्वारा प्रमाणित किया जाता है। यह अनादि प्रवाह है। अर्थात्- ज्ञानी, योगी, ध्यानी, महापुरुष जब अपने लक्ष्य प्राप्ति के लिये वृत्तिशून्य समाधि में स्थित हो जाते हैं तब ही यह कार्य-कारणमय विश्व प्रपँच का सर्वथा तत्क्षण अन्त हो जाता है और स्वयं प्रकाश स्वरूप अखंड आत्मा का अनुभव होता है अथवा विदेह-कैवल्य स्थिति में उस सर्वात्मा के लिये अन्य कोई प्राणि पदार्थों का अस्तित्व का अभाव रहता है। वास्तव में जगत् तीनों कालों में है ही नहीं फिर भी अज्ञानता के कारण अस्तित्व सा प्रतीत होता है, रज्जू सर्पवत्। "**प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरं तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामँ रूपँ शोकान्तरम्।।**" (बृ.उ. 4.3.21), "**यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येतत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कं रसयेत्।।**" इत्यादि (बृ.उ. 4. 5.15), "**स एष नेति नेत्यात्मेति।**" (बृ.3.9.26) हे विदेहराज! जब यह पुरुष (बुद्धि) प्राज्ञात्मा (ज्ञानस्वरूप आत्मा) के साथ एक हो जाने पर (जैसा कि-एकी भवति न पश्यति, एकी भवति न शृणोति) परमार्थ दर्शन काल में न कुछ बाह्यविषय को जानता है और न आभ्यन्तर को ही, तब आत्मज्ञानी का स्वरूप आप्तकाम, आत्मकाम, अकाम और शोक रहित हो जाता है। इसलिये आगे कहा गया- जहाँ पर विद्वान् की दृष्टि में सब कुछ आत्मा हो गया है वहाँ पर किससे किसको देखें, किससे किसको किससे चखे, किस को कहे, इत्यादि। अतः इन्द्रियातीत होने से "**स एष आत्मा नेति-नेति**" (बृ.3.9.26) कहकर श्रुति भी मौन हो जाती है। "**नेहि नानास्ति किंचन।**" (बृ.4.4.19)।

361-एषा माया भगवतः सर्गस्थित्यन्तकारिणी।
त्रिवर्णा वर्णितास्माभिः किं भूयः श्रोतुमिच्छसि।। 11.3.16।।

यह सृष्टि, स्थिति और संहार करने वाली त्रिगुणमयी शक्ति भगवान की माया है। इसका हमने आपसे वर्णन किया , अब आप और क्या सुनना चाहते हैं?

तात्पर्य अर्थ-

यह त्रिगुणमयी माया अर्थात् अविद्या ही स्थूल-सूक्ष्म कार्य-कारणमय जगत् की सृष्टि आदि का निमित्त है और विद्या के द्वारा अविद्या की निवृत्ति ही जीवनमुक्ति एवं

विदेह (कैवल्य) मुक्ति है। इस अनिर्वचनीय माया को आत्मा से भिन्न-अभिन्न कुछ भी कहा नहीं जा सकता। "**भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो, साङ्गाप्यनङ्गाप्युभयात्मिका नो।।**" (वि.चू.109)

362-यथैतामैश्वरीं मायां दुस्तरामकृतात्मभिः।
तरन्त्यञ्जः स्थूलधियो महर्ष इदमुच्यताम्।। 11.3.17।।

हे महर्षि जी! इस भगवान की माया को पार करना उन लोगों के लिए तो बहुत ही कठिन है, जो अपने मन को वश में नहीं कर पाये हैं। अब आप कृपा करके वह उपाय बतलाइये जिससे जो शरीर आदि में आत्मबुद्धि रखते हैं तथा जिनकी समझ मोटी है, वे लोग भी अनायास ही इसे पार कर सकें।

तात्पर्य अर्थ-

बरसात की बढ़ी हुई नदी को पार करके अपने घर को जाना है, ऐसी स्थिति में जो तैरना जानता है, वह तो अपने बलबूते तैरकर पार करके अपने घर पहुँच सकता है किन्तु जो तैरना नहीं जानता उसके लिये तो अत्यन्त कठिन है और घर पहुँचना भी बहुत अनिवार्य है। उसके लिये पहुँचने का सहज उपाय है, मल्लाह (नाविक) का आश्रय लेना। इसी प्रकार सभी लोग जन्म-मृत्यु रूप दुःखमय संसार बन्धन से मुक्त होना चाहते हैं, क्योंकि दुःख किसी को स्वीकार नहीं है किन्तु इनमें से जो व्यक्ति घर-परिवार, देश-दुनिया के मोह-ममता को त्याग कर अरण्यवासी होकर तपोमय-साधनामय जीवन यापन कर रहा है, वह तो अपने वास्तविक घर, परमात्मरूप अपना आत्मा, ब्रह्मानन्द का अनुभव देर-सवेर कर ही लेगा, लेकिन जो सांसारिक मोह-ममता से ग्रसित हैं, उनको चाहिये कि सद्गुरु का आश्रय लें और उनके उपदेशानुसार आचरण करके अपने घर, अपनी मञ्जिल, अपने लक्ष्य को प्राप्त करें। "**परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन। तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।।**" (मुं.उ. 1.2.12) अर्थात् कर्मों से प्राप्त हुए सम्पूर्ण लोकों की विवेक बुद्धि द्वारा भली-भाँति परीक्षा कर मोक्षाभिलाषी ब्राह्मण वैराग्य को प्राप्त करे क्योंकि संसार में अनित्य साधन कर्मोपासना से नित्य पदार्थ मोक्ष नहीं मिल सकता। अतः नित्य वस्तु ब्रह्म के साक्षात् ज्ञान प्राप्ति के लिये श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के ही पास जायें।

363-कर्माण्यारभमाणानां दुःखहत्यै सुखाय च।
पश्येत् पाकविपर्यासं मिथुनीचारिणां नृणाम्।। 11.3.18।।

हे राजन्! स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध आदि बन्धनों में बँधे हुए संसारी मनुष्य सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति के लिये बड़े-बड़े कर्म करते रहते हैं। ऐसे पुरुष माया के

पार जाना चाहते हैं, उनको विचार करना चाहिये कि उनके कर्मों का फल किस प्रकार विपरीत होता जाता है। वे सुख के बदले दुःख पाते हैं और दुःख निवृत्ति के स्थान पर दिन-प्रतिदिन दुःख बढ़ता ही जाता है।

तात्पर्य अर्थ-

कर्मों के द्वारा मनुष्य किसी प्रकार जीवन निर्वाह के लिये रोटी आदि की व्यवस्था कर सकते हैं, जैसे स्थावर से पशु-पक्षी आदि पर्यन्त और इससे अधिक से अधिक स्वर्ग-सुख भोग का आनन्द भी प्राप्त कर सकते हैं किन्तु आत्यन्तिक दुःखों से निवृत्ति और निर्विशेष परमानन्द सुख प्राप्ति की कल्पना की आशा करना उसी प्रकार है, जैसे कागज की सौन्दर्यमयी नाव के द्वारा महा नदियों अथवा समुद्र को पार करना अथवा बिना पतवार के नाव से नदी पार करना। अर्थात् कर्म स्वयमेव विवेकहीन जड़ वस्तु है, अन्धकार रूप है, क्रिया रूप है। फिर उससे प्रकाशमय ज्योर्तिमय आत्मा परमात्मा की प्राप्ति कैसे सम्भव हो सकेगी? दूसरी बात है- इस परमानन्द सुख के लिये पूर्व-पूर्व जन्मों के द्वारा आत्मकल्याण की दिशा में प्रयत्न किये हुए संस्कारों से निर्मित प्रारब्ध और साथ ही वर्तमान का पुरुषार्थ, इन दोनों की महति आवश्यकता है। इन दोनों में से किसी एक के अभाव में भी दुःखों से आत्यन्तिक मुक्ति पाना असम्भव है। **''विनिवृत्तिर्भवेत्तस्य सम्यग्ज्ञानेन नान्यथा। ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं सम्यग्ज्ञानं श्रुतेर्मतम्।।''** (वि.चू. 204) अर्थात् मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति ठीक-ठीक ज्ञान हो जाने से ही होगी और किसी प्रकार से नहीं, अर्थात् ब्रह्म और जीवात्मा की एकता का ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। ऐसा श्रुति का सिद्धान्त है। **''ऋते ज्ञानान्मुक्तिः''।**

364-नित्यार्तिदेन वित्तेन दुर्लभेनात्ममृत्युना।
गृहापत्याप्तपशुभिः का प्रीतिः साधितैश्चलैः।। 11.3.19।।

एक धन को ही लो। इससे दिन-प्रतिदिन दुःख बढ़ता ही जाता है, इसको प्राप्त करना भी कठिन है और यदि किसी प्रकार मिल भी जाये तो आत्मा के लिये यह तो मृत्यु स्वरूप ही है। जो इसकी उलझनों में पड़ जाता है, वह अपने आपको भूल जाता है। इसी प्रकार घर, पुत्र, स्वजन-सम्बन्धी, पशु आदि भी अनित्य और नाशवान हैं, कदाचित् इन्हें कोई जुटा भी लें तो क्या इनसे सुख-शान्ति मिल सकती है ?

तात्पर्य अर्थ-

वित्तैषणा, पुत्रैषणा और लोकैषणा ये ही संसार के स्वरूप हैं और इनमें से एक भी एषणा ने जिसके मन-बुद्धि में प्रवेश कर लिया है, वह दुःखों से अछूता नहीं रह सकता, स्वस्वरूप का विस्मरण होना भी इन्हीं एषणाओं के होने पर ही है तथा स्वरूप के विस्मरण से दुःखों का बोझ बलात् ही दबोच लेता है, फिर तो जीवन-पर्यन्त रोना ही पड़ता है। ऐसे लोगों के

प्रति श्रुति कहती है-"**न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढ़म्। अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे।।**" (क.उ.1.2.6)।

365-एवं लोकं परं विद्यान्नश्वरं कर्मनिर्मितम्।

स तुल्यातिशयध्वंसं यथा मण्डलवर्तिनाम्।। 11.3.20।।

इस प्रकार जो मनुष्य माया से पार जाना चाहता है, उसे यह भी समझ लेना चाहिये कि मरने के बाद प्राप्त होने वाले लोक-परलोक भी ऐसे ही नाशवान हैं। क्योंकि इस लोक के समान ही वहाँ की वस्तुएँ भी हैं और सीमित कर्मों का सीमित ही फल होता है।

तात्पर्य अर्थ-

कल्याणैच्छुक साधकों-सज्जनों को यह बात निश्चित रूप में समझ लेना चाहिये कि यदि आप इस लोक या परलोक के व्यवहार को सत्य मान भी लेते हैं तो जो व्यवहार किया गया है, वह 2 घण्टा, 4 घण्टा या चार दिन-चार महीनों तथा चार वर्ष इत्यादि तक एक सीमित समय के लिये होता है और उन कर्मों का फलरूप सुख आदि भी क्षणिक मात्र ही होगा। अत: जो सीमित होता है, वह अनित्य एवं विनाशी होगा तथा विनाशी होने से दु:ख स्वरूप होना निश्चित है। क्योंकि मनुष्य चाहता है कि जो वस्तु प्राप्त है और भविष्य में प्राप्त होने वाली है, वह यथा स्थिति बने रहे, किन्तु प्रकृति का स्वभाव अति चंचल है, क्षण मात्र में प्रकाश अन्धकार में परिणत हो जाता है। इसका फल होगा दु:ख।

366-तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्।

शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्।। 11.3.21।।

367-तत्र भागवतान् धर्मान् शिक्षेद् गुर्वात्मदैवतः।

अमाययानुवृत्त्या यैस्तुष्येदात्माऽऽत्मदो हरिः।। 11.3.22।।

इसलिये जो परम कल्याण का जिज्ञासु है, उसे गुरु की शरण लेनी चाहिये। गुरुदेव ऐसे हों, जो शब्द-ब्रह्म वेदों के पारदर्शी विद्वान् हों, जिससे वे ठीक-ठीक समझा सकें और साथ ही परब्रह्म में परिनिष्ठित तत्त्वज्ञानी भी हों, ताकि अपने आप अनुभव के द्वारा प्राप्त हुई रहस्य की बातों को बता सकें। उनका चित्त शान्त हो, व्यवहार के प्रपञ्च में विशेष प्रवृत्ति न हो। जिज्ञासु को चाहिये कि ऐसे गुरु को ही अपना परम प्रियतम आत्मा और इष्टदेव माने। उनकी निष्कपट भाव से सेवा करे और उनके पास रहकर भागवत धर्म की यानि भगवान को प्राप्त कराने वाले भक्ति भाव के साधनों की क्रियात्मक शिक्षा ग्रहण करे। इन्हीं साधनों से भक्त को अपनी आत्मा का दान करने वाले सर्वात्मा भगवान प्रसन्न होते हैं।

तात्पर्य अर्थ-

''कृपाप्रसादः चतुर्विधो भवति'', कृपा प्रसाद चार प्रकार के हैं- ईश्वरकृपा, गुरुकृपा, शास्त्रकृपा और अपनी कृपा (स्वयं की कृपा)। इन चारों कृपाओं में भी निजकृपा, स्वयं का पुरुषार्थ रूप कृपा की महानता को कल्याणमार्गी मुमुक्षु के लिये सर्वोपायों का (सर्वसाधनों का) अवसान (अन्त) समझना चाहिये। क्योंकि शास्त्रकृपा (शास्त्र का सम्यगर्थावबोध), गुरुकृपा (गुरूपदेश) और ईश्वर कृपा ये तीनों परोक्ष रूप हैं, अपरोक्ष रूप तो स्वयं का अनुभव ही हो सकता है। **''मस्तकन्यस्तभारादेर्दुःख-मन्यैर्निवार्यते। क्षुधादिकृतदुःखं तु विना स्वेन न केनचित्।।''** (वि.चू. 54) जैसे-सिर पर रखे हुए बोझ का दुःख को कोई और भी दूर कर सकते हैं परन्तु भूख-प्यास आदि का दुःख स्वयं को ही मिटाना होगा। इसी प्रकार अविद्या, कामना और कर्मादि के जाल रूपी बन्धनों को सौ करोड़ कल्पों में भी स्वयं के पुरुषार्थ बिना और कौन खोल सकता है? **''अविद्याकामकर्मादिपाशबन्धं विमोचितुम्। कोः शक्नुयाद्विनात्मानं कल्पकोटिशतैरपि।।''** (वि.चु. 57) इन चारों कृपाओं में से एक के अभाव में, कल्याणेच्छुक साधकों का साधन अधूरा ही है। अर्थात् अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर पाना असम्भव है, अतः सर्वप्रथम सद्‌गुरु की खोज करें और उनके शरणापन्न हो जायं। सद्‌गुरु का लक्षण कैसा होना चाहिये? सो ध्यान से सुनो- वेद-वेदान्त में निष्णात (वेद वेदान्त के मर्मज्ञ) हों और साथ-साथ ज्ञानानुसार जीवनचर्या भी हो। अर्थात् सर्वात्म-निष्ठता, इन्द्रिय संयमी आदि गुणों से सम्पन्न हो। इस प्रकार उपरोक्त लक्षणों से युक्त सद्‌गुरु की तन, मन, धन और वाणी आदि के द्वारा श्रद्धा, भक्ति पूर्वक सेवा करने से अन्तःकरण की शुद्धि होगी, इन्हीं भक्ति, ज्ञान, वैराग्य के द्वारा मुमुक्षु साधक अपने शाश्वत स्वस्वरूप का अनुभव करके सर्वात्मभाव में निमग्न हो जायेगा।

368-सर्वत्रात्मेश्वरान्वीक्षां कैवल्यमनिकेतताम्।
विविक्तचीरवसनं सन्तोषं येन केनचित्।। 11.3.25।।

369-श्रद्धां भागवते शास्त्रेऽनिन्दामन्यत्र चापि हि।
मनोवाक्कर्मदण्डं च सत्यं शमदमावपि।। 11.3.26।।

सर्वत्र अर्थात् समस्त देश, काल और वस्तुओं में चेतनरूप से आत्मा और नियन्ता रूप से ईश्वर को देखना, एकान्त सेवन (यही मेरा घर, परिवार आदि है- ऐसा भाव न रखना), यदि गृहस्थ हो तो पवित्र वस्त्र पहनना और त्यागी हो तो फटे-पुराने चिथड़े, जो कुछ प्रारब्ध के अनुसार मिल जाये, उसी में सन्तोष करना सीखें। भगवान् की प्राप्ति का मार्ग बताने वाले शास्त्रों में श्रद्धा और दूसरे किसी भी शास्त्र की निन्दा न करें, प्राणायाम

के द्वारा मन का, मौन के द्वारा वाणी का और व्रतोपासनादि द्वारा वासना क्षय के अनुकूल अभ्यास से कर्मों का संयम करना, सत्य बोलना, इन्द्रियों को अपने-अपने गोलकों में स्थिर करना और मन को कहीं बाहर जाने से रोकना सीखें।

तात्पर्य अर्थ-

चैतन्यात्मा और ईश्वर दो नहीं हैं, एक ही आत्मा को व्यवहार काल में उपाधि विशेष के कारण ईश्वर के नाम से और जीवात्मा के नाम से जाना जाता है। दूसरे शब्दों में कहें तो सर्वज्ञता असर्वज्ञता के भेद के कारण दो नामों से कहा जाता है, अत: ईश्वर और जीवात्मा के भेद को बुद्धि से सदा के लिये निकाल देना चाहिये। मुमुक्षु साधक राग द्वेष से ऊपर उठकर एकान्त सेवन में तत्पर हो जाय, शास्त्रों में श्रद्धा, विश्वास करके मन, वाणी और इन्द्रियों को संयमित करे, निरुद्ध करे तथा उत्कृष्ट ज्ञान अहं ब्रह्मास्मि के अभ्यास द्वारा, वैराग्य के द्वारा कर्म वासनाओं को जड़ (मूल) से उखाड़ फेंके तथा- ''**उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्। आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।।**'' गी. 6.5।। अत: ''**नाहं जीवः परं ब्रह्मेत्यतद्व्यावृत्तिपूर्वकम्। वासनावेगतः प्राप्तस्स्वाध्यासापनयं कुरु।।**'' (वि.चू.281) जैसा कि गीता 7.3 में आया है- ''**मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये। यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।।**'' अर्थात् आत्मतत्त्व को यथार्थ रूप में समझ पाना अत्यन्त कठिन होने से कोई-कोई समझ पाते हैं हजारों मनुष्यों में, उनमें से भी अपने कल्याण के लिये प्रयत्न विरले करते हैं। उन करोड़ों प्रयत्न करने वालों में से भी कोई एक-दो मनुष्य यथार्थरूप से आत्मतत्त्व को स्वस्वरूप को जान (समझ) पाते हैं क्योंकि ''**सूक्ष्मात्सूक्ष्मतम आत्मतत्त्वः।**''

370-एवं कृष्णात्मनाथेषु मनुष्येषु च सौहृदम्।
परिचर्यां चोभयत्र महत्सु नृषु साधुषु।। 11.3.29।।

जिन सन्त-पुरुषों ने सच्चिदानन्द स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण को अपनी आत्मा और स्वामी रूप में साक्षात्कार कर लिया है, उनसे प्रेम और स्थावर, जङ्गम दोनों प्रकार के प्राणियों की सेवा, विशेष करके मनुष्य की, मनुष्य में भी परोपकारी सज्जनों की और उनमें भी भगवत्प्रेमी सन्तों की सेवा करना सीखें।

तात्पर्य अर्थ-

कृष्ण अर्थात् काला, अन्धकार, शून्य, जड़ पदार्थ को आत्मा से, अपने आपसे भिन्न न देखें। साक्षात्परब्रह्म परमानन्द समझें, अन्तर्यामी समझें और चराचर जगत् के प्रति समदृष्टि रखकर सेवा करें, उनमें भी आत्मज्ञानी, ब्रह्मनिष्ठ के प्रति विशेष निष्ठा करना सीखें। ''**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**'' (छा.3.14.1), ''**नेहनानास्ति किञ्चन।**'' (बृ. 4.4.19)।

371-इति भागवतान् धर्मान् शिक्षन् भक्त्या तदुत्थया।
नारायणपरो मायामञ्जस्तरति दुस्तराम्।। 11.3.33।।

हे राजन्! जो इस प्रकार भागवत धर्म की शिक्षा ग्रहण करता है, जीवन में ढालता है उसे प्रेमाभक्ति की प्राप्ति होती है और वह भगवान् नारायण के परायण होकर उस माया को अनायास ही पार कर जाता है जिसके पंजे से निकलना बहुत कठिन है।

तात्पर्य अर्थ-

माया से, अविद्या से, मोहिनी प्रकृति के आकर्षण से बचने के लिये ही भागवत धर्म यानि अन्तरङ्ग और बाह्य साधन द्वय को जीवन में अपनाना होगा। साधन द्वय किसे कहते हैं ? सो सुनो- श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि को अन्तरंग साधन कहा है और विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति तथा मोक्ष की इच्छा होना, इन साधनों को बहिरंग कहा है। स्मृति तथा उपनिषदों में कहा है कि इन्हीं साधनों के द्वारा इस दुस्तर अविद्या, माया से सरलतापूर्वक शीघ्र ही साधक तर जाते हैं, मुक्त हो जाते हैं। यही परम पद की प्राप्ति है। **''दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।।''** (गीता-7.14)।

372-स्थित्युद्भवप्रलयहेतुरहेतुरस्य,
यत् स्वप्नजागरसुषुप्तिषु सद् बहिश्च।
देहेन्द्रियासुहृदयानि चरन्ति येन,
सञ्जीवितानि तदवेहि परं नरेन्द्र।। 11.3.35।।

हे राजन्! जो इस संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का निमित्त कारण और उपादान कारण, दोनों ही है, बनाने वाला भी और बनने वाला भी वह परमात्मा ही है, परन्तु स्वयं कारण रहित है जो स्वप्न, जाग्रत् और सुषुप्ति अवस्थाओं में उनके साक्षी रूप में विद्यमान रहता है और इनके अतिरिक्त समाधि में भी ज्यों का त्यों एक रस रहता है, जिसकी सत्ता से ही सत्तावान् होकर शरीर, इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरण अपना अपना कार्य करने में समर्थ होते हैं उसी परम सत्य को आप नारायण समझिये।

तात्पर्य अर्थ-

नारायण को परमात्मा समझना है अर्थात् अपने स्वरूप को जानना है। उसे नारायण क्यों कहा गया ? **'नर एव नारं नाराणां अयनं'**, इस प्रकार दो शब्दों से युक्त है नारायण शब्द। अब इन दोनों का अर्थ समझते हैं- नार शब्द का अर्थ है, जल यानि रज और वीर्य का मिश्रणबिन्दु, जिससे निर्मित है यह शरीर और उसी शरीर का नाम है नार। दूसरा शब्द है अयन, अयन का अर्थ है-पथ (चलने का) मार्ग, संसार व्यूह में,

चक्र में प्रवेश करने का द्वार, उसी में सर्वात्मा नारायण प्रवेश करके सुख-दुःख का अनुभव करते हैं सुख-दुःख भोग करके मर जाना, पुनः जन्म की प्राप्ति, यही अनादि चक्र है। **''तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।।''** (श्वेता: उ. 3.8)।

अर्थात् उस आत्मा को जानकर ही मृत्यु से मुक्ति पायी जा सकती है, इसके अतिरिक्त मोक्ष के लिये अन्य कोई मार्ग नहीं है।

अतः नार और अयन दोनों शब्द मिलकर नारायण नाम की सिद्धि है। यद्यपि नाम जीवात्मा का नहीं अपितु शरीर का है, आत्मा तो निराकार, नीरूप होने से अनामी है तथापि (फिर भी) उस आत्मा के बिना मन को जगत् के कार्य कारण का ही ज्ञान नहीं हो सकता व्यवहार काल में, अतः उसी आत्मा का नाम है नारायण।

373-यर्ह्यब्जनाभचरणैषणयोरुभक्त्या,
चेतोमलानि विधमेद् गुणकर्मजानि।
तस्मिन् विशुद्ध उपलभ्यत आत्मतत्त्वं,
साक्षाद् यथामलदृशोः सवितृप्रकाशः।। 11.3.40।।

जब भगवान् कमलनयन के चरण कमलों को प्राप्त करने की इच्छा से तीव्र भक्ति की जाती है, तब वह भक्ति ही अग्नि की भाँति गुण और कर्मों से उत्पन्न हुए चित्त के सारे मलों को जला डालती है। जब चित्त शुद्ध हो जाता है, तब आत्मतत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है जैसे- नेत्रों के रोगादि दोष रहित निर्विकार हो जाने पर सूर्य के प्रकाश की प्रत्यक्ष अनुभूति होने लगती है।

तात्पर्य अर्थ-

जो आत्मतत्त्व, ब्रह्मतत्त्व सूक्ष्मातिसूक्ष्मतम आत्मा-परमात्मा अतीन्द्रिय होने पर भी भक्ति, वैराग्य, ज्ञान अथवा ध्यान-समाधि आदि साधनों के माध्यम से (साधनों की परिपक्व अवस्था आ जाने पर) हस्तामलक की तरह अनुभव में आने लगता है, यही समस्त साधनों का उत्कृष्ट फल है। श्रुतियों का निष्कर्ष एवं उद्देश्य भी यही है।

374-धर्मान् भागवतानित्थं श्रुत्वाथ मिथिलेश्वरः।
जायन्ते यान् मुनीन् प्रीतः सोपाध्यायो ह्यपूजयत्।। 11.5.43।।

हे वसुदेव जी! मिथिला नरेश राजा नौ योगीश्वरों से इस प्रकार भागवत धर्म का वर्णन सुनकर बहुत ही आनन्दित हुए। उन्होंने अपने ऋत्विज् और आचार्यों के साथ ऋषभनन्दन नौ योगीश्वरों की पूजा की। इसके बाद सब लोगों के सामने ही वे सिद्ध अन्तर्धान हो गये। विदेह राजा निमि ने उनसे सुने हुए भागवत धर्म का आचरण किया और परम गति प्राप्त की।

तात्पर्य अर्थ-

शास्त्र श्रवण का अभिप्राय होना चाहिए कि जिससे अपनी आत्मा का कल्याण हो, परमानन्द की प्राप्ति हो, आत्यन्तिक सुख शान्ति का अनुभव हो। जैसे हम वही अन्न, जल ग्रहण करते हैं, जिससे कि भूख, प्यास की निवृत्ति हो। यद्यपि अन्न जल से भूख, प्यास की निवृत्ति क्षणिक है, आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं, किन्तु निष्ठापूर्वक शास्त्र श्रवण का फल आत्यन्तिक सुख शान्ति है, नित्य और शाश्वत है।

(16) मोहान्धप्रकरणम्

375-यर्ह्येवायं मया त्यक्तो लोकोऽयं नष्टमङ्गलः।

भविष्यत्यचिरात् साधो कलिनापि निराकृतः।। 11.7.4।।

हे प्यारे उद्धव! जिस क्षण मैं मर्त्यलोक पृथिवी का परित्याग कर दूँगा, उसी क्षण इसके सारे मंगल नष्ट हो जायेंगे और थोड़े ही दिनों में पृथ्वी पर कलियुग का बोलबाला, साम्राज्य हो जायेगा।

तात्पर्य अर्थ-

यह सच है कि जीवात्मा से संयुक्त होकर ही जड़, अचेतन, पार्थिव, स्थूल शरीर भी चेतनवत् मंगलमय आभासित हो रहा है, प्रतीति का विषय बन रहा है और जिस क्षण जीवात्मा से (अपञ्चीकृत लिंगशरीर से) वियुक्त हो जाय, उसी क्षण अमंगलमय, अशोभनीय तथा वास्तविकस्वरूप अचेतन, काष्ठ, पत्थर की भाँति देखने में आयेगा। अथवा चराचर (स्थावर-जङ्गम) समस्त जगत् में प्रियता या अमंगलमय प्रतीति का होना, यही सूचक है कि आत्मतत्त्व की व्याप्ति है। अथवा जब तक इस मर्त्यलोक में पर्याप्त रूप से आत्मतत्त्वज्ञानियों, महानुभाव सज्जनों का विचरण एवं उनके उपदेश की वर्षा होती रहती है, यत्र-तत्र सर्वत्र तभी तक मंगलमय, सुख-शान्तिमयता की अनुभूति आती रहेगी और जिस दिन से आत्मचर्चा लुप्त हो जायेगी उसी दिन से यह रमणीय जगत् अरमणीय हो जायेगा, श्मशान में रूपान्तरित हो जायेगा।

376-यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः।

नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि मायामनोमयम्।। 11.7.7।।

377-पुंसोऽयुक्तस्य नानार्थो भ्रमः सो गुणदोषभाक्।

कर्माकर्मविकर्मेति गुणदोषधियो भिदा।। 11.7.8।।

इस जगत् में जो कुछ मन से सोचा जाता है, वाणी से कहा जाता हे और श्रोत्रादि इन्द्रियों से अनुभव किया जाता है, वह सब नाशवान है। सपने की तरह मन का विलास है। इसलिये माया मात्र है, मिथ्या है ऐसा समझ लेना चाहिये। जिस पुरुष का मन

अशान्त है, उसी को पागल की तरह अनेकों वस्तुएँ मालूम पड़ती हैं। वास्तव में यह चित्त का भ्रम ही है। नानात्वका केवल भ्रम होने पर ही यह गुण है और यह दोष, इस प्रकार की कल्पना करनी पड़ती है, जिसकी बुद्धि में गुण और दोष का भेद बैठ गया है, दृढ़ मालूम हो गया है उसी के लिये कर्म, अकर्म और विकर्म रूप भेद का प्रतिपादन हुआ है। ''**मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः। इति ब्रूते श्रुतिः साक्षात्सुषुप्तावनुभूयते।।**'' (वि.चू. 406) और पंचदशीकार का कहना है- ''**ततो निरंश आनन्दे विवर्तो जगदिष्यताम्। मायाशक्तिः कल्पिका स्यादैन्द्रजालिकशक्तिवत्।।**'' (पं. द.13.10)।

तात्पर्य अर्थ-

यह प्रतीयमान एवं रमणीय जगत् एकमात्र मन का ही विलास है, मन का माना हुआ है, मनोमय है। अर्थात् मन में संगृहित अनादि संस्कारों के अतिरिक्त और कुछ कहा ही नहीं जा सकता। इसलिये शास्त्रकारों ने स्वप्नवत् कहा है, अनिर्वचनीय कहकर छोड़ दिया है। श्रुतियाँ भी नेति-नेति कहकर मौन हो जाती हैं। यह प्रपञ्च तो उसी के लिये सत्य और नित्य है जिसको स्वस्वरूप का सर्वात्मा का बोध नहीं हुआ है। जैसे- स्वप्न के प्राणी-पदार्थ उसी को सत्य मालूम होती है, जो जिस काल में स्वप्न देख रहा हो, अन्य को नहीं, बल्कि उसको भी जग जाने पर मिथ्या ही अनुभव होता है, यह एक विलक्षण विडम्बना ही है और कुछ नहीं।

378-तस्माद् युक्तेन्द्रियग्रामो युक्तचित्त इदं जगत्।
आत्मनीक्षस्व विततमात्मानं मय्यधीश्वरे।। 11.7.9।।

इसलिये हे उद्धव! तुम पहले अपनी इन्द्रियों को अपने वश में कर लो उनकी बागडोर अपने हाथ में ले लो और केवल इन्द्रियों को ही नहीं चित्त की समस्त वृत्तियों को भी रोक लो और फिर ऐसा अनुभव करो यह सारा जगत् आत्मा से ही फैला हुआ है और आत्मा मुझ सर्वात्मा-इन्द्रियातीत ब्रह्म से अभिन्न है, अतः एक है।

तात्पर्य अर्थ-

इस जगत की पृथक् प्रतीति का अस्तित्व तभी तक समझना चाहिये जब तक मन, इन्द्रियों की बहिर्मूखता है ओर जिस दिन अन्तर्मुखता, आत्माभिमुखता हो जायेगी, केवल आत्म चिन्तन व मनन में ही मन व बुद्धि की प्रवृत्ति हो जायेगी, उसी दिन यह दृश्यमान विश्वप्रपञ्च अनुभव का विषय नहीं बनेगा। बल्कि सर्वात्मा से अभिन्नता का अनुभव होने लगेगा। इसी बात के समर्थन में समस्त वेदशास्त्रों का मुख्य उपदेश है- ''**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**'' (छा.3.14.1), ''**नेह नानास्ति किञ्चन**'' (बृ.4.4.19) इत्यादि

श्रुतिः। कुछ साधक ऐसे भी होते हैं, जो बाहर से तो बड़े ही त्यागी, तपस्वी एवं ज्ञानी देखने में लगते हैं, किन्तु भीतर (मन से) बिल्कुल विपरीत (विषयभोगी, विषयाकांक्षा से पूर्ण) हैं। इसीलिये भागवतकार भगवान् वेदव्यास जी ने भगवान श्रीकृष्ण द्वारा कहलवाया है कि "**तस्माद् युक्तेन्द्रियग्रामो युक्तचित्त इदं जगत्।**" (भा. 11. 7.9) "**तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ। पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्।।**" (गीता-3.41) अर्थात् केवल मात्र ब्राह्येन्द्रियों को अवरुद्ध करने से साधक अपने लक्ष्य प्राप्त करने में समर्थ नहीं हो सकते, इसलिये आगे कहा- **'युक्तचित्त इदं जगत्'**, अर्थात् ब्राह्येन्द्रियों के साथ ही मन, बुद्धि को वश में किये बिना केवल बाह्येन्द्रियाँ वश में हो ही नहीं सकती। "**पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मान-मैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्त्वमिच्छन्।।**" (क.उ. 2.1.11)।

379-ज्ञानविज्ञानसंयुक्त आत्मभूतः शरीरिणाम्।
आत्मानुभवतुष्टात्मा नान्तरायैर्विहन्यसे।। 11.7.10।।

जब वेदों के मुख्य तात्पर्य निश्चय रूप और विज्ञान रूप अनुभव से भली-भाँति सम्पन्न होकर तुम अपनी आत्मा के अुनभव में ही आनन्दमग्न रहोगे और सम्पूर्ण देवता आदि शरीरधारियों के आत्मा हो जाओगे, तब किसी भी विघ्न से तुम पीड़ित नहीं हो सकोगे, क्योंकि उन विघ्नों और विघ्न कराने वालों के आत्मा तू ही है।

तात्पर्य अर्थ-

जीवन विघ्नमय है, कष्टमय (पीड़ा से) रिक्त नहीं है किञ्चिन्मात्र भी। पीड़ा से रहित होने के लिये एकमात्र उपाय है, सद्गुरु के द्वारा उपनिषद् विद्या का ज्ञान प्राप्त करके भेद बुद्धि (द्वैत) को सदा सर्वदा के लिये मिटा कर, उपसंहार करके, उस प्रपञ्च शून्य बुद्धि को आत्मा में, स्वस्वरूप में लगा दें, बुद्धि के आत्मरूप हो जाने पर परमानन्द सर्वात्मरूप हो जाते हैं। फिर तो उनके लिये न विघ्न है और न कोई विघ्न करने वाला ही रह जाता है क्योंकि सर्वात्मभाव का अर्थ होता है आत्म भिन्न कुछ शेष ही नहीं रह जाना। "**यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातँ स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।**" (छा.उ. 6.1.4)।।

380-त्यागोऽयं दुष्करो भूमन् कामानां विषयात्मभिः।
सुतरां त्वयि सर्वात्मन्नभक्तैरिति मे मतिः।। 11.7.15।।

381-सोऽहं ममाहमिति मूढमतिर्विगाढ, स्त्वन्मायया विरचितात्मनि सानुबन्धे।
तत्त्वञ्जसा निगदितं भवता यथाहं, संसाधयामि भगवन्ननुशाधि भृत्यम्।।
11.7.16।।

382-सत्यस्य ते स्वदृश आत्मन आत्मनोऽन्यं,
वक्तारमीश विबुधेष्वपि नानुचक्षे।
सर्वे विमोहितधियस्तव माययेमे,
ब्रह्मादयस्तनुभृतो बहिरर्थभावाः।। 11.7.17।।

हे अनन्त! जो लोग विषयों की चिन्तन और सेवन में घुलमिल गये हैं, विषयात्मा हो गये हैं, उनके लिये विषय भोगों और कामनाओं का त्याग अत्यन्त कठिन है। हे सर्वरूप! उनमें भी जो लोग आपसे विमुख हैं, उनके लिये तो इस प्रकार का त्याग सर्वथा असम्भव ही है, ऐसा मेरा निश्चय है। हे प्रभो! मैं भी ऐसा ही हूँ, मेरी मति इतनी मूढ़ हो गयी है कि यह मैं हूँ, मेरा है, इस भाव से मैं आपकी माया के खेल, देह और देह के सम्बन्धी स्त्री, पुत्र, धन आदि में मोह और आसक्ति रूपी समुद्र में डूब रहा हूँ। अत: हे भगवन्! आपने जिस संन्यास का उपदेश किया है उसका तत्त्व मुझ सेवक को इस प्रकार समझाइये कि मैं सुगमता से उसकी साधना कर सकूँ। हे मेरे प्रभो! आप भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीनों कालों से अबाधित हैं, एक रस सत्य हैं। आप दूसरे के द्वारा प्रकाशित नहीं, स्वयं प्रकाश आत्मरूप हैं। हे प्रभो! मैं समझता हूँ कि मेरे लिये आत्मतत्त्व का उपदेश करने वाला आपके अतिरिक्त देवताओं में भी कोई नहीं है। ब्रह्मा आदि जितने बड़े-बड़े देवता हैं, वे सब शरीराभिमानी होने के कारण आपकी माया से मोहित हो रहे हैं। उनकी बुद्धि माया के वश में हो गयी है। यही कारण है कि वे इन्द्रियों से अनुभव किये जाने वाले बाह्य विषयों को सत्य मानते हैं। इसीलिये मुझे तो आप ही उपदेश करें।

तात्पर्य अर्थ-

चैतन्यात्मा परप्रकाश्य नहीं, अपितु वह स्वयं ज्योति स्वरूप है, उस आत्मा को यथार्थ अनुभूति में लाने के लिये सर्वधर्म कर्म का और अहन्त, ममता आदि का त्याग अत्यन्त अनिवार्य होगा। ऐसी स्थिति में मलिन संस्कारों से, कुवासनाओं से ग्रसित अन्त:करण वाले जिज्ञासु एवं साधकों के लिये कठिन ही नहीं अपितु असम्भव सा लग रहा है। क्योंकि इस प्रस्तुत विषय को देवताओं के लिये भी अशक्य कहा गया है जैसा कि केन उपनिषद (2.4) में अग्नि देवता का कहना है- **''अग्निर्वा जातवेदा नैतदशकं विज्ञातुं''** और कठोपनिषद (1.1.21) में यमराज ने कहा- **''देवैरपि विचिकित्सितं पुरा न ही सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः।''** अर्थात् अपनी शक्ति के दम्भ भरने वाले अभिमानी अग्नि आदि देवताओं को भी कहना पड़ा- मैं उस प्रकाश स्वरूप देव को नहीं जान सका (जानने में असमर्थ हूँ)। यमराज ने कहा कि हे नचिकेता! इस सूक्ष्म आत्मा के

सम्बन्ध में पहले (पूर्व) में देवताओं को भी संशय हुआ था। अर्थात् जानने में असमर्थ थे।) **'आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः''** (कठ.1.2.7), **''न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो, (कथं पुनः सुविज्ञेय? अनन्यप्रोक्तो अपृथग्दर्शिनाऽऽचार्येण प्रतिपाद्यब्रह्मात्मभूतेन प्रोक्त''** इति भाष्यं) (क.उ.1.2.8) अर्थात् उस आत्मतत्त्व का निरूपण करने वाला, समझाने वाला भी (अनेकों में से विरला ही) कोई होते हैं, उसे समझा देना भी आश्चर्य ही है। इसको जानने वाला जिज्ञासु भी कोई निपुण पुरुष ही होता है, मुमुक्षु ही होता है तथा कुशल आचार्य से उपदेश प्राप्त किया हुआ, वह पुरुष भी आश्चर्यरूप ही है। अनेक प्रकार से विकल्पित यह आत्मा साधारण बुद्धि वाले पुरुष द्वारा कहे जाने पर भी अच्छी प्रकार समझा नहीं जा सकता, परन्तु अभेददर्शी आचार्य (सद्‌गुरु) द्वारा उपदेश किये गये इस आत्मतत्त्व में (पूर्वोक्त विकल्प की) कोई गति नहीं है, संगति नहीं है।

383-प्रायेण मनुजा लोके लोकतत्त्वविचक्षणाः।
समुद्धरन्ति ह्यात्मानमात्मनैवाशुभाशयात्।। 11.7.19।।

हे उद्धव! संसार में जो मनुष्य ''यह जगत् क्या है? संसार में क्या हो रहा है? इत्यादि बातों पर विचार करने में निपुण हैं, वे चित्त में भरी हुई अशुभ वासनाओं से, अपने आपको स्वयं अपनी विवेक शक्ति से ही प्रायः बचा सकते हैं।

तात्पर्य अर्थ-

जो साधक अपनी विवेकशक्ति का यथावत् उपयोग करके आत्मा-अनात्मा का सत्य-असत्य का, बन्ध-मोक्ष आदि का विवेक करते हैं वे ही इस संसार बन्धन से मुक्ति पा सकते हैं। **''सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाँसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदँ संग्रहेण ब्रवीमि।'', ''एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्। एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते।।''** (क.उ.2.1.15/16/17।। विवेक, वैराग्य और स्वस्वरूप के दृढ़ निश्चय पूर्वक ज्ञान ही अमोघ अस्त्र-शस्त्र है जिसके द्वारा काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि महान् से महान्तम शत्रुओं को नष्ट किया जा सकता है। इतना ही महीं, बल्कि पूर्व-पूर्व जन्मों के अनादि बीज वासनाओं, संस्कारों को भी नष्ट कर सकते हैं। कर्म संस्कारों की वासना ही जीवात्मा का अनादि-अनन्त कालों का श्रृंखला (अटूट बेड़ी) है तथा अपना लक्ष्य परमानन्द मोक्षपद की प्राप्ति भी इसी में है। अर्थात् स्वयं का पुरुषार्थ ही अपरोक्ष ज्ञान में निमित्त है और यही मुक्ति है।

384-आत्मनो गुरुरात्मैव पुरुषस्य विशेषतः।
यत् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रेयोऽसावनुविन्दते।। 11.7.20।।

385-पुरुषत्वे च मां धीराः सांख्ययोगविशारदाः।
आविस्तरां प्रपश्यन्ति सर्वशक्त्युपबृंहितम्।। 11.7.21।।

समस्त प्राणियों का विशेष कर मनुष्यों का आत्मा ही अपने हित और अहित का उपदेशक गुरु है क्योंकि मनुष्य अपने प्रत्यक्ष, अनुभव और अनुमान के द्वारा अपने हित-अहित का निर्णय करने में पूर्णतः समर्थ है। सांख्ययोग विशारद धीर पुरुष इस मनुष्य योनि में इन्द्रियशक्ति, मनःशक्ति आदि के आश्रयभूत मुझ-आत्मतत्त्व को पूर्णतः प्रकट रूप से साक्षात्कार कर लेते हैं।

तात्पर्य अर्थ-

हमारे पूर्वाचार्यों ने प्राणियों की उत्पत्ति (योनि) चार की संख्या में विभक्त कि हैं-जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज और स्वेदज (ऊष्मज)। इन चारों में से जरायुज और जरायुजों में भी मनुष्य योनि को सर्वश्रेष्ठ माना है क्योंकि पशु आदि प्राणी भी इसी योनि में आते हैं किन्तु पशु दुःखमय संसार बन्धनों से मुक्त होने के लिये विचार ही नहीं कर सकते, क्योंकि उन्हें बन्धन का ज्ञान ही नहीं है तो भला मुक्त होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। इसलिये मनुष्य शरीरधारी जीवात्मा ही आत्मा-परमात्मा एवं स्वस्वरूप को जानने में साक्षात् अनुभव करने में पूर्णतः समर्थ है, इतर प्राणी नहीं। मनुष्यों से भिन्न प्राणी तो केवल कर्मों के (प्रारब्ध) फल भोग के लिये हैं, यथा कर्म करने का साधन इन्द्रियाँ, मार्गगमन करने का साधन वाहन आदि। मनुष्य जीवन एक ऐसा विलक्षण साधन है कि इससे आप नवीन कर्म, प्रारब्ध भोग एवं स्वस्वरूप अनुभूति आदि को कर सकते हैं। जो ऐसे दुर्लभ मनुष्य जन्म प्राप्त कर भी अपना कल्याण करने में प्रमाद करते हैं, ऐसे मनुष्यों के लिये भगवत्पाद जगद्गुरु आद्य शंकराचार्य जी का कहना है- **''लब्ध्वा कथञ्चिन्नरजन्म दुर्लभं, तत्रापि पुंस्त्वं श्रुतिपारदर्शनम्। यः स्वात्ममुक्तौ न यतेत मूढधीः स ह्यात्महा स्वं विनिहन्त्यसद्ग्रहात्।।''** (वि.चू.4) जिस मनुष्य जीवन के द्वारा वेदशास्त्रों का ज्ञान करके इसी जीवन में आत्मानुभूति करके इस महादुःखालय से सदैव के लिये मुक्ति पायी जा सकती है, ऐसे दुर्लभ मानव जीवन को प्राप्त करके भी जो मनुष्य अपने कल्याण के लिये प्रयत्न नहीं करते हैं वे मूढ़बुद्धि वाले, अज्ञानी जन अपनी आत्मा की हत्या स्वयं ही करते हैं, असत्य जगत को सत्य मानकर। **''मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन। मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति।।''** (क.उ. 2.1.11) अर्थात् मन से ही यह (एकरस ब्रह्म) प्राप्त करने योग्य है, इस ब्रह्मतत्त्व में नाना अणुमात्र कुछ भी नहीं है। जो पुरुष अविद्यावश इस ब्रह्म में नानात्व सा देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है।

(17) परम शान्ति का उपाय विरक्ति प्रकरण-

386-अत्र मां मार्गयन्त्यद्धा युक्ता हेतुभिरीश्वरम्।
गृह्यमाणैर्गुणैर्लिङ्गैरग्राह्यमनुमानतः।।11.7.23।।

387-अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
अवधूतस्य संवादं यदोरमिततेजसः।। 11.7.24।।

इस मनुष्य शरीर में एकाग्रचित्त, तीक्ष्णबुद्धिवाले पुरुष द्वारा ग्रहण किये जाने वाले हेतुओं से, जिनसे केवल अनुमान ही होता है, उस अनुमान से अग्राह्य अर्थात् अहंकार आदि विषयों से भिन्न मुझ सर्वप्रवर्तक ईश्वर को साक्षात् अनुमान द्वारा जानते हैं। कार्य करण द्वारा कर्ता का जैसे अनुमान किया जाता है। इस विषय में महात्मा लोग एक प्राचीन इतिहास कहा करते हैं। वह इतिहास परम तेजस्वी दत्तात्रेय अवधूत और राजा यदु के संवाद के रूप में है।

तात्पर्य अर्थ-

कुछ वस्तुयें ऐसी होती हैं, जो प्रत्यक्ष का विषय नहीं बनती। उस विषय को तीक्ष्ण (सूक्ष्म) बुद्धि के द्वारा अनुमान करके सिद्ध किया जाता है। उसी प्रकार श्रुति वाक्य है- **''अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्। तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमालनः।।''** (क.उ. 1.2.20) अर्थात् सूक्ष्म से सूक्ष्मतम और महान से महानतम उस आत्मा का साक्षात्कार करते हैं, कौन करते हैं ? वीत शोको अक्रतुः, अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ आत्मज्ञानीजन, कहाँ पर अनुभव करते हैं ? जन्तोर्निहितो गुहायां, अर्थात् समस्त प्राणियों के हृदय को विशेष स्थान माना गया है। उसी स्थान में सर्वव्यापक, निराकार, नीरूप एवं इन्द्रियातीत जीवात्मा के रूप में अनुमान किया जाता है। यद्यपि अनुमेय न होने पर भी शरीर इन्द्रियों के क्रिया-कलापों द्वारा अनुमेय के रूप में अनुमान किया जाता है। इस विषय में यदुकी जिज्ञासा प्रस्तुत है-

388-कुतो बुद्धिरियं ब्रह्मन्नकर्तुः सुविशारदा।
यामासाद्य भवाँल्लोकं विद्वांश्चरति बालवत्।। 11.7.26।।

हे ब्रह्मन् आप कर्म तो करते नहीं, फिर आपको यह अत्यन्त निपुण बुद्धि कहाँ से प्राप्त हुई ? जिसका आश्रय लेकर आप परम विद्वान् होने पर भी बालक के समान संसार में विचरते हैं।

तात्पर्य अर्थ-

इस यदुवाक्य से हमें अवगत होता है कि ब्रह्मनिष्ठ तत्त्वज्ञानी संसार में कैसे जीवन यापन करते हैं। अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानियों की कोई अवस्था नहीं, कोई मार्ग नहीं,

कोई देश या क्षेत्र नहीं, कोई अपेक्षा नहीं इत्यादि। ऐसे ज्ञानियों के लक्षण गीता में कहे हैं- **''ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः। युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः।।''** (6.8)

389-त्वं तु कल्पः कविर्दक्षः सुभगोऽमृतभाषणः।

न कर्ता नेहसे किञ्चिज्जडोन्मत्तपिशाचवत्।। 11.7.28।।

मैं देख रहा हूँ कि आप कर्म करने में समर्थ हैं, विद्वान् और निपुण हैं। आपका भाग्य और सौन्दर्य भी प्रशंसनीय है। आपकी वाणी से मानो अमृत टपक रहा है। फिर भी आप जड़-उन्मत्त अथवा पिशाच के समान रहते हैं, न तो कुछ करते हें और न चाहते ही हैं।

तात्पर्य अर्थ-

जीवन मुक्त पुरुष के मन कामनाओं से सर्वथा रहित हो जाने से कर्मों से भी रहित हो जाते हैं। उनका समस्त व्यवहार दिशाहीन (अनिश्चित) होता है यथा उन्मत्त।

390-त्वं हि नः पृच्छतां ब्रह्मन्नात्मन्यानन्दकारणम्।

ब्रूहि स्पर्शविहीनस्य भवतः केवलात्मनः।। 11.7.30।।

हे ब्रह्मन्! आप पुत्र, धन, स्त्री आदि संसार के स्पर्श से भी रहित हैं। आप सदा सर्वदा अपने केवल स्वरूप में ही स्थित रहते हैं। हम आपसे यह जानना चाहते हैं कि आपको अपनी आत्मा में ही अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव कैसे होता हे? आप कृपा करके अवश्य इस जिज्ञासा का समाधान करें।

तात्पर्य अर्थ-

कार्य-कारण रूप संसार से पूर्णतः निवृत्त होने पर ही, स्वस्वरूप में स्थित हो पाना सम्भव है और स्वस्वरूप में स्थिति ही परमानन्द की प्राप्ति है। **''अथ ये शतं प्रजापतिलोक आनन्दाः स एको ब्रह्मलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथैष एव परम आनन्द एष ब्रह्मलोकः।''** (बृ. 4.3.33) अर्थात् जो सौ प्रजापति लोक का आनन्द है, वह एक ब्रह्मलोक का आनन्द है और जो सौ ब्रह्मलोक का आनन्द है, वह एक श्रोत्रिय कामनाशून्य विद्वान् ब्रह्मनिष्ठ का भी आनन्द है और यही उत्कृष्ट आनन्द है, यही ब्रह्मप्रकाश।

391-पृथिवी वायुराकाशमापोऽग्निश्चन्द्रमा रविः।

कपोतोऽजगरः सिन्धुः पतङ्गो मधुकृद् गजः।। 11.7.33।।

392-मधुहा हरिणो मीनः पिङ्गला कुररोऽर्भकः।

कुमारी शरकृत् सर्प ऊर्णनाभिः सुपेशकृत्।। 11.7.34।।

393-एते मे गुरवो राजंश्चतुर्विंशतिराश्रिताः।

शिक्षावृत्तिभिरेतेषामन्वशिक्षमिहात्मनः।। 11.7.35।।

394-यतो यदनुशिक्षामि यथा वा नाहुषात्मज।

तत्तथा पुरुषव्याघ्र निबोध कथयामि ते।।11.7.36।।

हे राजन्! मेरे गुरुओं के नाम हैं- पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कबूतर, अजगर, समुद्र, पतंग, भौंरा, मधुमक्खी, हाथी, मधु निकालने वाला, हरिन, मछली, पिङ्गला, कुरर पक्षी, बालक, कुंवारी कन्या, बाण बनाने वाला, सर्प, मकड़ी और भृङ्गी कीट। हे राजन्! मैंने इन चौबीस गुरुओं का आश्रय लिया है और इन्हीं के आचरणों से इस लोक में अपने लिये शिक्षा ग्रहण की है। हे वीरवर ययातिनन्दन! मैंने जिससे जिस प्रकार जो कुछ सीखा है, वह सब ज्यों का त्यों तुमसे कहता हूँ।।

तात्पर्य अर्थ-

यह संसार (कारण-कार्यमय) रत्नों का एवं ज्ञान-विज्ञान का निधि (भण्डार) है। चौदह रत्नों की बात पुराण-काल में आयी है। इसी प्रकार महामनीषी, विचारशील, महाज्ञानी एवं त्यागी दत्तात्रेय जी महाराज ने मानव कल्याणर्थ आत्म विज्ञान का शोधन (अनुसन्धान) किया था। यह परम्परा अनादि काल से चली आ रही है। प्राणी पदार्थरूप यह जगत् ही हमारे प्राचीन और प्राचीनतम पूर्वजों का, ऋषि-महर्षियों का इण्टर कालेज विद्यालय (प्राथमिक, माध्यमिक आदि) महाविद्यालय और डिग्री कालेज (विश्वविद्यालय) के रूप में रहे हैं। वेदों में जिन विद्याओं की चर्चाएँ आयी हैं, वह सबके सब इसी जगत् की देन है। यह जगत् ही सभी विद्याओं की जननी है। (अहंग्रह-विद्या, मधु-विद्या, दहर-विद्या, भूमा-विद्या तथा विद्यानां राजा- आत्म विद्या इत्यादि उपनिषदों में आती हैं।) ''**विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तधनम्।**'' (भर्तृ)

395-भूतैराक्रम्यमाणोऽपि धीरो दैववशानुगैः।

तद् विद्वान्न चलेन्मार्गादन्वशिक्षं क्षितेर्व्रतम्।। 11.7.37।।

396-शश्वत्परार्थसर्वेहः परार्थैकान्तसम्भवः।

साधुः शिक्षेत भूभृत्तो नगशिष्यः परात्मताम्।। 11.7.38।।

मैंने पृथ्वी से उसके धैर्य की, क्षमा की शिक्षा ली है। लोग पृथ्वी पर कितना आघात और क्या-क्या उत्पात नहीं करते, परन्तु वह न तो किसी से बदला लेती है और न रोती-चिल्लाती है। संसार के सभी प्राणी अपने-अपने प्रारब्ध के अनुसार चेष्टा कर रहे हैं, वे समय-समय पर भिन्न-भिन्न प्रकार से जान या अनजान में आक्रमण कर बैठते हैं। अतः धीर पुरुष को चाहिये कि उनकी विवशता समझे और न तो अपना धैर्य खोकर

क्रोध ही करे। अपने मार्ग पर ज्यों का त्यों चलता रहे। पृथ्वी के ही विकार पर्वत और वृक्षों से मैंने यह शिक्षा ग्रहण की है कि जैसे उनकी सारी चेष्टाएँ सदा सर्वदा दूसरों के हित के लिये ही होती है, साधु-पुरुष को चाहिये कि उनकी शिष्यता स्वीकार करके उनसे परोपकार की शिक्षा ग्रहण करें।

तात्पर्य अर्थ-

सज्जनों एवं साधकों को चाहिये कि पृथ्वी, वृक्ष, पर्वत आदि के द्वारा उनके गुण-धर्मों का अनुसरण करके समय-समय पर संसारी लोगों के प्रति अपना-स्वभाव का परिचय देते रहें, यही मानवता है, जनहित सेवा है। यथा पृथ्वी प्राणिजगत् का रस है सार है, क्योंकि समस्त प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति और विलीनता आदि का स्थान है एवं भोग्या भी है। **''अन्नद्ध्ये खल्विमानि भूतानि जायनते। अन्नेन जातानि जीवाक्ति। अन्नं त्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।।''** (तै.3.2), **''एषां भूतानां पृथिवी रसः।।''** (छा.1.1.2)

397-प्राणवृत्त्यैव सन्तुष्येन्मुनिर्नैवेन्द्रियप्रियैः।

ज्ञानं यथा न नश्येत नावकीर्येत वाङ्मनः ।। 11.7.39।।

398-विषयेष्वाविशन् योगी नानाधर्मेषु सर्वतः।

गुणदोषव्यपेतात्मा न विषज्जेत वायुवत्।। 11.7.40।।

मैंने शरीर के भीतर रहने वाले प्राणवायु से यह शिक्षा ग्रहण की है कि जैसे वह आहार मात्र की इच्छा करता है, और इसी से तृप्त होकर सन्तुष्ट हो जाता है, वैसे ही साधकों को भी चाहिये कि जितने से जीवन निर्वाह हो जाये, उतना भोजन कर लें। इन्द्रियों को तृप्त करने के लिये बहुत से विषयों की इच्छा न करें। संक्षेप में उतने ही विषयों का उपयोग करना चाहिये, जिससे बुद्धि विकृत न हो, मन चञ्चल न हो और वाणी व्यर्थ की बातों में न लग जाये। शरीर के बाहर रहने वाली वायु से मैंने यह सीखा है कि जैसे वायु को अनेक स्थानों में जाना पड़ता है, परन्तु वह कहीं भी आसक्त नहीं होती, किसी का भी गुण-दोष नहीं अपनाती, वैसे ही साधक पुरुष भी आवश्यक हो तो विभिन्न प्रकार के धर्म और स्वभाव वाले विषय में जाय, परन्तु अपने लक्ष्य पर स्थिर रहे। किसी के गुण या दोष की ओर न झुक जाये, किसी से आसक्ति या द्वेष न कर बैठें।

तात्पर्य अर्थ-

साधकों का लक्षण होना चाहिये-प्रारब्धानुसार, जो कुछ भी मिल जाये, उसी में सन्तुष्ट रहें, **'सन्तोषं परमं सुखम्'** देहासक्त होकर इन्द्रिय तृप्ति में समय व्यर्थ न करें। अर्थात् मात्र जीवन निर्वाह के लिये ही विषयों का उपभोग करें तथा प्राणी पदार्थों के साथ व्यवहार करते समय मन को आसक्ति से दूर रक्खें। अर्थात्! अनासक्त भाव में सदा रहा

करें, क्योंकि आसक्ति ही जन्म-मृत्यु और रागद्वेष का कारण है। यथा वायु गन्दा नाला और पुष्पों की वाटिका से होकर निकलने पर भी निर्लिप्त रहती है।

399-सन्तं समीपे रमणं रतिप्रदं, वित्तप्रदं नित्यमिमं विहाय।

अकामदं दुःखभयाधिशोकमोहप्रदं तुच्छमहं भजेऽज्ञा।। 11.8.31।।

400-अहो मयाऽऽत्मा परितापितो वृथा, साङ्केत्यवृत्त्यातिविगर्ह्यवार्तया।

स्त्रैणान्नराद् यार्थतृषोऽनुशोच्यात्, क्रीतेन वित्तं रतिमात्मनेच्छती।। 11.8.32।।

देखो तो सही, मेरे निकट से निकट हृदय में ही मेरे सच्चे स्वामी भगवान् विराजमान हैं। वे वास्तविक प्रेम, सुख और परमार्थ का सच्चा साधन भी देने वाले हैं। जगत् के पुरुष अनित्य हैं। हाय-हाय! मैंने उनको तो छोड़ दिया और उन तुच्छ मनुष्यों की सेवा की, जो मेरी एक भी कामना पूरी नहीं कर सकते, उल्टे दुःख भय आधि-व्याधियों और शोक, मोह ही देते हैं। यह मेरी मूर्खता की हद है, कि मैं उनका सेवन करती हूँ। बड़े दुःख की बात है, मैंने अत्यन्त निन्दनीय आजीविका वेश्यावृत्ति का आश्रय लिया और व्यर्थ में अपने शरीर और मन को क्लेश दिया, पीड़ा पहुँचायी। मेरा यह शरीर बिक गया है। लम्पट-लोभी और निन्दनीय मनुष्यों ने इसे खरीद लिया है और मैं इतनी मूर्ख हूँ कि इसी शरीर से धन और रति-सुख चाहती हूँ। मुझे धिक्कार है।

तात्पर्य अर्थ-

समस्त दुःख-अशान्ति और जन्म-मृत्यु का कारण है, स्वस्वरूप को, अन्तरात्मा को भूल जाना, बेहोशी में जीना। इसलिये श्रुति को कहना पड़ा "**उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।।**" (क.उ.1.3.14) अरे! अनादि अज्ञान निद्रा में सोने वाले मनुष्यों! उठो, (सम्पूर्ण अनर्थों की बीजभूत अविद्या निद्रा से) उठो और जागो (मैं कौन हूँ? यह जगत् क्या है? मैं कहाँ से आया हूँ ? अब मुझे क्या करना है ? इत्यादि प्रश्नों के समाधान के लिये खोज करना जागना है) और श्रेष्ठ पुरुषों को प्राप्त कर जानो। अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ आत्मतत्त्वज्ञानी सद्गुरु की शरण ग्रहण करके जीव-ब्रह्म की ऐक्य भाव को प्राप्त करो। यही मनुष्य की मनुष्यता है, मनुष्य शरीर प्राप्ति का सर्वोत्तम फल है। "**इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः**" (केन उ. 2.13)

401-यदस्थिभिर्निर्मितवंशवंश्य, स्थूणं त्वचा रोमनखैः पिनद्धम्।

क्षरन्नवद्वारमगारमेतद्, विण्मूत्रपूर्णं मदुपैति कान्या।। 11.8.33।।

402-विदेहानां पुरे ह्यस्मिन्नहमेकैव मूढधीः।

यान्यमिच्छन्त्यसत्यस्मादात्मदात् काममच्युतात्।। 11.8.34।।

यह शरीर एक घर के समान है। इसमें हड्डियों के टेढ़े-तिरछे बाँस और खम्भे लगे हुए हैं, चमड़ी, रोएँ और नाखूनों से यह छाया गया है ढका हुआ है। इसमें नौ दरवाजे हैं,

जिनसे मल निकलते हैं। इसमें सञ्चित सम्पत्ति के नाम पर केवल मल और मूत्र हैं। मेरे अतिरिक्त ऐसी कौन स्त्री है, जो इस स्थूल शरीर को अपना प्रिय समझ कर सेवन करेगी। यों तो यह विदेहों की, जीवन मुक्तों की नगरी है, परन्तु इसमें मैं ही सबसे मूर्ख और दुष्टा हूँ क्योंकि अकेली मैं ही तो आत्मदानी, अविनाशी एवं परमप्रियतम परमात्मा को छोड़कर दूसरे पुरुष की अभिलाषा करती हूँ।

तात्पर्य अर्थ-

साधना के लिये प्राप्त दुर्लभ मानव-जीवन में सबसे बड़ी भूल है देहाध्यास, इसी के कारण जीव इस नारकीय शरीर को अपना स्वरूप आत्मा मानकर तादात्म्यभाव कर लेता है और इससे सम्बन्धित प्राणी पदार्थों को मेरा मानकर विमोहित होता है, और इसके ही द्वारा अविनाशी, द्रष्टा आत्मा को स्वस्वरूप को जानने वाली विवेक बुद्धि को ढक दिया है। इन्हीं कारणों से अजन्मा, निर्विकार, नित्य-मुक्तस्वरूप होते हुए भी जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख , भूख-प्यास, आधि-व्याधि इत्यादि की प्रतीति हो रही है। यही संसार बन्धन है और अपने को मानता है मैं बँधा हुआ हूँ। यह मानव शरीर मात्र नारकीय ही नहीं अपितु कल्याणार्थियों के लिये सर्वश्रेष्ठ साधन भी है क्योंकि जो मनुष्य आत्मज्ञानी के शरण ग्रहण कर लेता है, वह उपरोक्त बन्धनों से मुक्त भी हो जाता है और अजन्मा, अमृतस्वरूप आत्मा के परमानन्द स्वरूप की साक्षात् अनुभूति कर लेता है। सर्वरूप हो जाता है। **''अहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतो-ऽहमुत्तरतोऽहमेवेदं सर्वमिति।''** (छा.उ. 7.25.1), **''घटे नष्टे यथा व्योम व्योमैव भवति स्फुटम्। तथैवोपाधिविलये ब्रह्मैव ब्रह्मवित्स्वयम्।।''** (वि.चू.566)।

403-सन्तुष्टा श्रद्दधत्येतद्यथालाभेन जीवती।

विहराम्यमुनैवाहमात्मना रमणेन वै।। 11.8.40।

अब मुझे प्रारब्ध के अनुसार जो कुछ मिल जायेगा, उसी से निर्वाह कर लूँगी और बड़े सन्तोष तथा श्रद्धा के साथ रहूँगी। अब मैं किसी दूसरे पुरुष की ओर न देखकर अपने हृदयेश्वर, आत्म रूप प्रभु के साथ ही विहार करुँगी। **''यँल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति।'', ''यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति, स्तब्धो भवति, आत्मारामो भवति।।** (त्रि.म.ना.1.5)'', **''आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः।।''** (मु. 3.1.4), **''यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा मेऽस्य हृदि श्रिता। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।।''** (मु. 2.3.4), **''आत्मार्थत्वेन हि प्रेयान् विषयो न स्वतः प्रियः। स्वत एव हि सर्वेषामात्मा प्रियतमो यतः।।''** (वि.चू. 108)।

तात्पर्य अर्थ-

प्रारब्धानुसार प्राप्ति-अप्राप्ति में ही सन्तोष करके जीवन यापन करना और संसार के प्रति (उनके आगमपायी दोषों को दु:खमय समझ कर) उदासीनता से उपेक्षा कर अन्तरात्मा में-परमात्मा में ही अपने मनोवृत्ति को एकाग्र करके समाहित कर लेना साधकों की महानतम उपलब्धि है।

404-संसारकूपे पतितं विषयैर्मुषितेक्षणम्।
ग्रस्तं कालाहिनाऽऽत्मानं कोऽन्यस्त्रातुमधीश्वरः।। 11.8.41।।

405-आत्मैव ह्यात्मनो गोप्ता निर्विद्येत यदाखिलात्।
अप्रमत्त इदं पश्येद् ग्रस्तं कालाहिना जगत्।। 11.8.42।।

यह जीव संसार रूप कुएँ में गिरा हुआ है। विषयों ने इसे अन्धा बना दिया है, कालरूपी अजगर ने इसे अपने मुँह में दबा रक्खा है। अब भगवान् को छोड़कर इसकी रक्षा करने में दूसरा कौन समर्थ है। अर्थात् ईश्वर की कृपा से जिस समय जीव समस्त विषयों से विरक्त हो जाता है, उस समय स्वयं ही अपनी रक्षा कर लेता है। इस लिये बड़ी सावधानी के साथ यह देखते रहना चाहिये कि सारा जगत् कालरूपी अजगर से ग्रस्त है।

तात्पर्य अर्थ-

समस्त चराचर जगत् मृत्यु यानि संयोग-वियोग से ग्रसित है, प्रतिक्षण विनाश को प्राप्त हो रहा है। इसलिये विचारवान् पुरुषों को चाहिये कि इस प्रपँच जगत से स्नेह हटाकर इसी जीवन में आत्मा-अनात्मा का यथार्थ विवेक करके स्वस्वरूप में स्थित हो जाये।

406-आशा ही परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्।
यथा सञ्छिद्य कान्ताशां सुखं सुष्वाप पिङ्गला।। 11.8.44।।

सचमुच आशा ही सबसे बड़ा दु:ख है और आशा का अभाव ही सबसे बड़ा सुख है क्योंकि पिङ्गला वेश्या ने जब पुरुष की आशा त्याग दी, तभी वह सुख से सो सकी।

तात्पर्य अर्थ-

कामना के वशीभूत होकर प्राणी मात्र दु:ख एवं अशान्ति से ग्रसित है। चाहे वह कामना वित्त, पुत्र या लोक वासना की हो अथवा खानपान के सम्बन्ध में हो। एक चींटी को ही लीजिये- वह दिन-रात खाने के ही चक्कर में घूमती रहती है। फिर मनुष्यों की तो बात ही क्या कहें, क्योंकि इनके पीछे पुत्रैषणा और लोकैषणा भी लगी रहती है।

407-परिग्रहो हि दुःखाय यद् यत्प्रियतमं नृणाम्।
अनन्तं सुखमाप्नोति तद् विद्वान् यस्त्वकिञ्चनः।। 11.9.1।।

हे राजन्! मनुष्यों को जो वस्तुएँ अत्यन्त प्रिय लगती हैं, उन्हें इकट्ठा करना ही उसके दु:ख का कारण है। जो बुद्धिमान् पुरुष यह बात समझकर अकिञ्चन भाव से रहता है, शरीर की तो बात ही अलग, मन से भी किसी वस्तु का संग्रह नहीं करता, उसे अनन्त सुखस्वरूप परमात्मा की प्राप्ति होती है।

तात्पर्य अर्थ-

संग्रह-अति संग्रह में कारण है, प्राणि-पदार्थों के प्रति स्नेहप्रियता और संग्रह ही समस्त दु:खों का निमित्त बनता है। अतः साधन चतुष्टय (विवेक, वैराग्य, षद्सम्पत्ति और मुमुक्षता) को जीवन में अपनाकर अनन्त सुखस्वरूप अन्तरात्मा की, स्वस्वरूप की अनुभूति करें। ''**विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः। निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति।**'' (गी. 2.71)।

408-सामिषं कुररं जघ्नुर्बलिनो ये निरामिषाः।

तदामिषं परित्यज्य स सुखं समविन्दत।। 11.9.2।।

एक कुररपक्षी अपनी चोंच में मांस का टुकड़ा लिया हुआ था, उस समय दूसरे बलवान् पक्षी, जिनके पास मांस नहीं था, उससे छीनने के लिये उसे घेरकर चोंचे मारने लगे। जब कुरर पक्षी ने अपनी चोंच से मांस का टुकड़ा छोड़ दिया, तभी उसे सुख मिला।

तात्पर्य अर्थ-

प्राणी जगत् आत्यन्तिक सुख-शान्ति की प्रबल आकांक्षी है किन्तु मिलता नहीं, ऐसा क्यों? इसमें दो कारण निहित हैं, कोषबद्ध है। (क) जो अपने पास वस्तु है उससे सन्तुष्टि नहीं (अत्यधिक की चाह) होने से और जो है उसमें अत्यधिक मोहासक्ति का आवेश यानि ताण्डव है। (ख) प्राणी पदार्थ अनित्य और क्षणभंगुर होने से उसके विनष्ट हो जाने का निरन्तर भय बना रहता है, जबकि संयोग का वियोग होना उसका स्वभाव है। ''**संयोगो हि वियोगस्य संसूचको भवति**''

409-मन एकत्र संयुज्याज्जितश्वासो जितासनः।

वैराग्याभ्यासयोगेन ध्रियमाणमतन्द्रितः।। 11.9.11।।

410-यस्मिन् मनोलब्धपदं यदेतच्छनैः शनैर्मुञ्चति कर्मरेणून्।

सत्त्वेन वृद्धेन रजस्तमश्च, विधूय निर्वाणमुपैत्यनिन्धनम्।। 11.9.12।।

411-तदैवमात्मन्यवरुद्धचित्तो, न वेद किञ्चिद् बहिरन्तरं वा।

यथेषुकारो नृपतिं व्रजन्तमिषौ गतात्मा न ददर्श पार्श्वे।।11.9.13।।

हे राजन्! बाण बनाने वाले से यह सीखा है कि आसन और श्वास को जीत कर वैराग्य और अभ्यास के द्वारा अपने मन को वश में कर लें और फिर बड़ी सावधानी के

साथ उसे एक लक्ष्य में लगा दें। जब परमानन्द स्वरूप परमात्मा में मन स्थिर हो जाता है, तब वह धीरे-धीरे कर्मवासनाओं की धूलि को धोकर बहाता है। सत्त्वगुण की वृद्धि से रजोगुणी और तमोगुणी वृत्तियों को त्याग कर देने पर मन वैसे ही शान्त हो जाता है। जैसे ईंधन के बिना अग्नि। इस प्रकार जिसका चित्त अपनी आत्मा में स्थिर-निरुद्ध हो जाता है, उसे बाहर भीतर कहीं किसी पदार्थ का भान नहीं होता। मैंने देखा था कि एक बाण बनाने वाला कारीगर बाण बनाने में इतना तन्मय हो रहा था कि उसके पास से ही दल-बल के साथ राजा की सवारी निकल गयी और उसे पता न चला।

तात्पर्य अर्थ-

चित्तवृत्तियों का निरोध एवं एकाग्रता ही अपने लक्ष्य की प्राप्ति है। लक्ष्य चाहे वह विषयानन्द का हो अथवा ब्रह्मानन्द का हो, चित्तवृत्ति को निरोध करने का क्या उपाय है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर समाधान है-''**नित्यं शुद्धविमुक्तैकमखण्डानन्दमद्वयम्। सत्यं ज्ञानमनन्तं यत् परब्रह्माहमेव तत्।। एवं निरन्तराभ्यस्ते ब्रह्मैवास्मीति वासना। हरत्यविद्या विक्षेपान् रोगानिव रसायनम्।।**'' अर्थात् सदा सर्वदा शुद्ध, अखण्डानन्द, द्वैतरहित, समस्त प्रपञ्चों से विमुक्त, सत्य, ज्ञानस्वरूप और आदि-अन्त से भी विनिर्मुक्त परब्रह्म को 'मैं' के रूप में जानकर जो निरन्तर अभ्यास में रत है, उस अभ्यास की वासना (संस्कार) से अनादि अविद्या के सहित विक्षेप की निवृत्ति हो जाती है, यथा- औषधियों के द्वारा असाध्य रोगों की भी निवृत्ति हो जाती हैं। ''**अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः**'' (यो.सू.1.12) अर्थात् अभ्यास और वैराग्य के द्वारा चञ्चल मन को शान्त किया जा सकता है और मन के शान्त हो जाने पर वृत्तियाँ स्वतः शान्त हो जाती हैं अथवा वृत्तियों के निरोध हो जाने पर मन शान्त हो जाता है। प्राणी-पदार्थों के प्रति निष्प्रियता का नाम वैराग्य है और मन की वृत्तियों को अपने लक्ष्य में स्थिर करने के लिये बारम्बार प्रयत्न करने का नाम अभ्यास है। ये अभ्यास और वैराग्य तभी फलीभूत हो सकते हैं, जब सत्त्वगुण की प्रधानता और रज-तम की गौणता होगी। इसके लिये भी साधक को सात्त्विक आहार-विहार की आवश्यकता है। अर्थात् संयमित जीवन यापन करना होगा। ''**आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः**'' (छा.7.26.2)।

412-लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते, मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु यावन्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात्।।
11.9.29।।

यद्यपि यह मनुष्य शरीर है तो अनित्य ही क्योंकि मृत्यु सदा इसके पीछे लगी रहती है, परन्तु इसी से परमपुरुषार्थ की प्राप्ति भी हो सकती है, इसलिये अनेक जन्मों के बाद यह अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य शरीर पाकर बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि शीघ्र से शीघ्र

मृत्यु के पहले ही मोक्ष प्राप्ति का प्रयत्न कर लें। इस जीवन का मुख्य उद्देश्य मोक्ष ही है। विषय भोग तो सभी प्राणियों को प्राप्त है, इसलिये उनके संग्रह में यह अमूल्य जीवन नहीं खोना चाहिये।

तात्पर्य अर्थ-

मोक्षाभिलाषी साधकों को चाहिये कि इस दुर्लभ मानव जीवन में ही अपने परम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त कर ले, अपने अन्तिम मञ्जिल में पहुँच जाएँ क्योंकि इस नश्वर शरीर की कोई सीमा या तिथि नहीं है, कि इतने दिनों या वर्षों तक हमें जीना (रहना) है। अत: मोक्ष प्राप्ति के लिये प्रमाद कभी नहीं करना चाहिये, क्योंकि इस प्रसंग में किसी कवि का कहना है- **''कल करन सो आज कर, आज करन सो अब। पल में परलय होत है फिर करोगे कब।।'', ''इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति नो चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।''** (के.2.5) अर्थात् इसी जीवन में, इस श्वास के रहते रहते, अपना कल्याण मार्ग को प्रशस्त करके जन्म-मृत्यु रूप भवबन्धन से छुटकारा पा लिया तो अति उत्तम है और यदि इस जीवन के रहते रहते न जाग सके, न कल्याण कर सके तो बहुत बड़ी हानि होगी। नारकीय योनि-कीट, पतंग, गन्दे नाले के कीड़े होना पड़ेगा, स्थावर योनि में जन्म लेना पड़ेगा। **''त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दँशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तदाभवन्ति।''**(छा.उ.6.10.3)।

413-एवं सञ्जातवैराग्यो विज्ञानालोक आत्मनि।
विचरामि महीमेतां मुक्तसङ्गोऽनहङ्कृतिः।। 11.9.30।।

414-नह्येकस्माद् गुरोर्ज्ञानं सुस्थिरं स्यात् सुपुष्कलम्।
ब्रह्मैतदद्वितीयं वै गीयते बहुधर्षिभिः।। 11.9.31।।

हे राजन्! यही सब सोच-विचार कर मुझे जगत् से वैराग्य हो गया है। मेरे हृदय में ज्ञान-विज्ञान की ज्योति जगमगाती रहती है। न तो कहीं मेरी आसक्ति है और न कहीं अहंकार ही। अब मैं स्वच्छन्द रूप से इस पृथ्वी पर विचरण करता हूँ। हे राजन्! अकेले गुरु से ही यथेष्ट और सुदृढ़ बोध नहीं होता उसके लिये अपनी बुद्धि से भी बहुत कुछ सोचने-समझने की आवश्यकता है। देखो, ऋषियों ने एक ही अद्वितीय ब्रह्म के अनेकों प्रकार से गान किया है। यदि तुम स्वयं विचार कर निर्णय नहीं करोगो तो ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को कैसे जान सकोगे।

तात्पर्य अर्थ-

इस दृश्यमान प्रपञ्च के वास्तविक स्वरूप को जब तक मनुष्य समझ नहीं पायेगा, तब तक इस मोहमय जगत् में ठीक-ठीक वैराग्य होना असम्भव है। यदि कदाचिद् वैराग्य हो भी जाय तो क्षण मात्र स्थायी होगा। क्योंकि प्रत्यक्ष उदाहरण के रूप

में आज देखने में आ रहा है कि घर परिवार, गाँव, देश आदि इसके शेष प्रसंग त्याग कर किसी सिद्धान्त या सम्प्रदाय से धार्मिक चिन्हों का अवलम्बन लेकर कुछ ही कालों के बाद ज्ञान, वैराग्य के भावावेश शान्त हो जाता है और उनके चित्त वित्त, स्त्री आदि के मोह जाल में उलझ जाने से, भोग वासना के संस्कार पुनः जाग्रत हो जाते हैं। "**अवलम्बनाय दिनकर्तुरभून्न पतिष्यतः करसहस्रमपि**" (शिवपुराण) और वैराग्य के अभाव में ज्ञान भी पर उपदेश के लिये ही रह जाता है। अर्थात् विषयों के भाव को प्राप्त हो जाने पर भोग वासना के संस्कार ने मनुष्य को पशु बना दिया है, अन्धा एवं पंगु बना दिया है-अध्यात्म मार्ग से दूर कर दिया है। विचार करके देखा जाये तो यह जगत् सभी विषयों का आचार्य है, परमगुरु है। अतः महर्षि दत्तात्रेय जी जैसे हमें भी इस जगत् से शिक्षा लेकर अपना कल्याण कर लेना चाहिये।

415-यमानभीक्ष्णं सेवेत नियमान् मत्परः क्वचित्।
मदभिज्ञं गुरुं शान्तमुपासीत मदात्मकम्।। 11.10.5।।
416-अमान्यमत्सरो दक्षो निर्ममो दृढ़सौहृदः।
असत्वरोऽर्थजिज्ञासुरनसूयुरमोघवाक्।। 11.10.6।।

अहिंसा आदि यमों का तो आदरपूर्वक सेवन करना ही चाहिये, परन्तु शौच आदि नियमों का पालन कभी शक्ति के अनुसार और आत्मज्ञान के विरोधी न होने पर ही करना चाहिये। जिज्ञासु पुरुष के लिये यम और नियमों के पालन से भी बढ़कर आवश्यक बात यह है कि वह अपने गुरु की, जो मेरे स्वरूप को जानने वाले और शान्त हों उन्हें मेरा ही स्वरूप समझकर सेवा करे। शिष्यों को चाहिये कि वे कभी किसी प्रकार का अभिमान न करें, वह कभी किसी से ईर्ष्या न करें, किसी का बुरा न सोचे। वह प्रत्येक कार्य में कुशल हों, उसे आलस्य छू न जाये। उसे कभी भी ममता न हो, गुरु के चरणों में दृढ़ अनुराग हो। कोई काम हड़बड़ा कर (जल्दबाजी में) न करें, उसे सावधानी से पूरा करें। सदा परमार्थ के सम्बन्ध में ज्ञानप्राप्त करने की इच्छा बनाये रक्खें। किसी के गुण में दोष न निकालें और व्यर्थ की बातें न करें।

तात्पर्य अर्थ-

आत्मा को, स्वस्वरूप को जान लेने के बाद जन्म-मृत्यु का भय शोकादि अपने आप समाप्त हो जाता है। स्वस्वरूप को जानने का अभिप्राय है- मैं अन्नमयादि पाँच कोशों से रहित हूँ; स्थूल, सूक्ष्म, कारणादि देहों से भिन्न हूँ; मन-बुद्धि आदि अन्तःकरण से रहित हूँ; जायतेऽस्ति आदि षड्विकारों से रहित हूँ अर्थात् स्वभावतः मुक्तस्वरूप हूँ। ऐसा ज्ञान न होने में निमित्त है अनादि अविद्या, अज्ञान। जड़ प्रकृति का आश्रय भी चेतन-आत्मा है। आत्मा की सत्ता से ही मन-बुद्धि हैं, किन्तु आत्मा का आश्रय कोई

नहीं है। अर्थात् निराश्रित है, स्वयमेव है। इस प्रकार निरन्तर चिन्तन-मनन करते हुए स्थूल सूक्ष्म देहों में आत्मबुद्धि, अहंबुद्धि का परित्याग कर देना चाहिये। इस अज्ञान-अविद्या को निर्मूल करने के लिये श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानी सद्गुरु के शरणापन्न होने की महति आवश्यकता है। "**उपसीदेद् गुरुं प्राज्ञं यस्माद्बन्धविमोक्षणम्। श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतो यो ब्रह्मवित्तमः।**" (वि.चू.34) अर्थात् स्थितप्रज्ञ गुरु के निकट जाय, जिससे उसके भवबन्धन की निवृत्ति हो। जो गुरु श्रोत्रिय हों, निष्पाप हों, कामनाओं से शून्य हों, ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ हों।

417-आचार्योऽरणिराद्यः स्यादन्तेवास्युत्तरारणिः।
तत्सन्धानं प्रवचनं विद्यासन्धिः सुखावहः।। 11.10.12।।

418-वैशारदी सातिविशुद्धबुद्धिर्धुनोति मायां गुणसम्प्रसूताम्।
गुणांश्च सन्दह्य यदात्ममेतत्स्वयं च शाम्यत्यसमिद् यथाग्निः।। 11.10.13।।

विद्या रूप अग्नि की उत्पत्ति के लिये आचार्य और शिष्य तो नीचे-ऊपर की अरणियों के समान हैं तथा उपदेश ही मन्थन यानि मथनी काष्ठ है। इनसे जो ज्ञानाग्नि प्रज्ज्वलित होती है, वह विलक्षण सुख देने वाली है। इस यज्ञ में बुद्धिमान् शिष्य को सद्गुरु के द्वारा जो अत्यन्त विशुद्ध ज्ञान प्राप्त होता है, उस ज्ञान के द्वारा वह गुणों से बनी हुई विषयों की माया जाल को भस्म कर देता है। तत्पश्चात् वे गुण भी भस्म हो जाते हैं, जिनसे कि यह संसार बना हुआ है। इस प्रकार सबके भस्म हो जाने पर जब आत्मा के अतिरिक्त कोई वस्तु शेष नहीं रह जाती तब वह ज्ञानाग्नि भी ठीक वैसे ही अपने वास्तविक स्वरूप में लीन हो जाती है जैसे समिधा न होने पर आग बुझ जाती है या शान्त हो जाती है।

तात्पर्य अर्थ-

प्रशान्त आत्मा का ज्ञान श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानी सद्गुरु के द्वारा ही प्राप्त होता है, अन्य के द्वारा नहीं। उस ज्ञानाग्नि से ही मूलाविद्या के सहित प्रकृति के स्वभाव रूप गुणों एवं अनादि कर्मवासनाओं की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाने से कार्य-कारणमय प्रपञ्च जगत् भी विनाश को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार सब कुछ का अभाव हो जाने पर स्वयमेव निर्विकार, निर्विशेष अजन्मात्मा ही शेष रह जाती है। वास्तव में विचार करके देखा जाय तो चैतन्य आत्मा से भिन्न नाना भेदरूप यह जगत् न पहले था और न आज वर्तमान में है तथा न भविष्य में रहेगा। फिर भी उसकी प्रतीति हो रही है, वह प्रतीति स्वप्नवत् है, मरुमरीचिकावत् है, रज्जुसर्पवत्, भोक्तृत्व से सर्वथा रहित है। "**एकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।**" मा.उ. 7।

219-अथैषां कर्मकर्तॄणां भोक्तॄणां सुखदुःखयोः।

नानात्वमथ नित्यत्वं लोककालागमात्मनाम्।। 11.10.14।।

420-मन्यसे सर्वभावानां संस्था ह्यौत्पत्तिकी यथा।

तत्तदाकृतिभेदेन जायते भिद्यते च धीः।।11.10.15।।

421-एवमप्यङ्ग सर्वेषां देहिनां देहयोगतः।

कालावयवतः सन्ति भावा जन्मादयोऽसकृत्।। 11.10.16।।

हे प्यारे उद्धव! यदि तुम कदाचित् कर्मों के कर्ता और सुख-दुःखों के भोक्ता, जीवों को अनेक तथा जगत्, काल, वेद और आत्माओं को नित्य मानते हो, साथ ही समस्त पदार्थों की स्थिति प्रवाह को नित्य और यथार्थ स्वीकार करते हो तथा यह समझते हो कि घट-पट आदि बाह्य आकृतियों के भेद से उनके अनुसार ज्ञान ही उत्पन्न होता और बदलता रहता है तो ऐसे मत के मानने से बड़ा अनर्थ होगा। (क्योंकि सत्ता और जन्म-मृत्यु के चक्कर से मुक्ति भी सिद्ध न हो सकेगी)। यदि कदाचित् ऐसा स्वीकार भी कर लिया जाये तो देह और संवत्सरादि कालावयवों के सम्बन्ध से होने वाली जीवों की जन्म-मृत्यु आदि अवस्थाएँ भी नित्य होने के कारण दूर न हो सकेंगी, क्योंकि तुम देहादि पदार्थ और काल की नित्यता स्वीकर करते हो। लेकिन, यहाँ भी कर्मों का कर्ता तथा सुख-दुःख का भोक्ता जीव परतन्त्र ही दिखायी देता है। यदि वह स्वतन्त्र हो तो दुःख का फल क्यों भोगना चाहेगा ? इस प्रकार सुख भोग की समस्या सुलझ जाने पर भी दुःख भोग की समस्या तो उलझी ही रहेगी। अतः इस मत के अनुसार जीव को कभी मुक्ति या स्वतन्त्रता प्राप्त न हो सकेगी। जब जीव स्वरूपतः परतन्त्र है, विवश है, तब तो स्वार्थ या परमार्थ का वह कभी भी सेवन न कर सकेगा। अर्थात् वह स्वार्थ परमार्थ दोनों से ही वञ्चित रह जायेगा।

तात्पर्य अर्थ-

विनाशशील चराचर जगत् को नित्य, सत्य और स्वतन्त्र, एक सर्वव्यापक आत्मा को परतन्त्र एवं नानारूप स्वीकार करने पर मोक्ष या मुक्तिपद की व्याख्या करने वाले सभी सिद्धान्त के लिये हास्यास्पद होगा, क्योंकि जगत् की नित्यता, सत्यता और आत्मा की परतन्त्रता को स्वीकार करने पर आत्मा का मोक्ष किससे और कैसे ? प्रश्नचिन्ह लग जायेगा। फिर तो इसका समाधान करना ही असम्भव हो जायेगा और यह जगत् (प्रकृति) चैतन्यात्मा को अपने अधीन करके खिलौना बनाकर अथवा गुलाम बनाकर अपनी सेवा-सुश्रुषा कराती रहेगी, बन्दरों की नाच-नचाती रहेगी। दुःख पर दुःख देती रहेगी और आत्मा के परतन्त्रता हो जाने से परलोक की इच्छा या दुःखों से मुक्ति पाना भी नहीं

बन सकेगा। जबकि श्रुतियाँ कहती हैं- **''नेह नानास्ति किञ्चन''** (बृ.4.4.19), **''सर्वं खल्विदं ब्रह्म''** (छा.3.14.1), **''य एवं वेदाथात आदेशो नेति नेति न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्त्यथ नामधेयँ।।''**(बृ. 2.3.6), **''तदेतद्ब्रह्मापूर्वमन-परमनन्तरमबाह्यमयमात्मा।''**(बृ.उ. 2.5.19)।

422-कर्माणि दुःखोदर्काणि कुर्वन् देहेन तैः पुनः।

देहमाभजते तत्र किं सुखं मर्त्यधर्मिणः।। 11, 10-29।।

जितने भी सकाम और बहिर्मुख करने वाले कर्म हैं उनका फल दुःख ही है। जो जीव शरीर में अहन्ता, ममता करके उन्हीं में लग जाता है, उसे बारम्बार जन्म पर जन्म और मृत्यु पर मृत्यु प्राप्त होती है। ऐसी स्थिति में मृत्युधर्मी जीव को क्या सुख होगा ?

तात्पर्य अर्थ-

सुखाभिलाषी जीवात्मा को न चाहते हुए भी अनायास दुःख की प्राप्ति क्यों? इसका कारण है बहिर्मुखता को बढ़ावा देनेवाला सकाम कर्म और देह-गेह आदि में अहन्ता-ममता करके व्यवहार करना है-जन्म-मृत्यु से ग्रसित रहना। **''मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति।''** (क.उ. 2.2.11) गुणों की विषमता ही जगत् है, जगद् की सृष्टि है और गुणों की समत्व समानता (तीनों गुणों का स्वभाव एक समान बर्ताव करने लग जाये। जैसे- गंगा आदि नदियाँ समुद्र में मिल जाने पर अपने नाम, रूप और गुणों को त्याग कर एक समुद्र रूप को प्राप्त हो जाती हैं।) महाप्रलय के नाम से जानी जाती है। अथवा सुषप्ति अवस्था समत्व का प्रमाण है, उपशमवस्था है, वहाँ पर न मानसिक व्यवहार है न शारीरिक क्रियाकलाप है।

423-यावत् स्याद् गुणवैषम्यं तावन्नानात्वमात्मनः।

नानात्वमात्मनो यावत् पारतन्त्र्यं तदैव हि।।11.10.32।।

424-यावदस्यास्वतन्त्रत्वं तावदीश्वरतो भयम्।

य एतत् समुपासीरंस्ते मुह्यन्ति शुचार्पिताः।। 11.10.33।।

जब तक गुणों की विषमता है, अर्थात् शरीरादि में 'मैं' और मेरेपन का अभिमान है, तभी तक आत्मा के एकत्व की अनुभूति नहीं होती, वह अनेक जान पड़ती है और जब तक आत्मा की अनेकता है, तब तक तो उसे काल अथवा कर्म किसी के अधीन रहना ही पड़ेगा। जब तक परतन्त्रता है तब तक ईश्वर से (स्वस्वरूप से) भय बना ही रहता है। जो 'मैं', 'मेरेपन' के भाव से ग्रस्त रहकर आत्मा की अनेकता, परतन्त्रता आदि मानते हैं और वैराग्य न ग्रहण करके बहिर्मुख करने वाले कर्मों का ही सेवन करते हैं, उन्हें शोक और मोह की प्राप्ति होती है।

तात्पर्य अर्थ-

आत्मा स्वतन्त्र होते हुए पराधीनता और अपने आप से दूर एवं विमुखता के क्या कारण हो सकते हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहना पड़ेगा कि इसका कारण यह हो सकता है कि गुणों की विषमता, क्योंकि गुणों के अनुसार बुद्धि बनती है और जैसा मन बुद्धि में स्वभाव होगा, वैसे उसके अनुसार बाह्य शरीरेन्द्रियों द्वारा विभिन्न कर्मों के फलों में भी भिन्नता होगी और कर्मो का फल अवश्यमेव भोगना ही पड़ेगा, चाहे वह अनुकूल हो या प्रतिकूल। इसी का नाम है परतन्त्रता, पराधीनता तथा पराधीनता का परिणाम है, शरीरादि में अहं-मम करके शोक-मोहादि की प्राप्ति होना। **''देहाभिमानं विध्वंस्य, ध्यानादात्मानमद्वयम्। पश्यन्मर्त्योऽमृतो भूत्वा, हृदि ब्रह्मसमश्नुते।।''**, **''योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः। स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्।।''** (क.उ. 2, 2-7), **''यं यं वापि स्मरन्भावं''** (गी. 8.6)।

425-काल आत्माऽऽगमो लोकः स्वभावो धर्म एव च।
इति मां बहुधा प्राहुर्गुणव्यतिकरे सति।। 11.10.34।।

हे प्यारे उद्धव! जब माया के गुणों में क्षोभ होता है, तब मुझ आत्मा को ही काल, जीव, वेद, लोक, स्वभाव और धर्म आदि अनेक नामों से निरूपण करने लगते हैं (ये सब मायामय हैं, वास्तविक सत्य तो यह है कि मैं आत्मा ही हूँ।)।

तात्पर्य अर्थ-

एक ही आत्मा को अनेक नामरूपों या आकृतियों के भेद से देखना, समझना, व्यवहार करना ही अविद्या है। अर्थात् आत्मा में मन, बुद्धि आदि विषयों के वास्तव में न होने के कारण आत्मा में आरोपित करके नानात्व की कल्पना की जाती है।

426-शब्दब्रह्मणि निष्णातो ब्रह्म न निष्णायात् परे यदि।
श्रमस्तस्य श्रमफलो ह्यधेनुमिव रक्षतः।। 11.11.18।।

427-गां दुग्धदोहामसतीं च भार्यां, देहं पराधीनमसत्प्रजां च।
वित्तं त्वतीर्थीकृतमङ्ग वाचं, हीनां मया रक्षति दुःखदुःखी।। 11.11.19।।

हे प्यारे उद्धव! जो पुरुष वेदों का तो पारगामी विद्वान हो, परन्तु परब्रह्म के ज्ञान से शून्य हों उसके परिश्रम का कोई फल नहीं है, वह तो वैसे ही है जैसे बिना दूध की गाय का पालने वाले का श्रम निष्फल होता है। दूध न देने वाली गाय, व्यभिचारिणी स्त्री, पराधीन शरीर, दुष्ट-पुत्र, सत्पात्र के प्राप्त होने पर भी दान न किया हुआ धन और मेरे गुणों से रहित वाणी व्यर्थ है। इन वस्तुओं की रखवाली करने वाला दुःख पर दुःख ही भोगता रहता है।

तात्पर्य अर्थ-

धन संग्रह कर लेना, विद्याध्ययन-अध्यापन कर करा लेना, लोक में यश, कीर्ति की प्राप्ति होना ही मानवता या मानव जीवन की प्राप्ति का फल नहीं समझना चाहिये, क्योंकि ये सब किसी कारणवशात् दु:खों का कारण बन सकते हैं, जैसे-धन को चोर या राजा के द्वारा अपहृत हो जाने पर दु:ख होता है, वैसे आप विद्या अध्ययन करके विद्वान् हो गये और आपको विद्वान् की दृष्टि से सम्मान न करने पर अनायास ही दु:ख होगा। अत: मानव जीवन का फल होना चाहिये इसी जीवन में आत्मानुभूति करके इस संसार बन्धन से सदा-सर्वदा के लिये मुक्त हो जाना। अथवा धन, विद्यादि तो उन्मत्तता, अहंकार का ही कारण बनेगा। "**स ह द्वादशवर्ष उपेत्य चतुर्विंशतिवर्षः सर्वान्वेदानऽीत्य महामना।। अनूचानमानी स्तब्ध एयाय।**" (छा.उ. 6.1.2) अर्थात् वह श्वेतकेतु बारह वर्ष की अवस्था में गुरुकुल में अध्ययन के लिये प्रवेश किया और 24 वर्ष की अवस्था तक सम्पूर्ण वेद-वेदान्तों का अध्ययन और अर्थों को जानकर केवल अहंकारी ढीठ ही बना।

428-विदन्ति मर्त्याः प्रायेण विषयान् पदमापदाम्।
तथापि भुञ्जते कृष्ण तत् कथं श्वखराजवत्।। 11.13.8।।

हे भगवन्! प्राय: सभी मनुष्य इस बात को जानते हैं कि विषय विपत्तियों के घर हैं, फिर भी वे कुत्ते, गधे, बकरे के समान दु:ख सहन करके भी उन्हीं को ही भोगते रहते हैं। इसका क्या कारण है ?

तात्पर्य अर्थ-

मनुष्यों के लिये यह बहुत बड़ी चुनौती है कि जान-बूझ कर दु:ख, अशान्ति को जन्म-मृत्यु रूप संसार बन्धन को आमन्त्रित करना सिंह के मुख में हाथ डालना अथवा धधकती हुई अग्नि को पकड़ने के समान है। विषयरूप विष को ही अपनी शान्ति का, कल्याण का साधन मान लेना, काले नाग को दूध पिलाकर पालन-पोषण करने के समान ही है। "**दोषेण तीव्रो विषयः कृष्णसर्पविषादपि।**" (वि.चू.)।

अग्नि को पकड़ना, नाग को दूध पिलाना आदि घोर अज्ञानता का प्रतीक है और अज्ञानता का कारण है-पूर्व-पूर्व जन्मों के कर्मसंस्काररूप बीज-वासनाओं से प्रेरित होना, विवश होना अत्यन्त स्वाभाविक है। यह देहेन्द्रयों के समूह एक यन्त्र है और इनसे प्रेरित वासनाओं से परिपूर्ण सूक्ष्म शरीर है यन्त्री तथा वह यन्त्री भी सर्वव्यापक-आत्मसत्ता से चैतन्यवत् अपना कार्य करने में सामर्थ्य हो पाता है।

429-अहमित्यन्यथाबुद्धिः प्रमत्तस्य यथा हृदि।
उत्सर्पति रजो घोरं ततो वैकारिकं मनः।। 11.13.9।।

430-रजोयुक्तस्य मनसः संकल्पः सविकल्पकः।

ततः कामो गुणध्यानाद् दुःसहः स्याद्धि दुर्मतेः।। 11.13.10।।

431-करोति कामवशगः कर्माण्यविजितेन्द्रियः।

दुःखोदर्काणि सम्पश्यन् रजोवेगविमोहितः।। 11.13.11।।

हे प्रिय उद्धव! जीव जब अज्ञान वश अपने स्वरूप को भूलकर हृदय से सूक्ष्म-स्थूलादि शरीरों में अहंबुद्धि कर बैठता है, जो कि सर्वथा भ्रम ही है, तब उसका सत्त्व प्रधान मन रजोगुण की ओर झुक जाता है, उससे व्याप्त हो जाता है। बस, जहाँ मन में रजोगुण की प्रधानता हुई कि उसमें संकल्प-विकल्पों की प्रवाह धारा बन जाती है। अब वह विषयों का चिन्तन करने लग जाता है, और अपनी दुर्बुद्धि के कारण काम के फंदे में (जाल में) फँस जाता है जिससे फिर छुटकारा होना ही कठिन हो जाता है। अब वह अज्ञानी कामवश अनेकों प्रकार के कर्म करने लगता हे और इन्द्रियों के वश होकर वह यह जानकर भी इन कर्मों का अन्तिम फल दुःख ही है, फिर भी उन्हीं को करता है, उस समय वह रजोगुण के तीव्र वेग से अत्यन्त मोहित रहता है।

तात्पर्य अर्थ-

गुणों की प्रवृत्ति, क्षय, वृद्धि होना स्वाभाविक है, सत्त्व की प्रधानता होने पर धार्मिकता की वृद्धि होती है- धर्माधर्म, आत्मानात्मादि पर विचार तथा दया, शीलतादि का सृजन होता है। रजोगुण की प्रधानता होने पर धार्मिकता में गौणता आ जाती है और मन में विलासता, चञ्चलता, कामुकता, सुखाभिमुखता आदि की प्रधानता रहती है और तमोगुण की वृद्धि हो जाने पर केवल भोगों की कामना, देहाध्यास, प्रमाद-आलस, निद्रा, मूढ़ता आदि के कारण पापाचार, अत्याचार, पशुता आदि की वृद्धि मुख्य रूप से रहती है। इन तीनों गुणों की विषमता ही संसार एवं अज्ञानता है और यही अज्ञान आत्मा का बन्धन भी है। अतः सत्त्वगुण को अस्त्र बनाकर उपरोक्त सभी मनोविकार अज्ञानता के कारण उत्पन्न हुए देहाध्यास आदि का प्रध्वंस कर देना चाहिये, निर्मूल कर देना चाहिये। यही मुमुक्षुओं का मोक्ष है, सांख्यदर्शन के प्रकृति की साम्यावस्था है, योगदर्शन की असम्प्रज्ञात समाधि है, बुद्ध का **'सर्वं शून्यं'** है, श्रुतियों के **'नेह नानास्ति किञ्चन'** (बृ.4.4.19) है। परमपद और आत्मानन्द, ब्रह्मानन्द की अनुभूति है। **''सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः। निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्।।''**(गी.-14.5),**''काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।''** (गी.-3.37),**''आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।।''**(गी.-3.39)

432-रजस्तमोभ्यां यदपि विद्वान् विक्षिप्तधीः पुनः।

अतन्द्रितो मनो युञ्जन् दोषदृष्टिर्न सज्जते।। 11.13.12।।

433-अप्रमत्तोऽनुयुञ्जीत मनोमय्यर्पयञ्छनैः।

अनिर्विण्णो यथाकालं जितश्वासो जितासनः।। 11.13.13।।

यद्यपि विवेकी पुरुष का चित्त भी कभी-कभी रजोगुण और तमोगुणों के वेग से विक्षिप्त हो जाता है तथापि उसकी विषयों में दोषदृष्टि बनी रहती है, इसलिये वह बड़ी सावधानी से अपने चित्त को एकाग्र करने की चेष्टा करता रहता है, जिससे उसकी विषयों में आसक्ति नहीं होती। साधक को चाहिये कि आसन और प्राणवायु पर विजय प्राप्त कर अपनी शक्ति और समय के अनुसार बड़ी सावधानी से धीरे-धीरे मुझमें अपने मन को लगावे और इस प्रकार अभ्यास करते समय अपनी असफलता देखकर तनिक भी ऊबे नहीं, बल्कि और भी उत्साह से उसमें जुड़ जाय।

तात्पर्य अर्थ-

मुमुक्षु साधक को अपने साधन काल में अथवा अभ्यास काल में कदाचित् रजोगुण के प्रभाव से अथवा पूर्व संस्कारों के प्रभाव से चित्त में किसी प्रकार विक्षेप आ भी जाय तो भी मन में घबराहट या निरुत्साह नहीं होना चाहिये, क्योंकि यह मन (बुद्धि) एक प्रकार रील (सीड़ी) के समान है बल्कि यों कहें कि उसी मन-बुद्धि का यह सीड़ी आदि नकल (कापी) है, अनादि काल के शुभाशुभ संस्कारों से संस्कारित (रंजित) है। इसलिये अच्छे-बुरे दिनों का (समय) का आना जीवन में स्वाभाविक है। अतः निराश नहीं होना चाहिये। बल्कि अपने मन का और अत्यधिक उत्साहवर्धन करके अपने साधना को प्रगाढ़ बनाने का प्रयत्न करे, यही साधक की विशेषता है। **''यच्छेद्वाङ्मनसि प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि। ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि।।''** (क.उ. 1.3.13) **''क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।।''** (क.उ. 1.3.14) अर्थात् विवेकी पुरुष को चाहिये कि वाणी आदि सभी इन्द्रियों को मन में लीन करे, मन को बुद्धि में, बुद्धि को महत्तत्त्व में और महत्तत्त्व को निर्विशेष शान्त आत्मा में लीन करें। तत्त्वज्ञानी पुरुष इस मार्ग को वैसे ही दुष्प्राप्य बतलाते हैं जैसे-पैनी की हुई छुरे की धार पर चलना दुष्कर (अत्यन्त कठिन) है।

434-एतावान् योग आदिष्टो मच्छिष्यैः सनकादिभिः।

सर्वतो मन आकृष्य मय्यद्धाऽऽवेश्यते यथा।। 11.13.14।।

हे प्रिय उद्धव! मेरे शिष्य सनकादि परमर्षियों ने योग का यही स्वरूप बताया है कि साधक अपने मन को सब ओर से खींचकर विराट् पुरुष आदि में नहीं, साक्षात् मुझमें ही पूर्णरूप से लगा दें।

तात्पर्य अर्थ-

योग का अभिप्राय है चित्त को विषयों की ओर से निरोध करके, शान्त करके, आत्मानन्द में, ब्रह्मानन्द में, स्वस्वरूप में जोड़ दे और सदा-सर्वदा आनन्दित रहे। ना कि सांसारिक प्राणी पदार्थों के विषय भोग में चित्त को उलझाकर अर्थात् विषयाकार वृत्ति बनाकर दुर्लभ मानव-जीवन को पशुवत् जीवन बना दे, परतन्त्र बना दे, अथवा अवमर्दन व अमूल्याङ्कन करके जन्म-मृत्यु चक्र में घूमता रहे, यथा पिपीलिका (चींटी) आदि। "**यो वै भूमा तत्सुखं, नाल्पे सुखमस्ति, भूमैव सुखं, भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति।।**" (छा.उ. 7.23.1), "**श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः। श्रेयो ही धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते।।** (क.उ. 1.2.2) अर्थात् श्रेय और प्रेय (परस्पर मिले हुए के समान) मनुष्य के पास आते हैं। उन दोनों को (नीर-क्षीर विवेकी हंस के समान) बुद्धिमान् पुरुष भली-भाँति विचार कर पृथक्-पृथक् कर लेता है। विवेकी प्रेय की अपेक्षा श्रेयको ही अपनाता है किन्तु मूढ़ पुरुष तो योग क्षेम के निमित्त प्रेय को अपनाता है।

435-गुणेष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि च प्रभो।
कथमन्योन्यसंत्यागो मुमुक्षोरतितितीर्षोः।। 11.13.17।।

हे प्रभो! चित्त गुणों में, विषयों में, प्रविष्ट रहता है। गुण चित्त की एक-एक वृत्ति के साथ संयुक्त है, अर्थात् चित्त और गुण आपस में मिले-जुले ही रहते हैं। ऐसी स्थिति में जो पुरुष इस संसार सागर से पार होकर मुक्तिपद प्राप्त करना चाहता है, वह इन दोनों को एक दूसरे से अलग कैसे कर सकता है?

तात्पर्य अर्थ-

मन प्रकृति के कार्यभूत अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों के सत्त्वांश का साधारण कार्य है और गुण शब्दादि (विषय) प्रकृति के कार्यभूत अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों के तमोऽंश का असाधारण कार्य हैं, इस लिये एक-दूसरे के पूरक हैं, अर्थात् गुणों के अभाव में अकेले मन से और मन के अभाव में अकेले गुणों से किसी कार्य की सिद्धि हो पाना असंभव ही है, अर्थात् मन सदा-सर्वदा विषयाकार ही रहता है और विषयाकार होने से वह मन (बुद्धि) निर्विषय आत्मा को कैसे अनुभव करेगा? इसका अभिप्राय यह हुआ कि मन-बुद्धि विषयों को ही ग्रहण करने में समर्थ हैं, निर्विषय आत्मा को नहीं।

436- वस्तुनो यद्यनानात्वमात्मनः प्रश्न ईदृशः।
कथं घटेत वो विप्रा वक्तुर्वा मे क आश्रयः।। 11.13.22।।

हे ब्राह्मणों! परमार्थरूप वस्तु नानात्व से सर्वथा रहित है, तब आत्मा के सम्बन्ध में आप लोगों का ऐसा प्रश्न कैसे युक्ति संगत हो सकता है? अथवा मैं यदि उत्तर देने के

लिए बोलूँ तो भी किसी जाति, गुण, क्रिया और सम्बन्ध आदि का आश्रय ही लेना पड़ेगा, विना आश्रय के कोई उत्तर देना बन ही नहीं सकता।

तात्पर्य अर्थ-

"**असङ्गो न हि सज्जतेऽसितो न हि व्यथते**" (बृ.3.9.26) इसि श्रुति वाक्य से यह सिद्ध होता है आत्मा असंग होने से गुणों या मनोवृत्तियों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं बनता है क्योंकि श्रुति कहती है- "**न सज्जते, न व्यथते**" अर्थात् आत्मा को किसी प्राणी पदार्थ से सम्बन्ध जोड़ने के लिए सावयव होना तथा जाति आदि की आवश्यकता होगी तभी किसी से सम्बन्ध बन सकता है, अन्यथा नहीं। "**यतो वाचो निर्वतन्ते अप्राप्य मनसा सह।**" (तै.उ. 1.9.1) आत्मा निर्विषय एवं निरवयव (अखण्ड) होने से मन, वाणी का विषय नहीं बन सकता।

437-गुणेष्वाविशतो चेतो गुणाश्चेतसि च प्रजाः।
जीवस्य देह उभयं गुणाश्चेतो मदात्मनः।। 11.13.25।।

438-गुणेषु चाविशच्चित्तमभीक्ष्णं गुणसेवया।
गुणाश्च चितप्रभवा मद्रूप उभयं त्यजेत्।। 11.13.26।।

हे पुत्रों! यद्यपि यह चित्त चिंतन करते-करते विषयाकार हो जाता है और विषय चित्त में प्रविष्ट हो जाते हैं। यह बात आपकी सत्य है। तथापि विषय और चित्त ये दोनों ही मेरे स्वरूपभूत जीव के देह (उपाधि) हैं। अर्थात् आत्मा का चित्त और विषय के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता है। इसलिये बारम्बार विषयों का सेवन करते रहने से चित्त विषयों में आसक्त हो गया है और विषय भी चित्त में प्रविष्ट हो गये हैं। ये दोनों मेरे वास्तविक स्वरूप से उत्पन्न हैं, अतः इन दोनों को मुझसे अभिन्न जानकर, मुझ परमात्मा का साक्षात्कार करके त्याग देना चाहिये।

तात्पर्य अर्थ-

साधक रूप चित्त और साध्य रूप विषय (भोग्य) ये दोनों ही प्रकृति के कार्य हैं और जीवात्मा का अनादि उपाधि रूप बन्धन भी इसी को समझना चाहिये। अतः इन दोनों से उपरत होकर उत्कृष्ट साधना अभ्यास के माध्यम से प्राप्त आत्मज्ञान के द्वारा स्वरूप की साक्षात् अपरोक्ष अनुभूति कर लेनी चाहिये। यही मुमुक्षु साधकों की बहुत बड़ी उपलब्धि है, परम लक्ष्य की प्राप्ति है। "**अनुक्षणं यत्परिहृत्य कृत्यमनाद्यविद्या-कृतबन्धमोक्षणम्। देहः परार्थोऽयममुष्य पोषणे यः सज्जते स स्वमनेन हन्ति।।**" (वि.चू. 85.) जो अनादि अविद्याकृत बन्धन को त्याग करना रूप अपना कर्तव्य का निर्वाह न करके प्रतिक्षण इस पदार्थ (अन्यके भोग्यरूप) देह की और इन्द्रियों के पोषण में ही लगा रहता है, वह (अपनी इस प्रवृत्ति से) स्वयं का घात करता है।

439-ईक्षेत विभ्रममिदं मनसो विलासं,
दृष्टं विनष्टमतिलोलमलातचक्रम्।
विज्ञानमेकमुरुधेव विभाति माया,
स्वप्नस्त्रिधा गुणविसर्गकृतो विकल्पः।। 11.13.34।।

440-दृष्टिं ततः प्रतिनिवर्त्य निवृत्ततृष्ण-
स्तूष्णीं भवेन्निजसुखानुभवो निरीहः।
संदृश्यते क्व च यदीदमवस्तु बुद्ध्या,
त्यक्तं भ्रमाय न भवेत् स्मृतिरानिपातात्।।11.13.35।।

यह जगत् मन का विलास है, दिखने पर भी नष्ट प्रायः है। अलातचक्र (लुकारियों की बनेठी) अत्यन्त चंचल है और भ्रम मात्र है। ऐसा समझो कि यद्यपि पारमार्थिक दृष्टि से ज्ञातृ और ज्ञेय के भेद से रहित एक ज्ञान स्वरूप आत्मा ही अनेक सा प्रतीत हो रहा है तथापि व्यावहारिक और प्रातिभासिक दृष्टि से यह स्थूल शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरण ये तीन प्रकार के विकल्प गुणों के परिणाम की रचना है और स्वप्न के समान माया का खेल है। इसलिये उस देहादिरूप दृश्य से हीन और निरीह होकर आत्मानन्द के अनुभव में मग्न हो जायें। यद्यपि कभी-कभी आहारादि के समय यह देहादिक प्रपञ्च देखने में आता है तथापि यह पहले ही आत्मवस्तु से अतिरिक्त नहीं है और मिथ्या समझकर छोड़ा जा चुका है। इसलिये वह पुनः भ्रान्ति मूलक मोह उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हो सकता। देहपात पर्यन्त केवल संस्कार मात्र की प्रतीति होती है।

तात्पर्य अर्थ-

अद्वितीय ब्रह्मानन्द, आत्मानन्द, स्वरूपानन्द का यथार्थ अनुभव, अपरोक्षानुभव हो जाने पर यह दृश्यमान संसार नामक प्राणी पदार्थ आत्मा से भिन्न कुछ कहा ही नहीं जा सकता। क्योंकि जो प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है वह अज्ञानमूलक है, स्वप्नमायावत् है। इसलिये प्रतीति मात्र है। यथा- मृगमरीचिका एवं रज्जुसर्पवत् सा भासित हो रहा है, अतः मुमुक्षु साधक को चाहिए कि प्रारब्धानुसार जो कुछ भी इस जीवन में शरीर, इन्द्रियों के द्वारा व्यवहार हो रहा है उन व्यवहारों से अपने मन, बुद्धि के द्वारा सत्यत्व प्रतीति को हटा लें और आत्मानंद में ही मग्न रहें। एक बार दृढ़तापूर्वक आत्मा से भिन्न नानात्व के मिथ्यात्व का निश्चय हो जाने पर पुनः भ्रान्ति का कोई कारण नहीं रह सकता। कपिल भगवान् के मतानुसार तो गुणों के कारण ही मन-बुद्धि में नानात्व की प्रतीति है। ''**तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोराग्निः। अग्नेरापः। अद्भयः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः।**''(तै.उ. 2.1) अर्थात् आकाशादि पञ्चभूत

आत्मा से क्रमशः उत्पन्न हुए इन्हीं को प्रकृति जानो और प्रकृति से गुणों की उत्पत्ति हुई। "**सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।।**" (गी. 14.5) ये गुण ही प्रकृति की शक्ति हैं जिसे ज्ञान, क्रिया, विनाश शक्ति के नामों से जाना जाता है। "**शान्तघोरविमूढत्वमिति वा स्यादहंकृतेः।।**" (भा.पु. 3.26.26), "**स लीयते महान् स्वेषु गुणेषु गुणवत्तमः। तेऽव्यक्ते संप्रलीयन्ते तत् काले लीयतेऽव्यये।।**"भा.पु.11.24.26, "**एष सांख्यविधिः प्रोक्तः संशयग्रन्थिभेदनः प्रतिलोमानुलोमाभ्यां परावरदृशा मया।।**" (भा.पु. 11.24.29) गुणरूप ज्ञानादि शक्तियाँ अव्यक्त प्रकृति में और प्रकृति अपने प्रेरक अविनाशी काल में (आत्मा) में लीन हो जाती है। हे उद्धव जी! मैं कार्य और कारण दोनों का ही साक्षी हूँ। मैंने तुम्हें सृष्टि से प्रलय और प्रलय से सृष्टि तक की सांख्यविधि बतला दी। इससे सन्देह की गाँठ कट जाती है और पुरुष अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। "**यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम्।।**" (क.उ. 2.3.15)।

441-विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते।। 11.14.27।।

442-तस्मादसदभिध्यानं यथा स्वप्नमनोरथम्।
हित्वा मयि समाधत्स्व मनो मद्भावभावितम्।। 11.14.28।।

जो पुरुष निरन्तर विषय चिन्तन किया करता है, उसका चित्त विषयों में फँस जाता है ओर जो मेरा स्मरण करता है, उसका चित्त मुझमें तल्लीन हो जाता है। इसलिये तुम दूसरे साधनों और फलों का चिन्तन छोड़ दो। अरे! मेरे अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं, जो कुछ जान पड़ता है, वह ठीक वैसे ही है, जैसे स्वप्नावस्था-मनोरथ का राज्य। इसलिये मेरे चिन्तन से तुम अपना चित्त शुद्ध कर लो और उसे पूरी तरह एकाग्रता से मुझमें ही लगा दो।

तात्पर्य अर्थ-

विषयों का चिन्तन शुभाशुभ कर्म कराने में निमित्त है और शुभाशुभ कर्म फलरूप सुख-दुःख, जन्म-मृत्यु का कारण है तथा आत्मचिन्तन स्वस्वरूप चिन्तन परम शान्ति का सूचक है और सुख-दुःख, भूख-प्यास, जन्म-मृत्यु आदि से रहित आत्मसाक्षात्कार अपरोक्ष अनुभव कराने में निमित्त है। इसलिये अन्य चिन्तन एवं साधनों को छोड़कर, केवल मात्र आत्मचिन्तन, स्वस्वरुप चिन्तन करते रहने से विदेह-कैवल्य व जीवन मुक्ति इसी जीवन में प्राप्ति हो जाती है। इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं।

443-स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान्।
क्षेमे विविक्त आसीनश्चिन्तयेन्मामतन्द्रितः।। 11.14.29।।

444-न तथास्य भवेद् क्लेशो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः।

योषित्सङ्गाद् यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः।। 11.14.30।।

संयमी पुरुष, स्त्रियों और उनके प्रेमियों का संग दूर से ही छोड़कर, पवित्र एकान्त स्थान में बैठकर बड़ी सावधानी से मेरा चिन्तन करें। हे प्यारे उद्धव! स्त्रियों के संग से और स्त्रियों के लम्पटों के संग से पुरुष को जैसे क्लेश और बन्धन में पड़ना पड़ता है वैसे क्लेश और जाल (बन्धन) और किसी के भी संग से नहीं होता, जैसे इनके संग से होता है।

तात्पर्य अर्थ-

कल्याणार्थियों के लिये सबसे बड़ा बाधक है, तो स्त्रियों और स्त्रियों की कामुकता रूप ग्रहण से ग्रस्त पुरुषों का संग, इसलिये अपने मृत्यु का कारण समझकर मन, वाणी से भी त्याग कर देना चाहिये और निर्जनस्थान में जाकर प्रमाद रहित होकर आत्मचिन्तन में, स्वरूप चिन्तन में लग जाना चाहिये क्योंकि जीवात्मा का जितना क्लेश और बन्धन का कारण युवतियों की मधुरवाणी, चंचल नेत्र, सुसौन्दर्य वक्त्र आदि होते हैं, उतना बन्धन और दुःखों का कारण दूसरे नहीं हो सकते। अतः मुमुक्षु को चाहिये कि विषय के समान या हिंसक जीव जन्तुओं या मल-मूत्रों के समान दूर से ही त्याग कर देना श्रेयस्कर होगा। "**मोक्षस्य काङ्क्षा यदि वै तवास्ति, त्यजातिदूराद्विषयान् विषं यथा। पीयूषवत्तोषदयाक्षमार्जवप्रशान्तिदान्तीर्भज नित्यमादरात्।।**" (वि.चू. 84) यदि तुझे मोक्ष (सुख-शान्ति) की इच्छा है तो विषयों को विष के समान दूर से ही त्याग दे और सन्तोष, दया, क्षमा, सरलता, शम और दम को अमृत के समान नित्य आदरपूर्वक सेवन करना होगा।

445-वाचं यच्छ मनो यच्छ प्राणान् यच्छेन्द्रियाणि च।

आत्मानमात्मना यच्छ न भूयः कल्पसेऽध्वने।।11.16.42।।

446-यो वै वाङ्मनसी सम्यगसंयच्छन् धिया यतिः।

तस्य व्रतं तपो दानं स्रवत्यामघटाम्बुवत्।। 11.16.43।।

447-तस्मान्मनोवचः प्राणान् नियच्छेन्मत्परायणः।

मद्भक्तियुक्तया बुद्ध्या ततः परिसमाप्यते।। 11.16.44।।

इसलिये तुम वाणी को स्वच्छन्द भाषण से रोको, मन को संकल्प-विकल्प न करने दो। इसके लिये प्राणों को वश में करो और इन्द्रियों का दमन करो। सात्त्विक बुद्धि के द्वारा प्रपञ्चाभिमुख राजस बुद्धि को शान्त करो। फिर तुम्हें संसार के जन्म-मृत्यु रूप बीहड़ मार्ग में भटकना नहीं पड़ेगा। जो साधक बुद्धि द्वारा वाणी व मन को पूर्णतया

वश में कर नहीं लेता उसके व्रत, तप और दान उसी प्रकार क्षीण हो जाते हैं, जैसे कच्चे घड़े में भरा हुआ जल। इसलिये मेरे प्रिय भक्तों को चाहिये कि मेरे परायण होकर भक्तियुक्त बुद्धि से वाणी, मन और प्राणों का संयम करे, ऐसा करने पर फिर से कुछ करने का शेष नहीं रहता, वह कृतकृत्य हो जाता है।

तात्पर्य अर्थ-

जीवन अत्यन्त क्षणभंगुर है, आत्मा स्थायी है, नित्य है। इसलिये विषय भोगों से उपरत हो कर परमात्म चिन्तन में, स्वरूप चिन्तन में अपने मन, बुद्धि और प्राणन क्रिया के द्वारा क्रियान्वित बाह्येन्द्रियों को भी परब्रह्म में समर्पित करके इसी जीवन में, इसी श्वास के रहते-रहते उस परमतत्त्व का साक्षात्कार कर लेना चाहिये। गीता अ. 3. 40/41 में भगवान का कहना है-''**इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते। एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्।। तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ। पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्।।**'' अर्थात् नेत्रादि बाह्य 5 ज्ञानेन्द्रियाँ और मन-बुद्धि अन्त: इन्द्रियाँ, ये ही रजोगुण से उत्पन्न काम-क्रोध रूप शत्रु के स्थान हैं। इन्हीं इन्द्रियों के द्वारा साधक के ज्ञानास्त्र को ढककर विमोहित किया जाता है, अत: हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन! तू सबसे पहले इन इन्द्रियों को वश में करके ज्ञान-विज्ञान के नाशक काम पर भी विजय प्राप्त करो।

448-बिभृयाच्चेन्मुनिर्वास: कौपिनाच्छादनं परम्।
त्यक्तं न दण्डपात्राभ्यामन्यत् किञ्चिदनापदि।। 11.18.15।।

449-दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं पिबेज्जलम्।।
सत्यपूतं वदेद् वाचं मन:पूतं समाचरेत्।।11.18.16।।

यदि संन्यासी वस्त्र धारण करे तो केवल लँगोटी लगा ले और अधिक से अधिक उसके ऊपर एक ऐसा छोटा सा टुकड़ा लपेट ले कि जिससे लँगोटी ढक जाय तथा आश्रमोचित दण्ड और कमण्डलु के अतिरिक्त और कोई भी वस्तु अपने पास न रखें। यह नियम आपत्ति काल को छोड़कर सदा के लिय है। नेत्रों से देखकर साफ धरती पर ही पैर रखें (चींटी आदि को बचाते हुए)। कपड़े से छानकर जल पीयें। मुख से प्रत्येक बात सत्यपूर्ण सत्य से पवित्र हुई निकले (अर्थात् झूट न बोलें) और शरीर से जितने भी काम करें, उसे बुद्धिपूर्वक सोच विचार कर ही करें। (यानी शास्त्र से कर्तव्याकर्तव्य को समझकर ही करें)।

तात्पर्य अर्थ-

संन्यासियों (गृहत्यागी साधुओं) के लिए यह बहुत बड़ी चेतावनी है कि अधिक से अधिक त्याग, वैराग्य और मन वाणी आदि पर नियंत्रण, आहार-विहार की शुद्धि,

प्राणी मात्र के प्रति हितैषी एवं समदर्शी होना अति आवश्यक है। अतः आत्मज्ञान की महानता को श्रेष्ठता को सर्वोपरि समझें। यथा- "**सुरमंदिरतरुमूलनिवासः, शय्याभूतलमजिनं वासः। सर्वपरिग्रहभोगत्यागः कस्य सुखं न करोति विरागः।।**" (भज गोविन्दम्)

450-मौनानीहानिलायामा दण्डा वाग्देहचेतसाम्।
न ह्येते यस्य सन्त्यङ्ग वेणुभिर्न भवेद् यतिः।। 11.18.17।।

451-भिक्षां चतुर्षु वर्णेषु विगर्ह्यान् वर्जयंश्चरेत्।
सप्तागारानसंक्लृप्तांस्तुष्येल्लब्धेन तावता।। 11.18.18।।

वाणी के लिये मौन, शरीर के लिए निश्चेष्ट स्थिति और मन के लिये प्राणायाम दण्ड है। हे प्यारे उद्धव! जिसके पास ये तीनों दंड नहीं है वह केवल बांस के दण्ड धारण करने से दण्डी स्वामी नहीं हो जाता। संन्यासियों को चाहिए कि जातिच्युत और गोघाती आदि पतितों को छोड़कर चारों वर्णो में भिक्षा ग्रहण करें। केवल अनिश्चित सात घरों से (दूसरे दिन पुनः पुनः उन्हीं घरों में न जायें) जितना मिल जाये उतने से ही सन्तोष कर लें।

तात्पर्य अर्थ-

संन्यासी का अभिप्राय है- तप, त्याग और संयमित आचार विचार एवं शेष जीवन प्रारब्धपर्यन्त आत्मतत्त्व में निष्ठा तथा चिंतन मनन में रत हो जाये। केवल मात्र काषायवस्त्र, दण्ड, कमण्डलु आदि ही संन्यास का बोधक नहीं, अपितु यह तो सम्प्रदाय विशेष का बाह्य चिन्ह है। न कि संन्यासी का धर्म, कर्म। आजकल देखने में यही आता है कि पूर्व जन्म रूप बंधन के ही कार्य में संलिप्त है। बड़े से बड़े मठ या आश्रमों के निर्माण आदि कार्यो में संलिप्त है तथा अधिक से अधिक सुख-सुविधाओं में एवं मान सम्मान के लिए जो प्रवृत्त हैं वे भला उसके विपरीत संन्यास धर्म (कर्तव्य) के प्रति किस प्रकार श्रद्धा विश्वास रख सकते हैं।

452-दुःखोदर्केषु कामेषु जातनिर्वेद आत्मवान्।
अजिज्ञासितमद्धर्मो गुरुं मुनिमुपाव्रजेत्।। 11.18.38।।

453-तावत् परिचरेद् भक्तः श्रद्धावाननसूयकः।
यावद् ब्रह्म विजानीयान्मामेव गुरुमादृतः।। 11.18.39।।

हे उद्धव! जितेन्द्रिय पुरुष को जब यह निश्चय हो जाये कि संसार के विषयों के भोग का फल दु:ख ही दु:ख है। तब वह विरक्त हो जाये और यदि वह मेरी प्राप्ति के साधनों को न जानता हो तो भगवान के चिंतन में तन्मय रहने वाले ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु की

शरण ग्रहण करे। वह गुरु की दृढ़ भक्ति में प्रवृत्त हो जाय। गुरु में श्रद्धा विश्वास रखे और उनमें दोष कभी न निकाले। जब तक ब्रह्म का ज्ञान न हो जाये, तब तक बड़े आदर से गुरु को ही मेरे रूप में समझता हुआ उनकी सेवा करें।

तात्पर्य अर्थ-

समस्त संसार, भोग्यमय पदार्थ नश्वर एवं क्षणस्थायी होने से दुःख स्वरूप है। इसीलिये भगवान् बुद्ध को जनहित में मुक्त कंठ होकर ऊँचे स्वर में कहना पड़ा कि- **''सर्वं दुःखम् दुःखम्, सर्वं क्षणिकं क्षणिकं, सर्वं स्वलक्षणम् स्वलक्षणम् सर्वं शून्यं शून्यं''** इत्यादि ये सब उनके महामंत्र थे। ये शब्द उनके आदरपूर्ण हृदय से सरित प्रवाह-धारावत् निकलती हुई मन की उन्नत भावना है। यह संसार दुःख से मुक्त होने के लिए श्रुति का कहना है- **''नेह नानास्ति किञ्चन''** (बृ.4.4.19), **''सर्वं खल्विदं ब्रह्म''** (छा.3.14.1) इसलिये विचारवान् पुरुष को चाहिए कि इस संसार से विरक्त होकर आत्मप्राप्ति के लिए (अनुभूति के लिए) अधिक प्रयत्न करना चाहिये। जब तक आत्मसाक्षात्कार की प्राप्ति न हो जाये, तब तक ब्रह्मनिष्ठ आत्मतत्त्वज्ञानी सद्गुरु को परब्रह्म परमात्मा समझकर उनकी तन, मन से निःस्वार्थ भाव से सेवा करते रहना चाहिये। **''गुरु विन भवनिधि तरे न कोई, जो विरञ्चिशंकर सम होई।।''**(रा.मा.) इस विषय में हमारे इतिहास प्रमाण हैं। यह गुरु-शिष्य परम्परा अनादि है। ब्रह्मा ने भी सर्वप्रथम श्रीमद्भागवत कथा श्रवण की थी नारायण भगवान से। (भा.पु.)

454-यस्त्वसंयतषड्वर्गः प्रचण्डेन्द्रियसारथिः।
ज्ञानवैराग्यरहितस्त्रिदण्डमुपजीवति।।11.18.40।।

किन्तु जिसने पाँच इन्द्रियों और मन इन छहों पर विजय प्राप्त नहीं की है, जिसकी इन्द्रियरूपी घोड़ा, बुद्धिरूपी सारथी बिगड़े हुए हैं और जिसके हृदय में न ज्ञान है, और न ही वैराग्य। वह यदि त्रिदण्डी संन्यासी का वेश धारण कर पेट पालता है तो वह संन्यास धर्म का सत्यनाश ही कर रहा है। **''यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः। न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति''**(क.उ.1.3.7), **''यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः। इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।''** (गी. 2.58) अर्थात् जिसका चित्त अविज्ञानवान्, अनियन्त्रित और सदा अपवित्र होता है वह जीवात्मा परमपद को प्राप्त न करके जन्म-मरण रूप संसार को प्राप्त होता है। इसलिये अपने इन्द्रियों को विषयों की ओर न जाने दें, (रोककर रक्खें) जैसे- कछुआ अपने अंगों को सब ओर से समेट लेता है।

तात्पर्य अर्थ-

गृह त्यागी साधु समाज वह किसी भी सम्प्रदाय या पंथ के हों, उनका धर्म, उनका गुण स्वभाव, उनका ज्ञान, वैराग्य, त्याग, तपश्चर्या, इन्द्रिय संयम, सतत आत्मचिन्तन आदि ही आभूषण है। कल्याण का साधन है। यदि यह गुण स्वभाव उनके जीवन में न हो तो वह ढोंगी, छली (दिखावामात्र) है, कपटी जालसाजी है। लोगों को भ्रमित करने वाले हैं। कुछेक साधु-संन्यासी बाह्य चिन्ह को ही अपना सर्वस्व सम्पत्ति, सर्वस्व साधन मान लेते हैं। ऐसा समझने वाला वह लोगों को अन्धकूप में गिराने वाला ही होगा जन्म-मृत्यु को स्वयं प्राप्त करेगा और अन्यों को भी प्राप्त करायेगा। अरे भाई! यह बाह्य चिन्ह तो केवल मात्र गृहस्थाश्रम से विरक्त (त्यागी संन्यासी) को भिन्न करके दिखाने के लिए है, यह भेदक है; गुण, स्वभाव या भूषण नहीं। जीवन चलाने या परिवार पालने के लिए नहीं।

455-मदर्थेष्वङ्गचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम्।
मय्यर्पणं च मनसः सर्वकामविवर्जनम्।। 11.19.22।।
456-मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च।
इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद् व्रतं तपः।। 11.19.23।।
457-एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मानिवेदिनाम्।
मयि सञ्जायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते।। 11.19.24।।

अपने एक-एक अंग की चेष्टा केवल मेरे लिये ही करें, वाणी से मेरे ही गुणों का गान करें और अपना मन भी मुझ में ही अर्पित कर दें तथा सारी कामनाएँ छोड़ दें। मेरे लिये धन, भोग और प्राप्त सुख का भी परित्याग कर दें और जो कुछ यज्ञ, दान, हवन, जप और तप किया जाये, वह सब मेरे लिये ही करें। हे उद्धव जी! जो मनुष्य इन धर्मों का पालन करते हें और मेरे प्रति आत्मनिवेदन कर देते हैं, उनके हृदय में मेरी प्रेममयी भक्ति का उदय होता है और जिसे मेरी भक्ति प्राप्त हो गयी उसके लिये और कोई दूसरी वस्तु को प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता है।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि- विषयों के कामनाओं से आत्यन्तिक निवृत्ति ही परमतत्त्व परमात्मा की प्राप्ति है, स्वस्वरूप की अनुभूति है।

तात्पर्य अर्थ-

कल्याणेच्छु साधक का परम पुरुषार्थ यही होगा कि बाह्य समस्त कामनाओं को छोड़कर मन, वाणी और बुद्धि आदि से आत्मचिन्तन में ही रत रहे, जो भोग्य वस्तु प्राप्त है उसकी भी आसक्ति-अनुरक्ति का त्याग कर दे। ऐसा करने से आत्मानुभूति, आत्म

साक्षात्कार मुमुक्षु साधक के लिये सुखमय (सहज) हो जाता है। "**इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते। एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्।।**" (गी.3.40) इसलिये "**ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्। ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना।।**" (गी. 4.24)।

(18) आत्मा-अनात्मा के प्रति जिज्ञासा प्रकरण-

458-यमः कतिविधः प्रोक्तो नियमो वारिकर्शन।

कः शमः को दमः कृष्ण का तितिक्षा धृतिः प्रभो।। 11.19.28।।

किं दानं किं तपः शौर्यं किं सत्यमृतमुच्यते।

कस्त्यागः किं धनं चेष्टं को यज्ञः का च दक्षिणा।।11.19.29।।

कः पण्डितः कश्च मूर्खः कः पन्था उत्पश्च कः।

कः स्वर्गो नरकः कः स्वित् को बन्धुरुत किं गृहम्।।11.19.31।।

459-क आढ्यः को दरिद्रो वा कृपणः कः क ईश्वरः।

एतान् प्रश्नान् मम ब्रूहि विपरीतांश्च सत्पते।। 11.19.32।।

हे रिपुसूदन! यम और नियम कितने प्रकार के हैं? हे श्रीकृष्ण! यम क्या है ? दम क्या है ? हे प्रभो! तितिक्षा और धैर्य क्या हैं? आप मुझे दान, तप, सत्य और ऋत का भी स्वरूप बतलाइये। त्याग क्या है ? अनिष्ट धन कौन सा है और लाभ क्या है? पण्डित और मूर्ख के क्या लक्षण हैं? सुमार्ग और कुमार्ग का क्या लक्षण है? भाई-बन्धु किसे मानना चाहिये? और घर क्या हे? धनवान् और निर्धन किसे कहते हें? कृपण कौन है ? और ईश्वर किसे कहते हें? भक्तवत्सल हे प्रभो! आप मेरे इन प्रश्नों का उत्तर दीजिये और साथ ही इनके विरोधी भावों की भी व्याख्या कीजिये।

तात्पर्य अर्थ-

कल्याणार्थि जिज्ञासु को चाहिये कि अपने इष्ट देव परमात्मा आत्मस्वरूप सद्गुरु से बन्ध-मोक्ष क्या है और किसका है ? आत्मा-अनात्मा तथा परमात्मा का क्या स्वरूप है? और बन्धन से मुक्त होने के लिये क्या साधन या उपाय है? और वह साधन कितने है? इत्यादि। इन सब प्रश्नों को श्रद्धा, विश्वास पूर्वक विनम्र भाव से जानने की जिज्ञासा प्रकट करनी चाहिये, जब तक उपरोक्त प्रश्नों का उत्तर यथावत् समझ नहीं लिया जाता है, तब तक अपनी जिज्ञासा में किसी प्रकार कमी नहीं आने दें या निराशा को मन में आने का अवसर न दें।

460-अहिंसा सत्यमस्तेयमसङ्गो ह्रीरसञ्चयः।

आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यं च मौनं स्थैर्यं क्षमाभयम्।।11.19.33।।

461-शौचं जपस्तपो होमः श्रद्धाऽऽतिथ्यं मदर्चनम्।

तीर्थाटनं परार्थेहा तुष्टिराचार्यसेवनम्।। 11.19.34।।

462-एते यमाः सनियमा उभयोर्द्वादश स्मृताः।

पुंसामुपासितास्तात यथा कामं दुहन्ति हि।। 11.19.35।।

'यम' बारह हैं- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, असंगता, लज्जा, असंचय, आस्तिकता, ब्रह्मचर्य, मौन, स्थिरता, क्षमा ओर अभय। नियमों की संख्या भी बारह ही है। शौच, जप, तप, हवन, श्रद्धा, अतिथि सेवा, मेरी पूजा, तीर्थ यात्रा, परोपकार की चेष्टा, सन्तोष और गुरु सेवा। इस प्रकार यम और नियम दोनों की संख्या बारह-बारह हैं। ये सकाम और निष्काम दोनों प्रकार के साधकों के लिये उपयोगी है। हे उद्धव जी! जो पुरुष इसका पालन करते हैं, उनके इच्छानुसार ये यम और नियम उन्हें भोग और मोक्ष दोनों प्रदान करते हैं।

तात्पर्य अर्थ-

यम-नियम आदि सभी साधनाएँ सात्त्विक हैं, इन्हीं साधनों के द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि होने पर इहलोक-परलोक और मोक्ष का मार्ग प्रशस्त होता है। अतः यह साधन साधकों के लिये सर्वोत्तम है, अपने जीवन में अपनाकर स्वस्वरूप का साक्षात् अपरोक्ष रूप से अनुभव करें। सकामी भक्तों के लिये साधन है यम-नियम और मोक्ष कामी भक्तों के लिये भी साधन है। अथवा सर्वप्रथम नियमों को जीवन में अपनाकर अपने मन, वाणी को पवित्र करें तत्पश्चात् यम को अपनाकर जन्म-मृत्यु रूप संसार बन्धन से मुक्ति को प्राप्त करें। ये ही मानव जीवन का परम लक्ष्य है। साधनपरायण साधकों का गन्तव्य है, साधना का अवसान है, सर्वोत्कृष्ट फल है। श्रुति कहती है चित्त के अत्यन्त शुद्ध हो जाने पर अन्दर और बाहर व्याप्त आत्मा प्रकाशित हो जाती है- ''**यस्मिन्विशुद्धे विभवत्येष आत्मा।**'' (मु.उ. 3.2.9)

463-शमो मन्निष्ठा बुद्धेर्दम इन्द्रियसंयमः।

तितिक्षा दुःखसंमर्षो जिह्वोपस्थजयो धृतिः।। 11.19.36।।

464-दण्डन्यासः परं दानं कामत्यागस्तपः स्मृतम्।

स्वभावविजयः शौर्यं सत्यं च समदर्शनम्।। 11.19.37।।

बुद्धि का मुझमें लग जाना ही शम है। इन्द्रियों के संयमन का नाम है दम। प्रारब्धकर्म से प्राप्त दुःखों को सहन करने का नाम तितिक्षा है। जिह्वा और जननेन्द्रिय पर विजय प्राप्त करना धैर्य है। किसी से द्रोह न करना यानि सबको अभय देना दान है। कामनाओं का त्याग करना तप है। अपनी वासनाओं पर विजय प्राप्त करना ही शूरता-वीरता है। सर्वत्र समस्वरूप, सत्यस्वरूप परमात्मा का दर्शन ही सत्य है।

तात्पर्य अर्थ-

मानव जीवन का फल है-आत्मा-परमात्मा का साक्षात्कार कर लेना, तदर्थ साधना एवं सेवा शुश्रुषा कर लेना, सब कुछ उपलब्धि के लिये यानि अनुभूति के लिये है। इस उपलब्धि के बाद कुछ करने-कराने के लिये शेष नहीं रह जाता। "**अथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति।।**" (बृ.उ. 4.4.6)।

465-ऋतं च सूनृता वाणी कविभिः परिकीर्तिता।

कर्मस्वसङ्गमः शौचं त्यागः संन्यास उच्यते।। 11.19.38।।

466-धर्म इष्टं धनं नृणां यज्ञोऽहं भगवत्तमः।

दक्षिणा ज्ञानसन्देशः प्राणायामः परं बलम्।।11.19.39।।

इस प्रकार सत्य और मधुर भाषण को ही महात्माओं ने ऋत कहा हे। कर्मों में आसक्त न होना ही शौच है। सभी कर्मों का त्याग ही सच्चा संन्यास है। धर्म ही मनुष्यों का अभिष्ट धन है। मैं परमेश्वर ही यज्ञ हूँ एवं ज्ञान का उपदेश देना ही दक्षिणा है। प्राणायाम ही श्रेष्ठ बल है।

तात्पर्य अर्थ-

अपने मधुर वाणी एवं पवित्र कर्मों के द्वारा शत्रु को भी मित्र बनाया जा सकता है। त्यागपूर्वक जीवन में व्यवहार करते हुए भागवत धर्म को अपना लेना ही मनुष्य की सर्वोपरि सम्पत्ति है तथा आत्मचिन्तन ही महान् यज्ञ और महान् शक्ति भी है। आत्मचिन्तन तभी सम्भव है, जब यम नियमों का श्रद्धापूर्वक पालन हो।

467-भगो म ऐश्वरो भावो लाभो मद्भक्तिरुत्तमः।

विद्याऽऽत्मनि भिदाबाधो जुगुप्सा ह्रीरकर्मसु।। 11.19.40।।

468-श्रीर्गुणा नैरपेक्ष्याद्याः सुखं दुःखसुखात्ययः।

दुःखं कामसुखापेक्षा पण्डितो बन्धमोक्षवित्।।11.19.41।।

469-मूर्खो देहाद्यहंबुद्धिः पन्था मन्निगमः स्मृतः।

उत्पथश्चित्तविक्षेपः स्वर्गः सत्त्वगुणोदयः।। 11.19.42।।

मेरा ऐश्वर्य ही भग है, मेरी श्रेष्ठ भक्ति ही उत्तम लाभ है। सच्ची विद्या वही है, जिससे ब्रह्म और आत्मा का भेद मिट जाता है। पाप करने से घृणा होने का नाम ही लज्जा है। निरपेक्षता आदि गुण ही शरीर का सच्चा सौन्दर्य श्री है, दुःख और सुख दोनों की भावना का सदा के लिये नष्ट हो जाना ही सुख है। विषय भोग की कामना ही दुःख है। जो बन्ध और मोक्ष का तत्त्व को जानता है, वही पण्डित है। शरीरादि में जिसका

मैंपना है, वही मूर्ख है, जो संसार की ओर से निवृत्त कराके मुझे प्राप्त करा देता है, वही सच्चा सुमार्ग है। चित्त की बहिर्मुखता ही कुमार्ग है। सत्त्वगुण की वृद्धि ही स्वर्ग है।

तात्पर्य अर्थ-

सुख और दुःख ये दोनों ही कोई वस्तु नहीं हैं, केवल मात्र मन की भावना है। मनोविकार है, इस मनोविकार की निवृत्ति के लिये सद्गुरु की आवश्यकता होती है और इन दोनों की निवृत्ति ही आत्यन्तिक सुख है, संसारबन्धनों से मुक्ति है, परमानन्द की प्राप्ति है।

आत्यन्तिक सुख प्राप्ति के जिज्ञासु मोक्ष के आकांक्षी को चाहिये कि आत्मनिष्ठ आत्मज्ञानी सद्गुरु की सेवा-शुश्रुषा करके उनको प्रसन्न करें, फिर उनके द्वारा उपदेश रूप ज्ञानामृत प्राप्त करके देहाध्यास, जड़ाध्यास को सूक्ष्मदृष्टि से समझकर जीव-ब्रह्म के भेद की भावना को निर्मूल करके स्वस्वरूप में स्थित हो जाये, इसी स्थिति का नाम है आत्यन्तिक सुख और यही मुमुक्षु का परम लक्ष्य भी है।

470-योगास्त्रयो मया प्रोक्तो नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्।। 11.20.6।।

471-निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासीनामिह कर्मसु।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम्।। 11.20.7।।

472-यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः ।। 11.20.8।।

हे उद्धव जी! मैंने ही वेदों में एवं अन्यत्र भी मनुष्यों के कल्याण करने के लिये अधिकारी भेद से तीन प्रकार के योगों का उपदेश दिया है। वे हैं- ज्ञान, कर्म और भक्ति। मनुष्यों के परम कल्याण के लिये हैं, इनके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। हे उद्धव जी! जो लोग कर्मों तथा उनके फलों से विरक्त हो गये हैं और उनका त्याग कर चुके हैं, वे ज्ञानयोग के अधिकारी हैं। इसके विपरीत जिनके चित्त में कर्मों और उनके फलों से वैराग्य नहीं हुआ है, उनमें दुःख बुद्धि नहीं हुई है, वे सकाम व्यक्ति कर्मयोग के अधिकारी हैं। जो पुरुष न तो अत्यन्त विरक्त हैं और न अत्यन्त आसक्त ही हैं, तथा किसी पूर्वजन्म के शुभ कर्मों से सौभाग्यवश मेरी लीला-कथा आदि में उसकी श्रद्धा हो गयी है, वह भक्ति योग का अधिकारी है, उसे भक्ति योग के द्वारा ही सिद्धि मिल सकती है।

तात्पर्य अर्थ-

सम्-यह अव्यय है, धातु या शब्दों के पूर्व उपसर्ग के रूप में प्रयोग किया जाता है। ये उपसर्ग दो अर्थवाले है- जैसे सन्तोष, संन्यास। विशेषण अर्थ में है। दूसरा

अर्थ-समानता-जैसे समान, उसके जैसा। ये अव्यय भी है और दो अर्थ वाले भी हैं। जैसे- विशुद्ध और दूसरा विमृत्यु, विशोक इत्यादि।

योग शब्द यज् धातु से निष्पन्न हुआ है। योग का अर्थ करते हैं विद्वान्- दो या तीन चार आदि का मिलन को। और योग के पूर्व सं, जोड़ देने पर संयोग (संगठन) और वि, जोड़ देने पर वियोग (विगठन) निष्पादित होता है। अर्थात् जीवात्मा एवं मन-इन्द्रियों का संयोग, जन्म-मृत्यु में निमित्त है, कर्म संस्कारों में वृद्धि का कारण बनेगा। अथवा केवल शुभ कर्मों के द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि हो सकती है, परम शान्ति नहीं। यदि जीवात्मा का योग परमात्मा (भगवान्) से होता है, तो भक्ति का निष्पादन होगा और भगवत् प्राप्ति का संयोग बनेगा। भगवान् या ईश्वर का अर्थ होता है- विशिष्टात्मा विशेषगुणसंपन्नः इति विशिष्टः। अर्थात् ज्ञान, वैराग्य आदि षड्गुण सम्पन्न, सगुण-साकार आत्मा, समर्थवानात्मा। इस मतानुसार- 'जीव, ईश्वर और प्रकृति इन तीनों का अस्तित्व नित्य होने से विशिष्टाद्वैत के नाम से जाना जाता है। इस विशिष्टाद्वैत में भी संयोग-वियोग का झमेला बना ही रहेगा और ये ही सुख-दुःखों का कारण है। इस बात का प्रमाण है, श्रीमद्भागवत- **''एवं भगवतः कृष्णाल्लब्धमाना महात्मनः। आत्मानं मेनिरे स्त्रीणां मानिन्योऽभ्यधिकं भुवि।। तासां तत् सौभगमदं वीक्ष्य मानं च केशवः। प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत।।''** (10.29.47/48) अर्थात् सर्वव्यापक भगवान् ने जब गोपियों के मन में अभिमान का भाव देखा कि संसार की समस्त स्त्रियों में हम ही सर्वश्रेष्ठ हैं, हमारे समान भाग्यवती और कोई नहीं है। तब भगवान के मन में आया कि इन्हें तो अपने भाग्य का कुछ गर्व हो गया और इस गर्व के कारण मुझसे प्रेम करना भूल जाना स्वाभाविक है, ऐसा विचार कर वे उनके गर्व शान्त करने के लिये उनके बीच में ही अन्तर्धान हो गये। हे राजा परीक्षित! अब भगवान् की प्यारी गोपियाँ विरहावेश में भाँति-भाँति से गाने और प्रलाप करने लगीं। अपने कृष्ण प्यारे के दर्शन की लालसा से वे गोपियाँ अपने मन को रोक न सकीं और करुणा जनक सुमधुर रस से फूट-फूट कर रोने लगीं। यह भक्तियोग का संक्षिप्त परिचय हुआ। अब थोड़ा ज्ञान योग पर भी विचार कर लेते हैं। इहलोक-परलोक के भोग सुखों की कामनाओं से उपरति होकर एकमात्र आत्मचिंतन करने में, स्वस्वरूप चिन्तन में तल्लीन हो जाने का नाम है ज्ञानयोग। इस विद्या के योग से आत्मानुभूति होती है, आत्मसाक्षात्कार होता है, यह श्रुति इसमें प्रमाण है- **''अहंब्रह्मास्मि।''** (बृ.1.4.10), **''अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति विज्ञातैष त आत्मान्तर्याम्यमृतो-ऽतोऽन्यदार्तं।।** (बृ.उ. 3.7.23) अर्थात् यह तेरी आत्मा अन्तर्याम्यमृत स्वरूप है। वह दिखायी नहीं देती, किन्तु देखती है। सुनायी नहीं देती किन्तु सुनती है, मनन का विषय

नहीं होती, किन्तु मनन करने वाली है, जो विशेष रूप से ज्ञात नहीं होती, किन्तु विशेष रूप से जानती है, इससे भिन्न द्रष्टा नहीं है, इससे भिन्न श्रोता नहीं है, इससे भिन्न मन्ता नहीं है और न इससे भिन्न कोई विज्ञाता ही है। यह तेरी आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। इससे भिन्न सभी नश्वर हैं।

473-एतद्विद्वान् पुरा मृत्योरभवाय घटेत सः।

अप्रमत्त इदं ज्ञात्वा मर्त्यमप्यर्थसिद्धिदम्।।11.20.14।।

यद्यपि यह मनुष्य शरीर है तो मृत्युग्रस्त ही, परन्तु इसके द्वारा परमार्थ की, सत्यवस्तु की प्राप्ति हो सकती है। इसलिये बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि यह बात जानकर मृत्यु होने के पूर्व ही सावधान होकर ऐसी साधना कर ले जिससे वह जन्म-मृत्यु के चक्कर से सदा के लिये छूट जाये, मुक्त हो जाये।

तात्पर्य अर्थ-

इस पक्षिरूप प्राणमय जीवात्मा का घोसला (निवास स्थान) त्रिविध है, स्थूलदेह, सूक्ष्मदेह और कारणदेह। जाग्रत में व्यवहार करने के लिये पञ्चीकृत (स्थूलभूतों का कार्य) देह है, स्वप्न में व्यवहार करने के लिये अपञ्चीकृत (भूतसूक्ष्म) सूक्ष्म देह (लिंग) देह है और समस्त व्यवहारों से उपरत होकर (मूलाविद्या) कारण शरीर है जिसे सुषुप्ति के नाम से जाना जाता है। वह प्रशान्त अवस्था है, जहाँ पर सुख-दुःख, भूख-प्यास, मैं-तू, यह-वह कुछ भी ज्ञान नहीं होता। इतना विस्तार करने का अभिप्राय है, यह अन्नमय पञ्चीकृत स्थूल शरीर तो नित्य मरण-धर्मा है, मरणशील है किन्तु अन्त के दो शरीर (सूक्ष्म और कारण) नित्य मरण धर्मी नहीं, अपितु जन्म-जन्मान्तरों के कर्म संस्कारों का आधारभूत (आश्रय) है, इसलिये जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख एवं गमनागमन में कारण भी इन्हीं शरीरों को माना गया है। स्थूल शरीर की विशेषता है मनुष्य शरीर की प्राप्ति होने पर क्योंकि यह शरीर कर्मभूमि होने के साथ-साथ संसार बन्धन से मुक्ति पाने का साधन भी है। मनुष्य जब आत्मतत्त्वज्ञानी सद्गुरु का शरणापन्न (आश्रय) ले लेता है तब उनके ज्ञानोपदेश प्राप्त करके इसी जीवन में सदा-सर्वदा के लिये जन्म-मृत्यु रूप संसार के महाबन्धनों से मुक्त हो जाता है। ''**दुर्लभं त्रयमेवैतद्दैवानुग्रहहेतुकम्। मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः।।**'' (वि.चू.3)।

474-नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं, प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।

मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा।। 11.20.17।।

यह मनुष्य शरीर समस्त शुभ फलों की प्राप्ति का मूल है और अत्यन्त दुर्लभ होने पर भी अनायास सुलभ हो गया है। इस संसार सागर से पार होने के लिये एक सुदृढ़

नौका है। गुरु के शरण-ग्रहण मात्र से ही गुरुदेव इसके केवट बनकर पतवार का संचालन करने लगते हैं और स्मरण मात्र से ही मैं (सर्वात्मा) अनुकूल वायु के रूप में इसे लक्ष्य की ओर बढ़ाने लगता हूँ। इतनी सुविधा होने पर भी जो कोई इस शरीर के द्वारा संसार सागर से पार नहीं हो जाता, वह तो मानों अपने हाथों अपनी आत्मा का हनन, अध:पतन कर रहा है।

तात्पर्य अर्थ-

यह मानव जीवन शुभ कर्मों द्वारा इस लोक, परलोक की प्राप्ति का एवं जन्म-मृत्यु के कारण रूप अनादि-अविद्या से मुक्त (छुटकारा) पाने के लिये अति उत्तम साधन है, इसलिये अति दुर्लभ भी है। अत्यन्त दुर्लभ होने पर भी सौभाग्य से आज प्राप्त है। विषयों का भोग तो अपने-अपने प्रारब्धकर्मानुसार प्राणिमात्र को प्राप्त है किन्तु मोक्ष (संसार-बन्धन से) छुटकारा पाने का सौभाग्य तो केवलमात्र मनुष्य को ही प्राप्त है। इस भवसागर को पार होने के लिये चार कृपा की महति अनिवार्यता होती है। (1) ईश्वर कृपा, (2) ज्ञानदाता गुरु की कृपा, (3) निज (स्वयं) या प्रारब्ध और (4) शास्त्र (ऋषि) की कृपा, इन चारों में से एक का भी अभाव किसी कारणवश हो जाने पर किसी का भी कल्याण या मोक्ष होना असम्भव है। सब कुछ सुलभ होते हुए भी यदि मनुष्य अपना कल्याण करने में प्रमाद करता है, पुरुषार्थ नहीं करता तो वह आत्महत्यारा है। (जन्म-मृत्युरूप नारकीय जीवन को आमन्त्रित करता है।) अत: श्रुतियाँ मनुष्यों को सावधान करती हैं- "**इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टि:।**" (के.उ.2.5), "**उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।**" (क.उ.1.3.16) अर्थात् यदि इस मनुष्य शरीर के रहते-रहते अपना कल्याण कर लिया तो ठीक है और प्रमादवश यदि न किया तो महान हानि होगी। (पशु-पक्षि, कृमि-कीट आदि योनियों में जन्म लेना पड़ेगा) इसलिये अज्ञान निद्रा से जागो (आलस-प्रमाद मत करो) और ब्रह्मनिष्ठ आत्मज्ञानी की शरण ग्रहण करके स्वस्वरूप में स्थित हो जाओ।

475-यदाऽऽरम्भेषु निर्विण्णो विरक्त: संयतेन्द्रिय:।
अभ्यासेनात्मनो योगी धारयेदचलं मन:।। 11.20.18।।

476-धार्यमाणं मनो यर्हि भ्राम्यदाश्वनवस्थितम्।
अतन्द्रितोऽनुरोधेन मार्गेणात्मवशं नयेत्।।। 11.20.19।।

हे प्रिय उद्धव! जब पुरुषार्थ दोषदर्शनके कारण कर्मों से उद्विग्न और विरक्त हो जाय तब जितेन्द्रिय होकर वह योग में स्थित हो जाय और अभ्यास-आत्मानुसन्धान के द्वारा अपना मन मुझ परमात्मा में निश्चल रूप से स्थित करे। जब स्थिर करते समय मन

चंचल होकर इधर-उधर भटकने लगे, तब झटपट बड़ी सावधानी से मनाकर समझा-बुझाकर, फुसलाकर अपने वश में कर लें।

तात्पर्य अर्थ-

यह संसार विक्षेपस्वरूप है, क्योंकि गुणमय होने के कारण जब कभी मन की प्रतिकूलता किसी बात-व्यवहार को लेकर आ जाती है, तब उस समय यह उद्विग्न हो जाता है और संसार के प्रियता से कुछ देर के लिये मोह भंग हो जाता है, निराशा में परिणत हो जाता है, विचारशून्य हो जाता है। उसी समय साधक का कर्तव्य है कि वह अपने मन को आत्मानुसन्धान, आत्मचिन्तन में लगा दे और मनोवृत्तियों को पूर्णतया स्वस्वरूप में दीर्घकाल के लिये स्थिर करने का प्रयत्न करे, अभ्यास करे। यह मन अति चंचल होने से वश में करना कठिन तो है, किन्तु असम्भव नहीं। यदि अभ्यास और वैराग्य निश्चयपूर्वक चलते रहे तो वह मन अवश्य स्ववश हो जाता है। जैसा कि "**अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।**" (यो.सू.1.12) में कहा है। "**अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।**" (गीता. 6.35)।

477-मनोगतिं न विसृजेज्जितप्राणो जितेन्द्रियः।

सत्त्वसम्पन्नया बुद्ध्या मन आत्मवशं नयेत्।। 11.20.20।।

इन्द्रियों और प्राणों को अपने वश में रक्खें और मन को एक क्षण के लिये भी स्वतन्त्र न छोड़ें। उसकी एक-एक चाल को, वृत्ति को, एक-एक गुण-दोषों को देखते रहे। ऐसा करते रहने से बुद्धि में सात्त्विकता आयेगी और उस सत्त्व बुद्धि के द्वारा धीरे-धीरे मन को अपने वश में करने का प्रयत्न करना चाहिये।

तात्पर्य अर्थ-

कल्याणार्थी साधक अपने मन के ऊपर एक क्षण के लिये भी विश्वास न करे, क्योंकि बिजली की चमक के समान अत्यन्त चंचल है, कब और किस समय विषय रूपी प्रज्ज्वलित अग्नि में प्रवेश करने के लिये बाध्य कर दे, विवश कर दे कहा नहीं जा सकता, पता नहीं लगता। इसलिये मन की गति को न कोई जान सकता, न निश्चय कर सकता। "**अतः दृष्टिपात एव मूर्च्छिताः पथिकाङ्गनाः।**" यह शास्त्रकारों ने कहा है। अतः अपनी मनोवृत्ति को अहर्निश आत्मचिंतन में ही लगाये रक्खें, चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते, खाते-पीते, देखते-सुनते, सूंघते आदि समय में भी आत्मचिंतन का विस्मरण न होने देना चाहिये। यही मन को स्ववश करने का (निरोध करने का) सुलभ उपाय है।

478-सांख्येन सर्वभावानां प्रतिलोमानुलोमतः।

भवाप्ययावनुध्यायेन्मनो यावत् प्रसीदति।। 11.20.22।।

सांख्यशास्त्र में जिस प्रकार क्रमशः प्रकृति से लेकर शरीरादि का सृष्टिक्रम जो बतलाया गया है उसके अनुसार सृष्टि चिन्तन और जिस क्रम से शरीरादि की प्रकृति में लय बताया गया है, उस क्रम से सृष्टि का लयचिंतन करना चाहिये। यह चिन्तन तब तक करते रहना चाहिये, जब तक मन शान्त व स्थिर न हो जाये।

तात्पर्य अर्थ-

मन को शान्त (स्थिर) करने का दूसरा उपाय है- यह स्थूल शरीर पाञ्चभौतिक कार्य है। अतः हड्डी, माँस आदि को पृथ्वी तत्त्व में लय करें; मूत्र, लार, पसीना आदि को जलतत्त्व में, शरीर के उष्ण भाग को अग्नितत्त्व में, प्राणापान आदि को वायुतत्त्व में तथा शरीर के अन्दर जो खाली भाग है, उसे महाकाश में लय कर दें। इसी प्रकार बाह्य पृथ्वी को उनके गुण-गन्ध में, गुणगन्ध को जल में, जल को जलगुण रस में, ऐसे ही अग्नि आदि सभी को उनके कारण अव्यक्त गुणों और अन्त में देहाभिमानी जीवात्मा में तथा जीवात्मा को भी सर्वात्मा ब्रह्म में लय कर देने पर **'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'**(छा.6.2.1), शेष सर्वनिरपेक्षरूप आत्मा ही रह जाता है। (इसी का नाम हे योग दर्शन की निर्बीजसमाधि और यही विदेह-कैवल्य स्थिति है। यही सांख्य दर्शन के अनुसार गुणसाम्य स्थिति है, यही पुराणों के महाप्रलय है। कार्यमात्र का अथवा कार्यकरण दोनो का विलय को प्रलय कहते हैं। जिसे नित्य-प्रलय, नैमित्तिक प्रलय और महाप्रलय तीन प्रकार का कहा गया है। नित्यप्रलय है सुषुप्ति, नैमित्तिक-प्रलय है किसी कारणवशात् मूर्छा (बेहोशी) आदि आ जाना इस लय प्रक्रिया को ही दीर्घकाल तक चिन्तन करते रहना चाहिये। ऐसा करते रहने से वह एक दिन स्वाभाविक हो जायेगा। फिर तो चलते-फिरते, खाते-पीते, सोते-जागते, व्यवहारादि कालों में भी वह स्थिति बनी रहेगी। **''अनेन ज्ञानमाप्नोति संसारार्णव विनाशनम्। तस्मादेवं विदित्वैनं कैवल्यं फलमश्नुते कैवल्यं फलमश्नुत इति।।''** कै.उ. 2.5।।

479-निर्विण्णस्य विरक्तस्य पुरुषस्योक्तवेदिनः।

मनस्त्यजति दौरात्म्यं चिन्तितस्यानुचिन्तया।। 11.20.23।।

जो पुरुष संसार से विरक्त हो गया है और संसार के पदार्थों में दुःख बुद्धि हो गयी है, वह अपने गुरुजनों के उपदेश को भली-भाँति समझकर दृढ़ता से अपने स्वरूप के ही चिन्तन में संलग्न रहता है। इस अभ्यास से बहुत शीघ्र ही उसका मन अपनी चञ्चलता, जो अनात्मा शरीरादि के आत्मबुद्धि करने से हुई है उसे छोड़ देता है।

तात्पर्य अर्थ-

ब्रह्मनिष्ठ तत्त्वज्ञानी सद्गुरु के द्वारा प्राप्त उपदेश का पुनः-पुनः मनन-चिन्तन

करते रहने से, अथवा सद्गुरु को ही परब्रह्म परमात्मा रूप समझ कर उनकी सेवा-सुश्रूषा में तन्मयता आ जाने से भी मन की चंचलता में कमी आयेगी। यह तीसरा उपाय है, मन को स्ववश करने का।

480-अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते।

ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा।। 11.22.55।।

विषयों के सत्य न होने पर भी जो जीव विषयों का ही चिन्तन करता रहता है, उसका यह जन्म-मृत्यु-रूप संसार चक्र कभी भी निवृत्त नहीं होता, जैसे स्वप्न में प्राप्त अनर्थ परम्परा, जगे बिना निवृत्त नहीं होती।

तात्पर्य अर्थ-

मन-बुद्धि की चंचलता ही जन्म-मृत्यु रूप संसार बन्धन है जीवात्मा का, विषयों का निरन्तर चिन्तन और उसमें प्रियता, मधुरता आदि सुखाध्यास है। इस अनादि मोह निद्रारूप बन्धन से मुक्ति (छुटकारा) पाने के लिये, जगना पड़ेगा, ज्ञानाग्नि से दग्ध करना पड़ेगा। जैसे स्वप्नावस्था में प्रिय-अप्रिय, प्राणि पदार्थों के द्वारा प्राप्त सुख-दुःख आदि, जगे बिना उनसे छुटकारा नहीं मिलता और जग जाने पर उन्हें छोड़ना ही नहीं पड़ता, अनायास ही छूट जाता है। क्योंकि वहाँ पर वस्तु नाम के कोई चीज नहीं है, कोई वस्तु हो तो उसे छोड़ा जाये। तद्वत् अज्ञानता, विमूढ़ता के कारण जाग्रत में प्राप्त अनुभव प्राणी-पदार्थों के प्रति मेरापन का अहंकार से मुक्ति पाने के लिये आत्मतत्त्वज्ञानी, जीवनमुक्त सद्गुरु के द्वारा ज्ञानार्जित करना होगा, तभी स्वस्वरूप का साक्षात् अपरोक्ष अनुभूति हो जाने पर यह जन्म-मरण रूप अनादि बन्धन अनायास ही, सहज में ही छूट जायेगा, यथा प्रकाश होते ही अन्धकार प्रकाश में विलीन हो जाता है। प्रकाश में अन्धकार के विलीन होने का अभिप्राय हुआ कारण-कार्यभाव, कारणरूप प्रकाश में कार्य का विलीन होना स्वाभाविक है। यथा बीज वृक्षवत् अर्थात् बीज से भिन्न वृक्ष नहीं है, तद्वत् अन्धकार कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। प्रकाश का अभाव का नाम अन्धकार है। ज्ञान का अभाव ही जन्म-मृत्यु रूप अनादि बन्धन है।

481- तस्मादुद्धव मा भुङ्क्ष्व विषयानसदिन्द्रियैः।

आत्माग्रहणनिर्भातं पश्य वैकल्पिकं भ्रमम्।। 11.22.56।।

हे प्रिय उद्धव! उन दुष्ट इन्द्रियों के द्वारा विषयों को मत भोगो। आत्मा के अज्ञान से प्रतीत होने वाला सांसारिक भेदभाव भ्रममूलक ही है, ऐसा समझो।

तात्पर्य अर्थ-

दुर्लभ जीवन को प्राप्त करके भी लोग मन इन्द्रियों को सन्तुष्ट करने में ही अपने आपको समर्पित कर देते हैं, जो कभी भी तृप्त होने वाला नहीं है। इसी का नाम है महा

अज्ञान क्योंकि जैसे अग्नि की तृप्ति होती है- जब केवल आहुति देना बन्द कर देंगे तब अग्नि अपने आप शान्त हो जायेगी। वैसे ही विषयों से इन्द्रियों को रोकने से ही उनकी शान्ति होगी, तृप्ति होगी।

482-यथैवमनुबुध्येयं वद नो वदतां वर।

सुदुःसहमिमं मन्ये आत्मन्यसदतिक्रमम्।। 11.22.59।।

483- विदुषामपि विश्वात्मन् प्रकृतिर्हि बलीयसी।

ऋते त्वद्धर्मनिरतान् शांतास्ते चरणालयान्।। 11.22.60।।

हे भगवन्! आप समस्त भक्तों के शिरोमणि हैं। मैं इन दुर्जनों से किये तिरस्कार को अपने मन में अत्यंत असह्य समझता हूँ अथवा आत्मा में अनात्मा का अध्यास ही आत्मा में असद् का अंतिक्रमण है। यह अत्यन्त अनुचित होने से असह्य है। अतः जैसे मैं इसे समझ सकूँ, आपका उपदेश जीवन में धारण कर सकूँ, वैसे हमें आज्ञा करें। हे विश्वात्मन्! जो आपके भागवत धर्म के आचरण में प्रेमपूर्वक संलग्न है, जिन्होंने आपके चरणकमलों के आश्रय ले लिया है, उन शान्त पुरुषों के अतिरिक्त बड़े-बड़े विद्वानों के लिये भी दुष्टों के द्वारा किया गया तिरस्कार सह लेना अत्यन्त कठिन है। इस अध्यास को नष्ट करना कठिन है। "**स्वभावस्तु प्रवर्तते।**" (गी.5.14) क्योंकि प्रकृति अत्यन्त बलवती है।

तात्पर्य अर्थ-

साधकों का मन कैसा होना चाहिये ? इस विषय में गीता कहती है - "**न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।**" (गी.5.20), "**दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः। वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।**" (गी.2.56). अर्थात् प्रिय वस्तु की प्राप्ति में (अनुकूलता) में न हर्षित हो और न अप्रिय वस्तु की प्राप्ति में (प्रतिकूलता) में उद्वेजित (शोक, चिन्ता ग्रस्त) होवें। दुःख के आने पर भी प्रसन्न रहें, सुख की प्राप्ति में भी आनन्दित न होवें, क्योंकि सुख-दुःख की मनोवृत्ति ही काम, क्रोध, भय आदि को जन्म देती है, अतः अपनी बुद्धि को स्थिर बनाये रक्खें। यही साधकों की साधना की विशेषता है। वास्तविकता तो यह है- न शत्रु, न मित्र, न प्रिय, न अप्रिय ये सब मनोवृत्ति की लीला है। अर्थात् प्राणी, पदार्थों में सुख-दुःख नहीं है, मात्र मनोवृत्ति में है।

484-बार्हस्पत्य स वै नात्र साधुर्वै दुर्जनेरितैः।

दुरुक्तैर्भिन्नमात्मानं यः समाधातुमीश्वरः।। 11.23.2।।

485-न तथा तप्यते विद्धः पुमान् बाणैः सुमर्मगैः।

यथा तुदन्ति मर्मस्था ह्यसतां परुषेषवः।। 11.23.3।।

देवगुरु बृहस्पति के शिष्य हे उद्धव जी! इस संसार में प्राय: ऐसे संत पुरुष नहीं मिलते जो दुर्जनों की कटु वाणी से बींधे हुए अपने हृदय को सम्भाल सके। मनुष्य का हृदय मर्मभेदी बाणों से बिंधने पर भी उतनी पीड़ा का अनुभव नहीं करता, जितनी उसे दुर्जनों के मर्मान्तक एवं कठोर वाग्बाण पहुँचाते हैं।

तात्पर्य अर्थ-

मनुष्य अस्त्र-शस्त्रों के द्वारा आघात पहुँचाने पर भी कदाचिद् सहन कर सकते हैं, उस आघात से उत्पन्न घाव भरने का भी उपाय अनेक हो सकते हैं, विषैले प्राणियों के विष को दूर करने का भी उपाय बहुत से हो सकते हैं। किन्तु दुर्जनों-दुष्टों की कटु आलोचना, निन्दनीय वाक्बाण असह्य है और उसके घाव को भर पाना भी अत्यन्त कठिन है। इस विषय में महाभारत आदि इतिहास प्रसिद्ध है। (द्रौपदी के वाग्बाण से ही आरम्भ होकर दुर्योधन के मृत्यु में समाप्त होता है।)

486-केनचिद् भिक्षुणा गीतं परिभूतेन दुर्जनैः।

स्मरता धृतियुक्तेन विपाकं निजकर्मणाम्।। 11.23.5।।

एक भिक्षुक को दुष्टों ने बहुत सताया था। उस समय भी उसने अपना धैर्य न छोड़ा और उसने अपने पूर्वजन्म के कर्मों का फल समझकर कुछ अपने मानसिक उद्‌गार प्रकट किये थे। उसी का इतिहास में वर्णन है।

तात्पर्य अर्थ-

मुख्य दु:ख तीन प्रकार के हैं- आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक। इन्हीं दु:खों के अन्तर्गत सभी प्रकार के दु:खों का समावेश (समाहित) हो जाता है। उपरोक्त दु:खों के द्वारा मरणतुल्य कष्ट होने पर भी अपना धैर्य, सहिष्णुता को बनाये रखना चाहिये, ये ही साधक का बहुत बड़ी सम्बल है, तपश्चर्या है और इसी में उनका महानता है और यही सर्वश्रेष्ठ साधना भी है।

487- नायं जनो मे सुखःदुखहेतुर्न देवताऽऽत्माग्रहकार्मकालाः।

मनः परं कारणमामनन्ति, संसारचक्रं परिवर्तयेद् यत्।। 11.23.43।।

488- मनो गुणान् वै सृजते बलीयस्ततश्च कर्माणि विलक्षणानि।

शुक्लानि कृष्णान्यथ लोहितानि तेभ्यः सवर्णाः सृतयो भवन्ति।। 11.23.44।।

मैं मेरे इस सुख अथवा दु:ख का कारण न इन मनुष्यों को मानता हूँ, न शरीर-इन्द्रियों को, न ग्रह, कर्म एवं काल आदि को ही मानता हूँ। श्रुतियाँ और महात्माजन; मन को ही इसका परम कारण बताते हैं और मन ही संसार चक्र को चला रहा है। सचमुच यह मन बहुत बलवान है, इसी ने विषयों, उनके कारण गुणों और उनसे

सम्बन्ध रखने वाली वृत्तियों की सृष्टि की है। उन वृत्तियों के अनुसार ही सात्विक, राजस और तामस अनेकों प्रकार के कर्म होते हैं और कर्मो के अनुसार ही जीवात्मा की विविध गतियाँ भी होती है।

तात्पर्य अर्थ-

आत्मा निष्क्रिय निर्विकार और निर्गुण होने से न कर्मो के कर्ता बन सकता है और नहि उन कर्मो के फल भोग का भोक्ता ही है। वह केवल मात्र द्रष्टा, साक्षी एवं सत्ता मात्र है। मनेन्द्रियों के द्वारा शुभाशुभ कर्म होते हैं और कर्मो के कर्ता होने से सुख-दुःख का भोक्ता भी वे ही मनेन्द्रियाँ बन सकते हैं। ऊँची नीची (देव, मनुष्य, कृमिकीट आदि) नाना योनियों की प्राप्ति के लिए गतियाँ भी कर्मो के अनुसार ही होती है। उन योनियों की प्राप्ति जल प्रवाहवत् अनादि-अनन्त काल से चले आ रहे है।

489- दानं स्वधर्मा नियमो यमश्च, श्रुतं च कर्माणि च सद्व्रतानि।

सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ताः, परो हि योगो मनसः समाधिः।। 11.23.46।।

दान, अपने धर्म का पालन, नियम, यम, वेदाध्ययन, सत्कर्म और ब्रह्मचर्यादि श्रेष्ठ व्रत- इन सबका अन्तिम फल यही है कि मन एकाग्र हो जाये। मन का समाहित हो जाना ही परम योग है।

तात्पर्य अर्थ-

शास्त्रों में जिनते भी साधन बताये गये हैं, वे सबके सब मन को स्ववश में करने के लिये ही हैं। मनोवृत्ति को शान्त करने के लिये हैं। मन के स्ववश हुए बिना आत्मा का और अनात्मा का विवेक ज्ञान, आत्मचिन्तन और आत्मसाक्षात्कार करके स्वस्वरूप में स्थित हो पाना अत्यन्त असम्भव है। अतः उपरोक्त साधनों को जीवन में अपनाकर अपने लक्ष्य को, अपनी अंतिम मंजिल को प्राप्त कर लेना चाहिये। यम व नियम (20), दैवी सम्पत्ति (26) आदि "**अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोग- व्यवस्थितिः। दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।। अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्। दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।। तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता। भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत।।**" (गी. 16.1/2/3)

490-देहं मनोमात्रमिमं गृहित्वा, ममाहमित्यन्धधियो मनुष्याः।

एषोऽहमन्योऽयमिति भ्रमेण, दुरन्तपारे तमसि भ्रमन्ति।। 11.23.50।।

साधारणतः मनुष्यों की बुद्धि अंधी हो रही है। तभी तो वे इस मनः कल्पित शरीर को 'मैं' और 'मेरा' मान लेते हैं और फिर इस मन के जाल में फँस जाते हैं कि यह मैं हूँ और यह दूसरा है। इसका दुष्परिणाम यह होता है कि वे इस अत्यन्त अज्ञानान्धकार (कटि-पतंग, पेड़-पौधे, वनस्पति आदि) योनियों में भटकते रहते हैं।

तात्पर्य अर्थ-

जन्म-मृत्यु एवं संसार बन्धन का मुख्य कारण है- यही प्रकृति के कार्य शरीरादि को 'मैं', 'मेरा' मानने लगना है। यह जड़ाध्यास असाध्य रोग है और विक्षेप एवं आवरण स्वरूप है, इसी से पंचक्लेश का आविर्भाव होता है। '**अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश।**' (यो.सू. 2.3) इन्हें पंचक्लेश कहा जाता है। इनमें से भी अविद्या ही बाकी का खेती है। "**अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां**" (यो.सू. 2.4)। इस अविद्या के कारण ही संसार है। यथा "**पुनरपि जननं पुनरपि मरणं, पुनरपि जननी जठरे शयनम्।**" (भज गोविन्दम्)।

491-न केनचित् क्वापि कथञ्चनास्य, द्वन्द्वोपरागः परतः परस्य।
यथाहमः संसृतिरूपिणः स्यादेवं प्रबुद्धो न बिभेति भूतैः।। 11.23.57।।

492-एतां स आस्थाय परात्मनिष्ठामध्यासितां पूर्वतमैर्महर्षिभिः।
अहं तरिष्यामि दुरन्तपारं तमोमुकुन्दाङ्घ्रिनिषेवयैव।।11.23.58।।

आत्मा-जाति, क्रिया, धर्म और गुण आदि से लेशमात्र सम्बंध रहित है। उसे कभी भी कहीं भी किसी के द्वारा किसी भी प्रकार से द्वंद्व का स्पर्श नहीं होता। वह तो जन्म-मृत्यु के चक्कर में भटकने वाले अहंकार को ही होता है। जो इस बात को जान लेता है, वह फिर किसी भय के निमित्त से भयभीत नहीं होता। बड़े-बड़े प्राचीन ऋषि-मुनियों ने इस परमात्मनिष्ठा का आश्रय ग्रहण किया है। मैं भी इसी का आश्रय ग्रहण करूँगा और मुक्ति तथा प्रेम के दाता भगवान के चरणकमलों की सेवा के द्वारा इस दुरन्त अज्ञान सागर को अनायास ही पार कर लूँगा।

तात्पर्य अर्थ-

समस्त दु:खों एवं भय का कारण है-परमधर्मों को (प्रकृति के-गुण, धर्म, विकारिता आदि का) अपने में आरोपित कर लेना और स्वधर्म (स्वभाव) का विस्मरण। क्योंकि स्वतः आत्मा निर्विकार, निरवयव, जन्म-मृत्यु आदि से सर्वथा रहित है। द्वन्द्वातीत एवं विभु है। फिर भी विकारी, जन्म-मृत्यु वाला देखने में आता है, वह आत्मा का नहीं अहंकार आदि (17) तत्त्व से युक्त सूक्ष्मदेह का है। वही नाना योनियों में भटकता रहता है। ऐसा ज्ञान हो जाने पर किसी प्रकार का भय नहीं होता। "**यतो वाचो निवर्तन्तो अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति।**" (तै.उ. 2.9.1)

493-निर्विद्य नष्टद्रविणो गतक्लमः प्रव्रज्य गां पर्यटमान इत्थम्।
निराकृतोऽसद्भिरपि स्वधर्मादकम्पितोऽमुं मुनिराह गाथाम्।। 11.23.59।।

हे उद्धव जी! उस ब्राह्मण का धन ही क्या नष्ट हुआ, बल्कि उसका सारा क्लेश ही दूर हो गया। अब वह संसार से विरक्त हो कर और संन्यास.लेकर पृथ्वी में स्वच्छन्द

विचरण कर रहा था। यद्यपि दुष्टों ने उसे बहुत सताया, फिर भी वह अपने धर्म में अटल रहा, किंचित् भी विचलित न हुआ। उस समय वही मौनी अवधूत, मन ही मन इस प्रकार का गीत गाया करता था।

तात्पर्य अर्थ-

''**सर्वं क्षणिकं क्षणिकम्**'', ''**सर्वं दुःखम् दुःखम्**'' बुद्ध का महावाक्य यहाँ पर चरितार्थ होता है, जो कुछ और जो भी दृश्य-अदृश्यमय जगत् क्षणस्थाई व विनाशशील होने के कारण दुःखस्वरूप है, मृत्यु स्वरूप है। गीता से भी यह प्रमाणित होता है- ''**दुःखालमशाश्वतम्**'' (गी.8.15) अर्थात् दुःखों का घर है और क्षणमात्र एकरस रहने वाला भी नहीं है, संयोग-वियोग से ग्रसित हे, अर्थात् संयोग-वियोग कार्य कारण जगत् का स्वभाव है, अतः साधकों के लिये विक्षेप का मुख्य कारण बन जाता है। मुमुक्षु साधक को विचार करना चाहिये कि जब प्रत्येक प्राणी पदार्थ अपने स्वभाव से विचलित नहीं होते, स्वभाव से नित्य बँधा हुआ है। फिर हम बुद्धिजीवी मनुष्य होकर, मनुष्यों में भी साधना परायण होकर, यदि अपना स्वभाव, अपना धर्म क्यों छोड़ें। क्षण मात्र के विक्षेप से साधक को चाहिये कि वह और सावधान होकर अपनी साधना की परिपक्वता का परिचय दे। शास्त्र दृष्टि से यह कार्य कारणमय जगत् तीनों कालों में है नहीं, फिर विक्षेप का कोई कारण ही नहीं सिद्ध होता। ''**नेह नानास्ति किञ्चन**'' (बृ.4.4.19), ''**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**''(छा.3.14.1), ''**आत्मैव सर्वं**'' (छा.7.25.2) इत्यादि श्रुतियों पर श्रद्धा विश्वास के साथ दृढ़तापूर्वक साधक को विचार करना चाहिये।

494-सुखदुःखप्रदो नान्यः पुरुषस्यात्मविभ्रमः।
मित्रोदासीनरिपवः संसारस्तमसः कृतः।। 11.23.60।।

495-तस्मात् सर्वात्मना तात निगृहाण मनो धिया।
मय्यावेशितया युक्त एतावान् योगसंग्रहः।। 11.28.61।।

हे उद्धव जी! इस संसार में मनुष्य को कोई दूसरा सुख या दुःख नहीं देता, यह तो उसके चित्त का भ्रम मात्र है। यह सारा संसार और इसके भीतर मित्र, उदासीन और शत्रु के भेद, अज्ञान से कल्पित है। इसलिये हे उद्धव! अपनी वृत्तियों को मुझमें तन्मय कर दो और इस प्रकार अपनी सारी शक्ति लगाकर मन को वश में कर लो और मुझमें ही नियुक्त होकर स्थित हो जाओ। बस, सारे योग साधना का इतना ही सार संग्रह है।

तात्पर्य अर्थ-

समस्त साधनों और योग तथा विद्वद्वर्य आचार्यों एवं वेद-वेदान्त आदि शास्त्रों का उद्देश्य या लक्ष्य है, आत्मा से भिन्न यह-वह, शत्रु-मित्र और मैं-मेरा की भ्रान्ति जो मन

में बैठे हुए संस्कारों का पुंज है, समुदाय है, उसे दूर करके केवल एकमात्र आत्मचिंतन करते हुए स्वस्वरूप में ही स्थित हो जाना, यही निर्द्वन्द्व अवस्था है और यह निर्द्वन्द्वता मानव मात्र का परम इष्ट है।

496-तमोरजःसत्त्वमिति प्रकृतेरभवन् गुणाः।

मया प्रक्षोभ्यमाणायाः पुरुषानुमतेन च।। 11.24.5।।

हे उद्धव! मैंने ही जीव के शुभ-अशुभ कर्मों के अनुसार प्रकृति को क्षुब्ध किया। तब उससे सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण प्रकट हुए।

तात्पर्य अर्थ-

यह प्रकृति सर्वात्मदेव की शक्तिरूपा है, यथा- एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, इसी प्रकार शक्ति और शक्तिमान् भिन्न-भिन्न दो वस्तु नहीं हैं, जिसे गुण-गुणी भी कह सकते हैं। प्रकृति अपने स्वभावानुसार अथवा सर्वात्म सत्ता से जब क्षुब्ध, चंचल होती है, तब उस प्रकृति से गुणों की उत्पत्ति होती है और गुणों के अनुसार प्रेरित होकर जीवात्मा शुभाशुभ कर्मों में प्रवृत्त होता है और कर्मों के अनुसार सुख-दुःख रूप फलों को भोगता है। **''सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृति सम्भवाः। निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्।।''** (भ.गीता-714.5)

497-तेभ्यः समभवत् सूत्रं महान् सूत्रेण संयुतः।

ततो विकुर्वतो जातोऽहङ्कारो यो विमोहनः।। 11.24.6।।

उससे क्रियाशक्ति प्रधान सूत्र (प्राण) और ज्ञानशक्ति प्रधान महत्तत्व (बुद्धि) प्रकट हुए। वे दोनों परस्पर मिले हुए हैं। महतत्त्व में विकार होने पर अहंकार व्यक्त होता है। यह अहंकार ही जीवों को मोह में डालने वाला है।

तात्पर्य अर्थ-

अहंकार बुद्धिवृत्ति है बुद्धि का कार्य है, मन आदि विकारों का कारण है। यह अहंकार व्यवहार से सम्बन्धित है, पुण्यापुण्य व्यवहार होने पर सूक्ष्मरूप से बुद्धि में रेखांकित होता हे और साधकों के लिये बहुत बड़े साधक भी बनता है। अतः साधकों को व्यवहार उतना ही करना चाहिये जिससे जीवन निर्वाह में किसी प्रकार की रुकावट न आये। अर्थात् जीवन निर्वाह मात्र के लिये व्यवहार करें।

498-मया कालात्मना धात्रा कर्मयुक्तमिदं जगत्।

गुणप्रवाह एतस्मिन्नुन्मज्जति निमज्जति।। 11.24.15।।

499-अणुर्बृहत् कृशः स्थूलो यो-यो भावः प्रसिध्यति।

सर्वोऽप्युभयसंयुक्तः प्रकृत्या पुरुषेण च।। 11.24.16।।

यह समस्त जगत् उन अज्ञानी और कर्म के संस्कारों से युक्त है। मैं ही कालरूप से कर्मों के अनुसार उनके फलों का विधान करता हूँ। इस गुण प्रवाह में पड़कर जीव कभी डूब जाता है और कभी ऊपर आ जाता है। कभी उसकी अधोगति होती है और कभी उसे पुण्यवश ऊँची गति प्राप्त हो जाती है। जगत् में छोटे-बड़े, मोटे-पतले, जितने भी पदार्थ बनते हैं, सब प्रकृति और पुरुष दोनों के संयोग से ही सिद्ध होते हैं।

तात्पर्य अर्थ-

जीवात्मा का जन्म-मरण, सुख-दु:ख, जय-पराजय तथा स्थावर से ब्रह्मा पर्यन्त नाना योनियों को प्राप्त कराने में कर्मों को अनादि संस्कारों को ही कारण समझना चाहिये। वर्तमान के प्रबल संस्कारों के द्वारा संचित कर्म संस्कारों में भाग्य (प्रारब्ध) का सृजन होता है और उस भाग्यानुसार कर्मफलों की प्राप्ति होती है। यह कार्य-कारणमय जगत् प्रकृति पुरुष के युगपत् व्यवहार है, यही इसकी सिद्धि है, अस्तित्व है। न अकेले पुरुष से इसकी सिद्धि है और न अकेले प्रकृति से ही। अर्थात् समस्त जगत् ज्ञाता-ज्ञेयमय है।

कर्मो का विधान शास्त्रों में तीन प्रकार हैं-

(1) क्रियामाण जो वर्तमान में कर्म हो रहा है, शुभाशुभ।

(2) संचित जो कर्म करने के बाद संस्कार रूप से मन-बुद्धि में संगृहीत है।

(3) प्रारब्ध जो संस्कार रूप से अन्त:करण में संगृहित है, वह संस्कार अब फल देने के लिए उद्यत (तत्पर)है (वह फल होगा- सुख दु:ख के रूपों में जिसे भाग्य के नाम से भी जाना जाता है।)।

500-सन्निपातस्त्वहमिति ममेत्युद्धव या मति:।

व्यवहार: सन्निपातो मनोमात्रेन्द्रियासुभि:।। 11.25.6।।

हे उद्धव जी! मैं हूँ और यह मेरा है, इस प्रकार की बुद्धि में तीनों गुणों का मिश्रण हैं। जिन मन, शब्दादि विषय, इन्द्रिय और प्राणों के कारण पूर्वोक्त वृत्तियों का उदय होता है, वे सबके सब सात्त्विक, राजस और तामस है।

तात्पर्य अर्थ-

मन में किसी भी प्रकार की वृत्तियों की उदय होने में निमित्त; पूर्व-पूर्व संस्कारों के साथ-साथ विषय, इन्द्रियाँ, प्राण और सत्त्व आदि गुणों की आवश्यकता होती है, इनमें से एक के भी अभाव में किसी प्रकार की वृत्ति नहीं बन सकती। यहाँ पर प्रसंगानुसार एक गवेषणा होती है कि स्वप्नावस्था में (स्वप्नकाल में) कोई विषय या पदार्थ न होने पर भी वृत्तियाँ बनती हैं, समस्त व्यवहार होते हैं, ऐसा क्यों? इसका समाधान यह होगा- अरे भाई! प्राणी-पदार्थ रूप विषयों का ही तो संस्कार है, अथवा संस्कार ही तो प्राणी

पदार्थ रूप सूक्ष्म हो अथवा स्थूल इससे कुछ अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि पुनर्जन्म के लिये गमन काल में यह स्थूल प्राणी पदार्थ को साथ लेकर नहीं जाता, इससे सिद्ध होता है कि उस काल में समस्त उपभोग किया हुआ विषयों का संस्कार रूप में ही निहित रहता है सूक्ष्म शरीर में। वही संस्कार जाग्रतावस्था में स्थूल प्राणी पदार्थों के रूप में विद्यमान होता है या भोग होता है। आनन्द विलास का विषय बनता है प्राणिजगत् के लिए। और स्वप्नावस्था में सूक्ष्म वासनामय प्राणी पदार्थों के रूप में विद्यमान होता है या भोग होता है।

501- द्रव्यं देशः फलं कालो ज्ञानं कर्म च कारकः।
श्रद्धावस्थाऽऽकृतिर्निष्ठा त्रैगुण्यः सर्व एव हि।। 11.25.30।।
502- सर्वे गुणमया भावाः पुरुषाव्यक्तधिष्ठिताः।
दृष्टं श्रुतमनुध्यातं बुद्ध्या वा पुरुषर्षभ।। 11.25.31।।

हे उद्धव जी! द्रव्य, देश (स्थान), फल, ज्ञान, कर्म, कारक श्रद्धा, अवस्था, देव-मनुष्य-तिर्यगादि शरीर और निष्ठादि सभी त्रिगुणात्मक है। हे नररत्न! पुरुष और प्रकृति के आश्रित जितने भी भाव हैं, सभी गुणमय हैं- वे चाहे नेत्रादि इन्द्रियों से अनुभव किये हुए हों अथवा शास्त्रों के द्वारा लोक-लोकान्तर के सम्बन्ध में सुने गये हों, अथवा बुद्धि के द्वारा सोचे-विचारे गये हों।

तात्पर्य, अर्थ-

यह संसार-अणु से-बृहत्, सूक्ष्म से-स्थूल, जो भी प्राणी-पदार्थ, व्यक्त-अव्यक्त रूप से अनुभव में आता है। प्रत्यक्ष या अनुमान आदि के द्वारा वे सबके सब तीनों गुणों से संसक्त हैं; क्योंकि प्रकृति गुणमय है अर्थात् गुणों के अभाव में कोई भी वस्तु की सिद्धि होना असम्भव है और गुणमय होने से प्रत्येक वस्तु क्रियामय हैं। क्रियामय होने से विकार से ओत्-प्रोत् भी हैं और विकारी होने से क्षणभंगुर एवं विनाशशील भी हैं। इसमें कोई संशय नहीं।

503- एताः संसृतयः पुंसो गुणकर्मनिबन्धनाः।
येनेमे निर्जिताः सौम्य गुणा जीवेन चित्तजाः।
भक्तियोगेन मन्निष्ठो मद्भावाय प्रपद्यते।। 11.25.32।।

जीव को जितने भी योनियाँ अथवा गतियाँ प्राप्त होती हैं, वे सब उनके गुणों और कर्मो के अनुसार ही होती हैं। हे सोम्य! सबके सब गुण, चित्त से ही सम्बन्ध रखते हैं (इसीलिए जीव उन्हें अनायास ही जीत सकता है)। जो जीव उन पर विजय प्राप्त कर लिया है, वह भक्ति योग के द्वारा मुझमें ही परिनिष्ठ होता है और अन्ततः मेरा वास्तविक स्वरूप को, 'जिसे मोक्ष भी कहते है' प्राप्त कर लेते हैं।

तात्पर्य अर्थ-

जीव के द्वारा किये गये शुभाशुभ-कर्मों के अनुसार उन्हें फलरूप में जन्म-मृत्यु, सुख-दु:ख, भूख-प्यास एवं विविध योनियों-गतियों को प्राप्त होता है और पुन: नवीन कर्मों का कर्ता-भोक्ता भी बनता है। इसमें निमित्त मुख्य रूप से चित्त में सत्त्वादिगुण और कर्मवासना को समझना चाहिये। अत: चित्त को मनेन्द्रियों को अपने साधना (साधन चतुष्टय) के द्वारा स्ववश करके आत्मचिन्तन में निरन्तर रत हो जाय फिर वह आत्म साक्षात्कार करके जगत् बन्धन से, जन्म मृत्यु से सदा-सर्वदा के लिए मुक्त हो जाय। गुणों की विषम अवस्था ही बन्धन रूप संसार है और समावस्था (प्रशान्त) अवस्था मोक्ष यानि विदेह कैवल्य मुक्ति है। अत: ध्यान समाधि के द्वारा गुणातीत अवस्था को प्राप्त करने का प्रयत्न करें। सूक्ष्म दृष्टि से गहन विचार करने पर निश्चय यह होता है कि-यह दृश्यमान प्रपञ्च जगत् का तीनों कालों में अस्तित्व है ही नहीं यथा मृगमरीचिका न होने पर भी दृष्टिगोचर है। यह ज्वलन्त प्रमाण है कि हिरण-बारहसिंघा प्यास से व्याकुल मरीचिका के जल के लिये आशान्वित होकर छलांग लगाते हुए उस स्थल पर पहुँच जाने पर उसकी आशा निराशा में परिवर्तित हो जाती है। परिणाम स्वरूप उसकी व्याकुलता दोगुणा-चारगुणा हो जाती है। इसकी वास्तविकता तो यह है कि कहीं-कहीं पर भूखण्ड ऊणर (क्षारमय) हो जाती है, जिसके कारण उस भूखण्ड पर घास, वनस्पति आदि कुछ भी अंकुरित नहीं होती। उसी को कहीं-कहीं रहे भूमि अथवा मरुभूमि के नाम से भी जाना जाता है अथवा रेगिस्तान के नाम से भी कहा जाता है। यह भूमिखण्ड प्राय: समुद्र तट पर ही होती है। उस भूखण्ड पर वनस्पति, घासादि न होने के कारण सूर्य की किरणें दिन के दोपहर (मध्याह्न) काल में पड़ने से वह भूखण्ड चमकने लगता हे, उसी चमक में दूर से जल की प्रतीति होती है और हवा चलने से तरङ्गमय अनुभव भी होता है। इसी का नाम है मृगरीचिका अथवा मरुमरीचिका। इसी प्रकार (17 तत्त्व से युक्त लिंगदेह अत्यधिक सूक्ष्म एवं स्वच्छतायुक्त होने के कारण सूर्यवत् सर्वव्यापक चैतन्यात्मा के प्रभाव से प्रभावित होकर चैतन्यवत् हो जाता है और मन, बुद्धि, प्राण आदि के द्वारा व्यवस्थित व्यवहार करने लगता है। विविध कर्म होने लगता है और कर्मों का संस्कार भी उसी में संस्कारित होता है, (निहित) होता है, स्थिर होता है। वही संस्कार कालान्तर में सुख-दु:ख, अनुकूलता-प्रतिकूलता, जन्म-मृत्यु आदि का कारण बनता है और प्रपंचरूप जगत् की प्रतीति होने में भी निमित्त है।

504-तस्माद् देहमिमं लब्ध्वा ज्ञानविज्ञानसम्भवम्।
गुणसङ्गं विनिर्धूय मां भजन्तु विचक्षणा:।। 11.25.33।।

यह मनुष्य शरीर बहुत ही दुर्लभ है। इसी शरीर के द्वारा तत्त्वज्ञान और उसमें निष्ठा रूप विज्ञान की प्राप्ति सम्भव है, इसलिये इसे प्राप्त कर बुद्धिमान् पुरुषों का कर्तव्य है कि वे गुणों की आसक्ति दूर करके मेरा भजन करें।

तात्पर्य अर्थ-

यह मानव शरीर, भोग, मोक्ष और शुभाशुभ कर्मों को करने के लिये अति उत्तम साधन है, इसलिये इस शरीर की प्राप्ति भी अत्यन्त दुर्लभ है। अत: सौभाग्य से आज प्राप्त है, प्रमाद रहित होकर इसी श्वास के चलते रहते ही अपनी अन्तिम मंजिल प्राप्त कर लेनी चाहिये, यह बात तभी सम्भव है जब स्वप्नमय कार्य कारण जगत् की निस्सारता, मिथ्यात्व को भली-भाँति समझकर दृढ़तापूर्वक इसकी व्यामोह से दूर हो जायें। यही अपनी साधना की परिपक्वता है, यही बुद्धिमत्ता है। इसी अवस्था को प्राप्त कर हमारे पूर्वजों ने, आचार्यों ने सर्वात्मभाव में स्थित हुए हैं। **''नेह नानास्ति किञ्चना''** इति श्रुतिः (बृ.4.4.19), **''यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।।''** (गीता 3.21) अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषों के आचरण, व्यवहार से ही लोक कल्याण करते आये हैं क्योंकि तत्त्वज्ञानियों के वाक्, क्रिया एवं जीवनचर्या शास्त्र है, वेद वाक्य है, इसमें कोई संशय नहीं।

505-निःसङ्गो मां भजेद् विद्वानप्रमत्तो जितेन्द्रियः।
रजस्तमश्चाभिजयते सत्त्वसंसेवया मुनिः।। 11.25.34।।

विचारशील पुरुष को चाहिये कि बड़ी सावधानी से सत्त्वगुण के सेवन से रजोगुण और तमोगुण को जीत ले, इन्द्रियों को वश में कर लें और मेरे स्वरूप को समझकर मेरे भजन में लग जाय। आसक्ति को लेशमात्र भी न रहने दें।

तात्पर्य अर्थ-

क्रियाशक्ति रजोगुण के द्वारा प्रमाद एवं जीवात्मा का आवरण, मूढ़ता आदि का जनक तमोगुण की वृद्धि होती है। इसलिये इन दोनों पर विजय प्राप्ति के उद्देश्य से सत्त्वगुण का आश्रय लेकर मन-इन्द्रियों को वश में करके आत्मचिन्तन में तत्पर हो जाना चाहिये।

506-सत्वं चाभिजयेद् युक्तो नैरपेक्ष्येण शान्तधीः।
सम्पद्यते गुणैर्मुक्तो जीवो जीवं विहाय माम्।। 11.25.35।।

507-जीवो जीवविनिर्मुक्तो गुणैश्चाशयसम्भवैः।
मयैव ब्रह्मणा पूर्णो न बहिर्नान्तरश्चरेत्।। 11.25.36।।

योग से युक्त होकर चित्तवृत्तियों को शान्त करके निरपेक्षता के द्वारा सत्त्वगुण पर भी विजय प्राप्त कर लें। इस प्रकार गुणों से मुक्त होकर जीव अपने जीव स्वभाव को

छोड़ देता है और मुझमें एक हो जाता है। जीव लिङ्गशरीर रूप अपनी उपाधि जीवत्व तथा अन्तःकरण से उदय होने वाली सत्त्वादि गुणों की वृत्तियों से मुक्त होकर मुझ ब्रह्म की अनुभूति से, एकत्व दर्शन से पूर्ण हो जाता है और वह फिर बाह्य अथवा आन्तरिक किसी भी विषयों में नहीं जाता।

तात्पर्य अर्थ-

ऊपर मंजिलों में पहुँचने के लिये जीना (सीढ़ी) आदि की आवश्यकता होती है और वहाँ पर पहुँच जाने के बाद उन साधनों की आवश्यकता समाप्त हो जाती है। इसी प्रकार जब तक अपने लक्ष्य की प्राप्ति, आत्मसाक्षात्कार नहीं हुई है, तब तक श्रवण, मनन, विवेक, वैराग्यादि साधनों का अभ्यास करते रहना चाहिये और गंतव्य स्थान पर पहुँच जाने पर (आत्मसाक्षात्कार) हो जाने पर स्वस्वरूप में बुद्धि स्थिर हो जाने पर किसी भी प्रकार का साधन के अभ्यास की आवश्यकता नहीं रह जाती। मन में जितनी भी वृत्तियाँ बनती है, उसमें निमित्त है- सत्त्वादि गुण। इसलिये गुणों को ही सर्वप्रथम निर्मूल कर देना चाहिये। अतः सत्त्वगुण के द्वारा रजस्-तमस् गुणों पर विजय प्राप्त कर अनन्तर सत्त्वगुण को भी श्रवण, मनन, निदिध्यासन और विवेक, वैराग्य, षट्सम्पति, मुमुक्षता आदि द्विविध साधन के द्वारा उस पर भी विजय प्राप्त कर लेना चाहिये। गुणों से मुक्त हो जाने पर ही आत्मचिंतन में सफलता मिलेगी और उस चिन्तन वृत्ति को भी समाधि के द्वारा स्वस्वरूप में निरोध कर दे, पर शेष आत्मा ही रह जाता है। उस स्थिति में साध्य, साधन आदि की भी समृद्धि हो जाती है। "**अध्यासदोषात्पुरुषस्य संसृतिरध्यासबन्धस्त्वमुनैव कल्पितः। रजस्तमोदोषवतोऽविवेकजो जन्मादिदुःखस्य निदानमेतत्।।**" (वि.चू.181) अर्थात् अध्यासरूपीदोष ही पुरुष को जन्म-मृत्यु रूप संसार में बांधता है और यह अध्यास का बन्धन मन का कल्पना किया हुआ है तथा रज-तम आदि दोषयुक्त अविवेकी पुरुष के लिये यह अध्यास ही जन्मादि दुःखों का मुख्य कारण है।

508-मल्लक्षणिमिमं कायं लब्ध्वा मद्धर्म आस्थितः।
आनन्दं परमात्मानमात्मस्थं समुपैति माम्।। 11.26.1।।

हे उद्धव जी! यह मनुष्य शरीर मेरे स्वरूप ज्ञान की प्राप्ति स्थान है अथवा मेरी प्राप्ति का मुख्य साधन है। इसे प्राप्त कर जो मनुष्य सच्चे प्रेम से मेरी भक्ति करता है, वह अन्तःकरण में स्थित मुझ आनन्दस्वरूप परत्मात्मा को प्राप्त हो जाता है।

तात्पर्य अर्थ-

समूचे ब्रह्मण्ड में अनन्तकोटि प्राणी समुदाय (विभिन्न योनियों) कर्मों के फलरूप है और फलभोग के लिये ही है, मनुष्य शरीर को छोड़कर क्योंकि मनुष्य शरीर की कुछ

विशेषताएं हैं, वह है कर्मफल भोग के साथ-साथ नवीन कर्म करने का साधन है एवं ज्ञान-विज्ञान का केन्द्र भी है। जिस ज्ञान-विज्ञान के द्वारा भवबन्धन से मुक्ति पाया जाता है, उसके प्राप्ति का भी यही एकमात्र साधन है। "**जन्तूनां नरजन्म दुर्लभमतः।**" (वि. चू.4) जीवों को प्रथम तो नरजन्म की प्राप्ति दुर्लभ है। इसलिये श्रुति कहती है- "**इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।**" (के.उ. 2.5) यदि इस मनुष्य जन्म में ब्रह्म को, चैतन्यात्मा को जान लिया, तब तो ठीक है और यदि उस आत्मा को (स्वस्वरूप) को इस मनुष्य जन्म में नहीं जाना तो बड़ी भारी हानि होगी। अर्थात् पशु-पक्षी, क्रिमि-कीट आदि योनियों में जन्म लेकर महान् से महान् दुःखों की प्राप्ति होगी। "**बड़े भाग्य मानुषतन पावा। सुरदुर्लभ सद्ग्रन्थन गावा।।**" (रा.मा.)

509-गुणमय्या जीवयोन्या विमुक्तो ज्ञाननिष्ठया।
गुणेषु मायामात्रेषु दृश्यमानेष्ववस्तुतः।।
वर्तमानोऽपि न पुमान् युज्यतेऽवस्तुभिर्गुणैः।। 11.26.2।।

जीव की सभी योनियाँ, सभी गतियाँ गुणमयी हैं। जीव, ज्ञान निष्ठा के द्वारा उनसे सदा के लिये मुक्त हो जाता है। सत्त्व, रज आदि गुण जो दिख रहे हैं, वे वास्तविक नहीं है। ज्ञान हो जाने के बाद पुरुष उनके बीच में होने पर भी, उनके द्वारा व्यवहार करने पर भी उनसे बँधते नहीं। इसका कारण यह है कि उन गुणों की वास्तविक सत्ता ही नहीं है।

तात्पर्य अर्थ-

जिसकी सत्ता नहीं होती, वह बन्धन का कारण भी नहीं बन सकते, किन्तु फिर भी बन्धन की प्रतीति हो रही है, प्रत्यक्ष सबका अनुभव है। इसका कारण है, विपरीत ज्ञान, विपरीत बुद्धि की अनादि अध्यास। उस विपरीत ज्ञान को, भ्रान्ति ज्ञान को और उसके द्वारा बन्धन को (अनादि अनन्त काल के बीज वासना) को स्वस्वरूप के ज्ञाननिष्ठा द्वारा सदा के लिये मुक्त हुआ जा सकता है। कयोंकि यह अज्ञान ऐसा आवरण है जिससे सत्यासत्य, नित्यानित्य का ज्ञान नहीं हो पाता और ज्ञान का न होना ही विपरीत ज्ञान का होना ही जीवात्मा का अनादि बन्धन है, जन्म-मृत्यु है। अतः अज्ञान का नाश ज्ञान से ही सम्भव है। यथा अन्धकार का नाश प्रकाश से।

510-सङ्गं न कुर्यादसतां शिश्नोदरतृपां क्वचित्।
तस्यानुगस्तमस्यन्धे पतत्यन्धानुगान्धवत्।। 11.26.3।।

साधारण लोगों को इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि जो लोग विषयों (स्त्री भोग) के सेवन और उदर भरने में ही लगे हुए हैं, उन असत् पुरुषों का सङ्ग कभी न करे, क्योंकि उनका अनुगमन करने वाले पुरुषों की वैसे ही दुर्दशा होती है, जैसे अन्धे के सहारे चलने वाले अन्धों की। उसे तो घोर अन्धकार में ही भटकना पड़ता है।

तात्पर्य अर्थ-

मित्रता का सम्बन्ध उनसे रक्खे जो विचारवान् हों, अथवा मार्गदर्शक गुरु , जो सद्गुण सम्पन्न, आत्मतत्त्वज्ञानी हों, जिनसे ज्ञान प्राप्त करके अमृतत्व का अनुभव हो सके। ऐसे मनुष्यों का संग (सम्बन्ध) कभी न करें, जो विषयभोगी छली-कपटी एवं पशु-पक्षी के तुल्य जीवन निर्वाह के अतिरिक्त और कुछ ज्ञान ही न हों, वे तो आपको भी पशु-पक्षी बना देने वाले हैं। **''अविद्यायामन्तरे वर्तमाना: स्वयं धीरा: पण्डितम्मन्यमाना:। दन्द्रम्यमाणा: परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा:।।''** (क.उ.1.2.5)

511-कुतस्तस्यानुभाव: स्यात् तेज ईशत्वमेव वा।

योऽन्वगच्छं स्त्रियं यान्तीं खरवत् पादताडित:।। 11.26.11।।

जो मनुष्य गधे की तरह दुलत्तियाँ (पैरों की चोट) सहकर भी स्त्री के पीछे-पीछे दौड़ता रहता है, फिर उस मनुष्य में प्रभाव, तेज और स्वामित्व भला कैसे रह सकता है।

तात्पर्य अर्थ-

मनुष्य के मनुष्यत्व, स्वामित्व, बल-वीर्य आदि का विनाश होने में क्या कारण हो सकता है? इसका कारण बिल्कुल स्पष्ट है कि देहाध्यास, विषयासक्ति, भोगासक्ति, अर्थात् विषयों को ही सब कुछ अपना मानकर उसके प्रति अत्यन्तानुरक्तिवान् हो जाने को ही समझना चाहिये।

जो लोग 'स्त्री' अर्थात् अविद्या, माया, विषयभोग की तृष्णारूपी स्त्री के पीछे-पीछे लगकर विवेक विचाररूपी नेत्रों से विहीन हो गये हैं। ऐसे लोगों को दु:ख भी सुख प्रतीत होती है। जैसे मदिरा के मादकता से उन्मत्त मनुष्य।

512-किं विद्यया किं तपसा किं त्यागेन श्रुतेन वा।

किं विविक्तेन मौनेन स्त्रीभिर्यस्य मनो हृतम्।। 11.26.12।।

स्त्री ने जिसका मन चुरा लिया, उसकी विद्या व्यर्थ है। उसके तपस्या, त्याग और शास्त्राभ्यास करने से भी कोई लाभ नहीं और इसमें सन्देह नहीं कि उसका एकान्त सेवन और मौन भी निष्फल ही है।

तात्पर्य अर्थ-

मनुष्य अथवा साधक यदि अपना कल्याण या संसार में (समाज में) यशस्वी-तेजस्वी होने का स्वप्न देखता हो, ऐसा मन:कल्पना करते हों, तो उसे चाहिये कि इन्द्रिय-संयमी हो, प्राय: स्त्री संग-संगी से सर्वथा सदा के लिये दूर रहने का दृढ़ संकल्प लें। स्त्री का अभिप्राय है- स्पर्श विषय का ग्रहण। ग्रहण करने वालों में नर-नारी

दोनों को समझना चाहिये अथवा स्त्री का अर्थ हमने पिछले श्लोक की तात्पर्य अर्थ में अविद्यादि को कह आये हें।

513-सेवतो वर्षपूगान् मे उर्वश्या अधरासवम्।

न तृप्यत्यात्मभूः कामो वह्निराहुतिभिर्यथा।। 11.27.14।।

यदि मैं (ऐल=पुरूरवा) वर्षों तक उर्वशी के होठों की मादकता मदिरा पीता रहा रहूँ, और आगे भी पीते रहूँ फिर भी मेरी कामवासना की तृप्ति नहीं हो सकती। सच है, कहीं आहुतियों से अग्नि की तृप्ति हुई है।

तात्पर्य अर्थ-

प्रकृति का शाश्वत् स्वभाव है कि पुरुष को आकर्षित करते रहना, विवशता के जाल में मोहित करते रहना। अर्थात् प्रकृति के कार्यरूप स्त्री के प्रति अनादि कामवासना कभी नष्ट नहीं होती जैसे घी के आहुतियों से अर्चिष्मान अग्नि कभी शान्त नहीं होती। **''प्रत्युद्गच्छति मूर्च्छति स्थिरतमः निकुंजे प्रियः।''** अर्थात् कामवासना से ताड़ित पीड़ित कामी पुरुष कभी प्रसन्न होता है तो कभी मूर्च्छित आदि।

स्त्री यानि आद्यशक्ति प्रकृति पुरुष के स्वभाव, यह किसी को वैराग्य के चरम सीमा पर स्थापित करके परमानन्द, परमपद की प्राप्ति करा देती है और किसी को अत्यधिक विमोहित करके दुःख के दावानल में प्रवेश कराके भस्मीभूत भी कर देती है। यथा- ऋषभदेव जी का वैराग्य, भर्तृहरि जी का वैराग्य, बुद्ध जी का वैराग्य, तो दूसरी ओर दुःख के अनुभवी- भगवान श्रीराम जी, सम्राट हरिश्चन्द्र, सम्राट नल-दमयन्ती तथा कुन्ति पुत्र पाण्डवों आदि। यही गाथा आज रामायण, महाभारत आदि इतिहास के रूप में प्रमाण हैं।

514-किमेतया नोऽपकृतं रज्ज्वां वा सर्पचेतसः।

रज्जुस्वरूपाविदुषो योऽहं यदजितेन्द्रियः।। 11.26.17।।

जो रस्सी के स्वरूप को न जानकर उसमें सर्प की कल्पना कर रहा है और दुःखी हो रहा है, रस्सी ने उसका क्या बिगाड़ा है? इसी प्रकार इस उर्वशी ने भी हमारा क्या बिगाड़ा हे ? क्योंकि स्वयं मैं अजितेन्द्रिय होने के कारण अपराधी हूँ।

तात्पर्य अर्थ-

संसार के कोई भी प्राणी पदार्थ, सुख-दुःख का कारण नहीं हो सकते, फिर भी उसी में लोग दोषारोपण करते हैं। अपने मन, बुद्धि में दोष नहीं देखते, क्योंकि मन-बुद्धि के द्वारा राग-द्वेष करके, शत्रु-मित्र, प्रिय-अप्रिय की भावना बना लेते हैं और वे ही सुख-दुःखादि बन्धनों का कारण बन जाता है। **''न काहु सुख-दुःख करदाता।**

निजकृत कर्म भोग सुनु भ्राता।।'' रा.मा. कर्मों का फल है- सुख-दुःख, वह कर्म वर्तमान का हो अथवा पूर्व-पूर्व कृत संचित प्रारब्ध के रूप में हो, अवश्यमेव भोक्तव्य है। ज्ञानी-अज्ञानी सभी के लिये शास्त्र विधि है। ''**ज्ञानोदयात्पुरारब्धं कर्म ज्ञानान्न नश्यति। अदत्त्वा स्वफलं लक्ष्यमुदिद्श्योत्सृष्ट- बाणवत्।।**'' (वि.चू.452)।

515-अथापि नोपसज्जेत स्त्रीषु स्त्रैणेषु चार्थवित्।

विषयेन्द्रियसंयोगान्मनः क्षुभ्यति नान्यथा।। 11.26.22।।

516-अदृष्टादश्रुताद् भावान्न भाव उपजायते।

असम्प्रयुञ्जतः प्राणान् शाम्यति स्तिमितं मनः।। 11.26.23।।

इसलिये अपनी भलाई समझने वाले विवेकी मनुष्य को चाहिये कि स्त्रियों और स्त्रीलम्पट पुरुष का संग न करें। विषय और इन्द्रियों के संयोग से ही मन में विकार होता है, अन्यथा विकार का कोई अवसर ही नहीं है। जो वस्तु कभी देखी या सुनी नहीं गयी है, उसके लिये मन में विकार नहीं होता। जो लोग विषयों के साथ इन्द्रियों का संयोग होने नहीं देते, उनका मन अपने आप निश्चल हो कर शान्त हो जाता है।

तात्पर्य अर्थ-

सुख-शान्ति के आकांक्षी को सबसे पहले इन्द्रिय संयमी होने की आवश्यकता है। जब तक मन-बुद्धि और नेत्रादि ज्ञानेन्द्रियाँ स्ववश नहीं होंगी, तब तक तीनों लोकों की सम्पत्ति-ऐश्वर्य की प्राप्ति हो जाने पर भी उनको सुख-शान्ति नहीं मिल सकती। वस्तुतथ्य (वास्तविकता) तो यह है कि कोई भी किसी प्रकार के भोग्य पदार्थ, सुख-दुःख शान्ति-अशान्ति का कारण नहीं बन सकते और न नेत्रादि बाह्येन्द्रियाँ ही हो सकते हैं। सुख-दुःखादि में निमित्त है तो मन बुद्धि और मन बुद्धि से मेरा अभिप्राय है- सूक्ष्म शरीर यानि विषय वासना, पञ्चप्राण और इन्द्रियों से युक्त चैतन्य प्रतिबिम्बरूप जीवात्मा। क्योंकि मन व बुद्धि (अन्तःकरण) प्रकृति को कार्य जड़ पदार्थ होने से सुख-दुःख का ज्ञान होना असम्भव है। ''**सोम्यान्नस्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तन्मनो भवति।।**'' (छा.उ. 6.6.2) इति श्रुतिः प्रमाणम्। जब मन भोग्य पदार्थों के प्रति प्रिय-अप्रिय का भेद करके राग-द्वेष कर लेती है, तब ही मन को भोग्य पदार्थों में इन्द्रिय संयोग होने पर ही सुख-दुःख रूप फलों की प्राप्ति होती है। अर्थात् मन, बुद्धि ही सुख-दुःख, शान्ति-अशान्ति, जन्म-मृत्यु आदि का कारण बनता है।

517-तस्मात् सङ्गो न कर्तव्यः स्त्रीषु स्त्रैणेषु चेन्द्रियः।

विदुषां चाप्यविश्रब्धः षड्वर्गः किमु मादृशाम्।। 11.26.24।।

अतः वाणी, श्रोत्र और मन आदि इन्द्रियों से स्त्रियों और स्त्रीलम्पटों का संग कभी नहीं करना चाहिये। मेरे जैसे लोगों की तो बात ही क्या, बड़े-बड़े विद्वानों के लिये भी इन्द्रियाँ और मन, विश्वसनीय नहीं हैं।

तात्पर्य अर्थ-

सामान्य व्यक्तियों की तो बात ही क्या, विद्या-विशारद विद्वानों एवं तपस्वी, त्यागी, योगी आदि पुरुषों को भी अपने मन, इन्द्रियों पर विश्वास नहीं करना चाहिये। यद्यपि जीवन्मुक्त पुरुषों का यह विषय इन्द्रियाँ कुछ भी बिगाड़ नहीं सकते। क्योंकि वे विजितेन्द्रिय है और दूसरी बात उन्हें दृढ़ निश्चय है कि मुझ आत्मा में कर्तृत्व, भोक्तृत्व है नहीं। "**असङ्गो ह्ययं आत्मा।**" (नृसिंहोत्तरतापि त्योपनिषत् 9.8), "**असङ्गो नही सज्जतेऽसितो न व्यथते**" (बृ.3.9.26) फिर भी "**यद्यपि शुद्धं लोक विरुद्धम्।**", "**अतः यथाज्ञानं तथाऽऽचरेत् विद्वान्।**" इसलिये मन, इन्द्रियों के प्रति सावधानी अत्यन्त आवश्यक है, सभी को।

518-सन्तोऽनपेक्षा मच्चित्ताः प्रशान्ताः समदर्शिनः।

निर्ममा निरहंकारा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः।। 11.26.27।।

सन्त-पुरुषों का लक्षण है कि उन्हें किसी भी वस्तु की अपेक्षा नहीं होती। उनका चित्त मुझमें लगा रहता है। उनके हृदय में शान्ति का अगाध समुद्र लहराता रहता है। वे सदा सर्वदा सर्वत्र सब में सब रूप से स्थित भगवान् का ही दर्शन करते हैं। उनमें लेशमात्र भी अहंकार नहीं होता, फिर ममता की तो सम्भावना ही कहाँ है। वे सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों के प्रति एक रस रहते हें तथा बौद्धिक, मानसिक, शारीरिक और पदार्थ सम्बन्धी किसी प्रकार का भी परिग्रह नहीं रखते।

तात्पर्य अर्थ-

जो जीवन्मुक्त सन्त हैं, उनको किसी प्रकार के परिग्रह का क्या प्रयोजन है क्योंकि वे सर्वात्मभाव को प्राप्त करके उसी में स्थित हो गये हैं। वे जानते हैं कि संग्रह-परिग्रह ही अनेकानेक द्वन्द्वों का कारण है, ममता-अहंकार आदि का उदय होने में शतशः प्रमाण है। परिग्रह का त्याग करके शेष जीवन प्रारब्धानुसार व्यतीत करें। "**तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसित मत्परः। वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।**" (गीता-2.61) इति स्मृतिः।

519-भक्तिं लब्धवतः साधोः किमन्यदवशिष्यते।

मय्यनन्तगुणे ब्रह्मण्यानन्दानुभवात्मनि।। 11.26.30।।

520-यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम्।

शीतं भयं तमोऽप्येति साधून् संसेवतस्तथा।। 11.26.31।।

हे उद्धव जी! मैं अनन्त, अचिन्त्य, कल्याणमय गुणगणों का आश्रय हूँ। मेरा स्वरूप है केवल आनन्द, केवल अनुभव, विशुद्ध आत्मा। मैं साक्षात् ब्रह्म हूँ। जिसे मेरी भक्ति मिल गयी वह तो सन्त हो गया। अब उसे कुछ भी पाना शेष नहीं रह गया। इसलिये उनकी तो बात ही क्या, जिसने भगवत् परायण उन सन्त पुरुषों की शरण ग्रहण कर ली, उनकी भी कर्मजड़ता, संसारमयता और अज्ञान आदि सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं। भला जिसने अग्नि भगवान् का आश्रय ले लिया, उसे शीत अथवा अन्धकार का दुःख कैसे हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता है।

तात्पर्य अर्थ-

जो जीवन्मुक्त सन्त अपने प्रकाश स्वरूप अपने अचिन्त्य आत्मा का, ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है, वह तो मुक्त जीवन का अनुभव करने का सौभाग्य प्राप्त कर ही लिया। अब उनके लिये साधना अभ्यास की आवश्यकता नहीं रह जाती। ऐसे सिद्ध महापुरुषों के जो आश्रय ले लेता हे, उनके पदचिन्हों पर चलने लगता है, अनुसरण करने लगता है, वह भी उस पद को, उस गरिमा (अनुभव) को प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है, आत्माराम हो जाता है, आत्मरति, सर्वरूप, विश्वात्मा हो जाता है। "**घटे नष्टे यथा व्योम व्योमैव भवति स्फुटम्।**" (वि.चू.-566)

521-निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम्।

सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम्।। 11.26.32।।

जो इस घोर संसार सागर में डूबा हुआ है अतः उतार को देख रहे हैं, उनके लिये ब्रह्मवेत्ता और शान्त सन्त ही एकमात्र आश्रय हैं। जैसे जल में डूब रहे लोगों के लिये दृढ़ नौका।

तात्पर्य अर्थ-

ज्ञान-विज्ञान रूपी नेत्र विहीन, विषय भोगी, अविवेकी पुरुषों के लिय मार्गदर्शक, परमहितैषी, ब्रह्मवेत्ता, शान्त चित्त वाले साधु सन्त ही एकमात्र सुदृढ़ नौका के समान इस दुस्तर-दुःखालय संसार सागर से पार होने के निमित्त बन सकते हैं। साधु-सन्तों के स्वभाव दो प्रकार देखने में आते हैं- प्रवृत्ति स्वभाव वाले और निवृत्ति स्वभाव वाले (क) प्रवृत्ति स्वभाव वाले साधु उसी प्रकार के हैं जैसे शरीर के मध्यभाग आहार आदि का परिग्रह (संग्रह) स्थान (पेट) तथा मुखादि कर्मेन्द्रियाँ और नेत्रादि ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा उपभोग किये गये को संस्कार रूप से परिग्रह (संग्रह) करने का स्थान (मन)। ये दोनों (पेट और मन) संग्रह स्थान है, संग्रह करके सम्पूर्ण शरीर का भरण-पोषण करते हैं। उसी प्रकार पूरे समाज व देश की सेवा-रक्षा के लिये शास्त्रों के ज्ञान का संग्रह युक्त

होकर निर्लेप भाव से प्रवृत्त होते हैं। (ख) निवृत्ति स्वभाव वाले साधु अपरिग्रही होकर ही अपने जीवन निर्वाह करते हुए मन, वाणी एवं आचरणों के द्वारा प्रतिक्षण लोगों को शिक्षा दे रहे हैं। अत: ऐसे महापुरुषों के शरणापन्न होकर अपना शेष भावी जीवन को उज्जवल बना लें।

522-सन्तो दिशन्ति चक्षूंषि बहिरर्कः समुत्थितः।

देवता बान्धवाः सन्तः सन्त आत्माऽहमेव च।। 11.26.34।।

जैसे सूर्य आकाश में उदय होकर लोगों को जगत् तथा अपने को देखने के लिये नेत्रदान करता है, वैसे ही सन्त-पुरुष अपने को तथा भगवान् को देखने के लिये अन्त:दृष्टि देते हैं। सन्त अनुग्रहशील देवता है। सन्त अपने हितैषी सुहृद् हैं। सन्त अपने प्रियतम आत्मा हैं और अधिक क्या कहूँ, स्वयं मैं ही सन्त के रूप में विद्यमान हूँ।

तात्पर्य अर्थ-

जब सन्त में समभाव, समदर्शीभाव आ जाता है, तब वह प्राणी मात्र के लिये हितैषी हो जाते हैं, उन सन्तों में अपना पराया का भेदभाव नहीं हर जाता। ऐसे सन्तों के शरण में जो जिज्ञासु आ जाते हें, उनको अपना अनुभव ज्ञान के द्वारा कृतकृत्य कर देते हैं। अपने ही समान जगत् बन्धन से सदा-सर्वदा के लिये मुक्त कर देते हैं। **''भगवंस्तक्षकादिभ्यो मृत्युभ्यो न बिभेम्यहम्। प्रविष्टो ब्रह्मनिर्वाणमभयं दर्शितं त्वया।।''** भा.पु. 12.6.5।। इसे कहते हैं सन्त कृपा प्रसाद की महिमा।

523-परस्वभावकर्माणि न प्रशंसेन्न गर्हयेत्।

विश्वमेकात्मकं पश्यन् प्रकृत्या पुरुषेण च।। ।।11.28.1।।

परस्वभावकर्माणि यः प्रशंसति निन्दति।

स आशु भ्रश्यते स्वार्थादसत्याभिनिवेशतः।। 11.28.2।।

हे उद्धव जी! यद्यपि व्यवहार में पुरुष और प्रकृति, द्रष्टा और दृश्य के भेद से दो प्रकार का जगत् जाना जाता है। तथापि परमार्थ दृष्टि से विचार करने पर वह सब एक अधिष्ठान रूप है, इसलिये किसी के शान्त, घोर और मूढ़ स्वभाव तथा उस स्वभाव के वश में हो रहे कर्मो की न स्तुति करनी चाहिये और न निन्दा। सर्वदा अद्वैत दृष्टि रखनी चाहिये। जो पुरुष दूसरे के स्वभाव और उनके कर्मों की प्रशंसा अथवा निन्दा करते हैं वे शीघ्र ही अपने यथार्थ परमार्थ साधन से च्युत हो जाते हैं, क्योंकि साधन तो द्वैत के अभिनिवेश का उसके प्रति सत्यत्व बुद्धि का निषेध करता हे और प्रशंसा तथा निन्दा उसकी सत्यता के भ्रम को और भी दृढ़ करते हैं।

तात्पर्य अर्थ-

निन्दा स्तुति की व्याख्या, अज्ञानता से होती है, द्वैत की भ्रम से, अद्वैत में नहीं। क्योंकि अकेले में कौन निन्दा-स्तुति करेगा ? और किसकी करेगा ? जबकि दूसरा है ही नहीं। श्रुतियाँ भी यही कहती हैं- "**नेह नानास्ति किञ्चन।**" (बृ.4.4.19), "**अतः आदेशो नेति नेति न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्त्यथ।**" (बृ.2.3.6), "**स एष नेति नेत्यियात्मा**" (बृ.3.9.26), "**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**", "**केन कं पश्येद्यत सर्वमात्मैवाभूत्।**" (बृ.4.5.15) इत्यादि।

524-तैजसे निद्रयाऽऽपन्ने पिण्डस्थो नष्टचेतनः।
मायां प्राप्नोति मृत्युं वा तद्वन्नानार्थदृक् पुमान्।। 11.28.3।।

हे उद्धव जी ! सभी इन्द्रियाँ राजस अहंकार के कार्य हैं। जब वे निद्रित हो जाती है, तब शरीर का अभिमानी जीव का स्थूल शरीर सहित बाह्य जगत् से सम्बंध रहित हो जाता है अर्थात् उस बाहरी शरीर की स्मृति नहीं रहती। उस समय यदि मन बचा रहा, तो वह स्वप्न के झूठे दृश्यों में भटकने लगता है और जब वह भी लीन हो गया, तब तो जीव मृत्यु के समान गाढ़ निद्रा सुषुप्ति में लीन हो जाता है। वैसे ही जब जीव अपने अद्वितीय आत्मस्वरूप को भूलकर नाना वस्तुओं का दर्शन करने लगता है, तब वह स्वप्न के समान झूठे दृश्यों में फँस जाता है अथवा मृत्यु के समान अज्ञान में लीन हो जाता है।

तात्पर्य अर्थ-

मन, बुद्धि, श्रोत्रादि इन्द्रियों में आत्मा की सत्ता ही जीव है, चेतनता है, ज्ञान विज्ञान है। अर्थात् आत्मा (ब्रह्म या ईश्वर) सर्वव्यापक होने से इन्द्रिय संयोग स्वभाविक है इसी का नाम है क्रियाशक्ति के अभाव में किसी प्रकार की क्रियाएं हो पाना असम्भव है। "**अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः। देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यत।। न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन। इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ।**" (क.उ. 2.2.4/5) अर्थात् इस शरीरस्थ देही आत्मा के न होने पर (संयोग के) अभाव में इस प्राणादि समुदाय में क्या शेष रह जाता है ? अर्थात् कुछ भी शेष नहीं रहता। कोई भी देहधारी प्राणि न तो प्राण से, न अपान से ही जीता है किन्तु जिसमें ये दोनों आश्रित हैं, ऐसे किसी अन्य से ही जीवित रहते हैं। "**अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।**" (गी.3.16) अर्थात् जो मनुष्य मन, बुद्धि आदि इन्द्रियों के द्वारा केवल मात्र जीवन रक्षा (इन्द्रिय तृप्ति के लिये) कर्मों का सम्पादन करता है वह तो जानो (पापमय जीवन बिताता है) संसार में व्यर्थ जीता है।

क्रिया दो प्रकार की अनुभव आती है, ज्ञानपूर्वक और अज्ञानपूर्वक, यथा शरीरधारी

प्राणियों की क्रिया ज्ञानपूर्वक और भौतिक पदार्थों की क्रिया अनवरत स्वभाव की है तथा प्राणियों की क्रिया चेष्टामय है, इच्छापूर्वक एवं कामनापूर्वक होती है। जहाँ कामना या चेष्टापूर्वक क्रियाएँ होंगी, वहाँ वासना बनेगी (संस्कार) बनेगी, वह संस्कार ही सुख-दु:खादि में निमित्त है, कर्मफल भोग में निमित्त बनता है।

शास्त्रकारों ने त्रिविध शरीरों की व्यवस्था की है, अपने अनुभव द्वारा और श्रुतियों का विचार करके। स्थूल, सूक्ष्म और कारण देहों का निश्चय किये है। (क) स्थूल शरीर का भोग स्थूल है और इन्द्रियाँ भी स्थूल हैं। इन्द्रियाँ और विषयों का संयोग ही जाग्रत अवस्था है, नेत्र स्थान है, जाग्रत का अनुभव है। (ख) सूक्ष्म शरीर का भोग सूक्ष्म है और इन्द्रियाँ भी सूक्ष्म हैं। वासनामय भोग का संयोग मन के साथ होना ही स्वप्न अवस्था है। स्वप्न का अनुभव (स्थान) हृदय है। (ग) कारण शरीर का भोग केवल आनन्द है और इन्द्रिय रहित अवस्था और विषय पदार्थों से भी रहित है। यही सुषुप्ति अवस्था है। कारण शरीर उसे कहा गया है, जो अनिर्वचनीय मूलाविद्या है। यह मूलाविद्या ही जब जीवात्मा को ग्रस लेती है, तब बाह्य ज्ञान शून्य हो जाता है यथा राहुग्रस्तसूर्य, इसी का नाम सुषुप्ति है। इसका स्थान है मूलाविद्या। इन तीनों अवस्था के अनुसार आत्मा को भी तीन नामों से जाना जाता है- जाग्रत् में विश्वात्मा, स्वप्न में तैजसात्मा और सुषुप्ति में प्राज्ञात्मा। "**जागरितस्थानो वैश्वानर: प्रथमा, स्वप्नस्थानस्तैजस द्वितीया, सुषुप्तस्थान: प्राज्ञोस्तृतीया।।**" (मा.उ.9.10.11)

525-किं भद्रं किमभद्रं वा द्वैतस्यावस्तुनः कियत्।
वाचोदितं तदनृतं मनसा ध्यातमेव च।। 11.28.4।।

526-छायाप्रत्याह्वयाभासा ह्यसन्तोऽप्यर्थकारिणः।
एवं देहादयो भावा यच्छन्त्यामृत्युतो भयम्।। 11.28.5।।

हे उद्धव जी! जब द्वैत नाम की कोई वस्तु ही नहीं है, तब उसमें अमुक वस्तु भली है और अमुक बुरी अथवा इतनी भली और इतनी बुरी है, यह प्रश्न ही नहीं उठ सकता। विश्व के सभी वस्तुएँ वाणी से कही जा सकती है अथवा मन से सोची जा सकती है। इसलिये दृश्य एवं अनित्य होने के कारण उनका मिथ्यात्व तो स्पष्ट ही है। परछाई, प्रतिध्वनि और सीपी में चाँदी का आभास आदि यद्यपि है तो सर्वथा मिथ्या, परन्तु उनके द्वारा मनुष्य के हृदय में भय कम्प आदि का संचार हो जाता है। वैसे ही देहादि सभी वस्तुएँ हैं तो सर्वथा मिथ्या ही, परन्तु जब तक ज्ञान के द्वारा इनकी असत्यता का बोध नहीं हो जाता, इनकी आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं हो जाती, तब तक ये सभी अज्ञानियों को भयभीत करती रहेगी।

तात्पर्य अर्थ-

जो कुछ भी मन, वाणी इन्द्रिय आदि के द्वारा गृहित है, वे सब प्राणी पदार्थ असत्य है, स्वस्वरूप के अज्ञान से प्रतीति मात्र हैं। एक अद्वितीय आत्मा ही सत्य है **''एकमेव अद्वितीयं ब्रह्म''** (छा.6.2.1), **''नेह नानास्ति किञ्चन''** (बृ.4.4.19) इत्यादि श्रुतियों का दृढ़ता से हृदयङ्गम हो जाने के बाद यह दृश्यमान जगत् उसी प्रकार बाधित हो जाता है, जैसे स्वप्न जगत्, स्वप्न के प्राणी पदार्थ, नींद से जग जाने पर मिथ्या हो जाते हैं, असत्य हो जाते हैं। इस भासमान जगत् की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिये **''अहं ब्रह्मास्मि''**, (बृ.1.4.10) **''ब्रह्मैव सर्वम्''** (तेजोबिन्दु उप.6.31) इत्यादि महावाक्यों का अहर्निश निरन्तर जप करने की आवश्यकता है। **''सत्यं ज्ञानमनन्तं यत् परं ब्रह्माहमेव तत्। एवं निरन्तराभ्यस्ते ब्रह्मैवास्मीति वासना।।''**

527-एवं स्फुटं ब्रह्मविवेकहेतुभिः, परापवादेन विशारदेन।
छित्त्वाऽऽत्मसन्देहमुपारमेत, स्वानन्दतुष्टोऽखिलकामुकेभ्यः।। 11.28.23।।

ब्रह्म विचार के साधन है-श्रवण, मनन, निदिध्यासन और विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति तथा मुमुक्षुभाव। स्वानुभूति में ये सहायक हैं। आत्मज्ञानी गुरुदेव के द्वारा विचार करके स्पष्ट रूप से देहादि अनात्म पदार्थों का निषेध कर देना चाहिये। इस प्रकार निषेध के द्वारा आत्मविषयक संदेहों को छिन्न-भिन्न करके अपने आनन्दस्वरूप आत्मा में ही मग्न हो जाये और सब प्रकार की विषय वासनाओं से रहित हो जाये।

तात्पर्य अर्थ-

स्वरूप अनुभूति के लिये आत्मतत्त्व अनुभव के लिये सिद्ध ज्ञानी सद्गुरु की महती आवश्यकता है क्योंकि अनादि काल के देहाध्यास, जड़ाध्यास की वासना रूपी जड़ें गहराई से लिंगदेह में कोषबद्ध हैं अथवा वासनामय लिंगदेह का सर्वथा नष्ट हुए बिना जीवात्मा का मुक्त होना, संसार बन्धन रूप, जन्म-मृत्यु से छुटकारा पाना सम्भव नहीं है और इस वासनामय सूक्ष्मदेह को नष्ट करने के लिये उपरोक्त लक्षणों से युक्त सद्गुरु की खोज करना चाहिये, उनके द्वारा प्राप्त ज्ञान से अनर्थ के कारणभूता अज्ञानता से उत्पन्न होने वाली भ्रान्तियाँ नष्ट होंगी, तभी मोक्षरूप परमपद की प्राप्ति होगी, स्वानुभूति होगी।

528-यथाऽऽमयोऽसाधुचिकित्सितो नृणां, पुनः पुनः संतुदति प्ररोहन्।
एवं मनोऽपक्वकषायकर्म, कुयोगिनं विध्यति सर्वसङ्गम्।। 11.28.28।।

हे उद्धव जी! जैसे भली-भाँति चिकित्सा न करने पर रोग का समूल नाश नहीं होता, वह बार-बार उभर कर मनुष्यों को सताया करता है, वैसे ही जिस मनुष्य की

वासनाएँ और कर्मों के संस्कार मिट नहीं गये हैं, जो स्त्री-पुत्र आदि में आसक्त है, अधूरे योगी को वह बार-बार बींधता (पीड़ित करता) है और उसे कई बार योगभ्रष्ट भी कर देता है।

तात्पर्य अर्थ-

जो मुमुक्षु-साधक मानसिक रोग विषयासक्ति पर विजय प्राप्त नहीं किये हैं, उन्हें चाहिये कि ज्ञान, वैराग्य और विवेक आदि साधनों से उत्पन्न आत्मज्ञानाग्नि के द्वारा भस्मसात् कर दें अन्यथा परमानन्द की प्राप्ति असम्भव है, परिणाम स्वरूप पुनः भोगासक्त होकर मृत्यु के ग्रास बनना पड़ेगा, पुनः पुनः जन्म-मृत्यु की प्राप्ति होगी। **''शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते''** (गीता-6.41) **''पुनरपि जननं पुनरपि मरणं, पुनरपि जननी जठरे शयनम्।।''** (भज गोविन्दम्)।

वर्तमान शेष जीवन (प्रारब्धशेष) में अहंब्रह्मास्मि के नित्य, निरन्तर अभ्यास के द्वारा कर्म बीजवासना को पुनः अंकुरित होने का अवसर न दे, इस कर्म बीजवासना का आश्रय है- सूक्ष्म शरीर और सूक्ष्म देह का आश्रय है कर्म बीजवासना। अर्थात् **''अन्योन्याश्रयः''** परस्पर एक दूसरे के आश्रयभूत हैं। अर्थात् बीजवासना के अभाव में सूक्ष्मदेह की सिद्धि नहीं हो सकती। **''यथा बीजांकुर न्यायः।''**

529-कांश्चिन्ममानुध्यानेन नामसङ्कीर्तनादिभिः।
योगेश्वरानुवृत्त्या वा हन्यादशुभदाञ्छनैः।। 11.28.40।।

काम-क्रोधादि विघ्नों को मेरे चिन्तन और नाम संकीर्तन आदि के द्वारा नष्ट कर देना चाहिये। तथा पतन की ओर ले जाने वाले दम्भ-मद आदि विघ्नों को धीरे-धीरे महापुरुषों की सेवा के द्वारा दूर कर देना चाहिये।

तात्पर्य अर्थ-

गुणमयी प्रकृति के कार्य यह शरीर-इन्द्रियों को विघ्नमय समझकर अथवा विघ्नस्वरूप है, ऐसा जानकर मुमुक्षु साधक को शारीरिक या मानसिक विघ्नों से कभी भी, किसी भी परिस्थिति में अपनी बुद्धि को साधना पथ से विचलित नहीं होने देना चाहिये बल्कि इन विघ्नों को आत्मचिंतन, निदिध्यासन आदि के पुनरावृत्तिरूप अभ्यास के द्वारा शमन कर देना चाहिये। **''आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्।''** (गीता-16.22)

530-केचिद् देहमिमं धीराः सुकल्पं वयसि स्थिरम्।
विधाय विविधोपायैरथ युञ्जन्ति सिद्धये।। 11.28.41।।

531-न हि तत् कुशलादृत्यं तदायासो ह्यपार्थकः।
अन्तवत्त्वाच्छरीरस्य फलस्येव वनस्पतेः।। 11.28.42।।

कोई-कोई मनस्वी योगी विविध उपायों के द्वारा इस शरीर को सुदृढ़ और युवावस्था में स्थिर करके फिर अणिमा आदि सिद्धियों के लिये योग साधना करते हैं परन्तु बुद्धिमान पुरुष ऐसे विचार का समर्थन नहीं करते, क्योंकि यह तो एक व्यर्थ प्रयास है। वृक्ष में लगे हुए फल के समान इस शरीर का नाश तो अवश्यम्भावी है।

तात्पर्य अर्थ-

युवावस्था तो मादकता से पूर्ण रहती है यह तो पागलपन की अवस्था है, अत्यधिक रजोगुण से युक्त मन, बुद्धि के द्वारा ग्रसित अवस्था है। फिर ऐसी स्थिति में इस अवस्था को स्थिर करने के लिये योग साधना का दुरुपयोग करना यानी ऋद्धि-सिद्धियों को प्राप्त कर कायकल्प करना अपनी अज्ञानता की ही परिचय देना है। जिस योग साधना के द्वारा परम शान्ति एवं आत्मकल्याण रूप परमानन्द की अनुभूति किया जा सकता है जन्म-मृत्यु रूप संसार बन्धन से मुक्ति पायी जा सकती है, ऐसा विचार कर बुद्धिमान साधक को सिद्धियों के द्वारा आकांक्षा-तृप्ति का दुराग्रह का त्याग कर देना चाहिये, इसी में उनका हित है।

532-एवमात्मानमात्मस्थमात्मनैवामृश प्रभो।

बुद्ध्यानुमानगर्भिण्या वासुदेवानुचिन्तया।। 12.5.9।।

हे राजन्! तुम अपनी विशुद्ध एवं विवेकवती बुद्धि को परमात्मा के चिन्तन से भरपूर कर लो और स्वयं ही अपने अन्तर में स्थित परमात्मा का साक्षात्कार करो।

तात्पर्य अर्थ-

मुमुक्षु साधकों यहाँ पर सावधानी का संकेत किया गया है कि संसार के विषयों का चिन्तन, मनन करना छोड़कर केवल मात्र सिर्फ और सिर्फ आत्म-चिन्तन, स्वस्वरूप चिन्तन में दृढ़ता से लग जाना चाहिये, अन्यथा अपने लक्ष्य की प्राप्ति से वंचित रह जाना होगा। **''यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।''** (क.उ. 2.1.10) जो आत्मा सर्वव्यापक है वही आत्मा (इस देहेन्द्रिय संघात) में भी हैं तथा वही (आत्मा विज्ञानघन) भी है। ऐसा होने पर भी जो मनुष्य इस तत्त्व में नानात्व देखता है वह बारम्बार जन्म-मृत्यु प्राप्त करता है।

533-भगवद्धर्मिणः साधोः श्रद्धया यततः सदा।

भक्तिर्भगवति ब्रह्मण्यनन्यविषयाभवत्।। 4.23.10।।

534-तस्यानया भगवतः परिकर्मशुद्ध-

सत्त्वात्मनस्तदनु संस्मरणानुपूर्त्या।

ज्ञानं विरक्तिमदभून्निशितेन येन,

विच्छेद संशयपदं निजजीवकोशम्।। 4.23.11।।

535-छिन्नान्यधीरधिगतात्मगतिर्निरीहस्त-
त्तत्यजेऽच्छिनदिदं वयुनेन येन।।
तावन्न योगगतिभिर्यतिरप्रमत्तो,
यावद्गदाग्रजकथासु रतिं न कुर्यात्।। 4.23.12।।

इस प्रकार भगवत्परायण होकर श्रद्धापूर्वक सदाचार का पालन करते हुए निरन्तर साधना करने से परब्रह्म परमात्मा में जिनकी अनन्य भक्ति हो गयी। उसकी भगवदुपासना से अन्तःकरण शुद्ध-सात्त्विक हो जाने पर भगवद् चिंतन के प्रभाव से प्राप्त हुई इस अनन्य भक्ति से उन्हें वैराग्य सहित ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है और फिर उस तीव्र ज्ञान के द्वारा जीव के उपाधिभूत अहंकार को नष्ट कर देता है जो सब प्रकार के संशयविपर्यय का आश्रय है। इसके पश्चात् देहात्मबुद्धि की निवृत्ति और परमात्मा स्वरूप श्रीकृष्ण की अनुभूति होने पर अन्य सब प्रकार की सिद्धि आदि से भी उदासीन हो जाने पर वह साधक उस तत्त्व ज्ञान के लिये भी प्रयत्न करना छोड़ देता है, जिसकी सहायता से पहले अपने जीव कोश का नाश किया था, क्योंकि जब तक साधक को योगमार्ग के द्वारा श्रीकृष्ण कथामृत में अनुराग नहीं होता, तब तक केवल योग साधना से उसका मोहजनित प्रमाद दूर नहीं होता, भ्रम नहीं मिटता।

तात्पर्य अर्थ-

साधकों को कोई भी साधना करने की तभी तक आवश्यकता है जब तक उनकी साध्य की प्राप्ति नहीं हुई है, साधना का फल नहीं मिला है। यथा-ऊपरी मंजिल में जाने के लिये जीना (सीढ़ी) की आवश्यकता तभी तक है जब तक मंजिल में पहुँच नहीं गये हें और पहुँचने के बाद उस जीना की आवश्यकता समाप्त हो जाती है। तद्वत् साधक अपने साधना का परिणाम रूप स्वस्वरूप का साक्षात्कार (अनुभूति) कर लेने के बाद साधना करने का प्रयत्न समाप्त हो जाता है। क्योंकि जगत् प्रपंचरूप बन्धन ही नहीं रह जाते स्वरूप अनुभूति के बाद, फिर साधना की क्या प्रयोजन रह जाती।

प्रकृति के कार्य (17 तत्त्व के) सूक्ष्म शरीर में प्रतिबिम्बित जीवात्मा अनादि अज्ञान निद्रा के नशे में अपने वास्तविक स्वरूप को भूलकर देहाध्यासी हो गया है, विषयासक्त हो गया है। परिणामस्वरुप कभी पुरुष जन्म को प्राप्त करता है तो कभी स्त्री, तो कभी पशु-पक्षी, कृमि-कीटादि को प्राप्त करके सुखी-दुःखी होते रहता है। श्रुति कहती है- "**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।।**" (मु.उ. 3.1.1) अर्थात् जो सर्वदा साथ-साथ रहने वाले और समान आख्यान वाले दो पक्षी हैं। ये दोनों एक ही शरीर रूप वृक्ष के

आश्रित हैं। उनमें एक तो क्षेत्रज्ञ (जीव) अपने कर्म को प्राप्त हुए सुख-दुःखमय फलों का उपभोग करता है और दूसरा (नित्य, शुद्ध, मुक्त स्वभाव वाला परमात्मा) कर्म का फल भोग न करता हुआ सिर्फ और सिर्फ देखता रहता है। इसलिये द्रष्टा साक्षी है।

536-तं चानुशयमात्मस्थमसावनुशयी पुमान्।

ज्ञानवैराग्यवीर्येण स्वरूपस्थेऽजहात्प्रभुः।। 4.23.18।।

तदनन्तर भाग्यरूप जीव की उपाधि को भी वह साधक ने त्याग कर ज्ञान, वैराग्य के प्रभाव से अपने शुद्ध ब्रह्मस्वरूप में स्थिर हो जाना ही साधक का परमलक्ष्य है।

537-तस्मिंस्त्वं रामया स्पृष्टो रममाणोऽश्रुतस्मृतिः।

सत्सङ्गादीदृशीं प्राप्तो दशां पापीयसीं प्रभो।।4.28.59।।

538-माया ह्येषा मया सृष्टा यत्पुमांसं स्त्रियं सतीम्।

मन्यसे नोभयं यद्वै हंसौ पश्यावयोर्गतिम्।।4.28.61।।

मायामय नगर के स्वामिनी के फंदे में पड़कर उसके साथ विहार करते-करते हुए भी अपने स्वरूप को भूल गये और उसी के संग से तुम्हारी यह दुर्दशा हुई है। तुम पहले जन्म में अपने को पुरुष समझते थे और अब सती स्त्री मानते हो, यह सब मेरी ही फैलायी हुई माया है। वास्तव में तुम न पुरुष हो न स्त्री। हम दोनों तो हंस हैं, हमारा (हम दोनों का) जो वास्तविक स्वरूप है, उसका अनुभव करो।

तात्पर्य अर्थ-

जीवन्मुक्त सद्गुरु करुणा के सागर होते हैं, दया के साक्षात् मूर्ति होते हैं। इसीलिये भगवान् बुद्ध को कहना पड़ा कि **''सर्वं दुःखं दुःखम्, सर्वं स्वलक्षणम् स्वलक्षणम्। सर्वं क्षणिकं क्षणिकम्, सर्वं शून्यं शून्यम्''** और गीता में कहा गया है **''मामुपेत्य पुनर्जन्म दुंःखालयमशाश्वतम्''** (गी-8.15) भगवान् आद्यशंकराचार्य जी का कहना है- **''सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो, भिन्नाप्याभिन्नाप्युभयात्मिका नो। सङ्गाप्यसङ्गाप्युभयात्मिका नो, महाद्भुतानिर्वचनीयरूपा।।''** अर्थात् यह कार्य कारण रूप जगत् दुःखस्वरूप है और क्षणिक होने से विनाशील भी है तथा विनाशी होने से शून्य रूप है, अवस्तु है। स्वस्वरूप की अज्ञानता ही दुःख और अशाश्वत स्वरूप जगत् में पुनः पुनः जन्म-मृत्यु को प्राप्त कराती है। इस त्रिगुणात्मक जगत् का दूसरा नाम है माया या प्रकृति। इसका वास्तविक स्वरूप क्या है? ऐसा कोई जिज्ञासा करे तो उसका समाधान है-वह न सत् है, न असत् है और न (सदसत्) उभयरूप है, न भिन्न है, न अभिन्न है और न (भिन्नाभिन्न) उभयरूप है, किन्तु अत्यन्त अद्भुत और अनिर्वचनीयरूपा (जो कही न जा सके अर्थात् जिसका किसी भी प्रकार से वर्णन न कर सके ऐसी) है।

और श्रुति के अनुसार तो इस प्रपंच का, इस नानाभेद का किसी प्रकार अस्तित्व है ही नहीं और न हो सकता है। "**नेह नानास्ति किञ्चन**" (बृ.4.4.19), "**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**" (छा.3.14.1), "**ब्रह्मैव सर्वम्।**" (तेजोबिन्दूप. 6.31)।

539-एक एव चरेद्भिक्षुरात्मारामोऽनपाश्रयः।
सर्वभूतसुहृच्छान्तो नारायणपरायणः।। 7.13.3।।

संन्यासी को चाहिये कि वह समस्त प्राणियों का हितैषी हो, शान्त रहे, भगवत्परायण रहे और किसी का आश्रय न लेकर अपने आप में एवं अकेले ही विचरे।

तात्पर्य अर्थ-

श्रुति-स्मृतियाँ साधकों के लिये बार-बार एकान्त अकेले में निवास करने का, विचार करने का संकेत क्यों करती है ? क्योंकि अकेले में ही साधन, भजन एवं आत्मचिंतन सहज रूप से सम्भव है, क्योंकि द्वैत ही (दूसरा) ही द्वन्द्व एवं विक्षेपों का मुख्य कारण है, इसलिये शास्त्रों का संकेत करना उचित ही है। "**आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचन मिषत्**" (ऐ.उप.1.1) अर्थात् आत्मा का स्वरूप ही अकेला है।

540-पश्येदात्मन्यदो विश्वं रूपे सदसतोऽव्यये।
आत्मानं च परं ब्रह्म सर्वत्र सदसन्मये।।7.13.4।।

541-सुप्तप्रबोधयोः सन्धावात्मनो गतिमात्मदृक्।
पश्यन्बन्धं च मोक्षं च मायामात्रं न वस्तुतः।।7.13.5।।

इस सम्पूर्ण विश्व को कार्य और कारण से अतीत परमात्मा में अध्यस्त समझें और कार्य, कारण, स्वरूप से इस जगत् में ब्रह्मस्वरूप अपनी आत्मा को परिपूर्ण देखें। आत्मदर्शी संन्यासी, सुषुप्ति और जाग्रत की सन्धि में अपने स्वरूप का अनुभव करें और बन्धन तथा मोक्ष दोनों ही केवल माया हैं, वस्तुतः कुछ नहीं है, ऐसा जाने।

तात्पर्य अर्थ-

इस दृश्यमान जगत में आत्मा ओतप्रोत है, अर्थात् आत्मा से भिन्न नहीं। आत्मा ही जगत के रूप में अज्ञानता से प्रतिभासित हो रही है। यद्यपि उस अपने स्वरूप का अनुभव सभी अवस्थाओं में होता है, तथापि जाग्रतादि तीनों अवस्थाओं से भिन्न चतुर्थ अवस्था में अनायास ही होता है जिसे तुरीयावस्था, गुणातीत अवस्था के नाम से जाना जाता है, उसी को जीव ब्रह्म की एकत्व अवस्था भी कह सकते हैं अथवा सम आत्मभाव कहा जाता हे। इसी भाव को लक्ष्य करके अन्त में कहा गया है- "**पश्यन्बन्धं च मोक्षं च मायामात्रं न वस्तुतः।**"

इति प्रथमोऽध्यायः, उत्तरार्धः समाप्तः।

अथ जीवन्मुक्तिर्नाम द्वितीयोऽध्यायः

(19) जीवन्मुक्तिप्रकरणम्

1- **स भूतसूक्ष्मेन्द्रियसंनिकर्षं मनोमयं देवमयं विकार्यम्।**
संसाद्य गत्या सह तेन याति, विज्ञानतत्त्वं गुणसंनिरोधम्।। 2.2.30।।

योगी पंचभूतों के स्थूल, सूक्ष्म आवरणों को पार करके अहंकार में प्रवेश करता है। वह सूक्ष्म भूतों को तामस अहंकार में, इन्द्रियों को राजस अहंकार में तथा मन और इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवताओं को सात्त्विक अहंकार में लीन कर देता है। उसके बाद अहंकार के सहित लयरूप गति के द्वारा महत्तत्त्व में प्रवेश करके अन्त में समस्त गुणों के लयस्थान प्रकृतिरूप आवरण में जा मिलता है।

तात्पर्य अर्थ-

मुमुक्षु साधक अपनी साधना का परिचय कराते हुए देहभाव से ऊपर उठकर अहंकार के कार्य भूतसूक्ष्म से निर्मित आवरण रूप अतीन्द्रियों को अपनी साधना के माध्यम से अहंकार में (स्वाभिमान) में स्वानुभव में प्रवेश करता हे। उस समय भूतसूक्ष्म को तामस अहंकार में, सूक्ष्मेन्द्रियों को राजस् अहंकार में, मन और इन्द्रियों के देवताओं को भी सात्त्विक अहंकार में लीन करके तथा अहंकार के सहित लय प्रक्रिया से मूल प्रकृति रूप महा आवरण में (ब्रह्मलोक में) मिल जाता है। अर्थात् यह लय प्रक्रिया जो जाग्रत से स्वप्न और स्वप्न से सुषुप्ति में प्रवेश या स्थित होने की प्रक्रिया है, वह जीवात्मा (मनुष्यों) के द्वारा प्रतिदिन अनुभव किया जाता है।

2- **तेनात्मनाऽऽत्मानमुपैति, शान्तमानन्दमानन्दमयोऽवसाने।**
एतं गतिं भागवतीं गतो यः, सा वै पुनर्नेह विषज्जतेऽङ्ग।। 2.2.31।।

हे परीक्षित! महाप्रलय के समय प्रकृतिरूप आवरण का भी लय हो जाने पर वह योगी स्वयं आनन्द स्वरूप होकर अपने उस निरावरण रूप से आनन्द स्वरूप शान्त परमात्मा को प्राप्त हो जाता है, जिसे इस भगवान्मयी गति की प्राप्ति होती है उसे फिर इस संसार में नहीं आना पड़ता।

तात्पर्य अर्थ-

महाप्रलय यानि चतुर्युगी सृष्टि (ब्रह्मा के द्वारा विरचित उसकी अवसान) का नाम है महाप्रलय। अथवा जीवन्मुक्त आत्मतत्त्वज्ञानी का स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण आदि शरीरों के सहित प्रारब्धादि कर्मों का आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाने पर वह आत्मा विभुभाव को प्राप्त हो जाती है, परमानन्दमय हो जाती है यथा घटाकाश, घटोपाधि के विनाश होने पर महाकाश हो जाता है। **''ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति''** (मुं. 3.2.9), **''अथ य तदक्षरं**

गार्गी विदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः'', ''एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्वच प्रोतश्चेति।'' (बृ.उ. 3.8.10/14)

3- **आत्ममायामृते राजन् परस्यानुभवात्मनः।**
न घटेतार्थसम्बन्धः स्वप्नद्रष्टुरिवाञ्जसा।। 2.9.1।।

4- **बहुरूपा इवाभाति मायया बहुरूपया।**
रममाणो गुणेष्वस्या ममाहमिति मन्यते।। 2.9.2।।

हे परीक्षित! जैसे स्वप्न में देखे जाने वाले पदार्थों के साथ उसे देखने वाले का कोई सम्बन्ध नहीं होता, वैसे ही देहादि से अतीत अनुभव स्वरूप आत्मा का काया के बिना दृश्य पदार्थों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। विविध रूप वाली माया के कारण वह विविध रूपवाला सा प्रतीत होता है और जब उसके गुणों में रम जाता है तब यह मैं हूँ यह मेरा है, इस प्रकार मानने लगता है।

तात्पर्य अर्थ-

गुणातीत, अशरीरी निरावरण अप्रमेय नीरूप-निराकार स्वरूप एक एवं विभु होते हुए भी आत्मा, माया के कारण मनुष्य, पशु, पक्षी, कृमि-कीट एवं पेड़-पौधे, नदी-नाले, समुद्र, पर्वतादि अनेकानेक रूपों में प्रतीति हो रही है। तथा माया कार्य गुणों के प्रभाव से **'मनुष्योऽहं ममेति पुत्रो दारादि'** मानने लगता है।

5- **यर्हि वाव महिम्नि स्वे परस्मिन् कालमाययोः।**
रमेत गतसम्मोहस्त्यकत्वोदास्ते तदोभयम्।। 2.9.3।।

किन्तु जब यह गुणों को क्षुब्ध करने वाले काल और मोह उत्पन्न करने वाले माया, इन दोनों से परें अनन्त स्वरूप में मोह रहित होकर रमण करता हे, वह आत्माराम हो जाता है, तब यह 'मैं' ओर 'मेरा' का भाव छोड़कर पूर्ण उदासीन गुणातीत हो जाता है।

तात्पर्य अर्थ-

भूत, भविष्य और वर्तमान के समयानुसार गुणों में परिवर्तन होता है विषमता देखने में आती है। कभी रजोगुण की वृद्धि तो कभी तमोगुण की और कभी सत्त्वगुण की और गुणों के अनुसार उस व्यक्ति या प्राणी का व्यवहार रूप क्रिया होने लगती है। इसी कारण जीवात्मा अपने आपको स्वस्वरूप को भूल गयी है। अतः काल और मोह को उत्पन्न करने वाली माया (अविद्या) इन दोनों से भिन्न गुणातीत स्वस्वरूप में रमण करने लग जाओगे, चित्तवृत्ति को शून्य करने के लिये अहं ब्रह्मास्मि का पुनरावृत्ति करने का आयास करोगे तो निश्चित ही महामोहरूप 'मैं' और 'मेरा' की अज्ञानता का अन्त हो जायेगा, सदा के लिये अवसान हो जायेगा, यही साधना की परिपूर्णता है।

6- **निरोधोऽस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिभिः।**
मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः।। 2.10.6।।

जब भगवान् योगनिद्रा स्वीकार करके शयन करते हैं, तब इस जीव का अपनी उपाधियों के साथ उनमें लीन हो जाते हें, उसी को निरोध कहा गया है। अज्ञान कल्पित कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि अनात्म भाव का परित्याग करके अपने वास्तविक स्वरूप परमात्मा में स्थित होना ही मुक्ति है।

तात्पर्य अर्थ-

ज्ञान-अज्ञान सम्बन्धी इस शरीर की तीन अवस्थाएँ हैं और तीनों शरीरानुसार तीन नामों की व्याख्या भी मिलती है- (1) जाग्रत अवस्था-स्थूल शरीर, (2) स्वप्न अवस्था-सूक्ष्म शरीर, (3) सुषुप्ति अवस्था- कारण शरीर। जिनमें जाग्रत और स्वप्न अवस्थाएँ ज्ञानमय होने से नाना प्रकार के व्यवहार होते हैं और व्यवहार के अनुसार सुख-दुःखों का अनुभव भी होता है किन्तु इनके विपरीत कारण देह सुषुप्ति अवस्था एक ऐसी अवस्था है जिसमें किसी प्रकार के व्यवहार या ज्ञान का सर्वथा अभाव रहता है। न सुख है, न दुःख है, न भूख-प्यास और न हानि-लाभ की चिन्ता है। इसलिये इस अवस्था को आनन्दमय कोश कहा जाता है। यद्यपि यह सर्वबन्धनों से मुक्त अवस्था नहीं है, फिर भी ईश्वर (संयोग) से मिलना कहा जाता है क्योंकि शुद्धात्मा इसी प्रकार स्वरूप से गुणातीत, द्वन्द्वातीत, प्राकृतिक स्थिति वाला है। यह अवस्था घोर अन्धकार की स्थिति में नानात्व का अभाव, प्रपंच जगत् की शून्यता का अनुभव कराती है, तो इसका अभिप्राय यह नहीं समझ लेना चाहिये कि प्रपंचरूप, जगत् का सदा के लिये अन्त हो गया ओर मैं बिना प्रयत्न किये (बिना साधना) किये ही मुक्तावस्था को प्राप्त हो गया या हो जाऊँगा। अरे भई! यह सुषुप्ति अवस्था तो मूढ़ता की अवस्था है, मूलाविद्याग्रसित अवस्था है। यथा सूर्य, चन्द्रमा का खग्रास ग्रहण।

7- **यमादिभिर्योगपथैरभ्यसञ् श्रद्धयान्वितः।**
मयि भावेन सत्येन मत्कथाश्रवणेन च।। 3.27.6।।

यमादि योग साधनों के अभ्यास द्वारा श्रद्धा भक्तिपूर्वक चित्त को बारम्बार एकाग्र करते हुए मुझमें (स्वस्वरूपात्मा) में शुद्ध भाव रखने, मेरी कथा (अध्यात्म चर्चा) श्रवण करने में लगा रहता वह मुक्ति का पात्र होता है।

तात्पर्य अर्थ-

समस्त प्राणियों में समभाव रखने, किसी से बैर न रखने, आसक्ति के त्याग, ब्रह्मचर्य, मौन-व्रत और बलिष्ठ (अर्थात् भगवान् को स्वस्वरूप आत्मा को समर्पित किये हुए) स्वधर्म से जिसे ऐसी स्थिति प्राप्त हो गयी है कि प्रारब्ध के अनुसार जो कुछ

मिलता है उसी में सन्तुष्ट रहता है, परिमित भोजन करता है, सदा एकान्त में रहता है, शान्त स्वभाव है, सब का मित्र है, दयालु और धैर्यवान है, प्रकृति और पुरुष के वास्तविक स्वरूप के अनुभव से प्राप्त हुए तत्त्वज्ञान के कारण स्त्री-पुत्रादि सम्बन्धियों के सहित इस देह में 'मैं', 'मेरापन' का मिथ्या (अभिमान) अभिनिवेश नहीं करता, बुद्धि की जाग्रतादि अवस्थाओं से भी अलग हो गया है तथा परमात्मा के सिवा और कोई वस्तु नहीं देखता, वह आत्मदर्शी मुनि नेत्रों से सूर्य को देखने की भाँति अपने शुद्ध अन्त:करण द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार कर उस अद्वितीय ब्रह्मपद को प्राप्त हो जाता है जो देहादि सम्पूर्ण उपाधियों से पृथक् अहंकारादि मिथ्या वस्तुओं में सम्यग्रूप से भासने वाला जगत्कारणभूता प्रकृति का अधिष्ठान, महदादि कार्यवर्ग का प्रकाशक, कार्य कारणरूपा सम्पूर्ण पदार्थों में व्याप्त है, उस आत्मा को निरन्तर अनुभव करने वाला वह परम ज्ञानी जीवन्मुक्त है।

मुमुक्षु साधक अपने निरन्तर साधना, अभ्यास के द्वारा सम्पूर्ण गुणों पर विजय प्राप्त करने वाला तथा आत्म समर्पित चित्त, प्रारब्धानुसार प्राप्त हुए में संतुष्ट एवं प्रकृति पुरुष के वास्तविक स्वरूप के अनुभव आदि से प्राप्त हुए तत्त्वज्ञान और एषणात्रय से रहित अहं-मम के मिथ्या अभिमानों से शून्य तथा परमात्मा ही एकमात्र, सर्वत्र, सर्वरूपों में स्थित है, ऐसी जिसकी दृढ़ भावना बन गयी है, वे ही परम ज्ञानी एवं जीवन्मुक्त कहने या कहलाने योग्य है। ''**प्रजाहाति यदा कामान्सपर्वान्पार्थ मनोगतान्।**'' (गी. 2. 51)

''**आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः। किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्।**'' (बृ. 4.9.12) भावार्थ- यह शुद्ध, बुद्ध मुक्त स्वभाव ब्रह्म है। इस प्रकार विशेष रूप से आत्मा को साधक पुरुष यदि जान लेवे तो भला किस चीज को चाहते हुये, किस भोग के लिये शरीर के पीछे संतृप्त होने लगे।

8- **यथा ह्यप्रतिबुद्धस्य प्रस्वापो बह्वनर्थभृत्।**
स एव प्रतिबुद्धस्य न वै मोहाय कल्पते।। 3.27.25।।

9- **एवं विदिततत्त्वस्य प्रकृतिर्मयि मानसम्।**
युञ्जतो नापकुरुत आत्मारामस्य कर्हिचित्।। 3.27.26।।

जैसे सोये हुए पुरुष को स्वप्न में अनेकों अनर्थों का अनुभव करना पड़ता है किन्तु जग जाने पर उसे उन स्वप्नों के अनुभवों से किसी प्रकार के मोह नहीं होता। उसी प्रकार जिसे तत्त्वज्ञान हो गया ओर जो निरन्तर मुझमें ही मन लगाये रहता है, उस आत्माराम मुनि का प्रकृति कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती।

तात्पर्य अर्थ-

जब तक असत्य जगत् के प्रति सत्यत्व बुद्धि की भ्रान्ति बनी रहती है, तब तक जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख, हानि-लाभ, संयोग-वियोगादि का भय भी अवश्यम्भावी है और जिस दिन, जिस क्षण यथार्थ तत्त्वज्ञान का बोध हो जायेगा, स्वस्वरूप, अन्तरात्मा में निरन्तर मनोवृत्ति स्थिर हो जायेगी, अन्दर-बाहर के जगत् प्रपंच से शून्य अवस्था को प्राप्त हो गया, उसी क्षण उस साधक का प्रारब्धशेष पर्यन्त प्रकृति के कार्य प्रपंच जगत् के रहते हुए भी स्वप्न के अनुभव के समान है, मृग्मरीचिका के समान है। अर्थात् उस साधक का अनुभव ज्ञान में, जीवन्मुक्ति में किंचन मात्र भी बाधक नहीं बन सकते।

10- **प्राप्नोतीहाञ्जसा धीरः स्वदृशाच्छिन्नसंशयः।**
यद्गत्वा न निवर्तेत योगी लिङ्गाद्विनिर्गमे।। 3.27.29।।

यथार्थ तत्त्वज्ञान प्राप्त करके आत्मानुभव के द्वारा सम्पूर्ण संशयों से मुक्त हो जाता है और फिर लिंगदेह का नाश हो जाने पर एकमात्र मेरी ही आश्रित अपने स्वरूपभूत् कैवल्य-संज्ञक मंगलमय पद को सहज में ही प्राप्त कर लेता हे, जहाँ पहुँचने पर योगी फिर लौटकर नहीं आता।

तात्पर्य अर्थ-

जब साधक दीर्घ काल पर्यन्त साधना करते हुए अपने परमतत्त्व का अनुभव कर लेता है, तब आत्मानुभव करने के फलस्वरूप अनादि काल के सम्पूर्ण संशय-विपर्यय और कर्मबीज वासनाओं का भी नाश हो जाता है। फिर वह मुमुक्षु साधक, मुनिवर्य, सर्वोपरि उत्कृष्ट कैवल्य पद को, सर्वात्मस्वरूप अविनाशी अक्षयपद को प्राप्त कर पुनः जन्ममृत्यु रूप संसार बन्धन के जाल से सदा-सर्वदा के लिये मुक्त हो जाता है। **''न पुनरावर्तते न पुनरावर्तते''** (निरालम्बोपनिषत् 33), **''ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति''** (मुं-3.2.9) इति श्रुतिः। **''यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम''** (गी.15.6)

11- **मुक्ताश्रयं यर्हि निर्विषयं विरक्तं, निर्वाणमृच्छति मनः सहसा यथार्चिः।**
आत्मानमत्र पुरुषोऽव्यवधानमेकमन्वीक्षते प्रतिनिवृत्तगुणप्रवाहः।। 3.28.35।।

जैसे तेलादि के समाप्त हो जाने पर दीपशिखा अपने कारणरूप तेजतत्त्व में लीन हो जाती है, वैसे ही आश्रय विषय और रागादि से रहित होकर मन शान्त ब्रह्माकार हो जाता है। इस अवस्था के प्राप्त हो जाने पर जीव गुणप्रवाह रूप देहादि उपाधियों के निवृत्त हो जाने के कारण ध्याता, ध्येय आदि विभाग रहित एक अखण्ड परमानन्द को ही सर्वत्र अनुगत देखता (अनुभव) करता है।

तात्पर्य अर्थ-

जब तक मन गुणों के वशीभूत होकर रहता है, तब तक यह जीवात्मा विविधाकार सा प्रतीत होता है। कभी सतोगुणी, कभी रजोगुणी तो कभी तमोगुणी देखने में आता है अथवा कहा जाता है और जब साधक अपने साधना के द्वारा बारम्बार वृत्ति निरोध करके अहं ब्रह्मास्मि के अभ्यास से मन शान्त कर लेता हे तब ध्याता, ध्यान और ध्येयादि भेद दृष्टि से ऊपर उठकर एक अखण्ड, सर्वव्यापक सच्चिदानन्द स्वरूप का ही सर्वत्र अनुगत अपने को अनुभव करता है।

12- सोऽप्येतया चरमया मनसो निवृत्त्या, तस्मिन्महिम्न्यवसितः सुखदुःखबाह्यो। हेतुत्वमप्यसति कर्तरि दुःखयोर्यत्, स्वात्मन् विधत्त उपलब्धपरात्मकाष्ठः।। 3.28.36।।

योगाभ्यास से प्राप्त हुई चित्त की इस अविद्या रहित लयरूप निवृत्ति से अपनी सुख-दुःख रहित ब्रह्मरूप महिमा में स्थित होकर परमात्मतत्त्व का साक्षात्कार कर लेने पर, वह योगी जिस सुख-दुःख के भोक्तृत्व को पहले अज्ञानवश अपने स्वरूप में देखता था, उसे अब अविद्याकृत अहंकार में ही देखता है।

तात्पर्य अर्थ-

मुमुक्षु साधक जब साधना में तच्चित्त हो जाता है, आत्मरूपी ध्येयाकार हो जाता है और निरन्तर आत्मानुभव करने लग जाता है तब अनादि अज्ञानता की निवृत्ति हो जाती है और निवृत्ति हो जाने से कर्तृत्व-भोक्तृत्व एवं देहाध्यासादि से भी ऊपर उठकर (शुद्धोऽहं, मुक्तोऽहम्) का विचार करते हुए परमानन्द के अनुभव में ओतप्रोत रहता है। अर्थात् अज्ञानता की (अविद्या की) काली घटा छट जाती है, जो अनादि जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख, भूख-प्यास, चिन्ता, शोक आदि का कारण था, जगत् के अस्तित्व में निमित्त था।

13- देहं च तं न चरमः स्थितमुत्थितं वा, सिद्धो विपश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम्। दैवादुपेतमथ दैववशादपेतं, वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः।। 3.28.37।।

जिस प्रकार मदिरा के मद से मतवाले पुरुष को अपनी कमर पर लपेटे हुए वस्त्र के रहने या गिरने की कुछ भी सुध नहीं रहती, उसी प्रकार चरम अवस्था को प्राप्त हुए सिद्ध पुरुष को भी अपने देह के बैठने-उठने अथवा दैववश कही जाने या लौटने के विषयों में कुछ भी ज्ञान नहीं रहता, क्योंकि वह अपने परमानन्दमय स्वरूप में स्थित है।

तात्पर्य अर्थ-

कोई-कोई ज्ञानी पुरुष ऐसे होते हैं जिन्हें गुणातीत अवस्था प्राप्त हो जाने पर शास्त्रोक्त विधि-निषेध कर्मों (व्यवहारों) का कुछ भी ज्ञान नहीं रहता, एक अबोध

बालक के समान अथवा कोई नशा के नशे से विवेक बुद्धि की आवृत हो जाने पर मनुष्य को 'मैं कहाँ पर हूँ या क्या कर रहा हूँ' यह पता नहीं लगता। वास्तव में सर्वोच्च ज्ञानी के दृष्टि में स्वभिन्न न जगत् है और न किसी प्रकार के व्यवहार ही है। वह तो आत्मरति, आत्मक्रीड़ा में ही शेष जीवन (प्रारब्ध) क्षय कर रहे हैं, वह भी दूसरों की दृष्टि में। क्योंकि जब तक गुण है तब तक जगत् भी है और विधिनिषेध या नित्य, नैमित्तिक और काम्य सब होते हुये दिखाई देते हैं। (गीता में आया है- कर्म, अकर्म और विकर्म)। प्राणों की गति के अनुसार कर्म पाँच हैं- उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण तथा गमन। और गुणों के अभाव में ज्ञानी पुरुष परमानन्द स्वस्वरूप में, निष्क्रियात्मा में स्थित हो जाते हैं। ''**उपाधिरायाति स एव गच्छति, स एव कर्माणि करोति भुङ्क्ते। स एव जीर्यन्म्रियते सदाहं, कुलाद्रिवन्निश्चल एव संस्थिता।।**'' (वि.चू. 502)।

अर्थात् वस्तुतः कर्तृत्व-भोक्तृत्व, सुख-दुःख, गमनागमन आदि समस्त व्यापार मन, बुद्धि एवं कर्मवासना रूप प्रारब्ध कर्मों की ही लीला है अथवा अज्ञानता में है, क्योंकि कर्म एवं मन, बुद्धि के अभाव में स्वयं सर्वप्रकाशक स्वप्रकाश आत्मा अकेले ही सिद्ध होता है, अद्वितीय आत्मा ही का प्रसिद्धि है, शांकर मत में यही स्वीकार्य है।

14- देहोऽपि दैववशगः खलु कर्म यावत् स्वारम्भकं प्रतिसमीक्षत एव सासुः।
तं सप्रपञ्चमधिरूढसमाधियोगः, स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तुः।। 3.28.38।।

यह जड़ शरीर तो पूर्वजन्म के संस्कारों के अधीन है, अतः जब तक उसका आरम्भक प्रारब्ध शेष रहता है, तब तक वह इन्द्रियों के सहित जीवित रहता है, किन्तु जिसे समाधिपर्यन्त योग की स्थिति को प्राप्त हो गयी है और जिसने परमात्मतत्त्व को भी भली-भाँति जान लिया है, वह सिद्ध पुरुष शरीर और शरीर के व्यवहार सहित समस्त प्रपञ्च को स्वप्न में प्रतीत होने वाले शरीर के समान मिथ्या निश्चयकर फिर स्वीकार नहीं करते अर्थात् अहंता ममता नहीं करते।

तात्पर्य अर्थ-

जीवन्मुक्त वेदान्त रसिकों को यह ज्ञान हो गया है कि जड़ शरीर पूर्वजन्म संस्कारों के फलरूप है, इसलिये प्रारब्ध कर्मों के अधीन है और जब तक उस शरीर का आरम्भक प्रारब्ध कर्म शेष रहेगा, तब तक यह इन्द्रियों आदि के संघात शरीर जीवित (क्रियाशील) रहता है। दूसरी बात- ''**ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः**'' (वेदान्त डिण्डिम 67) अर्थात् ''मैं, सच्चित्-आनन्दस्वरूप अविनाशी, अजन्मा, परब्रह्म हूँ। तथा जगत् का स्थिर होना तीनों कालों में असम्भव है, इसलिये मिथ्या है। इस प्रकार

से प्रतीयमान जगत् का और अहं ब्रह्मास्मि का पुनरावृत्ति अभ्यास के द्वारा मिथ्यात्व का दृढ़ता से निश्चय कर लिये हैं वह जीवन्मुक्त ज्ञानी को शेष प्रारब्ध पर्यन्त यह जगत् और जगत् का कार्य देहादि स्वप्नवत् आभासित होता है। अर्थात् दृश्यमान प्राणी पदार्थों के प्रति अहन्ता, ममता फिर कभी नहीं हो सकता।

15- **देहेन जीवभूतेन लोकाल्लोकमनुव्रजन्।**
भुञ्जान एव कर्माणि करोत्यविरतं पुमान्।। 3.31.43।।

16- **जीवो ह्यस्यानुगो देहो भूतेन्द्रियमनोमयः।**
तन्निरोधोऽस्य मरणमाविर्भावस्तु सम्भवः।।3.31.44।।

हे देवी! जीव के उपाधिभूत लिंगदेह के द्वारा पुरुष एक लोक से दूसरे लोक में जाता है और अपने प्रारब्ध कर्मों का फल निरन्तर भोगता हुआ अन्यान्य देहों की प्राप्ति के लिये दूसरे कर्मों को करता रहता है। जीव का उपाधिरूप लिंग शरीर तो मोक्षपर्यन्त उसके साथ रहता है तथा भूत-इन्द्रिय और मन का कार्यरूप स्थूल शरीर इसका भोगाधिष्ठान है। इन दोनों का परस्पर संगठित होकर कार्य न करना ही प्राणी की मृत्यु है और दोनों का साथ-साथ प्रकट होना जन्म कहलाता है।

तात्पर्य अर्थ-

जीवात्मा का एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जन्म लेने का क्या कारण है? ऐसी आकांक्षा का समाधान है कि पंच विषयों की वासनारूप संस्कार, दस इन्द्रियाँ, पंच प्राण और मन (17) में विद्यमान शुभाशुभ कर्म ही पुनर्जन्म का निमित्त कारण है तथा कर्मों का फल सुख-दुःख रूप भोगों का भी भोगने में निमित्त है, जीवात्मा के सत्ता से। जिसे सूक्ष्म शरीर के नाम से जाना जाता है। सूक्ष्म शरीर का आयतन है स्थूल शरीर। इन दोनों का सम्बन्ध अनादि है। 'अन्योन्याश्रयः' एक दूसरे का पूरक है। अर्थात् स्थूल के अभाव में, कर्माभव, भोगाभाव की स्थिति आ जायेगी और सूक्ष्म शरीर के अभाव में चेतनता का अभाव तथा कर्म संस्काराभाव की आपत्ति आ जाना निश्चित है। अतः इन दोनों का संयोग जन्म और दोनों में से एक का वियोग ही मृत्यु है। कारण के आत्यन्तिक नाश से कार्य (स्थूल) का नाश ही मुक्तिः (कैवल्य पद) की प्राप्ति है।

17- **दग्धाशयो मुक्त समस्ततद्गुणो नैवात्मनो बहिरन्तर्विचष्टे।**
परमात्मनोर्यद् व्यवधानं पुरस्तात्, स्वप्ने यथा पुरुषस्तद्विनाशे।। 4.22.27।।

18- **आत्मानमिन्द्रियार्थं च परं यदुभयोरपि।**
सत्याशय उपाधौ वै पुमान् पश्यति नान्यदा।। 4.22.28।।

इसी प्रकार लिंगदेह का नाश हो जाने पर वह उसके कर्तृत्वादि सभी गुणों से मुक्त हो जाता है। फिर तो जैसे स्वप्नावस्था में तरह-तरह के पदार्थ देखने पर भी उससे जगने

पर उनमें से कोई भी वस्तु दिखायी नहीं देती। उसी प्रकार वह पुरुष शरीर के बाहर दिखायी देने वाले घट-पटादि और भीतर अनुभव होने वाले सुख-दुःखादि को भी नहीं देखता। इस स्थिति के प्राप्त होने से पहले ये पदार्थ ही जीवात्मा और परमात्मा के बीच में रहकर उनका भेद कर रहे थे। जब तक अन्तःकरणरूप उपाधि रहती है, तभी तक पुरुष को यानि जीवात्मा के इन्द्रियों के विषय और इन दोनों का सम्बन्ध करने वाले अहंकार का अनुभव होता है, इसके बाद नहीं।

तात्पर्य अर्थ-

परमात्मा यानी परब्रह्म और जीवात्मा में क्या भेद है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर समाधान है- जीवात्मा, अविद्याग्रस्त होने से सूक्ष्म-स्थूलादि देहवाला है और देहाध्यास होने से जन्म-मृत्यु, सुख-दुःखादि भोगने वाला भी है। 'परमात्मा' अविद्या रहित होने से, निरुपाधिक एवं जन्म-मृत्यु आदि से भी रहित है और सर्वात्मा-सर्वव्यापक है। यही भेद हे। वास्तव में विचार करके देखा जाये तो जीवात्मा-परमात्मा में भेद किंचिन्मात्र भी नहीं है। यथा-समुद्रस्थ जल और नदीस्थजल तथा आकाशस्थजल में भेद नहीं अथवा घटाकाश, मठाकाश और महाकाश में भेद है तो उपाधि को लेकर अन्यथा कोई भेद नहीं। श्रुति कहती है ''**वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्**'' (छा.उ. 6.1-4) अर्थात् जब तक अन्तःकरण चतुष्टय और संचितकर्मवासना से युक्त लिंगदेह का, आत्यन्तिक नाश नहीं हो जाता, तब तक जीव ब्रह्म का भेद भी बना ही रहेगा। यथा ''**निमित्ते सति सर्वत्र जलादावपि पुरुषः। आत्मनश्च परस्यापि भिदां पश्यति नान्यदा।।**'' (भा.पु. 4.22.29) बाह्य जगत में भी देखा जाता है कि जल, दर्पण आदि निमित्तों के रहने पर ही अपने बिम्ब और प्रतिबिम्ब का भेद दिखायी देता है, अन्य समय नहीं।

19- इन्द्रियैर्विषयाकृष्टैराक्षिप्तं ध्यायतां मनः।
चेतनां हरते बुद्धे स्तम्बस्तोयमिव ह्रदात्।। 4.22.30।।

20- भ्रश्यत्यनु स्मृतिश्चित्तं ज्ञानभ्रंशः स्मृतिक्षये।
तद्रोधं कवयः प्राहुरात्मापह्नवमात्मनः।। 4.22.31।।

जो लोग विषय चिन्तन में लगे रहते हैं उनकी इन्द्रियाँ विषय में फँस जाती हैं। फिर तो जैसे जलाशय के किनारे पर उगे हुए कुशादि अपनी जड़ों से उसका जल खींचते रहते हैं, उसी प्रकार वह इन्द्रियासक्त मन, बुद्धि की विचारशक्ति को क्रमशः हर लेती है। विचार शक्ति के नष्ट हो जाने पर पूर्वापर की स्मृति जाती रहती है और स्मृति का नाश हो जाने पर ज्ञान नहीं रहता। इस ज्ञान के नाश को ही पण्डितजन अपने-आप अपना नाश करना कहते हैं।

तात्पर्य अर्थ-

कुछ लोग अपनी हत्या आप स्वयमेव कर लेते हैं, इसका क्या कारण हो सकता है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर, कहा जा सकता है कि मन के द्वारा विषयों का चिन्तन करते रहने से इन्द्रियाँ विषयों में भोगातुर हो जाती हैं और साथ ही मन भी भोगासक्त हो जाने से आत्मा-अनात्मा का विचार करने की क्षमता नष्ट हो जाती है। जिस बुद्धि में आत्म-अनात्मा का ज्ञान नहीं है उसका जीवन पशुवत् है। अर्थात् आत्मा-अनात्मा का ज्ञान न होना ही आत्महत्या है। अथवा मायामय स्वप्न जगत् को जानना, न समझ पाना ही जन्म-मृत्यु है और इसी को आत्महत्या कहा गया है। शास्त्रों में "**इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।**" (के.उ. 2, 5) "**ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते। सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते। क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः। स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।।**" (गी. 2.62/63)

21- यस्मिन्निदं सदसदात्मतया विभाति, माया विवेकविधुति स्रजि वाहिबुद्धिः।
तं नित्यमुक्तपरिशुद्धविबुद्धतत्त्वं, प्रत्यूढकर्मकलिलप्रकृतिं प्रपद्ये।। 4.22.38।।

जिस प्रकार माला का ज्ञान हो जाने पर उसमें सर्पबुद्धि नहीं रहती, उसी प्रकार विवेक हो जाने पर जिसका कहीं पता नहीं लगता, ऐसा यह मायामय प्रपंच जिसमें कार्य कारण रूप से प्रतीत हो रहा है और जो स्वयं कर्मफल से कलुषित प्रकृति से परे है, उस नित्यमुक्त, निर्मल और ज्ञान स्वरूप परमात्मा को अब मैं प्राप्त हो रहा हूँ।

तात्पर्य अर्थ-

ज्ञानस्वरूप, नित्यमुक्त, कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि से रहित अजन्मा-आत्मा का जिस दिन जिस क्षण, यथार्थ बोध एवं अनुभव हो जायेगा, उसी दिन, उसी क्षण कामवासनारूप अनादि मल धुल जायेगी, नानाविध मायामय प्रकृति का विनाश हो जायेगा, यथा सूर्योदय होने पर अन्धकार। अर्थात् स्वस्वरूप की अज्ञानता ही मायामय जगत् है।

22- अहं भवान्न चान्यस्त्वं त्वमेवाहं विचक्ष्व भोः।
न नौ पश्यन्ति कवयश्छिद्रं जातु मनागपि।। 4.28.62।।

23- यथा पुरुष आत्मानमेकमादर्शचक्षुषोः।
द्विधाभूतमवेक्षेत तथैवान्तरमावयोः।। 4.28.63।।

हे मित्र! जैसे मैं (ईश्वर) हूँ वही तुम (जीव) हो। तुम मुझसे भिन्न नहीं हो और तुम विचार पूर्वक देखो, मैं वही हूँ जो तुम हो। ज्ञानी पुरुष हम दोनों में कभी थोड़ा सा भी अन्तर नहीं देखते। जैसे एक पुरुष अपने शरीर की परछाई को शरीर में और किसी

व्यकित के नेत्र में भिन्न-भिन्न रूप में देखता है, वैसे ही एक ही आत्मा माया और अविद्या की उपाधि के भेद से अपने को ईश्वर और जीव के रूप में दो प्रकार से देख रहा है।

तात्पर्य अर्थ-

घटाकाश, मठाकाश और महाकाश का भेद, उपाधिरूप-घट, मठ आदि को लेकर ही है, नाम व रूप को लेकर है, ना कि वास्तविक। वास्तव में तो जो आकाश महाकाश के नाम से जाना जाता है, वही आकाश, घट और मठ में भी है, अन्तर किंचिन्मात्र भी नहीं है, फिर भी उपाधियों के व्यवहार से भिन्न नाम व रूपों से जाना जाता है। इसी प्रकार जीवात्मा-परमात्मा और शुद्धात्मा का भेद को भी समझ लेना चाहिये। जीवात्मा की उपाधि-पँचकोश (स्थूल, सूक्ष्म और कारण) शरीरों को अथवा अविद्या को और परमात्मा की उपाधि, मायाशक्ति को हटा देने पर शुद्धात्मा ही शेष बच जाती है। **''स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।''** (छा. 6.1.4) इति श्रुतिः, **''तयोर्विधोऽयमुपाधिकल्पितो, न वास्तवः कश्चिदुपाधिरेषः। ईशस्य माया महदादिकारणं, जीवस्य कार्यं शृणु पञ्चकोशम्।।''** (वि.चू. 245), **''एतावुपाधी परजीवयोस्तयोः, सम्यङ्निरासे न परो न जीवः। राज्यं नरेन्द्रस्य भटस्य खेटकस्तयोरपोहे न भटो न राजा।।''** (वि.चू. 246) अर्थात् उन दोनों का यह विरोध उपाधि के कारण है और यह उपाधि कुछ वास्तविक नहीं है। ईश्वर की उपाधि महत्तत्वादि की कारणरूपा माया है तथा जीव की उपाधि कार्यरूप पंचकोश हैं। ये परमात्मा और जीव की उपाधियाँ हैं, इनका भली प्रकार बोध हो जाने पर न परमात्मा ही रहता है और न जीवात्मा ही। जिस प्रकार राज्य राजा की उपाधि है तथा ढाल, सैनिक की, इन दोनों उपाधियों के न रहने पर, न कोई राजा है और न योद्धा।

24- एवं स मानसो हंसो हंसेन प्रतिबोधितः।
स्वस्थस्तद्व्यभिचारेण नष्टमाप पुनः स्मृतिम्।। 4.28.64।।

इस प्रकार जब हंस (ईश्वर) रूप गुरु ने उसे सावधान किया तब वह मानस सरोवर का हंस (जगत्को सत्य मानने वाला जीव) स्वस्थ चित्त हो जाने पर उसे अपने मित्र के वियोग से भूला हुआ आत्मज्ञान फिर से प्राप्त हो गया और अपने स्वरूप में स्थित हो गया।

तात्पर्य अर्थ-

निरपेक्ष आत्मा का परोक्ष रूप से यानि उदाहरणों के द्वारा बोध कराया जा सकता है या कराया जाता है, क्योंकि आत्मा का ज्ञान अपरोक्ष रूप से कराया नहीं जा सकता।

श्रुति कहती है **''यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह''** (तै. 2.4) जहाँ से मन के सहित वाणी लौटकर वापस आ जाती है, वह ब्रह्म है, आत्मा है। **''द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।।''** (मु.उ.-3.1.1)।

25- स वै प्रियतमश्चात्मा यतो न भयमण्वपि।
इति वेद स वै विद्वान् यो विद्वान् स गुरुर्हरिः।। 4.29.51।।

जिससे किसी को अणु मात्र भी भय नहीं होता, वही उसका प्रियतम आत्मा है, ऐसा जो पुरुष जानता है वही ज्ञानी है और वही गुरु साक्षात् श्री हरि भी है।

तात्पर्य अर्थ-

आत्मज्ञानी गुरु एवं ईश्वर की परिभाषा है जो अन्तरात्मा की (भूख-प्यास, सुख-दु:ख, जन्म-मृत्यु) आदि रहित आत्मा को जान लेता है, अनुभव कर लेता है, उन्हें ही ज्ञानी, गुरु और ईश्वर समझना चाहिये। अर्थात् ईश्वर ही गुरु के रूप में अज्ञानियों के कल्याणार्थ उपदेश करते हैं। जैसे कि श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है- **''उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः। परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः।।** (गी. 13. 22), **''मां विद्धि बृहस्पतिम्''**(गी.-10.24), **''मुनीनामप्यहं व्यासः''**(गी. 10.37)।

26- अथैवमखिललोकपालललामोऽपि विलक्षणै-
र्जडवदवधूतवेषभाषाचरितैरविलक्षितः।
भगवत्प्रभावो योगिनां साम्परायविधि-
मनुशिक्षयन् स्वकलेवरं जिहासुरात्मन्यात्मानम्।।
असंव्यहितमनर्थान्तरभावेनान्वीक्षमाण उपरतानुवृत्ति-
रुपरराम तस्य ह वा एवं मुक्तलिङ्गस्य भागवत।। 5.6.6/7।।

इसी से भगवान् ऋषभदेव यद्यपि इन्द्रादि सभी लोकपालों के भी भूषण स्वरूप थे, तो भी वे जड़पुरुषों की भाँति अवधूतों के से विविध वेष, भाषा और आचरणों से अपने ईश्वरीय प्रभाव को छिपा कर रहते थे। अन्त में उन्होंने योगियों का देह त्याग की विधि सिखाने के लिये अपना शरीर छोड़ना चाहा। वे अपने अन्तःकरण में अभेदरूप से स्थित परमात्मा को अभिन्नरूप से देखते हुए वासनाओं की अनुवृत्ति से छूटकर लिंगदेह के अभिमान से जीवभाव से भी मुक्त होकर उपराम हो गये।

तात्पर्य अर्थ-

जीवन-मुक्त पुरुष आत्मानुभव के पश्चात् उनका सम्पूर्ण व्यवहार **''लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्''** (ब्र.सू. 2.1.33) हो जाता है अथवा उन्मत्तवत् पागलों की तरह व्यवहार होता है वह अपने ज्ञान एवं स्थिति का परिचय नहीं देते। क्योंकि उन्हें अपना

मान-सम्मान की (लोकेषणा) की वासना नहीं है। उनका व्यवहार (प्रवृत्ति) अनपेक्षित केवल प्रारब्धानुसार जब तक प्रारब्ध शेष है, तब तक होता है। स्वचालित यन्त्रवत् शरीर, मन, वाणी आदि का व्यवहार होता है।

27- एतावानेव मनुजैर्योगनैपुण्यबुद्धिभिः।
स्वार्थः सर्वात्मना ज्ञेयो यत्परात्मैकदर्शनम्।। 6.16.63।।

जो लोग योगमार्ग से तत्त्व समझने में निपुण हैं, उनको भली-भाँति समझ लेना चाहिये कि जीव का सबसे बड़ा स्वार्थ और परमार्थ केवल इतना ही है कि वह ब्रह्म और आत्मा की एकता का अनुभव कर ले।

तात्पर्य अर्थ-

योग साधना परायण, शान्तिप्रिय साधनों का परम कर्तव्य बनता है कि जीवात्मा और परमात्मा (परब्रह्म) के भिन्न-भिन्न दृष्टि से न ग्रहण करके **'एकमेव अद्वितीयं'** (छा. 6.2.1) की भावना अपने मन में, बुद्धि में दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिये क्योंकि तत्त्वज्ञानियों का महावाक्य है **''ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः''** (वेदान्तडिण्डिमः 67) अर्थात् घट-मृतिका, पट-तन्तु और नदी-समुद्र आदि भिन्न-भिन्न दो वस्तु नहीं, एक होते हुए भी नाम रूप उपाधि के कारण दो की भाँति देखने में आ रही है। वास्तव में तो एक ही है। **''स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृतिकेत्येव सत्यम्।''** (छा.6.1.4)।

28- नाभिनन्देद् ध्रुवं मृत्यमध्रुवं वास्य जीवितम्।
कालं परं प्रतीक्षेत भूतानां प्रभवाप्ययम्।। 7.13.6।।

29- नासच्छास्त्रेषु सज्जेत नोपजीवेत जीविकाम्।
वादवादांस्त्यजेत् तर्कान्पक्षं कञ्च न संश्रयेत्।। 7.13.7।।

30- न शिष्याननुबध्नीत ग्रन्थान्नैवाभ्यसेद् बहून्।
न व्याख्यामुपयुञ्जीत नारम्भानारभेत् क्वचित्।। 7.13.8।।

न तो शरीर की अवश्य होने वाली मृत्यु का अभिनन्दन करे और न अनिश्चित जीवन का। केवल समस्त प्राणियों की उत्पत्ति और नाश के कारण काल की प्रतीक्षा करता रहे। असत्य-अनात्म वस्तु का प्रतिपादन करने वाले शास्त्रों से प्रीति न करें। अपने जीवन निर्वाह के लिये जीविका न करें (सुखपूर्वक जीने के लिये किसी प्रकार के व्यवसाय (धन्धा उद्योग) आदि न करें। केवल वाद-विवाद के लिये कोई तर्क न करें और संसार में किसी का पक्ष न करें (लें) और शिष्य मण्डली न जुटावें, बहुत से ग्रन्थों का अभ्यास न करें, व्याख्यान न दें और बड़े-छोटे कामों का आरम्भ न करें।

तात्पर्य अर्थ-

सर्वात्मभाव को प्राप्त साधक (जीवन्मुक्त) के लिये समस्त व्यवहारों का अन्त हो जाता है। अर्थात् उनके लिये कोई भी कर्तव्य कर्म (कार्य) करने के लिये शेष नहीं रह जाते। उस गुणातीत अवस्था में आत्मचिंतन करना भी शेष नहीं रह जाता। क्योंकि आत्मचिन्तन के लिये गुणमय मन-बुद्धि आदि साधनों की आवश्यकता और प्राणों की आवश्यकता होगी, तभी चिन्तन क्रिया हो सकती है। यहाँ तो सबके सब आत्मरूप हो गया है, "**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**" (छा. 3.14.1), "**आत्मारामो भवति**" (त्रि.म.ना-1.5), "**आत्मरतिः**" (बा.-7.25.2) कहा है छान्दोग्य श्रुति में और "**नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता नान्योऽतोऽस्ति विज्ञातैष त आत्मा**" (बृ.-3.8.11), "**यत्र त्वस्य सर्वात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं मन्वीत तत्केन कं विजानीयाद्येनेदं सर्वं विजानाति।**" (बृ.उ. 4.5.15)

31- न यतेराश्रमः प्रायो धर्मसेतुर्महात्मनः।
शान्तस्य समचित्तस्य बिभृयादुत वा त्यजेत्।। 7.13.9।।

32- अव्यक्तलिङ्गो व्यक्तार्थो मनीष्युन्मत्तबालवत्।
कविर्मूकवदात्मानं स दृष्ट्या दर्शयेन्नृणाम्।। 7.13.10।।

शान्त समदर्शी एवं महात्मा, संन्यासी के लिये किसी आश्रम के नियमादि धर्म का कारण नहीं बन सकता। वह अपने आश्रम के चिन्हों को धारण करे, चाहे न करें। उसके पास कोई आश्रम का चिन्ह न हो, परन्तु वह आत्मानुसंधान में मग्न हो। हो तो अत्यन्त विचारशील, परन्तु जान पड़े पागल और बालक की तरह। वह अत्यन्त प्रतिभाशाली होने पर भी साधारण मनुष्यों की दृष्टि से ऐसा जान पड़े मानो कोई गूँगा है।

तात्पर्य अर्थ-

कुछेक महात्मा होकर के भी लोक कल्याण के नाम से आश्रम, शिष्य-शिष्या तथा धर्म प्रचार आदि ही को प्रधानता देकर देश-विदेशों में अपना व्याख्यान का गगनचुम्बी शिखर खड़ा कर देते हैं। अर्थात् अपनी आकांक्षाओं की अपनी आन्तरिक भोग वासनाओं की तृप्ति करने में लगे रहते हैं। जबकि संन्यासियों के लिये सर्वथा वर्जित है। भगवान् वासुदेव का कहना है- "**प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्, आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते**" (2,.55) "**मोक्षमिच्छन्सदा कर्म त्यजेदेव ससाधनम्। त्यजतैव हितज्ज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक्परं पदम्।।**" (पञ्चदशी) और विवेक चूड़ामणि में आया है "**मोक्षस्य काङ्क्षा यदि वै तवास्ति, त्यजातिदूराद्विषयान् विषं यथा।**" अर्थात् हे पृथानन्दन! जिस काल में साधक अपने मन में आयीं सम्पूर्ण

कामनाओं का भली-भाँति त्याग कर देता है, उस काल में वह स्थिर बुद्धि वाला कहा जाता है। ज्ञान में स्थित कहा जाता है। यदि तुझे मोक्ष की इच्छा है, तो विषयों को विष के समान दूर से ही त्याग दो।

33- अत्रापि दम्पतीनां च सुखायान्यापनुत्तये।
कर्माणि कुर्वतां दृष्ट्वा निवृत्तोऽस्मि विपर्ययम्।। 7.13.25।।

यद्यपि यह देखने को मिलता है कि संसार के स्त्री-पुरुष कर्म तो करते हैं सुख प्राप्ति औद दु:ख की निवृत्ति के लिये तथापि उसका फल उल्टा ही होता है, वे और अधिक दु:ख में पड़ जाते हैं। इसलिये मैं कर्मों से उपरत हो गया हूँ।

तात्पर्य अर्थ-

ज्ञानी और अज्ञानी में अन्तर उसी प्रकार है जैसे दिन तथा रात्रि में। क्योंकि अज्ञानियों की कामनाओं की आकांक्षाओं की सीमा नहीं है, तथा दूसरी तरफ ज्ञानियों के मन में किसी प्रकार की कामना होती ही नहीं, सदा-सर्वदा निष्काम भाव में जीवन यापन करते हैं। **''निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मानित्या विनिवृत्तकामाः। द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसञ्ज्ञैर्गच्छन्त्यमूढ़ाः पदमव्ययं तत्।'', ''निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति।''** (गी.15.5/2.71) कहा है। ज्ञानियों का समस्त व्यवहार प्रारब्धानुसार स्वयमेव होता है। वैसे विचार करके देखा जाये तो प्राणियों का व्यवहार अपने-अपने प्रारब्ध कर्मानुसार स्वत: हो रहा है किन्तु ज्ञानी जानते हैं इस रहस्य को और अज्ञानी नहीं जानते, वे मानते हैं, मैंने यह किया और यह करुँगा तो मुझे परिणामस्वरूप सुख-शान्ति मिलेगी, किन्तु कर्मों का फल विपरीत होने से अज्ञानी दु:खी होकर जीवन भर रोते-रोते ही व्यतीत करते हैं तो दूसरी ओर ज्ञानी ब्रह्मानन्द से सदैव आनन्दित रहते हैं।

34- सुखमस्यात्मनो रूपं सर्वेहोपरतिस्तनुः।
मनः संस्पर्शजान् दृष्ट्वा भोगान्स्वप्स्यामि संविशन्।। 7.13.26।।

सुख ही आत्मा का स्वरूप है। समस्त चेष्टाओं की निवृत्ति ही उसका शरीर है उसके प्रकाशित होने का स्थान है। इसलिये समस्त भोगों को मनोराज्य समझकर मैं अपने प्रारब्ध को भोगता हुआ पड़ा रहता हूँ।

तात्पर्य अर्थ-

आत्मा का स्वरूप गुणातीत एवं सुखस्वरूप है, निष्क्रिय है, ऐसा ज्ञान हो जाने के बाद समस्त चेष्टाओं को मन: कल्पित है, ऐसा जानकर ज्ञानी (जीवन्मुक्त) पुरुष अपने प्रारब्ध कर्मों को भोगकर समाप्त कर देते हैं और संचित कर्मों की बीजवासनाये तो ज्ञानाग्नि के द्वारा दग्ध होकर नष्ट हो जाते हैं तथा नवीनतम कर्मों को वे करते ही नहीं

अथवा अकर्ता होने से (कर्तृत्व अभाव में) कर्मों का होना असम्भव है। इसका परिणामस्वरूप शास्त्रों में विदेह कैवल्य स्थिति की प्राप्ति कहा गया है।

35- क्वचिदल्पं क्वचिद् भूरि भुञ्जेऽन्नं स्वाद्वस्वादु वा।
क्वचिद् भूरिगुणोपेतं गुणहीनमुत क्वचित्।। 7.13.37।।

36- श्रद्धयोपहृतं क्वापि कदाचिन्मानवर्जितम्।
भुञ्जे भुक्तवाथ कस्मिंश्चिद् दिवा नक्तं यदृच्छया।। 7.13.38।।

कभी थोड़ा अन्न खा लेता हूँ, तो कभी बहुत, कभी स्वादिष्ट तो कभी नीरस, स्वादरहित और कभी अनेकों गुणों से युक्त, तो कभी सर्वथा गुणहीन, कभी बड़ी श्रद्धा से प्राप्त हुआ अन्न ग्रहण करता हूँ तो कभी अपमान के साथ। और किसी-किसी समय अपने आप ही मिल जाने पर कभी दिन में, कभी रात में और कभी एक बार भोजन करके भी दुबारा कर लेता हूँ।

37- क्षौमं दुकूलमजिनं चीरं वल्कमेव वा।
वसेऽन्यदपि सम्प्राप्तं दिष्टभुक्तुष्टधीरहम्।। 7.13.39।।

38- क्वचिच्छये धरोपस्थे तृणपर्णाश्मभस्मसु।
क्वचित् प्रासादपर्यङ्के कशिपौ वा परेच्छया।। 7.13.40।।

मैं अपने प्रारब्ध के भोग में ही सन्तुष्ट रहता हूँ। इसलिये मुझे रेशमी या सूती, मृगचर्म या चीर, वल्कल या ओर कुछ जैसे ही वस्त्र मिल जाता है, वैसा ही पहन लेता हूँ। कभी मैं पृथ्वी, घास-पत्ते, पत्थर या राख के ढेर पर ही पड़ा रहता हूँ तो कभी दूसरों की इच्छा से महलों में, पलंगों और गद्दों पर सो लेता हूँ।

तात्पर्य अर्थ-

जीवन्मुक्त परमहंस ज्ञानियों का यही उत्कृष्ट लक्षण है कि मान-सम्मानों, अपमानों से रहित होकर जो कुछ प्रारब्धानुसार मिल जाये उस अन्न को, उस वस्त्र आदि को ग्रहण कर प्रसन्नतापूर्वक जीवन निर्वाह कर ले। सर्व गुणों से युक्त होते हुए भी एक सामान्य मनुष्यों की तरह रह लेगा। सोने, जगने, उठने-बैठने आदि में कोई नियम न रखे इत्यादि।

39- नाहं निन्दे ना च स्तौमि स्वभावविषमं जनम्।
एतेषां श्रेय आशासे उतैकात्म्यं महात्मनि।। 7.13.42।।

40- विकल्पं जुहूयाच्चित्तौ तां मनस्यर्थविभ्रमे।
मनो वैकारिके हुत्वा तन्मायायां जुहोत्यनु।। 7.13.43।।

मनुष्यों के स्वभाव भिन्न-भिन्न होते ही हैं अत: न तो मैं किसी की निन्दा करता हूँ और न स्तुति ही। मैं केवल इनका परम कल्याण और परमात्मा से एकता चाहता हूँ।

सत्य का अनुसंधान करने वाले मनुष्य को चाहिये कि जो नाना प्रकार के पदार्थ और उनके भेद-विभेद मालूम पड़ रहे हैं, उनको चित्तवृत्ति में हवन कर दे। चित्तवृत्ति को इन पदार्थों के सम्बन्ध में विविध भ्रम उत्पन्न करने वाले मन में, मन का सात्त्विक अहंकार में और सात्त्विक अहंकार को महत्तत्त्व के द्वारा माया में हवन कर दें। इस प्रकार ये सब भेद-विभेद और उनका कारण माया ही है, ऐसा निश्चय करके फिर उस माया को आत्मानुभूति में स्वाहा कर दें। इस प्रकार आत्मसाक्षात्कार के द्वारा आत्मस्वरूप में स्थित होकर निष्क्रिय एवं उपरत हो जाये।

तात्पर्य अर्थ-

ज्ञानियों का, मुक्त जीवन का लक्षण यह भी है- जो निन्दा-स्तुति, मान-अपमान करने वाले मलिन बुद्धि से युक्त मनुष्य पर भी कल्याण की ही मन में भावना रखते हैं, अत: मोक्षार्थी साधक इस दृश्यमान कारण-कार्यमय जगत को स्वस्वरूप से भिन्न करके न देखे, न व्यवहार करें। ऐसा करने से अहं मम की वृत्ति बनना बंद हो जाएगी। तत्पश्चात् आत्मसाक्षात्कार की पुनरावृत्ति अभ्यास में लग जाये, आत्मसाक्षात्कार हो जाने पर उस अभ्यास काल की वृत्ति को भी आत्मा में स्वस्वरूप में लीन कर दें और निरिन्धन अग्नि के समान परम शांति को प्राप्त हो जाये। यह ही मुमुक्षु साधकों का परम चरम लक्ष्य है।

41- धर्मार्थमपि नेहेत यात्रार्थं वाधनो धनम्।
अनीहानीहमानस्य महाहेरिव वृत्तिदा।। 7.15.15।।

मुमुक्षु साधक निर्धन होने पर भी धर्म के लिए अथवा शरीर निर्वाह के लिए धन प्राप्त करने की चेष्टा न करें क्योंकि जैसे बिना किसी प्रकार की चेष्टा किये अजगर की जीविका चलती है, वैसे ही निवृत्ति परायण पुरुष की निवृत्ति ही उसकी जीविका को निर्वाह कर देती है।

तात्पर्य अर्थ-

तत्त्वज्ञानी पुरुष लोक कल्याणार्थ जीवन निर्वाहार्थ अथवा धर्म के आश्रय लेकर धनार्जन करने की चेष्टा नहीं करते क्योंकि वे जानते है कि मायामय धन साधकों के लिए महापाप का स्वरूप है। जन्म-मृत्यु का मूर्तिमान् रूप है। जीवन का निर्वाह तो प्रारब्धानुसार समस्त प्राणिमात्र का चल ही रहा है, चाहे वह प्रयत्न करे अथवा न करे। यथा एक स्थान पर रहने वाले अजगर का बिना प्रयत्न किये जीवन चल जाता है। इसी को भगवद्गीता में संकेत किया- "**सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्यास्ते सुखं वशि**" (गी.-5.13) इससे सिद्ध होता है कि बिना यत्न के भी जीवन यापन हो सकता है।

42- स्वयं समुत्तीर्य सुदुस्तरं द्युमन्, भवार्णवं भीममदभ्रसौहृदाः।

भवत्पदाम्भोरुहनावमत्र ते, निधाय याताः सदनुग्रहो भवान्।। 10.2.31।।

हे परम प्रकाशस्वरूप परमात्मन्! आपके भक्तजन सारे जगत के निष्कपट प्रेमी सच्चे हितैषी होते हैं। वे स्वयं तो इस भयंकर और कष्ट से पार करने योग्य संसार सागर को पार कर ही जाते हैं किन्तु अवरों के कल्याण के लिए भी यहाँ आपके चरणकमलों की नौका स्थापित कर जाते हैं। वास्तव में सत्पुरुषों पर आपकी महान् कृपा है। उनके लिए आप अनुग्रह स्वरूप ही हैं।

तात्पर्य अर्थ-

स्वस्वरूप में स्थित ज्ञानी जनों के मन में वाणी में अत्यधिक पवित्र एवं सत्यसंकल्पी बहुजन हितैषी होते हैं। ऐसे आत्मज्ञानी जन इस दुस्तर संसार सागर से स्वयं जन्म-मृत्यु रूप भवबंधनों से सदा-सर्वदा के लिए मुक्त तो होते ही हैं और दूसरों के लिए भी उनके द्वारा किये गये उपदेश एवं जीवनचर्या नौका के समान कृतार्थ करने में निःसंदेह पूर्णरूपेण सक्षम है।

43- न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं, न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम्।

न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा, वाञ्छन्ति यत्पादरजःप्रपन्नाः।। 10.16.37।।

हे प्रभो! जो आपके चरणकमलों की धूली की शरण ले लेता है, वह भक्तजन स्वर्ग का, राज्य का या पृथ्वी की बादशाही नहीं चाहते, न वे रसातल का ही राज्य चाहते हैं और न ब्रह्मा का पद ही लेना चाहते हैं। उन्हें अणिमादि योग सिद्धियों की भी चाह नहीं होती। यहाँ तक कि वे जन्म-मृत्यु से छुड़ाने वाले कैवल्य मोक्ष की इच्छा भी नहीं करते।

तात्पर्य अर्थ-

मुमुक्षु साधक जन आत्मतत्त्व का अपरोक्ष रूप से साक्षात्कार कर लेते हैं, तब वह तीन लोकों का राज्य व ऐश्वर्य की इच्छा नहीं करते ओर न तो पद प्रतिष्ठा ही चाहते हैं फिर इस संसार की तो बात ही क्या। विदेह कैवल्य मुक्ति पद भी नहीं चाहते क्योंकि आत्मा अजन्मा, अविनाशी शाश्वत, अखण्ड एकरस एवं मोक्ष स्वरूप स्वाभाविक है। फिर किससे, किसके लिये और किसकी कामना करें? **''नेह नानास्तिकिञ्चन''** (बृ.4.4.19), **''ब्रह्मैव सर्वम्''** (छा.7.25.2), **''जीवन्नेव सदा मुक्तम् कृतार्थो ब्रह्मवित्तमः। उपाधिनाशाद् ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति निर्द्वयम्।''** (आत्मोपनिषद्-20)

44- गिरयो वर्षधाराभिर्हन्यमाना न विव्यथुः।

अभिभूयमाना व्यसनैर्यथाऽधोक्षजचेतसः।। 10.20.15।।

जैसे मूसलाधार वर्षा की चोट खाते रहने पर भी पर्वतों को कोई व्यथा नहीं होती है वैसे ही दु:खों की भरमार होने पर भी उन पुरुषों को भी किसी प्रकार की व्यथा नहीं होती जिन्होंने अपना चित्त भगवान् को समर्पित कर रखा है।

तात्पर्य अर्थ-

सुख-दु:ख, भूख-प्यास, जन्म-मरण, शोक-मोह, चिन्ता, मान, अपमान आधि-व्याधि से रहित आत्मतत्त्व को साक्षात् अपरोक्ष अनुभव करके वृत्ति शून्य हो गये हैं उन साधकों के लिए आत्मा से भिन्न दूसरा कुछ है ही नहीं। फिर शारीरिक, मानसिक आदि दु:ख क्या बिगाड़ सकता है। "**आत्मन्येवात्मानं पश्यति सर्वमात्मानं पश्यति नैनं पाप्मा तरति सर्वं पाप्मानं तरति नैनं पाप्मा तपति सर्वं पाप्मनं तपति।**" (बृ.उ. 5.4.23।। अर्थात् आत्मा में ही आत्मा को देखता है। सभी को आत्मा देखता है उसे धर्म अधर्म रूप पापों का समूह भी स्पर्श नहीं करते। वह सम्पूर्ण पापों को पार कर जाता है।

45- तुल्यश्रुततप:शीलास्तुल्यस्वीयारिमध्यमा:।
अपि चक्रु: प्रवचनमेकं शुश्रूषवोऽपरे।। 10.87.11।।

सनक, सनन्दन, सनातन, सनतकुमार ये चारों भाई शास्त्रीयज्ञान, तपस्या और शील स्वभाव में समान हैं। उन लोगों की दृष्टि में शत्रु-मित्र और उदासीन एक से हैं फिर भी उन्होंने अपने में से सनन्दन को वक्ता बनाकर और शेष भाई सुनने के लिए जिज्ञासु बनकर बैठ गये।

तात्पर्य अर्थ-

यद्यपि जीवन मुक्त पुरुषों को कुछ भी करने कराने की आवश्यकता नहीं है। फिर भी लोक कल्याणार्थ लोगों की दृष्टि में देखने में आता है कि उपदेश (प्रवचन) कर रहे हैं। सुखी-दु:खी भी होते हैं, खाना-पानी, उठना-बैठना आदि व्यवहार तो सब होता ही है फिर जीवनमुक्त कैसे माना जाये? ऐसे संसारी मनुष्यों के मन में संशय उत्पन्न होना स्वाभाविक है किन्तु मेरे प्यारे भाईयों ज्ञानियों-अज्ञानियों के व्यवहार में उतना ही अन्तर है जितना प्रकाश और अंधकार में, दिन-रात्रि में। ज्ञानी-अज्ञानी का लक्षण करते हुए गीता में कहा है- "**या निशा सर्वभूतानां तस्यां जाग्रति संयमी यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुने:।।**" 2.69।। अर्थात् सम्पूर्ण प्राणियों की जो रात (परमात्मा से विमुखता) है उसमें ज्ञानी (संयमी) मनुष्य जागता है और जिसमें सब प्राणी जागते हैं (भोग और संग्रह में लगे रहते हैं) वह आत्मत्त्व को जाननेवाले ज्ञानियों की दृष्टि में रात्रि है। उपनिषद् में ज्ञानी-अज्ञानी का स्पष्ट भेद किया है। "**यस्त्वविज्ञानावान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा। तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव**

सारथेः।। यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः।।'' क.उ. 1. 3.5/6।। अर्थात् जो सर्वदा अकुशल (प्रवृत्ति-निवृत्ति) के विवेक से रहित है और जो संयत चित्त से युक्त है उसके अधीन इन्द्रियाँ उसी प्रकार नहीं रहती, जैसे कुशल सारथी के अधीन दुष्ट घोड़े नहीं रहते किन्तु जो कुशल और सदा नियंत्रित मन से युक्त होता है, उसके अधीन इन्द्रियाँ इस प्रकार रहती हैं, जैसे कुशल सारथी के अधीन अच्छे घोड़े (काबू में रहते) हैं अथवा निर्विषयात्मतत्त्व स्वरूप का ज्ञान परोक्ष रूप से ही लोगों को कराया जा सकता है और वह भी आत्मतत्त्व में प्रतिष्ठित ज्ञानी जीवन्मुक्त पुरुषों के द्वारा ही सम्भव है।

46- त्वदवगामी न वेत्ति भवदुत्थशुभाशुभयो
र्गुणविगुणान्वयांस्तर्हि देहभृतां च गिरः।
अनुयुगमन्वहं सगुण गीतपरम्परया,
श्रवणभृतो यतस्त्वमपवर्गगतिर्मनुजैः।। 10.87.40।।

हे भगवन्! आपके वास्तविक स्वरूप को जानने वाला पुरुष आपके दिये हुए पुण्य और पाप कर्मों के फल, सुख एवं दुःख को नहीं जानता (नहीं भोगता) वह भोग्य और भोक्तापने के भाव से ऊपर उठ जाता है, उस समय विधि-विशेष के प्रतिपादक शास्त्र भी उससे निवृत्त हो जाते हैं क्योंकि वे देहाभिमानियों के लिए है। उनकी ओर तो उनका ध्यान ही नहीं जाता, जिसे आपके स्वरूप का ज्ञान नहीं हुआ है, वह भी यदि प्रतिदिन आपकी प्रत्येक युग में की हुई लीलाओं, गुणों के गान श्रवण करने से उनके द्वारा आपको अपने हृदय में बैठा लेता है तो हे अनन्त! अचिंत्य दिव्य गुणों के निवास स्थान प्रभो! आपका वह प्रेमी भक्त भी पाप पुण्यों के फल दुःख-सुख और विधि विशेषों से अतीत हो जाता है। क्योंकि आप ही उनकी मोक्ष स्वरूप गति हैं।

तात्पर्य अर्थ-

कर्ता-भोक्ता, जन्म-मरण, भूख-प्यास, सुख-दुःखादि ज्ञान से आवृत्त अज्ञानियों के लिए अथवा अज्ञानी में है, न कि आत्मतत्त्व के ज्ञानियों में, शास्त्रों का विधि-निषेध नियम भी अज्ञानियों के लिए ही हैं। जो ज्ञानी सर्वात्म भाव को प्राप्त हो जाते हैं, अहं ब्रह्मास्मि में बुद्धि वृत्ति स्थिर हो गई है उन महापुरुषों के प्रति श्रुतियाँ भी नेति-नेति कहकर मौन हो जाती हैं। अर्थात् आत्मतत्त्व तो मन, वाणी, बुद्धि एवं शास्त्रों की पहुँच से बाहर है। जो कोई भी मुमुक्षु साधक इन्द्रियसंयमी होकर विषयों की वासनाओं से विरत हो गये हैं और आत्मचिंतन निदिध्यासन में प्रवृत्त होकर मनोवृत्ति को परेशान कर दिये हैं वह अपना चरम लक्ष्य परमानन्द को नित्य प्राप्त किये हुए है, इसमें संशय की कोई गुंजाइस नहीं हैं।

47- कविर्हरिरन्तरिक्षः प्रबुद्धः पिप्पलायनः।

आविर्होत्रोऽथ द्रुमिलश्चमसः करभाजनः।। 11.2.21।।

48- त एते भगवद्रूपं विश्वं सदसदात्मकम्।

आत्मनोऽव्यतिरेकेण पश्यन्तो व्यचरन् महीम्।। 11.2.22।।

49- अव्याहतेष्टगतयः सुरसिद्धसाध्य,

गन्धर्वयक्षनरकिन्नरनागलोकान्।

मुक्ताश्चरन्ति मुनिचारण भूतनाथ,

विद्याधरद्विजगवां भुवानानि कामम्।। 11.2.23।।

जीवन्मुक्तों में नव ऋषियों का नाम प्रसिद्ध है- कवि, हरि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस और करभाजन। वे इस कार्य कारण और व्यक्त-अव्यक्त भगवद्रूप जगत् को अपने आत्मा से अभिन्न अनुभव करते हुए पृथ्वी पर स्वच्छन्द विचरण करते थे। उनके लिये कहीं भी रोक-टोक नहीं थी। वे जहाँ चाहते, वहाँ चले जाते। देवता, सिद्ध साध्य, गन्धर्व, यक्ष, मनुष्य, किन्नर और नागों के लोक में तथा मुनिचारण, भूतनाथ, विद्याधर, ब्राह्मण और गोओं के स्थान में स्वच्छन्द विचरते थे।

तात्पर्य अर्थ-

आत्मज्ञानी जीवन्मुक्त पुरुष के लिए कार्य कारण, व्यक्त-अव्यक्त, प्रपंच जगत् स्वप्नवत् असत्य हो जाने पर सर्वव्यापक परिपूर्ण ब्रह्म ही शेष रह जाता है और उसी का निरंतर अनुभव करते हुए स्वच्छन्द रूप से धराधाम पर विचरण करते हैं। उनके विचरण में किसी प्रकार के प्रतिबन्धक नहीं हो सकता, वो जहाँ जाये अथवा रहे। जीवन्मुक्त पुरुष की दृष्टि में जगत् तीनों कालों में ही नहीं, फिर व्यवहार की सिद्धि ही कैसे हो सकती है (आत्माअज्ञानता में ही जगत् की सिद्धि है और व्यवहार भी है)। सिद्ध पुरुषों का व्यवहार लोकाचार आत्मतत्त्वनिष्ठ ज्ञानियों का मन, वाणी एवं शरीर के द्वारा प्रवृत्त व्यवहार प्रारब्धानुसार स्वाभाविक (अनपेक्षित)है। यथा वायु के वेग से धूलीकणों में गति।

50- सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।

भूतानि भवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः।। 11.2.45।।

हे राजन्! आत्मस्वरूप भगवन्! समस्त प्राणियों में आत्मरूप से नियंता रूप से स्थित और कहीं भी न्यूनाधिकता न देखकर सर्वत्र परिपूर्ण भगवत्ता को ही देखता है तथा साथ ही समस्त प्राणी पदार्थों को आत्मरूप भगवान् में ही आधेय रूप से अथवा अध्यस्त

रूप से स्थित है अर्थात वास्तव में चराचर जगत् भगवद्रूप ही है। इस प्रकार का जिसका अनुभव है ऐसी जिसकी सिद्ध दृष्टि है उसे भगवान् का परम प्रेमी, उत्तम भागवत समझना चाहिये।

तात्पर्य अर्थ-

उत्तम कोटि के ज्ञानी भक्तों का लक्षण है जिनकी मनोवृत्ति चराचर विश्व में एक आत्मा ही ओतप्रोत है ऐसे समभाव से ग्रहण करती है क्योंकि आत्मसत्ता से ही सम्पूर्ण जगत् मंगलमय प्रियमय आत्मिक रूप से अनुभव हो रहा है ''**सर्वं कान्तमात्मीयं।**'' साथ ही अभिन्न आत्मारूप ही अनुभव करते हैं अथवा सम्पूर्ण जगत् स्वस्वरूप में ही परमात्मा में ही अध्यस्त ऐसा ग्रहण करती है।

51- गृहीत्वापीन्द्रियैरर्थान् यो न द्वेष्टि न हृष्यति।
विष्णोर्मायामिदं पश्यन् स वै भागवतोत्तमः।। 11.2.48।।

जो श्रोत्र-नेत्रादि इन्द्रियों के द्वारा शब्द-रूपादि विषयों का ग्रहण तो करता है परन्तु अपनी इच्छा के प्रतिकूल विषयों से द्वेष नहीं करता और अनुकूल विषयों की प्राप्ति से हर्षित नहीं होता, उसकी यह दृष्टि बनी रहती है कि यह सब हमारे भगवान् की माया है। वह पुरुष उत्तम भागवत है।

तात्पर्य अर्थ-

ज्ञानियों में सर्वश्रेष्ठ उन्हीं को समझना चाहिये जो प्रारब्धानुसार प्रतिकूलता, अनुकूलता रूप सुख-दु:ख, हानि-लाभ, मान-अपमानादि में भी एकरस वृत्ति बनाये रक्खें रहते हैं अर्थात् मन और इन्द्रियों में हर्ष-शोक आदि की भावना उत्पन्न होने न दें और प्रारब्ध, काल, ईश्वर आदि के प्रति रागद्वेष की भी भावना मन में उत्पन्न होने न दें। बल्कि उस अनुकूलता आदि को प्रकृति की विलास के रूप में दृष्टिपात करें। ''**तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः। गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते।।**'' (गी.3.28)।

52- देहेन्द्रियप्राणमनो धियां यो, जन्माप्ययक्षुद्भयतर्षकृच्छ्रैः।
संसारधर्मैरविमुह्यमानः स्मृत्या हरेर्भागवतप्रधानः।। 11.2.49।।

53- न कामकर्मबीजानां यस्य चेतसि सम्भवः।
वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः।। 11.2.50।।

संसार के धर्म है, जन्म-मृत्यु, भूख-प्यास, श्रम-कष्ट, भय और तृष्णा। ये क्रमशः शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धि को प्राप्त होते हैं। जो पुरुष भगवान् की स्मृति में इतना तन्मय रहता है कि इसके बार-बार होते -जाते रहने पर भी मोहित नहीं होता,

पराभूत नहीं होता, वह उत्तम भागवत है। जिसके मन में विषय-भोग की इच्छा, कर्म-प्रवृत्ति और उनके बीज-वासनाओं का उदय नहीं होता और जो एकमात्र भगवान् वासुदेव में ही निवास करता है, वह उत्तम भागवत है।

तात्पर्य अर्थ-

शरीर, प्राण, मन और इन्द्रियों के और उनके गुण-धर्मों के बहती प्रवाह के साथ-साथ प्रवाहित हो जाना, अज्ञानता की पराकाष्ठा है और उसके विपरीत जो प्रवाहित न होकर, बल्कि अपने मनोवृत्ति को स्वस्वरूप में स्थिर करने का प्रयत्न करते हैं और यह भी जानते हैं कि यह प्रकृति का स्वभाव है। ऐसा ज्ञान उनके जन्म-जन्मान्तरों की कर्म-बीज वासनाओं को ज्ञानाग्नि के द्वारा दग्धीभूत कर देता है और सर्वात्मभाव में स्थित करा देता है या स्थित हो गये हैं, वह अपने मानवजीवन को सफल बना लिया है, सदा सर्वदा के लिये संसार बन्धनरूप जन्म-मृत्यु से विनिर्मुक्त हो गया है।

54- न यस्य जन्मकर्मभ्यां न वर्णाश्रमजातिभिः।
सज्जतेऽस्मिन्नहंभावो देहे वै स हरेः प्रियः।। 11.2.51।।

55- न यस्य स्वः परः इति वित्तेष्णात्मनि वा भिदा।
सर्वभूतसमः शान्तः स वै भागवतोत्तमः।। 11.2.52।।

जिसका इस शरीर में न तो सत्कुल में जन्म तपस्यादि कर्म से तथा न वर्ण-आश्रम एवं जाति से ही अहंभाव होता है, वह निश्चय ही भगवान् का प्यारा है। जो धन-सम्पत्ति अथवा शरीर आदि में, यह अपना है और यह पराया, इस प्रकार का भेदभाव नहीं करता, समस्त पदार्थों में समरूप से परमात्मा को देखता हे, समभव रखता है तथा किसी भी घटना अथवा संकल्प से विक्षिप्त न होकर शान्त रहता है, वह भगवान् का उत्तम भक्त है।

तात्पर्य अर्थ-

जो आत्मतत्त्वरूपी ज्ञानी है, वे समस्त प्राणी पदार्थों में समदृष्टि रखने से (हो जाने से) जाति, वर्णाश्रम, विद्या, धन-सम्पत्ति और परिवार आदि में अपना पराये का भेद स्वतः समाप्त हो जाता है क्योंकि उनके लिये आत्मभिन्न कोई दूसरा प्राणी पदार्थ है नहीं। ''**एकमेव अद्वितीयं ब्रह्म**'' (छा.6.2.1) हो जाता है। ऐसा साधना परायण साधक सर्वोत्तम भागवत है ज्ञानी है।

56- त्रिभुवनविभवहेतवोप्यकुण्ठ, स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात्।
न चलति भगवत्पदारविन्दाल्लवनिमिषाधर्ममपि यः स वैष्णवाग्रयः।।
11.2.53।।

हे राजन्! बड़े-बड़े देवता और ऋषि-मुनि भी अपने अन्तःकरण को भगवन्मय बनाते हुए जिन्हें ढूंढते हैं-भगवान् के ऐसे चरण कमलों से आधेक्षण, आधे पल के लिये भी जो नहीं हटाता, निरन्तर उन चरणों की सन्निधि और सेवा में संलग्न रहता है, यहाँ तक कि कोई स्वयं उसे त्रिभुवन की राज्य लक्ष्मी दे, तो भी वह भगवत् स्मृति का तार नहीं तोड़ता, उस राज्यलक्ष्मी की ओर ध्यान ही नहीं देता वही पुरुष वास्तव में भगवद्भक्त वैष्णवों में अग्रगण्य है, सबसे श्रेष्ठ है।

तात्पर्य अर्थ-

ज्ञानियों में सर्वश्रेष्ठ वही हो सकते हैं, जो तीनों लोकों की चौदहों भुवनों की, अनन्त ब्रह्माण्ड की राज्य एवं पद-प्रतिष्ठा आदि अनायास मिलने पर भी उसे मल-मूत्र की भाँति त्याग दे, उपेक्षा कर दे। क्योंकि जिसको अनन्त सुख-शान्ति एवं अविनाशी सम्पत्ति की प्राप्ति हो गयी, वह दुःख, अशान्ति का मूल कारण एवं क्षणभंगुर, विनाशसील पदार्थों को क्यों चाहेगा, अपनायेगा। वे ज्ञानी तो अपने मन, बुद्धि को एक क्षण के लिये भी परमात्मा से स्वस्वरूप से विचलित या विस्मरण नहीं होने देते, फिर अशाश्वत दुखालय संसार को कैसे अंगीकार कर सकते हैं।

57- ज्ञानविज्ञानसंयुक्त आत्मभूतः शरीरिणाम्।
आत्मानुभवतुष्टात्मा नान्तरायैर्विहन्यसे।। 11.7.10।।

जब वेदों के मुख्य तात्पर्य, निश्चय रूप ज्ञान और अनुभव रूप विज्ञान से भली-भाँति सम्पन्न होकर तुम अपने आत्म के अनुभव में ही आनन्दमग्न रहोगे और सम्पूर्ण देवता आदि शरीरधारियों के आत्मा हो जाओगे, तब किसी भी विघ्न से तुम पीड़ित नहीं हो सकोगे, क्योंकि उन विघ्नों और विघ्न कराने वालों के आत्मा भी तुम्हीं हो।

तात्पर्य अर्थ-

जब मुमुक्षु साधकजन वेदों के शास्त्रों के मुख्योद्देश्य रूप स्वस्वरूप का यथार्थज्ञान और निरन्तर अनुभव रूप विज्ञान से भली-भाँति सम्पन्न हो जाता है, तब अपने आत्मा के (स्वस्वरूप) के अनुभव में ही आनन्दित हो जाने पर उनके लिये विघ्नस्वरूप जगत् शेष रह ही नहीं जाता, फिर विघ्न किसको और कौन करेगा? स्मृति का कहना है- **''निरस्तमायाकृतसर्वभेदं, नित्यं सुखं निष्कलमप्रमेयम्''** अर्थात् माया के द्वारा नाना भेद किया हुआ निरस्त हो जाने पर नित्यसुख, कला (क्रिया) रहित, ज्ञेय पदार्थों से शून्य स्वस्वरूप का अनुभव होता है।

58- दोषबुद्ध्योभयातीतो निषेधान्न निवर्तते।
गुणबुद्ध्या च विहितं न करोति यथार्भकः।। 11.7.11।।

वह पुरुष गुण और दोष बुद्धि से अतीत हो जाता है वह बालक के समान दोष-बुद्धि से निषिद्ध कर्मों से निवृत्त नहीं होता है तथा विहित कर्म का अनुष्ठान भी गुण-बुद्धि से नहीं करता।

तात्पर्य अर्थ-

साधन-चतुष्टय से युक्त साधक अपने साधना में तन्मयता के साथ दीर्घकाल-पर्यन्त लगे रहने से गुणातीत अवस्था को प्राप्त हो जाता है। अर्थात् प्रिय-अप्रिय, हानि-लाभ, इष्ट-अनिष्ट आदि की दृष्टि से उनका व्यवहार नहीं होता, अपितु स्वाभाविक होता है, प्रारब्धवशात् होता है। यथा समयानुसार पेड़-पौधों में फूल-फल लग जाना और झड़ जाना। अथवा सूखी पत्ती, तृणादि हवा की बहाव से उड़कर एक स्थान से दूसरे स्थान पर चली जाती है।

59- सर्वभूतसुहृच्छान्तो ज्ञानविज्ञाननिश्चयः।
पश्यन् मदात्मकं विश्वं न विपद्येत वै पुनः।। 11.7.12।।

जिसने श्रुतियों के तात्पर्य का यथार्थ ज्ञान ही नहीं अपितु उनका साक्षात्कार भी कर लिया है और इस प्रकार जो अटल निश्चय से सम्पन्न हो गया है वह समस्त प्राणियों के हितैषी, सुहृद होता है और उनकी वृत्तियाँ सर्वथा शान्त रहती है। वह समस्त प्रतीयमान विश्व को मेरा ही स्वरूप-आत्मस्वरूप देखता है, इसलिये उसे फिर कभी जन्म-मृत्यु के चक्कर में नहीं पड़ना पड़ता।

तात्पर्य अर्थ-

जो मुमुक्षु-साधक श्रुतियों के निष्कर्ष को समझ कर स्वस्वरूप का साक्षात्कार अनुभव कर लिया है और चित्तवृत्तियों को भी स्वस्वरूप में ही स्थिर कर लिया है, वह चराचर जगत को अपने ही आत्मरूप में देखता है अर्थात् प्राणी मात्र के प्रति सम व्यवहार करता है। **''विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि। शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।।''** गी. 5.12।। **''सर्वभूत्स्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।''** गी. 6.29।। ज्ञानी पुरुष विद्या विनययुक्त ब्राह्मणों में और चाण्डाल में तथा गाय में, हाथी एवं कुत्ते में भी समरूप परमात्मा को देखने वाले होते हैं तथा सब जगह अपने स्वरूप को देखने वाला और ध्यान योग से युक्त अन्तःकरण वाला (सांख्ययोगी) अपने स्वरूप को सम्पूर्ण प्राणियों में स्थित देखता है और सम्पूर्ण प्राणियों को अपने स्वरूप में देखता है। ऐसे साधक जीते जी मुक्त (जीवन्मुक्त) और पश्चात् विदेह कैवल्य पद को प्राप्त होता है।

60- सन्ति मे गुरवो राजन् बहवो बुद्ध्युपाश्रिताः।
यतो बुद्धिमुपादाय मुक्तोऽटामीह ताञ्छृणु।। 11.7.32।।

हे राजन्! मैंने अपनी बुद्धि से बहुत से गुरुओं का आश्रय लिया है, उनसे शिक्षा ग्रहण करके मैं इस जगत् में मुक्त भाव से स्वच्छन्द विचरता हूँ। तुम उन गुरुओं के नाम और उनसे ग्रहण की हुई शिक्षा सुनो।

तात्पर्य अर्थ-

जितने भी शास्त्रों में शिक्षा-उपदेश आये हैं, वह सबके सब चराचर जगत् की ही गाथा (कहानियाँ) हैं, वृतान्त हैं। इस नाना भेदयुक्त जगत् से ही हमारे पूर्वज ऋषि-महर्षियों ने शिक्षा ग्रहण करके विविध शास्त्रों की रचना की है, अपनी अपनी भावनाओं की वाटिका की सृजन की है और मैं मानता हूँ कि आज भी उसी परम्परा का अनुसरण कर रहे हैं और भविष्य में भी यह परम्परा की गति की प्रगति होगी।

61- **पार्थिवेष्विह देहेषु प्रविष्टस्तद्गुणाश्रयः।**
गुणैर्न युज्यते योगी गन्धैर्वायुरिवात्मदृक्।। 11.7.41।।

गन्ध वायु का गुण नहीं, पृथ्वी का गुण है परन्तु वायु को गन्ध का वहन करना पड़ता है। ऐसा करने पर भी वायु शुद्ध ही रहती है, गन्ध से उसका सम्पर्क (दूषित) नहीं होती। वैसे ही साधक का जब तक इस पार्थिव शरीर से सम्बन्ध है, तब तक उसे इसकी व्याधि, पीड़ा और भूख-प्यास आदि का भी वहन करना पड़ता है परन्तु साधक जब अपने को शरीर नहीं, आत्मा के रूप में देखने वाला होता है। तब साधक शरीर और उनके गुणों का आश्रय होने पर भी उनसे सर्वथा निर्लिप्त रहता है।

तात्पर्य अर्थ-

जो साधक स्वस्वरूप का साक्षात्कार कर लिया है, या कर लेता है वह शरीर सम्बन्धी पीड़ा, प्राण सम्बन्धी क्रिया और अन्तःकरण सम्बन्धी सुख-दुःख, हर्ष-शोक तथा आत्मा की जन्म-मृत्यु रूप अज्ञानता आदि को अपने स्वरूप में नहीं देखते, नहीं मानते। बल्कि स्वप्नवत् अनुभव करते हैं। "**नाहं जातो न प्रवृद्धो न नष्टो देहस्योक्ताः प्राकृताः सर्वधर्माः। कर्तृत्वादिश्चिन्मयस्यास्ति नाहंकारस्यैव ह्यात्मनो मे शिवोऽहम्।।**" (निर्वाणदशकम्) अर्थात् आत्मा का न जन्म है, न वृद्धि और न मृत्यु है। यह सब विकार भाव शरीर-बुद्धि में है। कर्तृत्वादि भी अहंकार में है। आत्मा केवल शुद्ध, बुद्ध, मंगल स्वरूप है।

62- **तेजस्वी तपसा दीप्तो दुर्धर्षोदरभाजनः।**
सर्वभक्षोऽपि युक्तात्मा नादत्ते मलमग्निवत्।। 11.7.45।।

63- **क्वचिच्छन्नः क्वचित् स्पष्ट उपास्यः श्रेय इच्छताम्।**
भुङ्क्ते सर्वत्र दातृणां दहन् प्रागुत्तराशुभम्।। 11.7.46।।

हे राजन्! मैंने अग्नि से यह शिक्षा ली है कि जैसे वह तेजस्वी और ज्योर्तिमय होती है, जैसे उसे कोई अपने तेज से दबा नहीं सकता, जैसे उसके पास संग्रह-परिग्रह के लिये कोई पात्र नहीं, सब कुछ अपने पेट में रख लेती है और जैसे सब कुछ खा पी लेने पर भी विभिन्न वस्तुओं के दोषों से यह लिप्त नहीं होती, वैसे ही साधक भी परम तेजस्वी, तपस्या से देदीप्यमान इन्द्रियों से अपराभूत, भोजन मात्र का भी असंग्रही और यथायोग्य सभी विषयों का उपभोग करता हुआ भी अपने मन और इन्द्रियों को वश में रक्खे, किसी का दोष अपने में न आने दे। जैसे अग्नि कहीं (लकड़ी आदि में) अप्रकट होती है और कहीं प्रकट, वैसे ही साधक भी कहीं गुप्त रहे और कहीं प्रकट हो जायें। कहीं-कहीं ऐसे रूप में भी प्रकट हो जाये, जिससे कल्याणकामी पुरुष उसकी उपासना कर सकें। यह अग्नि के समान ही भिक्षारूप हवन करने वालों के अतीत और भावी अशुभ को भस्म कर देता है तथा सर्वत्र अन्न ग्रहण करता है।

तात्पर्य अर्थ-

मुमुक्षु साधक, केवलमात्र विषयों का उतना ही सम्बन्ध रक्खे, जितने से जीवन निर्वाह की आवश्यकता हो। इन्द्रियों को सदा संयमित रक्खें, अर्थात् मन को स्ववश करके आवश्यकतानुसार विषयों का उपभोग करें। क्योंकि यह संसार गुण-दोषमय है, इसलिये संसार के गुण-दोषों को अपने मन में न आने दें और कदाचित् किसी कारणवशात् आ भी जाय तो उसे उसी क्षण अपनी विवेकवती बुद्धि के द्वारा बाध कर दे, मन में ग्लानि की भावना द्वारा मन को शुद्ध कर लें अथवा मन को आत्मचिन्तन में लगा दें, तदात्मभाव कर दें।

64- सुखमैन्द्रियकं राजन् स्वर्गे नरक एव च।
देहिनां यद्यथा दुःखं तस्मान्नेच्छेत तद्बुधः।। 11.8.1।।

65- ग्रासं सुमृष्टं विरसं महान्तं स्तोकमेव वा।
यदृच्छयैवापतितं ग्रसेदाजगरोऽक्रियः।।11.8.2।।

66- शयीताहानि भूरीणि निराहारोऽनुपक्रमः।
यदि नोपलभेद् ग्रासो महाहिरिव दिष्टभुक्।। 11.8.3।।

67- अजः सहोबलयुतं बिभ्रद् देहमकर्मकम्।
शयानो वीतनिद्रश्च नेहेतेन्द्रियवानपि।। 11.8.4।।

हे राजन्! प्राणियों को जैसा बिना इच्छा के, बिना किसी प्रयत्न के, रोकने की चेष्टा करने पर भी पूर्वकर्मानुसार दुःख प्राप्त होते हैं, वैसे ही स्वर्ग में या नरक में कहीं भी रहे, इन्द्रिय सम्बन्धी सुख भी प्राप्त होते ही हैं। इसलिये सुख और दुःख का रहस्य जानने

वाले बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि उनके लिये इच्छा अथवा किसी प्रकार की प्रयत्न न करें। बिना माँगे, बिना इच्छा किये स्वयं ही अनायास जो कुछ मिल जाये, वह चाहे रुखा-सूखा हो, चाहे बहुत मधुर और स्वादिष्ट, अधिक हो या थोड़ा, बुद्धिमान् पुरुष अजगर के समान उसे ही खाकर जीवन निर्वाह कर ले और उदासीन भाव में रहे। यदि भोजन न मिले तो उसे भी प्रारब्ध भोग समझकर किसी प्रकार की चेष्टा न करें, बहुत दिनों तक भूखा भी रहे। उसे चाहिये कि अजगर के समान केवल प्रारब्ध के अनुसार प्राप्त हुए भोजन में ही सन्तुष्ट रहे। उसके शरीर में मनोबल, इन्द्रियबल और देहबल तीनों के रहने पर भी वह निष्चेष्ट ही रहे। निद्रारहित होने पर भी सोया हुआ सा रहे और कर्मेन्द्रियों के होने पर भी उनसे कोई चेष्टा न करे। हे राजन्! मैंने अजगर से यही शिक्षा ग्रहण की है।

तात्पर्य अर्थ-

जो साधक तितिक्षु, मुमुक्षु एवं इन्द्रिय संयमी होते हैं, अपने प्रारब्ध पर विश्वास रखते हैं, वे ही अपने साधना में सफलता को प्राप्त करते हें, अपने गन्तव्य को प्राप्त करते हैं। क्योंकि प्रारब्ध और वर्तमान ये दोनों एक-दूसरे के सहयोगी हैं। प्रारब्धकर्म भोग के लिये वर्तमान कर्म का होना अनिवार्य है और वर्तमान कर्म भी जो कुछ होता है या हो रहा है वह प्रारब्धानुसार (पूर्व जन्मों का) संस्कारानुसार ही होता है या हो रहा है। फिर भी पुरुषार्थ विहीन, अकर्मण्य नहीं होना चाहिये, क्योंकि पुरुषार्थ के बिना प्रारब्ध भी अपना फल देने में असमर्थ है। दूसरी बात है हमारा पुरुषार्थ वर्तमान में भले ही सफल न हो, किन्तु पुरुषार्थ का संस्कार (भविष्य) आगामी जन्मों में फल देने के लिये प्रारब्ध के नाम से जाना जायेगा। अर्थात् आज का पुरुषार्थ को ही जब फल देने का समय आता है, तब उसी को प्रारब्ध कहा जाता है। इसी का नाम काल, कर्म और ईश्वर है।

68- मुनिः प्रसन्नगम्भीरो दुर्विगाह्यो दुरत्ययः।
अनन्तपारो ह्यक्षोभ्यः स्तिमितोद इवार्णवः।। 11.8.5।।

69- समृद्धकामो हीनो वा नारायणपरो मुनिः।
नोत्सर्पेत न शुष्येत सरिद्भिरिव सागरः।। 11.8.6।।

समुद्र से मैंने यह शिक्षा ली है कि साधक को सर्वदा प्रसन्न और गम्भीर रहना चाहिये, उसका भाव अथाह अपार और असीम होना चाहिये तथा किसी भी निमित्त से उसे क्षोभ नहीं होना चाहिये। उसे ठीक वैसे ही रहना चाहिये जैसे ज्वार-भाटें और तरंगों से रहित शान्त समुद्र। देखो समुद्र वर्षा ऋतु में नदियों के बाढ़ के कारण बढ़ता नहीं और न ग्रीष्म ऋतु में घटता ही है, वैसे ही भगवत्परायण साधक को भी सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति से प्रफुल्लित न होना चाहिये और न उसके अप्राप्ति से उदास ही होना चाहिये।

तात्पर्य अर्थ-

यह नाशवान् जगत् की उत्पत्ति-विनाश होता है क्योंकि षड्भाव विकार वाला है और आत्मा उसके विपरीत देखने में आता है- ''**अव्यक्तोऽयमविकार्योऽयमुच्यते। तस्मादेव विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि।।**'' (गी. 2.25) अर्थात् प्रत्यक्ष का विषय न होने से यह आत्मा मन-बुद्धि का भी विषय नहीं बन सकता और निर्विकार होने से जन्म-मृत्यु आदि षड्भाव-विकारों से भी रहित है। (षड्भावविकार-उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि, परिणाम यानि (घटना-बढ़ना, दाड़ी-मूछ आना, आदि) परिवर्तनशील, क्षय होना और अन्ततोगत्वा विनाश भाव की प्राप्ति)। इसलिये प्राणी पदार्थों के आने-जाने, बनने-बिगड़ने पर किसी प्रकार मन में विकार नहीं आना चाहिये। ''**आपूर्यमाणमचलम-प्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्। तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे, स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।।**'' (गी.2.70)।

70- स्तोकं स्तोकं ग्रसेद् ग्रासं देहो वर्तेत यावता।
गृहानहिंसन्नातिष्ठेद् वृत्तिं माधुकरीं मुनिः।। 11.8.9।।

71- अणुभ्यश्च महद्भ्यश्च शास्त्रेभ्यः कुशलो नरः।
सर्वतः सारमादद्यात् पुष्पेभ्य इव षट्पदः।। 11.8.10।।

हे राजन् ! संन्यासी को चाहिये कि गृहस्थों को किसी प्रकार का कष्ट न देकर भौरे की तरह अपना जीवन निर्वाह करें। वह अपने शरीर के लिये उपयोगी रोटी के कुछ टुकड़े कई घरों से माँग ले। जिस प्रकार भौरा विभिन्न पुष्पों से चाहे वे छोटे हों या बड़े उनका सार ग्रहण करता है, वैसे ही बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि छोटे-बड़े सभी शास्त्रों से उनका सार उनका रस निचोड़ ले।

तात्पर्य अर्थ-

मुमुक्षु साधक को चाहिये कि संग्रह-परिग्रह से अत्यन्त दूर रहे, क्योंकि उस किया हुआ संग्रह परिग्रह का दृढ़ संस्कार ही पुनर्जन्म-मृत्यु का कारण बनेगा। इसलिये भिक्षा भी उतनी ही लें जितने में क्षुधा की निवृत्ति हो जाय अर्थात् एक आधी रोटी की भी संग्रह न करें। कदाचित् भिक्षा लायी हुई बच भी जाय तो उसे गौ या कुत्ता आदि प्राणियों को खिला दें किन्तु किसी भी वस्तुओं का संग्रह न करें।

72- पदापि युवतीं भिक्षुर्न स्पृशेद् दारवीमपि।
स्पृशन् करीव बध्येत करिण्या अङ्गसङ्गतः।। 11.8.13।।

73- नाधिगच्छेत् स्त्रियं प्राज्ञः कर्हिचिन्मृत्युमात्मनः।
बलाधिकैः स हन्येत गजैरन्यैर्गजो यथा।। 11.8.14।।

हे राजन्! मैंने हाथी से यह सीखा है कि संन्यासी को कभी पैर से भी काष्ठ की बनी हुई स्त्री का भी स्पर्श नहीं करना चाहिये। यदि वह ऐसा न करेगा अर्थात् स्पर्श करेगा तो जैसे हथिनी के अंग-संग से हाथी बँध जाता है, वैसे ही वह भी बँध जायेगा। विवेकी पुरुष किसी भी स्त्री को कभी भोग्यरूप से स्वीकार न करे, क्योंकि यह उसकी मूर्तिमति मृत्यु है। यदि वह स्वीकार करेगा तो बलवान् हाथियों से, हाथी की तरह, अधिक बलवान् अन्य पुरुषों के द्वारा मारा जायेगा।

तात्पर्य अर्थ-

बन्ध-मोक्ष, जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख आदि का कारण एकमात्र अपना विषयासक्त मन ही है। जीवात्मा को सुख-दुःख, जन्म-मरण आदि देने के लिये अनन्त ब्रह्माण्ड में ऐसी कोई भी वस्तु है ही नहीं, फिर भी अज्ञानता के, अविवेक के कारण अपने में आरोपित कर लेते हैं। अर्थात् अविवेकता ही मृत्यु है। अतः संन्यासियों को चाहिये कि मन को आत्मचिंतन में ही लगाये रक्खें, तदाकार वृत्ति बनाये रखें।

74- न मे मानावमानौ स्तो न चिन्ता गेहपुत्रिणाम्।
आत्मक्रीड़ा आत्मरतिर्विचरामीह बालवत्।। 11.9.3।।

75- द्वावेव चिन्तया मुक्तौ परमानन्द आप्लुतौ।
यो विमुग्धो जड़ो बालो यो गुणेभ्यः परंगतः।। 11.9.4।।

मुझे मान या अपमान का कोई ध्यान नहीं है और घर एवं परिवार वालों को जो चिन्ता होती है, वह मुझे नहीं है। मैं अपने आत्मा में ही रमता हूँ और अपने साथ ही क्रीड़ा करता हूँ। यह शिक्षा मैंने बालक से ली है। अतः उसी के समान मैं भी मौज से रहता हूँ। इस जगत् में दो ही प्रकार के व्यक्ति निश्चिन्त और परमानन्द में मग्न रहते हैं, एक तो भोला-भाला निश्चेष्ट नन्हा सा बालक और दूसरा वह पुरुष जो गुणातीत हो गया हो।

तात्पर्य अर्थ-

गुणातीत एक ऐसी विलक्षण स्थिति है जो किसी भी स्थिति (अवस्था) से या प्राणी पदार्थों से समानता नहीं किया जा सकता है। वैसे प्रचलित तो यही है कि बालकवत् किन्तु किंचित् अंशों में ही समानन्ता पायी जाती है। उदाहरण के रूप में, पूर्णतया नहीं। क्योंकि बालक से यदि समानता किया जाय तो भी समानता नहीं देखने में आता विचार करने पर, क्योंकि बालक अपने अन्दर की भावनाओं को आवश्यकतानुसार समय-समय पर गुप्त संस्कारों को गुणों के माध्यम से चेष्टाएँ प्रकट (संकेत) करता रहता है। जैसे भूख-प्यास लगी हो, मल-मूत्र त्याग करना हो या कर लिया हो, सर्दी-गर्मी आदि लग रही हो, या किसी प्रकार शारीरिक, मानसिक आधि-व्याधि आ

जाने पर उसे चेष्टाओं के द्वारा व्यक्त करता है, रुदन के माध्यम से, यह स्पष्ट देखने में आता है, तभी तो उसकी माँ दौड़कर आ जाती है ओर वह माँ अपने प्रियतम बालक की आवश्यकता को समझ लेती है तथा उस आवश्यकता के अनुसार उपचार करती है। अर्थात् शिशु के अन्दर गुप्तरूप से गुण/संस्कार रहता है किन्तु आत्मरति, आत्मक्रीड़ा में आनन्दित ज्ञानी, जीवन्मुक्त, गुणातीत पुरुष किसी भी स्थिति में किसी प्रकार चेष्टाएँ नहीं करते, मौन एवं शान्त ही रहा करते हैं। अर्थात् गुणों के विलासिता स्वभाव को मिटा देते हैं। इसीलिये उनमें मान-सम्मान, चिन्ता-शोक, हर्ष आदि का प्रवेश ही कैसे हो सकता हैं। क्योंकि यह सब गुणों के प्रभाव को इन्द्रियों के माध्यम से जाना जाता है। इसका अभिप्राय यह भी नहीं समझ लेना चाहिये कि काष्ठ या पत्थर के समान जड़ता को प्राप्त है।

76- **क्वचित् कुमारी त्वात्मानं वृणानान् गृहमागतान्।**
स्वयं तानर्हयामास क्वापि यातेषु बन्धुषु।। 11.9.5।।

77- **तेषामभ्यवहारार्थं शालीन् रहसि पार्थिव।**
अवघ्नन्त्याः प्रकोष्ठस्थाश्चक्रुः शङ्खाः स्वनं महत्।। 11.9.6।।

78- **सा तज्जुगुप्सितं मत्वा महती व्रीडिता ततः।**
बभञ्जैकैकशः शङ्खान् द्वौ द्वौ पाण्योरशेषयत्।। 11.9.7।।

79- **उभयोरप्यभूद् घोषो ह्यवघ्नन्त्याः स्म शङ्खयोः।**
तत्राप्येकं निरभिददेकस्मान्नाभवद् ध्वनिः।। 11.9.8।।

80- **वासे बहूनां कलहो भवेद् वार्ता द्वयोरपि।**
एक एव चरेत्तस्मात् कुमार्या इव कङ्कणः।। 11.9.10।।

एक बार किसी कुमारी कन्या के घर उसके वरण करने के लिये कई लोग आए हुए थे। उस दिन उसके घर के लोग कहीं बाहर गये हुए थे। इसलिये उसने स्वयं ही उनका अतिथि सत्कार किया। हे राजन्! उनको भोजन कराने के लिये वह घर के भीतर एकान्त में धान कूटने लगी। उस समय उसकी कलाई में पड़ी शङ्ख की चूड़िया जोर-जोर से बज रही थी। उस शब्द को निन्दित समझी क्योंकि अतिथि समझेंगे कि गरीब लोग है, नौकर चाकर नहीं है, कुमारी को बड़ी लज्जा मालूम हुई और उसने एक-एक करके सब चूड़ियाँ तोड़ डाली और एक-एक चूड़ी केवल दोनों हाथों में रहने दी। जब दोनों कलाईयों में केवल एक-एक चूड़ी रह गयी, तब भी परस्पर बजने से आवाज निकली तो एक हाथ की चूड़ी को तोड़ी और एक हाथ ही में एक चूड़ी को रहने दी तब किसी प्रकार की आवाज नहीं हुई। इससे यह शिक्षा ग्रहण की कि जब बहुत

लोग एक साथ रहते हैं तब कलह होता है। और दो आदमी साथ रहते हैं तब भी बातचीत होती ही है। अतः कुमारी कन्या की चूड़ी के समान अकेले ही विचरना चाहिये।

तात्पर्य अर्थ-

कुमारी कन्या (अविवाहित) अन्य पुरुष के संग दोष से रहित अर्थात् निर्विकार, निर्विषयिणी बुद्धि (शुद्ध अन्तःकरण) के द्वारा ही आत्मा-अनात्मा का विवेक करके निश्चय रूप से स्वस्वरूप का साक्षात्कार अनुभव किया जा सकता है। अर्थात् जब तक आत्मभिन्न द्वैत की प्रतीति बुद्धिगत रहेगी तब तक आत्मानुभव करना या कर पाना असम्भव है अर्थात् द्वैत की भावना ही आत्मानुभव में प्रतिरोध है। इसी बात को सिद्ध करने के लिये चूड़ियों का उदाहरण देकर समझाया गया है। अनेक चूड़ियाँ (विभिन्न नाम रूप प्रपंच की अनादि वासना) विक्षेप का मुख्य कारण है। इसलिये साधन चतुष्टय द्वारा किया गया शुद्धान्तःकरण के माध्यम से प्रपंच जगत् का (द्वैत का नाना नाम रूप) का एक-एक करके **''नेति-नेति''** (बृ.3.9.26) के अभ्यास द्वारा बाधित हो जाने पर शेष एक आत्मा **''एकमेवाद्वितीयम्''** (छा. 6.2.1) ही रह जाता है, तब उस साधक को परमानन्द की अनुभूति होने लगती है, मुमुक्षु साधकों का परम लक्ष्य भी यही है। अर्थात् **नेति-नेति** और **''अहंब्रह्मास्मि''** (बृ.1.4.10) के निरन्तर अभ्यास द्वारा अनादि अविद्या वासना को निरस्त कर देना चाहिये।

81- एकचार्यनिकेतः स्यादप्रमत्तो गुहाशयः।
अलक्ष्यमाण आचारैर्मुनिरेकोऽल्पभाषणः।।11.9.14।।

82- गृहारम्भोऽतिदुःखाय विफलश्चाध्रुवात्मनः।
सर्पः परकृतं वेश्म प्रविश्य सुखमेधते।। 11.9.15।।

हे राजन्! मैंने सर्प से यह शिक्षा ग्रहण की है कि संन्यासी को भी सर्प की भाँति अकेले ही विचरण करना चाहिये, उसे मण्डली नहीं बाँधनी चाहिये, मठ तो बनाना ही नहीं चाहिये। वह एक स्थान में न रहे, प्रमाद न करे, गुहा आदि में पड़ा रहे, बाहरी आचरणों से पहचाना न जाये। किसी से सहायता न ले और बहुत कम बोले। इस अनित्य शरीर के लिये घर बनाने के बखेड़े में पड़ना व्यर्थ और दुःख की जड़ है। साँप दूसरों के बनाये घर में घुसकर बड़े आराम से अपना समय काट लेता है।

तात्पर्य अर्थ-

किसी भी समाज के अगुवा (अध्यक्ष) बनना, आश्रम का विस्तार में लगे रहना, एक ही स्थान में बाँधकर जीवन बिताना इत्यादि, अहंता-ममता को बढ़ावा देने में निमित्त है। अतः संन्यासियों के लिये कल्याण मार्ग में बहुत बड़ा बाधक है (अवरोधक होने से)

उनका त्याग अति अनिवार्य है, अन्यथा जन्म-मृत्यु के पाश में बाँधना पड़ेगा। अर्थात् अपने लक्ष्य से पतित हो जाना निश्चित है। **''यावत्स्यात्स्वस्य सम्बन्धोऽहंकारेण दुरात्मना। तावन्न लेशमात्रापि मुक्तिवार्ता विलक्षणा।।''** (वि.चू.300)।

83- यत्र यत्र मनो देही धारयेत् सकलं धिया।

स्नेहाद् द्वेषाद् भयाद् वापि याति तत्तत्सरूपताम्।। 11.9.22।।

हे राजन्! मैंने भृङ्गी कीड़े से यह शिक्षा ग्रहण की है कि यदि प्राणी स्नेह से, द्वेष से अथवा भय से भी जानबूझ कर एकाग्र बुद्धि से मन को किसी वस्तु में लगा दे तो उसे उसी वस्तु का स्वरूप प्राप्त हो जाता है।

तात्पर्य अर्थ-

सूक्ष्मातिसूक्ष्म वस्तु की प्राप्ति अथवा अनुभूति के लिये चित्त की एकाग्रता होना अति अनिवार्य है। तभी अपने कार्य में उसे सफलता मिल सकती है। चाहे वह वस्तु सांसारिक हो अथवा आध्यात्मिक। एकाग्रचित्त ही आनन्द का, सुख-शान्ति का निमित्त है। वस्तु में हो भी सकता है और न भी हो इसका कोई विशेष महत्त्व नहीं है किन्तु आनन्द के लिये चित्त की एकाग्रता होना अनिवार्य है। वास्तव में गहराई से विचार करके देखा जाय तो जड़ वस्तुएँ सूखी हड्डी के समान हैं, नीरस हैं। यदि उसमें रस की प्रतीति भी होती हे तो वह भी आत्मा की ही है, चैतन्य देव का ही है। श्रुति कहती है- **''रसो वै सः''** (तै.2.7)।

84- देहस्थोऽपि न देहस्थो विद्वान् स्वप्नाद् यथोत्थितः।

अदेहस्थोऽपि देहस्थः कुमतिः स्वप्नदृग् यथा।। 11.11.8।।

हे प्यारे उद्धव ! ज्ञान सम्पन्न पुरुष भी मुक्त ही है, जैसे स्वप्न टूट जाने पर जगा हुआ पुरुष स्वप्न के स्मर्यमाण शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं रखता, वैसे ही ज्ञानी पुरुष कारण सूक्ष्म और स्थूल शरीर में रहने पर भी उनसे किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहता, परन्तु अज्ञानी पुरुष वास्तव में शरीर से कोई सम्बन्ध न रहने पर भी प्रारब्धानुसार कारण शरीर में ही स्थित होकर सूक्ष्म और स्थूल शरीर में रहता है, जैसे स्वप्न देखने वाला पुरुष स्वप्न देखते समय स्वाप्निक शरीर में बँध जाता है।

तात्पर्य अर्थ-

ज्ञानी-अज्ञानी में विशेष अन्तर विचार करने पर ही ज्ञात होता है कि यह ज्ञानी है और यह अज्ञानी, अन्यथा मनुष्य तो मनुष्य ही है। बाह्य दृष्टि से कुछ भी अन्तर नहीं मालूम पड़ता। क्योंकि ज्ञानी शरीर या संसार में रहते हुए भी उनका मन संसार, शरीर से ऊपर उठकर आत्मा-परमात्मा का निरन्तर चिन्तन, मनन एवं निदिध्यासन में लगे रहने

से उनके लिये संसार शरीर आदि दृष्टिगोचर होते हुए भी, कानों से सुनते हुए भी इत्यादि इन्द्रियों के द्वारा व्यवहार होते हुए भी कुछ भी नहीं हो रहा है। अर्थात् मिथ्या व्यवहार, स्वप्नवत् व्यवहार है। **"न कुछ हुआ है, न कुछ हो रहा है। तुझे सिर्फ होने का भ्रम हो रहा है।"**

85- एवं विरक्तः शयने आसनाटनमज्जने।
दर्शनस्पर्शनघ्राणभोजनश्रवणादिषु।। 11.11.11।।

86- न तथा बोद्ध्यते विद्वांस्तत्र तत्रादयन् गुणान्।
प्रकृतिस्थोऽप्यसंसक्तो यथा खं सवितानिलः।। 11.11.12।।

87- वैशारद्येक्षयासङ्गशितया छिन्नसंशयः।
प्रतिबुद्ध इव स्वप्नान्नानात्वाद् विनिवर्तते।। 11.11.13।।

हे प्यारे उद्धव ! पूर्वोक्त पद्धति से विचार करके विवेकी पुरुष समस्त विषयों से विरक्त रहता है और सोने, बैठने, घूमने, फिरने, नहाने, देखने, छूने, सूंघने, खाने और सुनने आदि क्रियाओं में अपने को कर्ता नहीं मानता। बल्कि गुणों को ही कर्ता मानता है। गुण ही सभी कर्मों के आरम्भक एवं कर्ता-भोक्ता हैं, ऐसा जानकर विद्वान् पुरुष कर्मवासना और उसके फलों से नहीं बँधते। वे प्रकृति में रहकर भी वैसे ही असंग रहते हैं, जैसे स्पर्श आदि से आकाश, जल की आर्द्रता आदि से सूर्य और गन्ध आदि से वायु। उनकी विमल बुद्धि रूपी तलवार तीक्ष्ण धार से यानि असंग भावना की सानी से और भी तीखी हो जाती है और वे उससे अपने सारे संशय-संदेहों को काट-कूटकर फैंक देते हैं। जैसे कोई स्वप्न से जग उठा हो, उसी प्रकार वे इस भेद बुद्धि के भ्रम से मुक्त हो जाते हैं।

तात्पर्य अर्थ-

मन, बुद्धि, प्राण, शरीर, इन्द्रिय आदि के व्यवहारों को अपने में (आत्मा) में आरोपित करना महान् अज्ञानता है और इसके विपरीत गुणों में देखना या गुणों का स्वभाव समझना तथा असंग भाव में मन, बुद्धि को बनाये रखना, ज्ञानी(विद्वान्) का लक्षण है। ऐसा बनाये रखने वाला ब्रह्मज्ञानी अनादि कर्मवीज वासनाओं को नष्ट करने में सर्वथा समर्थ होते हैं।

88- यस्यात्मा हिंस्यते हिंस्रैर्येन किञ्चिद् यदृच्छया।
अर्च्यते वा क्वचित्तत्र न व्यतिक्रियते बुधः।। 11.11.15।।

89- न स्तुवीत न निन्देत कुर्वतः साध्वसाधु वा।
वदतो गुणदोषाभ्यां वर्जितः समदृङ्मुनिः।। 11.11.16।।

90- न कुर्यान्न वदेत् किञ्चिन्न ध्यायेत् साध्वसाधु वा।
आत्मारामोऽनया वृत्त्या विचरेज्जडवन्मुनिः।। 11.11.17।।

उन तत्त्वज्ञानी मुक्त पुरुषों के शरीर को चाहे हिंसक लोग पीड़ा पहुँचायें और चाहे कभी कोई दैवयोग से पूजा करने लगे, वे न तो सिकी के सताने से दुःखी होते हैं और न पूजा करने से सुखी। जो समदर्शी महात्मा गुण और दोषों की भेददृष्टि से ऊपर उठ गये हैं, वे ना तो अच्छे काम करने वाले की स्तुति करते हें और न बुरे काम करने वाले की निन्दा, न वे किसी की अच्छी बात सुनकर उसकी प्रशंसा करते हैं और न बुरी बात सुनकर किसी को झिड़कते हैं। जीवन्मुक्त पुरुष न तो कुछ भला या बुरा काम करते हैं, न कुछ भला या बुरा कहते हें, और न सोचते ही हैं। वे व्यवहार में अपनी सामान्य वृत्ति रखकर आत्मानन्द में ही मग्न रहते हैं और जड़ के समान मानो कोई मूर्ख हो, इस प्रकार विचरण करते रहते हैं।

तात्पर्य अर्थ-

मुमुक्षु साधक जब अपने साधना में परिपक्व हो जाता है, तब वह न निन्दा-स्तुति किसी के करते हैं और न किसी के द्वारा निन्दा-स्तुति सुनकर उनके मन में किसी प्रकार के विकार की भावना ही बनती है क्योंकि उनकी दृष्टि में दूसरी वस्तु या शत्रु-मित्र, अपना पराया है नहीं, एक आत्मा के सिवाय। "**एकमेव अद्वितीयं ब्रह्म**" (छा.6.2.1), "**ब्रह्म सत्यं जगत्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः**" (वेदान्तडिण्डिमः 67), "**नेह नानास्ति किञ्चन**" (बृ. 4.4.19) इस प्रकार बोध हो जाने पर वह साधक सर्वत्र समदृष्टि वाले हो जाते हैं "**समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः। तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः।।**" (गी.14.24)।

91- जाग्रत् स्वप्नः सुषुप्तं च गुणतो बुद्धिवृत्तयः।
तासां विलक्षणो जीवः साक्षित्वेन विनिश्चितः।। 11.13.27।।

92- यर्हि संसृतिबन्धोऽयमात्मनो गुणवृत्तिदः।
मयि तुर्ये स्थितो जह्यात् त्यागस्तद् गुणचेतसाम्।। 11.13.28।।

93- अहंकारकृतं बन्धमात्मनोऽर्थविपर्ययम्।
विद्वान् निर्विद्य संसारचिन्तां तुर्ये स्थितस्त्यजेत्।। 11.13.29।।

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति, ये तीनों अवस्थाएँ सत्त्वादि गुणों के अनुसार होती हैं और बुद्धि की वृत्तियाँ हैं, सच्चिदानन्द का स्वभाव नहीं। इन वृत्तियों का साक्षी होने के कारण जीव उनसे विलक्षण है। यह सिद्धान्त श्रुति, स्मृति, युक्ति और अनुभूति से सिद्ध है। क्योंकि बुद्धि वृत्तियों के द्वारा होने वाला यह बन्धन ही आत्मा में त्रिगुणमयी वृत्तियों का (आधान) दान आदान करता है। इसलिये तीनों अवस्थाओं से विलक्षण और उनमें अनुगत मुझ तुरीय तत्त्व में स्थित होकर इस बुद्धि के बन्धन का परित्याग कर दे। तब

विषय और चित्त दोनों का युगपत् त्याग हो जाता है। यह बन्धन अहंकार की ही रचना है और यही आत्मा के परिपूर्णतम सत्य, अखण्ड ज्ञान और परमानन्द रूप को छिपा देता है। इस बात को जानकर विरक्त हो जाये और अपने तीन अवस्थाओं में अनुगत तुरीय स्वरूप में स्थित होकर संसार की चिन्ता छोड़ दें।

तात्पर्य अर्थ-

तीनों गुणों से प्रेरित होकर बुद्धि में वृत्तियाँ बनती हैं और वृत्तियों के अनुसार इन्द्रियों के द्वारा कर्म होते हैं तथा शुभाशुभ कर्मों के अनुसार ही संस्कारों का सृजन होता है और ये संस्कार ही जीवात्मा का सुख-दुःख, जन्म-मृत्यु आदि का निमित्त बनता है। शरीरगत तीन अवस्था (जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति) इसका भी निमित्त बुद्धि वृत्ति को ही समझना चाहिये। अतः तीनों अवस्थाओं से सतत अनुगत साक्षी, द्रष्टा, जीवात्मा तुरीय स्वरूप में स्थित होकर बुद्धिवृत्तियों को छोड़ देने से या वृत्तियों को स्वस्वरूप में विलीन कर देने से चित्त और विषय नानात्व एवं शब्दादि अर्थ, इन दोनों का एक ही साथ त्याग हो जाता है। इन दोनों की निवृत्ति से अहंकार भी अपने प्रभुत्व छोड़ देता है। ये अहंकार ही निर्विकार, निष्क्रिय, अखण्डानन्द स्वरूप आत्मा का आवरण है। इसलिये सच्चिदानन्द स्वरूप का अनुभव कर पाना असम्भव सा हो गया है। अतः मोक्षकामी साधक को स्वस्वरूप में स्थित होकर मनोवृत्ति, बुद्धिवृत्तियों को जड़मूल से नष्ट कर देना चाहिये।

94- यावन्नानार्थधीः पुंसो न निवर्तेत युक्तिभिः।
जागर्त्यपि स्वपन्नज्ञः स्वप्ने जागरणं यथा।। 11.13.30।।

95- असत्त्वादात्मनोऽन्येषां भावानां तत्कृता भिदा।
गतयो हेतवश्चास्य मृषा स्वप्नदृशो यथा।। 11.13.31।।

जब तक पुरुष की भिन्न-भिन्न पदार्थों में सत्यत्व बुद्धि, अहं बुद्धि और मम बुद्धि, युक्ति के द्वारा निवृत्त नहीं हो जाती, तब तक वह अज्ञानी यद्यपि जागता है, तथापि सोता हुआ सा रहता है, जैसे स्वप्नावस्था में जान पड़ता है कि मैं जाग रहा हूँ। आत्मा से अन्य देह आदि प्रतीयमान नामरूपात्मक प्रपंच का कुछ भी अस्तित्व नहीं है। इसलिये उनके कारण होने वाले वर्णाश्रम आदि भेद, स्वर्गादि फल और उनके कारण भूत कर्म, ये सबके सब इस आत्मा के लिये वैसे ही मिथ्या है, जैसे स्वप्नदर्शी पुरुष के द्वारा देखे हुए सम्पूर्ण पदार्थ।

तात्पर्य अर्थ-

स्वस्वरूप का ज्ञान न होने से यह दृश्यमान प्रपंच असत्य होते हुए भी अज्ञानता के कारण उसे सत्य मान बैठता है और यही सत्यत्व बुद्धि, इस जीवात्मा का सुख-दुःख, जन्म-मरण, हर्ष-शोक, लाभ-हानि आदि-आदि का कारण है। इसीलिये विद्वान् पुरुष

इस मायामय जगत् को स्वप्नवत् समझकर निर्द्वन्द्व भाव से इस धरातल पर विचरण करते हैं। इसी व्यवहार का अनुसरण करके कोई भी मनुष्य निर्द्वन्द जीवन व्यतीत करते हुए कल्याण (मुक्ति) के अधिकारी बन सकते हैं।

96- यो जागरे बहिरनुक्षणधर्मिणोऽर्थान्।
भुङ्क्ते समस्तकरणैर्हृदि तत्सदृक्षान्।
स्वप्ने सुषुप्त उपसंहरते स एकः,
स्मृत्यन्वयात्त्रिगुणवृत्तिदृगिन्द्रियेशः।। 11.13.32।।

97- एवं विमृश्यगुणतो मनसस्त्र्यवस्था,
मन्मायया मयि कृता इति निश्चितार्थाः।
संछिद्य हार्दमनुमानसदुक्तितीक्ष्ण-
ज्ञानासिना भजत माखिलसंशयाधिम्।। 11.13.33।।

जो जाग्रत् अवस्था में समस्त इन्द्रियों के द्वारा बाहर दिखने वाले सम्पूर्ण क्षणभंगुर पदार्थों का अनुभव करता है और स्वप्नावस्था में हृदय में ही जाग्रत में देखे हुए पदार्थों के समान ही वासनामय विषयों का अनुभव करता है, वह एक ही है। जाग्रत् अवस्था के इन्द्रियाँ, स्वप्नावस्था के मन और सुषुप्ति की संस्कारवती बुद्धि का भी वही एक ही आत्मा स्वामी है। क्योंकि वह त्रिगुणमयी तीनों अवस्थाओं का साक्षी है। जो मैंने स्वप्न देखा, जो मैं सोया, वही मैं जाग रहा हूँ, इस स्मृति के बल पर एक ही आत्मा का समस्त अवस्थाओं में होना सिद्ध हो जाता है। ऐसा विचार कर मन की ये तीनों अवस्थाएँ गुणों के द्वारा मेरी माया से मेरे अंश स्वरूप जीव में कल्पित की गयी हैं और आत्मा में ये नितान्त असत्य है। ऐसा निश्चय करके तुम लोग सत्पुरुषों के द्वारा कहे गये अनुमान तथा उपनिषदों के श्रवण, तीक्ष्ण ज्ञानरूपी खड्गके द्वारा सकल संशयों के आधारभूत अहंकार का छेदन करके हृदय में स्थित मुझ परमात्मा का भजन करो।

तात्पर्य अर्थ-

सत्त्वादि तीनों गुण, जाग्रत् आदि तीनों अवस्था, स्थूलादि तीनों शरीर और पुत्रादि तीनों एषणाएँ इत्यादि के साक्षी, द्रष्टारूप आत्मा का ध्यान समाधि के द्वारा अनुभव हो जाने पर समस्त संशय-विपर्ययों (मनगत भ्रान्तियों) का सर्वथा-सर्वदा के लिये विनाश हो जाता है और अपने-आप में स्वस्वरूप में स्थिति ही साधन-भजन की सफलता है, पूर्णता है। "**आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो**"(बृ.उ.4.5.6) हे मैत्रीय! आत्मा ही दर्शन करने योग्य है, श्रवण करने योग्य है, मनन करने योग्य है और निदिध्यासन यानि निरन्तर आत्मचिन्तन में वृत्ति बनाये रखना रूपी अभ्यास की पूर्णता है।

98- देहं च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा,
सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत् स्वरूपम्।
दैवादपेतमुत दैववशादुपेतं,
वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः।। 11.13.36।।

99- देहोऽपि दैववशगः खलु कर्म यावत्,
स्वारम्भकं प्रतिसमीक्षता एव सासुः।
तं सप्रपञ्चमधिरूढ़समाधियोगः,
स्वप्नं पुनर्न भजते प्रतिबद्धवस्तुः।। 11.13.37।।

जैसे मदिरा पीकर उन्मत्त पुरुष यह नहीं देखता कि मेरे द्वारा पहना हुआ वस्त्र शरीर पर है या गिर गया, वैसे ही सिद्ध पुरुष जिस शरीर से उसने अपने स्वरूप का साक्षात्कार किया है, वह प्रारब्धवश खड़ा है, बैठा है या दैववश कहीं गया है या कहीं से आया है, नश्वर शरीर सम्बन्धी इन बातों पर दृष्टि नहीं डालता। प्राण और इन्द्रियों के साथ यह शरीर भी प्रारब्ध के अधीन है। इसलिये अपने शरीर का आरम्भक (बनाने वाली) कर्म वासना जब तक है, तब तक उसकी प्रतीक्षा करता ही रहता है, परन्तु आत्मवस्तु का साक्षात्कार करने वाला तथा समाधि पर्यन्त योग में आरूढ़ पुरुष स्त्री, पुत्र, धन आदि प्रपंच के सहित उस शरीर को फिर कभी स्वीकार नहीं करता, अपना नहीं मानता, जैसे जगा हुआ पुरुष स्वप्नावस्था के शरीरादि को पुनः स्मरण नहीं करता।

तात्पर्य अर्थ-

जब मुमुक्षु साधक अपने परिपक्व अवस्था, सिद्धावस्था (स्वस्वरूप का साक्षात्कार करने के बाद) गुणातीत स्थिति को प्राप्त हो जाता है, तब वह साधक कहाँ रहना है, क्या करना है, क्या खाना-पीना है, क्या पहनना है, इत्यादि-इत्यादि व्यवहारों का विचार या चिन्तन नही करता। यही अवस्था जीवन्मुक्त पुरुष का विशेष लक्षण है। उनका सम्पूर्ण व्यवहार प्रारब्धानुसार स्वतः होता रहता है। उन व्यवहारों से उनका कुछ लेना-देना या बनना-बिगड़ना नहीं होता क्योंकि वे जानते हैं कि निष्क्रिय निर्विकार आत्मा स्वस्वरूप में किसी प्रकार की भ्रान्ति होती ही नहीं, फिर भी लोगों के देखने में आता है, वह सबकुछ मन, बुद्धि, शरीर इन्द्रिय आदि में हे। **''उपाधिरायाति स एव गच्छति, स एव कर्माणि करोति भुङ्क्ते। स एव जीर्यन्म्रियते सदाहं कुलाद्रिवन्निश्चल एव संस्थितः''**।। वि.चु. 502।। अर्थात् उपाधि ही आती है और वही जाती भी है, वही कर्मों को करती और उनके फलों को भोगती है तथा वृद्धावस्था को प्राप्त होने पर जीर्ण-शीर्ण होकर वही मरती भी है। मैं तो सदा-सर्वदा पर्वत के समान नित्य, निश्चल भाव से ही रहता हूँ।

100-मय्यर्पितात्मनः सभ्य निरपेक्षस्य सर्वतः।

मयाऽऽत्मना सुखं यत्तत् कुतः स्याद् विषयात्मनाम्।। 11.14.12।।

101-अकिञ्चनस्य दान्तस्य शान्तस्य समचेतसः।

मया सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः।। 11.14.13।।

हे प्रिय उद्धव! जो सब ओर से निरपेक्ष (बेपरवाह) हो गया है, किसी भी कर्म या फल आदि की आवश्यकता नहीं रखता और अपने अन्त:करण को सब ओर से मुझमें ही समर्पित कर चुका है। ऐसे साधक के अन्त:करण में उसकी आत्मा के रूप में मैं परमानन्द स्वरूप स्फुरित होने लगता हूँ। इससे वह जिस सुख का अनुभव करता है, वह विषयलोलुप प्राणियों को किसी भी प्रकार से मिल नहीं सकता। जो सब प्रकार के संग्रह परिग्रह से रहित अकिंचन है, जो अपने इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके शान्त और समदर्शी हो गया है, जो मेरे प्राप्ति से ही अथवा मेरे सान्निध्य का अनुभव करके ही सदा-सर्वदा पूर्ण सन्तोष का अनुभव करता है, उसके लिये आकाश का एक-एक कोना आनन्द से भरा हुआ है।

तात्पर्य अर्थ-

आत्यन्तिक सन्तोष का, सुख-शान्ति का अनुभव तभी सम्भव है, जब मोक्षाकांक्षी साधक अपने भीतर (मन-बुद्धि) में परमानन्द स्वरूप आत्मा का, स्वस्वरूप का साक्षात्कार रूप में अनुभूति करने लगता है। फिर तो उसके लिये मान, सम्मान, स्तुति, निन्दा आदि सब समान हो जाता है, द्वन्द्वों से मुक्त हो जाता हे, निरपेक्ष भाव वाला हो जाता है। वह सदा-सर्वदा आनन्द में ही आनन्दित रहता है। जिस आनन्द का अनुभव देवराज इन्द्र, प्रजापति सृष्टिकर्ता ब्रह्मादि को भी नहीं मिल सका या मिल सकता है। क्योंकि चींटी से ब्रह्मादि पर्यन्त जन्म-मृत्यु से ग्रसित हैं। ब्रह्मलोक तक सब फल कर्मों का फल है। जब प्रत्येक कर्म का आरम्भ और अन्त होता है, तो भला उसका फल अविनाशी कैसे होगा? परन्तु परमात्मा की प्राप्ति कर्मों का फल नहीं, अपितु स्वानुभूति है, स्वस्वरूप है। अत: परमात्मा की (स्वानुभूति) की प्राप्ति होने पर फिर वहाँ से लौटकर दु:खालय संसार में नहीं आना होता। "**आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन। मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।।**" (गी. 8.16) हे अर्जुन! ब्रह्मलोक तक सभी लोक पुनरावर्ती वाले हैं अर्थात् वहाँ जाने पर लौटकर संसार में आना पड़ता है, परन्तु हे कौन्तेय! मुझे प्राप्त होने पर पुनर्जन्म नहीं होता।

102-न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं

न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।

न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा,

मय्यर्पितात्मेच्छति मद् विनान्यत्।। 11.14.14।।

103-न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः।

न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्।। 11.14.15।।

जिसने अपने को मुझे सौंप दिया है वह मुझे छोड़कर न तो ब्रह्मा का पद चाहता है और न देवराज इन्द्र का। उसके मन में न तो सार्वभौम सम्राट बनने की इच्छा होती है और न स्वर्ग से श्रेष्ठ रसातल का ही स्वामी होना चाहता है, वह योग की बड़ी-बड़ी सिद्धियों और मोक्ष तक की अभिलाषा नहीं करता। अतः मुझे तुम्हारे (उद्धव) जैसे प्रेमी भक्त जितने प्रियतम है, उतने प्रिय मेरे पुत्र ब्रह्मा, आत्मा शंकर, सगे-भाई बलराम जी, स्वयं अर्धांगिनी लक्ष्मी जी और मेरा अपना-आत्मा भी नहीं।

तात्पर्य अर्थ-

आत्मतत्त्व के ज्ञानी जब स्वस्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है, कर्मों के बीजवासनाओं से शून्य हो जाता है, तब एकात्मा के अतिरिक्त उनके दृष्टि में कुछ है ही नहीं। "**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**" (छा.3.14.1), "**आत्मैव सर्वं**" (छा.7.25.2), "**नेह नानास्ति किञ्चन**" (बृ.4.4.19) अर्थात् समस्त चराचर जगत् ब्रह्ममय है, आत्ममय है, आत्मा से भिन्न कुछ है ही नहीं। जिसकी बुद्धिवृत्ति ही ब्रह्ममय हो गयी है, उनके लिये न देवराज इन्द्र, जगत्कर्ता ब्रह्मा, जगत् का भरण-पोषण करने वाले भगवान् विष्णु जी तथा शिवजी का ध्यान योग-समाधि आदि नहीं चाहिये और तो और मोक्ष की भी कामना नहीं रह जाती, क्योंकि आत्मा से भिन्न कुछ हो, तब तो उससे मोक्ष की आवश्यकता है। यहाँ तो कुछ है ही नहीं, आत्मा से भिन्न। "**जगद्विलक्षणं ब्रह्म बह्मोऽन्यन्न किञ्चन। ब्रह्मान्यद्भाति चेन्मिथ्या माया मरुमरीचिका।।**" अर्थात् ब्रह्म जगत् से बिल्कुल भिन्न है, ब्रह्म से भिन्न कुछ भी है ही नहीं। यदि अज्ञानता के कारण दिखता हे वह मिथ्या है, यथा- मरुमरीचिका अथवा स्वप्नवत् है।

104-निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।

अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः।। 11.14.16।।

105-निष्किञ्चना मय्यनुरक्तचेतसः,

शान्ता महान्तोऽखिलजीववत्सलाः।

कामैरनालब्धधियो जुषन्ति यत्,

तन्नैरपेक्ष्यं न विदुः सुखं मम।। 11.14.17।।

जिसे किसी की अपेक्षा नहीं, जो जगत् के चिन्ता से सर्वथा उपरत होकर मेरे ही मनन, चिन्तन में तल्लीन रहता है, उस महात्मा के पीछे-पीछे निरन्तर यह सोच कर

घूमता रहता हूँ कि उसके चरणों की धूली कण उड़कर मेरे ऊपर पड़ जायें और मैं पवित्र हो जाऊँ। जो सब प्रकार के संग्रह-परिग्रह से रहित हैं, यहाँ तक कि शरीर आदि में भी अहंता, ममता नहीं रखते। जिनका चित्त मेरे ही प्रेम के रंग में रंग गया है, जो संसार की वासनाओं से शान्त उपरत हो चुके हें और अपने महत्ता-उदारता के कारण स्वभाव से ही समस्त प्राणियों के प्रति दया और प्रेम का भाव रखते हैं, किसी प्रकार की कामना जिसके बुद्धि को स्पर्श नहीं कर पाती, उन्हें मेरे जिस परमानन्द स्वरूप का अनुभव होता हे उसे और कोई नहीं जान सकता क्योंकि वह परमानन्द तो केवल निरपेक्षता से ही प्राप्त होता है।

तात्पर्य अर्थ-

जो मुमुक्षु निरन्तर आत्मचिन्तन में ही दिन-रात तदाकार रहता है, जिसका जीवन-निर्वाह, व्यवहार प्रारब्ध कर्मों के द्वारा स्वाभाविक होता है, वह जीवन्मुक्त है। ऐसे जीवन्मुक्त महापुरुषों के जीवन आचरणों का, जो मोक्षाकांक्षी साधक अनुकरण (अनुसरण) करता है, उनके पद चिन्हों पर चलता है, वह भी संसार के विषयवासनाओं से मुक्त होकर, जन्म-मृत्यु रूप अध्यारोप रूपी असाध्य रोग से सदा-सर्वदा के लिये छुटकारा पा सकता है। ''**तद्वत्परे ब्रह्मणि वर्तमानः सदात्मना तिष्ठति नान्यदीक्षते। स्मृतिर्यथा स्वप्नविलोकितार्थे, तथा विदः प्राशनमोचनादौ।।**'' (वि.चू. 458)

106-अन्वीक्षेतात्मनो बन्धं मोक्षं च ज्ञाननिष्ठया।
बन्ध इन्द्रियविक्षेपो मोक्ष एषां च संयमः।। 11.18.22।।

107-तस्मान्नियम्य षड्वर्गं मद्भावेन चरेन्मुनिः।
विरक्तः क्षुल्लकामेभ्यो लब्ध्वात्मनि सुखं महत्।। 11.18.23।।

वह अपनी ज्ञाननिष्ठा से चित्त के बन्धन और मोक्ष पर विचार करे तथा निश्चय करें कि इन्द्रियों का विषयों के लिये विक्षिप्त होना चंचल होना बन्धन है और उनको संयम में रखना ही मोक्ष है। इसलिये संन्यासी को चाहिये कि मन एवं पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को जीत ले, भोगों की क्षुद्रता को समझकर उनकी ओर से सर्वथा मुह मोड़ लें और अपने-आप में ही परमानन्द का अनुभव करें। इस प्रकार वह मेरी भावना से भरकर पृथ्वी पर विचरण करे।

तात्पर्य अर्थ-

जीवन्मुक्त वे हैं जो बन्धन और मोक्ष, जीवात्मा के स्वरूप में किस प्रकार है ओर उसका निवृत्ति का उपाय क्या है? इस प्रकार गंभीरतापूर्वक विचार करके मन के सहित इन्द्रियों को स्ववश कर लेता है, वह ज्ञानी संसार के विषय वासनाओं से रहित हो जाता

है और स्वस्वरूप में ही स्थित रहता है। **"न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता।"** (सां.का-2.34) आत्मा की परमार्थता (वास्तविकता) तो यही है कि न किसी का नाश है, न उत्पत्ति है न बन्धन है और न कोई साधक है तथा न मुमुक्षु (मुक्त होने की इच्छा वाला) है, न मुक्त है।

108-नैतद् वस्तुतया पश्येद् दृश्यमानं विनश्यति।
असक्तचित्तो विरमेदिहामुत्र चिकीर्षितात्।। 11.18.26।।

109-यदेतदात्मनि जगन्मनोवाक्प्राणसंहतम्।
सर्वं मायेति तर्केण स्वस्थस्त्यक्त्वा न तत्स्मरेत्।। 11.18.27।।

विचारवान् संन्यासी दृश्यमान जगत् को सत्य वस्तु कभी न समझें, क्योंकि यह तो प्रत्यक्ष से ही नाशवान् अनुभव में आ रहा है। इस जगत् में कहीं भी अपने चित्त को लगाये नहीं। इस लोक और परलोक में जो कुछ करने या पाने की इच्छा हो, उससे विरक्त हो जायें। संन्यासी विचार करे कि आत्मा में जो मन, वाणी और प्राणों का संघातरूप यह जगत् है वह सारा का सारा माना हुआ ही है। इस विचार के द्वारा इसका बाध करके स्वस्वरूप में स्थित हो जाये और फिर कभी उसका स्मरण भी न करे।

तात्पर्य अर्थ-

इस माया, छायामय, जगत् के प्रति यथावत् विचार करने पर अर्थात् यथार्थ विचार करने पर असत्य ही सिद्ध होता है और ऐसा मिथ्यात्व बुद्धि हो जाने पर इसकी आसक्ति रूप मोह, ममता का भी अन्त हो जाता है, अतः मुमुक्षु साधक, संन्यासी इस प्रपंच जगत् को विनाशी, दुःखस्वरूप, क्षणभंगुर समझे और दृढ़ता से इसका परित्याग करके स्वस्वरूप के चिनतन में तन्मय हो जाये।

110-ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षकः।
सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः।। 11.18.28।।

111-बुधो बालकवत् क्रीड़ेत् कुशलो जड़वच्चरेत्।
वदेदुन्मत्तवद्विद्वान् गोचर्यां नैगमश्चरेत्।। 11.18.29।।

ज्ञाननिष्ठ, विरक्त मुमुक्षु मोक्ष की भी अपेक्षा न करने वाला मेरा भक्त आश्रमों की मर्यादा में बद्ध नहीं है। वह चाहे तो आश्रमों और उनके चिन्हों को छोड़-छाड़ कर वेदशास्त्र के विधि निषेधों से परे होकर स्वच्छन्द विचरे। वह बुद्धिमान होकर भी बालकों के समान खेले। निपुण होकर भी जड़वत् रहे, विद्वान होकर भी पागल की तरह बातचीत करे और समस्त वेद विधियों का जानकार होकर भी पशुवृत्ति से(अनियत आचरण) से रहे।

तात्पर्य अर्थ-

परमहंसों-आत्मतत्त्वज्ञानियों की सप्त भूमिका बतायी गयी है, सात प्रकार की स्थिति की उल्लेख मिलती है शास्त्रों में। प्रकृत श्लोक से आत्मज्ञानियों का पंचमी षष्ठी भूमिका(स्थिति की) जानकारी मिलती है। इस पंचमी और षष्ठी स्थिति में पहुँचने के लिये साधन चतुष्टय-विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति- (शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान) तथा मोक्ष की इच्छा। ये साधन चतुष्टययुक्त हो जाना ही आत्मज्ञानियों की पूर्व स्थिति है। यह स्थिति सत्त्वगुण से ओत-प्रोत है। आगे सप्तमी भूमिका गुणातीत अवस्था है, अर्थात् निश्चेष्टा अवस्था कहा गया है। मानो काष्ठ या पत्थर पड़ा हो तद्वत्।

112- वेदवादरतो न स्यान्न पाखण्डी न हैतुकः।
शुष्कवादविवादे न किञ्चित् पक्षं समाश्रयेत्।। 11.18.30।।

113- नोद्विजेत् जनाद् धीरो जनं चोद्वेजयेन्न तु।
अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन।।
देहमुद्दिश्य पशुवत् वैरं कुर्यात् न केनचित्।। 11.18.31।।

उसे चाहिए कि वेदों के कर्मकाण्ड भाग की व्याख्या में न लगे, पाखण्ड न करें तर्क-वितर्क से बचे और जहाँ वाद-विवाद हो रहा हो वहाँ किसी का पक्ष न लें। वह इतना धैर्यवान् हो कि उसके मन में किसी भी प्राणी से उद्वेग न हो और स्वयं भी किसी प्राणी को उद्विग्न न करे। उसकी कोई निंदा करे उसे प्रसन्नता से सह ले, किसी का अपमान न करे। हे प्रिय उद्धव! संन्यासी इस शरीर के लिये किसी से भी वैर न करें, क्योंकि बैर तो पशु करते है।

तात्पर्य अर्थ-

वेदों के कर्मकाण्ड भाग की व्याख्या जीवन्मुक्त के लिये नहीं; अपितु पण्डितों, पुरोहितों, गृहस्थों आदि का काम है, उनमें भी गृहस्थ ब्राह्मणों, क्षत्रियादिको का काम है। पाखण्ड तर्क-वितर्क, वाद-विवाद आदि मूर्खो अज्ञानियों का काम है। उद्विग्न किसी को करना और स्वयं उद्विग्न होना पशुओं का काम है। विचारवान् साधक संन्यासी तो प्राणी मात्र को अपना आत्मा, अपना स्वरूप ही समझते हैं। फिर वह किसी के प्रति बैर भाव कैसे कर सकते है। ''**सर्व खल्विदं ब्रह्म**'' (छा.3.14.1), ''**नेह नानास्ति किञ्चन**'' (बृ.4.4.19)।

114- अलब्ध्वा न विषीदेत काले कालेऽशनं क्वचित्।
लब्ध्वा न हृष्येद् धृतिमानुभयं दैवतन्त्रितम्।।11.18.33।।

115- आहारार्थं समीहेत युक्तं तत् प्राणधारणम्।
तत्त्वं विमृश्यते तेन तद् विज्ञाय विमुच्यते।। 11.18.34।।

हे प्रिय उद्धव! संन्यासी को किसी-किसी दिन यदि समय पर भोजन न मिले तो उसे दु:खी नहीं होना चाहिए और यदि बार-बार मिलता है तो हर्षित भी न होना चाहिए। उसे चाहिये कि वह धैर्य रखे। मन में हर्ष और विषाद दोनों प्रकार के विकार न आने दें; क्योंकि भोजन मिलना और न मिलना दोनों ही प्रारब्ध के अधीन है। भिक्षा अवश्य मांगनी चाहिये ऐसा करना उचित ही है, क्योंकि भिक्षा से ही प्राणों की रक्षा होती है। प्राण रहने पर ही तत्त्व का विचार होता है और तत्त्व विचार से तत्त्वज्ञान होकर मुक्ति मिलती है।

तात्पर्य अर्थ-

मुमुक्षु साधकों को चाहिये कि अनुकूल प्रतिकूल परिस्थितियाँ के आने पर भी मन में किसी प्रकार विकार उत्पन्न न होने दें, क्योंकि यह जगत् गुणमयी होने से "**जायते ह्यस्ति वर्धते**" (निघण्टु) आदि षड्भाव विकार वाला है। इसलिये जीवन में अनुकूलता प्रतिकूलता की परिस्थितियाँ आना स्वाभाविक है। फिर भी विचार करके देखा जाय तो अधिकतर लोग अपने मन के स्वभावानुसार अनुकूलता और प्रतिकूलता का निर्धारण करते है। गुणों के अनुसार मन का स्वभाव बनता है। गुण भी प्रारब्धकर्मानुसार अपना कार्य करते हैं। उन परिस्थितियों के लिये प्राणिमात्र विवश है। अत: विचारवान् पुरुषों को चाहिये कि जीवन में जो कुछ भी न चाहते हुये प्राप्त होता है, उसे सहर्ष अपना कर भोग लेना चाहिये। यही साधकों का विशेषता और भूषण है। "**यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः। समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते।।**"(गी.4.22)

116- शौचमाचमनं स्नानं न तु चोदनया चरेत्।

अन्यांश्च नियमाञ्ज्ञानी यथाहं लीलयेश्वरः।। 11.18.36।।

117- न हि तस्य विकल्पाख्या या च मद्वीक्षया हता।

आदेहान्तात् क्वचित् ख्यातिस्ततः सम्पद्यते मया।। 11.18.37।।

जैसे मैं परमेश्वर होने पर भी अपनी लीला से ही शौच आदि शास्त्रोक्त नियमों का पालन करता हूँ वैसे ही ज्ञानी आचमन स्नान और दूसरे नियमों का लीला से ही आचरण करे। किन्तु वह शास्त्र के अधीन होकर विधिकिङ्कर होकर न करे, क्योंकि ज्ञाननिष्ठ पुरुष को भेद की प्रतीति नहीं होती। जो पहले थी वह भी मुझ परमात्मा के सर्वात्मा के साक्षात्कार से नष्ट हो गयी। यदि कभी-कभी मरणपर्यन्त बाधित भेद की प्रतीति भी होती है, तब भी देहपात हो जाने पर वह मुझसे एक हो जाता है।

तात्पर्य अर्थ-

जीवन्मुक्त पुरुषों द्वारा जो व्यवहार देखने में आता है, वह व्यवहार लोकाचार की दृष्टि से अथवा प्रारब्ध वेग से होता है अथवा सत्त्व आदि गुणों के प्रभाव से स्वभाविक

हो रहा है, ऐसा समझना चाहिये। जीवन्मुक्त पुरुषों का दृढ निश्चय है कि- यानि "**न कुर्वन्न कारयन्**" (गी.5.13) न करोति न कारयति। क्योंकि आत्मा निष्क्रिय, निर्विकार और निर्गुण होने से आत्मा में किसी प्रकार का व्यवहार का होना सम्भव नहीं है। इसलिए आत्मनिष्ठ ज्ञानियों का जो निश्चय है वह युक्ति-युक्त है। "**इष्टानिष्टार्थसम्प्राप्तौ समदर्शितयात्मनि। उभयत्राविकारित्वं जीवन्मुक्तस्य लक्षणम्।।**"(वि.चू.435)।

118- छिद्यमानं यमैरेतैः कृतनीडं वनस्पतिम्।
खगः स्वकेतमुत्सृज्य क्षेमं याति ह्यलम्पटः।। 11.20.15।।

119- अहोरात्रैश्छिद्यमानं बुद्ध्वाऽऽयुर्भयवेपथुः।
मुक्तसङ्गः परं बुद्ध्वा निरीह उपशाम्यति।। 11.20.16।।

यह शरीर एक वृक्ष है। इसमें घोसला बनाकर जीवरूप पक्षी निवास करता है। यमराज के दूत प्रतिक्षण काट रहे हैं। जैसे पक्षी कटते हुए वृक्ष को छोड़कर घोसले का मोह को त्यागकर, उड़ जाता है। वैसे ही अनासक्त जीव भी इस शरीर को छोड़कर मोक्ष का भागी बन जाता है। परन्तु आसक्त जीव दुःख ही भोगता रहता है । हे प्रिय उद्धव ! ये दिन और रात क्षण-क्षण में शरीर की आयु को क्षीण कर रहे हैं। यह जानकर जो भय से काँप उठता है, वह व्यक्ति इसमें आसक्ति छोड़कर जीवन-मरण से निरपेक्ष होकर अपनी आत्मा में ही शान्त हो जाता है।

तात्पर्य अर्थ-

कार्य-कारण नानात्त्व रूप इस संसार की क्षणिकता, विनाशशीलता और दुःखरूपता को देखकर विचारवान्, बुद्धिमान् पुरुष इसका व्यामोह को छोड़कर सच्चिदानन्द रूप अपने अन्तरात्मा के अनुसन्धान में लग जाता है और सद्गुरु द्वारा उस आत्मा का रहस्य को जानकर अपने मन-बुद्धि को उस सच्चिदानन्द में विलीन कर देता है। फिर तो सदा-सर्वदा के लिये जन्म-मृत्यु रूप संसार बन्धनों से मुक्त हो जाता है। "**समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।।**" (मु.उ. 3.1.1)।

120-न किञ्चित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम्।। 11.20.34।।

मेरे अनन्य प्रेमी एवं धैर्यवान् साधु-भक्त स्वयं तो कुछ चाहते नहीं, यदि मैं उन्हें देना चाहता हूँ और देता भी हूँ तो भी दूसरी वस्तुओं के तो बात ही क्या, वे कैवल्य मोक्ष को भी नहीं लेना चाहते।

तात्पर्य अर्थ-

जो साधक मोक्ष बन्धन के बखेड़े से रहित निरपेक्ष आत्मा-स्वस्वरूप का साक्षात्कार अपरोक्षरूप में अनुभूति कर लिया है, एक आत्मा प्रत्ययसार सच्चिदानन्द में रम रहा है,

उसके लिये कैवल्य पद भिन्न नहीं रह जाता, उसकी चाह करना व्यर्थ हो जाता है। अर्थात् जहाँ कामना होगी, वहाँ पक्षपात भी होगा और जहाँ पक्षपात होगा, वहाँ राग-द्वेष भी होता ही है तथा राग-द्वेष ही सुख-दुःख, जन्म-मृत्यु का निमित्त भी है। "**यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत इति।**" (क.-2.3.14) अर्थात् जब साधक के हृदय में स्थित समस्त कामनाएँ मूल से नष्ट हो जाती हैं तब यह मरणशील पुरुष अमर हो जाता है और इस वर्तमान शरीर में ही वह (साधक) ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। "**ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति**" (बृ.-4.4.6)।

121-न मय्येकान्तभक्तानां गुणदोषोद्भवा गुणाः।

साधूनां समचित्तानां बुद्धेः परमुपेयुषाम्।। 11.20.36।।

मेरे अनन्य प्रेमी भक्तों और समदर्शी महात्माओं का, जो बुद्धि से अतीत परमात्मतत्त्व को प्राप्त कर चुके है, उनका इन विधि और निषेध से होने वाले पुण्य और पापों से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। अतः "**अथाकामयमानो योऽकामो निष्कामो आप्तकामो आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति।।**" (बृ.उ. 4.4.6)।

तात्पर्य अर्थ-

जीवन्मुक्त गुणातीत स्थिति को प्राप्त महापुरुषों के शुभाशुभ कर्मों की (सञ्चित) संस्कार रूप बीजवासना तथा वर्तमान कर्मों का शुभाशुभ वासना (संस्कार) बनती ही नहीं, फिर वह बन्धन या पुनर्जन्म का निमित्त कैसे बन सकते हैं। अर्थात् वह कर्मवासनाओं के द्वारा बन्धन योग्य नहीं है क्योंकि उनकी दृष्टि में न भोग्य पदार्थ है और न एक आत्मा से भिन्न कर्ता-भोक्ता ही है। "**न मां कर्माणि लिम्पन्ति न में कर्मफले स्पृहा। इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते।।**" (गीता. 4.14) भावार्थ- आत्मा निष्क्रिय होने से शुभाशुभ कर्मों का न कर्ता है, न भोक्ता है।

प्रकृति का स्वभाव है-सत्त्व, रज और तम-इन तीनों गुणों के द्वारा समस्त जगत् की उत्पत्ति, स्थिति आदि जो कुछ भी हो रहा है या देखने में आ रहा है वह मायामय है, स्वप्नवत् है, अर्थात् दिखने पर भी मिथ्या है, रज्जु में सर्पवत् है। इस लिये तीनों गुणों से मुमुक्षु साधक मुक्त हो सकते हैं, ज्ञानरूप दीपक के प्रकाश द्वारा, इसमें कोई संशय नहीं। और जब तक गुणों से मुक्त नहीं होगा, तब तक जीव भाव की निवृत्ति भी होना असम्भव है। इसलिये भगवान् वासुदेन का कहना है- "**गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते।।**" गी. 14.20।। भावार्थ- इन तीनों गुणों के द्वारा देहासक्त जीव को होने वाला जन्म, मृत्यु और जरादि दुःखों से मुक्ति मिल जाती है, गुणातीत होने पर।

122-सत्त्वं चाभिजयेद्युक्तो नैरपेक्ष्येण शान्तधीः।

सम्पद्यते गुणैर्मुक्तो जीवो जीवं विहाय माम्।। 11.25.35।।

123-जीवो जीवविनिर्मुक्तो गुणौश्चाशयसम्भवैः।

मयैव ब्रह्मणा पूर्णो न बहिर्नान्तरश्चरेत्।। 11.25.36।।

योग के युक्तियों से चित्तवृत्तियों को शान्त करके निरपेक्षता के द्वारा सत्त्वगुण पर भी विजय प्राप्त कर लें। इस प्रकार गुणों से मुक्त होकर जीव अपने जीव भाव को छोड़ देता है और मुझमें एक हो जाता है। जीव लिंगशरीर रूप अपनी उपाधि जीवत्व से तथा अन्तःकरण से उदय होने वाली सत्त्वादि गुणों की वृत्तियों से मुक्त होकर मुझ ब्रह्म की अनुभूति से, एकत्व दर्शन से पूर्ण हो जाता है और वह फिर बाह्य अथवा आन्तरिक किसी भी विषय में नहीं जाता।

तात्पर्य अर्थ-

लिंगशरीर कर्म संस्कारों का संग्रहालय होने से गमनागमन का मुख्य कारण है और गुणों के द्वारा मन में वृत्तियाँ बनती हैं ओर वही वृत्तियाँ सुख-दुःखों का कारण है, अतः साधन चतुष्टय (विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षता) बहिरंग साधनों और श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन आदि अन्तरंग साधनों के द्वारा आत्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करके अपने जीवभाव का परित्याग कर देने पर गुणों और लिंगशरीर से भी मुक्त होकर स्वस्वरूप में सदा सर्वदा के लिये स्थित हो जाने पर सर्वात्म भाव को प्राप्त हो जाता है। **''आत्मैव सर्वं''** (छा.7.25.2), **''नेह नानास्ति किञ्चन''** (बृ.4.4.19) सब कुछ आत्मा ही हे, आत्मा से भिन्न कुछ है ही नहीं। इसी को सर्वात्मभाव के नाम से जाना जाता है। **''सर्वं खल्विदं ब्रह्म''** (छा.3.14.1), **''अहमेबाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदँ सर्वमिति''** (छा.7.25.1) और विभूतियोग दशवाँ अध्याय गीता, पूर्णरूपेण सर्वात्मभाव की व्याख्या है।

124-योगचर्यामिमां योगी विचरन् मदपाश्रयः।

नान्तरायैर्विहन्येत निःस्पृहः स्वसुखानुभूः।। 11.28.44।।

जो साधक मेरा आश्रय लेकर मेरे द्वारा कही हुई योगसाधना में संलग्न रहता है उसे कोई भी विघ्न, बाधा विचलित नहीं कर सकती। उसकी सारी कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं और वह आत्मानन्द की अनुभूति में मग्न हो जाता है।

तात्पर्य अर्थ-

जो साधक स्वस्वरूप में स्थित हो जाता है, अन्तरात्मा में ही तन्मय हो जाता है, उस साधक के लिये किसी प्रकार की विघ्न-बाधा संसार में रह ही नहीं जाती, उसके लिये

आत्मा से भिन्न संसार ही नहीं रह जाता, फिर विघ्न, बाधा का प्रश्न ही नहीं हो सकता है क्योंकि विघ्न-बाधा का निमित्त है, कामवासना और वह कामवासना स्वरूप में स्थित हो जाने पर भस्मीभूत हो जाती है देह के साथ। **''क्रियानाशे भवेच्चिन्तानाशोऽस्माद्वासनाक्षयः। वासनाप्रक्षयो मोक्षः सा जीवन्मुक्तिरिष्यते।''** (अध्यात्मोपनिषत्-12) अर्थात् क्रिया के नष्ट होने से चिन्ता (सांसारिक चिन्तन) का नाश हो जाता है और सांसारिक चिन्तन के रुक जाने से वासनाओं का क्षय होता है। इस वासनाक्षय का नाम ही मोक्ष है और यही जीवन्मुक्ति कहलाता है। **''ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।।''** (गी. 4.37)।

125-चोदितो विप्रवाक्येन न त्वां धक्ष्यति तक्षकः।
मृत्यवो नोपधक्ष्यन्ति मृत्यूनां मृत्युमीश्वरम्।। 12.5.10।।

126-अहं ब्रह्म परं धाम ब्रह्माहं परमं पदम्।
एवं समीक्षन्नात्मानमात्मन्याधाय निष्कले।। 12.5.11।।

देखो! तुम मृत्युओं के भी मृत्यु हो। तुम स्वयं ईश्वर हो। ब्राह्मणों के शाप से प्रेरित तक्षक तुम्हें भस्म न कर सकेगा। तक्षक की तो बात ही क्या, स्वयं मृत्यु और मृत्युओं के समूह भी तुम्हारे पास तक न फटक सकेंगे। तुम इस प्रकार अनुसन्धान चिन्तन करो कि मैं ही सर्वाधिष्ठान परब्रह्म हूँ। सर्वाधिष्ठान ब्रह्म मैं ही हूँ। इस प्रकार तुम अपने आत्मा को अपने वास्तविक, एकरस, अनन्त, अखण्ड स्वरूप में स्थित कर लो।

127-दशन्तं तक्षकं पादे लेलिहानं विषाननैः।
न द्रक्ष्यसि शरीरं च विश्वं च पृथगात्मनः।। 12.5.12।।

उस समय अपनी विषैली जीभ लपलपाता हुआ अपने होंठों के कोने चाटता हुआ तक्षक आये और अपने विषपूर्ण मुखों से तुम्हारे पैरों में डस ले तो भी कोई परवाह नहीं क्योंकि तुम अपने आत्मस्वरूप में स्थित होकर इस शरीर को और तो क्या सारे विश्व को भी अपने से पृथक् न देखोगे।

तात्पर्य अर्थ-

मुमुक्षु साधक जब अपने स्वरूप आत्मा में स्थित होकर सर्वात्मभाव को प्राप्त कर लेता हे, तब मृत्यु के समूह भी आ जायें तो भी मृत्युओं का भी मृत्युरूप होने से किंचित् मात्र भयभीत या उद्वेगित नहीं होते। क्योंकि सर्वात्मभाव हो जाने पर आत्मा से भिन्न न कोई प्राणी पदार्थ बचा रहता है और न मृत्यु ही शेष रह जाती है। **''सर्वं खल्विदं ब्रह्म''** (छा.3.14.1), **''आत्मैव सर्वं''** (छा.7.25.2)।

128-एतत्ते कथितं तात यथाऽऽत्मा पृष्टवान् नृप।
हरेर्विश्वात्मनश्चेष्टां किं भूयः श्रोतुमिच्छसि।। 12.5.13।।

हे आत्मस्वरूप प्रिय परीक्षित! तुमने विंश्वात्मा भगवान् की लीला के सम्बन्ध में जो प्रश्न किया था, उसका उत्तर मैंने दे दिया, अब और क्या सुनना चाहते हो ?

129-सिद्धोऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि भवता करुणात्मना।

श्रावितो यच्च मे साक्षादनादिनिधनो हरि:।। 12.6.2।।

हे भगवन् आप करुणा के मूर्तिमान स्वरूप हैं। आपने मुझ पर परम कृपा करके अनादि अनन्त, एक रस सत्य भगवान् श्री हरि के स्वरूप और लीलाओं का वर्णन किया है। अब मैं आपकी कृपा से परम अनुगृहीत और कृतकृत्य हो गया हूँ।

तात्पर्य अर्थ-

यदि कोई कल्याणेच्छुक श्रद्धा विश्वास पूर्वक एवं निष्ठापूर्वक तत्त्वज्ञानी, ब्रह्मनिष्ठ सद्‌गुरु के शरणापन्न होकर उनके द्वारा दिये गये शिक्षा, उपदेशों को श्रवण करके हृदयंगम कर लेता है, तो निश्चित ही उनका जीवन कल्याणमय होगा और वह इसी जन्म में ही अपने परम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं। ''**श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः। ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।।**'' (गी. 4.39)।

130-भगवंस्तक्षकादिभ्यो मृत्युभ्यो न बिभेम्यहम्।

प्रविष्टो ब्रह्म निर्वाणमभयं दर्शितं त्वया।। 12.6-5।।

हे भगवन्! आपने मुझे अभयपद का-ब्रह्म और आत्मा की एकता का साक्षात्कार करा दिया है। अब मैं परमशान्ति स्वरूप ब्रह्म में स्थित हूँ। अब मुझे तक्षकादि किसी भी प्रकार का मृत्यु के निमित्तों से अथवा दल के दल मृत्युओं से भी भय नहीं है। मैं अभय हो गया हूँ।

तात्पर्य अर्थ-

परमानन्द, सच्चिदानन्दरूप अभय पद की प्राप्ति के लिये अनुभूति के लिये जीवात्मा ब्रह्म की एकत्व ज्ञान की महति आवश्यकता है और यह तभी सम्भव है, जब जगत् के प्रति मिथ्यात्व बुद्धि की दृढ़ता पूर्वक निश्चय होगी। विश्व यानि प्रपंच के प्रति मिथ्यात्व की दृढ़ता की निश्चय ही साक्षात् अपरोक्ष ज्ञान या मोक्ष है ''**ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापर:।।**'' (वेदान्तडिण्डिम: 67) , ''**वेदान्त-सिद्धान्तनिरुक्तिरेषा ब्रह्मैव जीवः सकलं जगच्च। अखण्डरूपस्थितिरेव मोक्षो ब्रह्माद्वितीये श्रुतयः प्रमाणम्।।**'' (वि.चू.479)।

131-अनुजानीहि मां ब्रह्मन् वाचं यच्छाम्यधोक्षजे।

मुक्तकामाशयं चेतः प्रवेश्य विसृजाम्यसून्।। 12.6.6।।

हे ब्रह्मन् ! अब आप मुझे आज्ञा दीजिये कि मैं अपनी वाणी बंद कर लूँ, मौन हो जाऊँ और साथ ही कामनाओं के संस्कारों से भी रहित चित्त को इन्द्रियातीत परमात्मा के स्वरूप में विलीन करके अपने प्राणों का त्याग कर दूँ।

तात्पर्य अर्थ-

''अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमचिंत्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं स आत्मा स विज्ञेयः।।'' (मा.उ. 7) अचिन्त्य, अग्राह्य एवं अप्रमेय निर्विशेष आत्मा में कर्म संस्कारों से रहित अपने चित्तवृत्तियों को समाहित कर देने पर आत्मज्ञानी पुरुष, मन वाणी से एवं सकल व्यवहारों से रहित हो जाने पर वह जीवात्मा, सर्वात्मरूप को प्राप्त हो जाता है। **''ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति''** (मुं.3.2.9), **''सर्वात्मना बन्धविमुक्तिहेतुः सर्वात्मभावान्न परोऽस्ति कश्चित्। दृश्याग्रहे सत्युपपद्यतेऽसौ, सर्वात्मभावोऽस्य सदात्मनिष्ठया।।''** (वि.चू.340)।

अर्थात् ब्रह्म को जान लेने पर ब्रह्म ही हो जाता है। संसार बन्धन से सर्वथा मुक्त होने में सर्वात्मभाव (सबको आत्मरूप देखने के भाव) से बढ़कर और कोई हेतु नहीं है। निरन्तर आत्मनिष्ठा में रहने से दृश्य प्रपञ्च का अग्रहण (बाध) होने पर इस सर्वात्मभाव की प्राप्ति होती है।

132-परीक्षिदपि राजर्षिरात्मन्यात्मानमात्मना।

समाधाय परं दध्यावस्पन्दासुर्यथा तरुः।। 12.6.9।।

133-प्राक्कूले बर्हिष्यासीनो गङ्गाकूल उदङ्मुखः।

ब्रह्मभूतो महायोगी निःसङ्गश्छिन्नसंशयः।। 12.6.10।।

राजर्षि परीक्षित ने भी बिना किसी बाह्य सहायता के स्वयं ही अपने अन्तरात्मा को परमात्मा के चिन्तन में समाहित किया और ध्यानमग्न हो गया। उस समय उनका श्वास-प्रश्वास भी नहीं चलता था, ऐसा जान पड़ता था मानों कोई वृक्ष का ठूँठ हो। उन्होंने गंगा जी के तट पर कुशों को इस प्रकार बिछा रक्खा था, जिसमें उनका अग्रभाग पूर्व की ओर उन पर स्वयं उत्तर मुख होकर बैठे हुए थे। उनकी आसक्ति और संशय तो पहले ही मिट चुके थे। अब वे ब्रह्म और जीवात्मा की एकतारूप महायोग में स्थित होकर ब्रह्मस्वरूप हो गये।

तात्पर्य अर्थ-

मुमुक्षु साधक को जब अपने ब्रह्मनिष्ठ आत्मतत्त्व ज्ञानी सद्गुरु के द्वारा यथावत् ज्ञान प्राप्त हो जाता है तब उसके मन, बुद्धि में किसी प्रकार का संशय, विपर्यय नहीं रह जाती, वह प्रतिक्षण स्वस्वरूप में ही आनन्दित रहता है (चलते-फिरते, सोते-जागते,

खाते-पीते, बोलते-सुनते आदि समयों में भी अपने मन, बुद्धि को जगताकार-विषयाकार नहीं होने देता। अथवा ब्रह्माकार वृत्ति हो जाने से निष्क्रिय भाव में स्थित हो जाने से समूचे शरीर पत्थर के समान अथवा भस्म की राशिवत् अनुभव में आता है। ऐसी स्थिति में जीवभाव भी नहीं रह जाता, जगत् और जीवभाव के अभाव में वह सर्वात्मा हो जाता है। **''सर्वंखल्विदं ब्रह्म''** (छा.3.14.1), **''प्रत्यगेकरसं पूर्णमनन्तं सर्वतोमुखम्। एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन।।''** वि.चू.467।।

134-आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते।

स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते।। 2.10.7।।

हे परीक्षित! इस चराचर जगत् की उत्पत्ति और प्रलय जिस तत्त्व से प्रकाशित होते हैं, वह परम ब्रह्म ही 'आश्रय' है। शास्त्रों में उसी को परमात्मा शब्द से कहा गया है।

तात्पर्य अर्थ-

अनादि अज्ञान के कारण भासमान यह जगत् तीनों कालों में न होने पर भी सत्यवत् प्रतीति हो रही है, इस प्रतीति का आश्रय परमात्मा ही है। क्योंकि आत्मा से भिन्न दूसरा कुछ है नहीं **'नेह नानास्ति किञ्चन'** (बृ.4.4.19; इति श्रुतिः।

135-योऽऽध्यात्मिकोऽयं पुरुषः सोऽसावेवाधिदैविकः।

यस्तत्रोभयविच्छेदः पुरुषो ह्याधिभौतिकः।। 2.10.8।।

136-एकमेकतराभावे यदा नोपलभामहे।

त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः।। 2.10.9।।

जो नेत्र आदि इन्द्रियों का अभिमानी द्रष्टा जीव है वही इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवता सूर्य आदि के रूप में भी है और जो नेत्रगोलक आदि से युक्त दृश्य देह है, वही उन दोनों को अलग-अलग करता है।। इन तीनों में यदि एकका भी अभाव हो जाय तो दूसरे दो की उपलब्धि नहीं हो सकती। जो इन तीनों को जानता है, वह परमात्मा ही सबका अधिष्ठान (आश्रय) तत्त्व है। उसका आश्रय दूसरा कोई नहीं और न स्वयं ही है।

तात्पर्य अर्थ-

जड़ और चेतन (आत्मा और अनात्मा) इन्हीं को दृश्य और द्रष्टा के नाम से भी जाना जाता है। जड़ वस्तु ज्ञान हीन होने से न अपने को जानता है और न अन्य पदार्थों को जानती है, किन्तु उसके विपरीत-चेतन पदार्थ अन्य को जानता है और अपने आप में तो वह शान्तस्वरूप ही है। दूसरी बात यह है कि ज्ञान (ज्ञातृ) होने से किसी न किसी का आधार (आश्रय) तो बनेगा। यदि कोई ऐसा कहे तो यह संभव नहीं क्योंकि द्वितीय नहीं है जिसका वह आश्रय हो। और सर्वव्यापक होने से स्वयं अन्य के आश्रित भी नहीं हो

सकते। अर्थात्- देह, इन्द्रियाँ आदि प्रत्यक्ष-स्थूल होने पर भी न अपने को जानने में समर्थ हैं और न अन्य को जानते हैं। चेतन आत्मा ही अपनी सत्ता मात्र से सबका ज्ञाता है, द्रष्टा है, प्रकाशक एवं नियंता है। चेतन की सत्ता से वे भी चेतन वाले के समान भासित हो रहे हैं। क्योंकि श्रुति कहती हैं:- **''श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचँ स उ प्राणस्य प्राणश्चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः''** (के.उ. 2.2) **''यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्। यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूँषि पश्यन्ति''** (के.उ. 1.6) अर्थात् चेतन के अभाव में इनका कोई अस्तित्त्व ही नहीं है।

137-प्रकृतिस्थोऽपि पुरुषो नाज्यते प्राकृतैर्गुणैः।
अविकारादकर्तृत्वान्निर्गुणत्वाज्जलार्कवत्।। 3.27.1।।
138-स एष यर्हि प्रकृतेर्गुणेष्वभिविषज्जते।
अहं क्रियाविमूढात्मा कर्तास्मीत्यभिमन्यते।। 3.27.2।।

हे माताजी! जिस तरह जल में प्रतिबिम्बित सूर्य के साथ जल के शीतलता, चञ्चलता आदि गुणों का सम्बन्ध नहीं होता, उसी प्रकार प्रकृति के कार्य शरीर में स्थित रहने पर भी आत्मा वास्तव में उसके सुख-दुःखादि धर्मों से लिप्त नहीं होता क्योंकि वह स्वभाव से निर्विकार, अकर्ता और निर्गुण हैं। किन्तु जब वही प्राकृत गुणों से अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेता है, तब अहङ्कार से मोहित होकर मैं कर्ता हूँ, ऐसा मानने लगता है।

तात्पर्य अर्थ-

निर्गुण, निर्विकार, निराकारस्वरूप आत्मा को, प्रकृति का स्वभाव एवं षड्विकार आदि रूप शरीर में ओत-प्रोत होते हुए भी स्पर्श नहीं कर सकते। अर्थात्-विकारी नहीं बना सकते। जो विकार की प्रतीति हो रही है, वह भ्रान्ति है, अज्ञान के कारण है। **''असङ्गो ह्ययं पुरुषः इत्येवमेव''** बृ. 4.3.15।

139-तेन संसारपदवीमवशोऽभ्येत्यनिर्वृतः।
प्रासङ्गिकैः कर्मदोषैः सदसन्मिश्रयोनिषु।। 3.27.3।।
140-अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते।
ध्यायते विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा।। 3.27.4।।

उस अभिमान के कारण वह देह के संसर्ग से किये हुए पुण्य-पापरूप कर्मों के दोष से अपनी स्वाधीनता और शान्ति खो बैठता है। तथा उत्तम, मध्यम और नीच योनियों में उत्पन्न होकर संसार चक्र में घूमता रहता है। जिस प्रकार स्वप्न के पदार्थों में आस्था हो जाने के कारण उस समय दुःख उठाना पड़ता है, उसी प्रकार भय-शोक, अहं-मम एवं

जन्म-मरणादिरूप संसार की कोई सत्ता न होने पर भी अविद्यावश विषयों का चिन्तन करते रहने से जीवन का (लिङ्गदेह) का संसार-चक्र भी निवृत्त नहीं होता।

तात्पर्य अर्थ-

मैं और मेरे का अहङ्कार ने ही जीवात्मा जो-निर्विकार यानि अविकारी, अकर्ता, अजन्मा आदि स्वरूपवाले को विकारी, कर्ता एवं जन्म-मरण वाला बना रखा है। अतः सब इन्द्रियों को अन्तर्मुखी करके आत्मचिन्तन में ही लगा दे; विषयचिन्तन का अवसर ही न दे। वास्तव में सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो लिङ्गदेह का ही गमनागमन व कर्ता-भोक्ता होना सिद्ध होता है। आत्मा में नहीं, क्योंकि आत्मा सर्वव्यापक होने से उनका गमनागमन बन नहीं सकता। और अविनाशी का जन्म-मृत्यु नहीं। **"अविनाशी तु तद्विद्धि येन सर्वामिदं ततम्"**, (गी.2.17) **"बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च। सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्"**।। (गी. 13.15)।

141-यथा जलस्थ आभासः स्थूलस्थेनावदृश्यते।
स्वाभासेन तथा सूर्यो जलस्थेन दिवि स्थितः।। 3.27.12।।

142-एवं त्रिवृदहङ्कारो भूतेन्द्रियमनोमयैः।
स्वाभासैर्लक्षितोऽनेन सदाभासेन सत्यदृक्।। 3.27.13।।

143-भूतसूक्ष्मेन्द्रियमनोबुद्ध्यादिष्विह निद्रया।
लीनेष्वसति यस्तत्र विनिद्रो निरहंक्रियः।। 3.27.14।।

जिस प्रकार जल में पड़ा हुआ सूर्य का प्रतिबिम्ब और दीवार पर पड़े हुए अपने आभास के सम्बन्ध में देखा जाता है एवं जल में दिखनेवाले प्रतिबिम्ब से आकाश स्थित सूर्य का ज्ञान होता है, उसी प्रकार वैकारिकादि भेद से तीन प्रकार का अहंकार-देह, इन्द्रिय और मन में स्थित अपने प्रतिबिम्बों से लक्षित होता है और फिर सत्-परमात्मा के प्रतिबिम्बयुक्त उस अहङ्कार के द्वारा सत्यज्ञानरूप परमात्मा का दर्शन होता है। जो सुषुप्ति के अव्याकृत में अहंकारादि सब कुछ लीन हो जाने पर स्वयं जागता रहता है और सर्वथा अहङ्कारशून्य है।

तात्पर्य अर्थ-

सूक्ष्मातिसूक्ष्म निराकार, निर्लेप, अतीन्द्रियतत्त्व, चेतन आत्मका ज्ञान या अनुभव कैसे होता है, उसी बात को इन श्लोकों के द्वारा बतलाने का प्रयास किया गया है। क्योंकि आत्मा अतीन्द्रिय, निराकार, निर्विषय होने से इन्द्रियग्राह्य न होने पर भी उस तत्त्व का ज्ञान; शास्त्रों में आया है, इस लिये यह प्रसङ्ग विचारणीय विषय बन जाता है। अब हम भी कुछ विचार करनेका प्रयास करते हैं अनुमान एवं युक्ति के द्वारा-

प्रकृति और प्राकृतिक कार्य ज्ञान विहीन होने से उसके द्वारा आत्मा का ज्ञान हो पाना असम्भव है और चेतन निर्गुण निर्विषय अप्रमेय होने के कारण भी चेतन आत्मा का ज्ञान होना असम्भव हो जाता है। इस लिये एकमात्र उपाय है तो श्रुति, अनुमान और युक्ति। श्रुति प्रमाण गुरुमुख से ग्राह्य अतः हम पहले अनुमान के द्वारा जानने का प्रयास करते हैं- प्रस्तुत प्रसङ्ग पर अनुमान यह होगा कि जो प्रत्यक्ष का विषय नहीं होता उसे अनुमान के द्वारा भी जाना जाता है; जैसे- एक मकान या घड़ा आदि के बनाने वाले का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो पा रहा है; फिर भी हम अनुमान यही करते हैं या करेंगे कि इस मकान या घड़ा का बनाने वाला कोई-न-कोई व्यक्ति अवश्य होगा, क्योंकि बिना कारीगर के स्वाभाविक इस प्रकार बन नहीं सकता।

अब थोड़ा युक्ति पर विचार करते हैं- जैसे अपने आँख और सूर्यदेव के बीच में (आँख के सामने) आपकी हथेली या कोई वस्तु रख देने पर सूर्यका दर्शन नहीं होता, फिर भी अपनी हथेली दिख रही है, वह उसी सूर्य के प्रकाश से ही दिख रही है। अथवा खग्रास-ग्रहण में सूर्य या चन्द्रमा नहीं दिखनेपर भी खग्रास-ग्रहण का जो दर्शन करते हैं वह उसी सूर्य या चन्द्रमा के प्रकाश से ही दर्शन करते हैं। उसी प्रकार अन्तरात्मा चेतनदेव-गुणातीत एवं अतीन्द्रिय होने पर भी मन-बुद्धि आदि सङ्घात शरीर के द्वारा उस चेतनात्मा का ज्ञान होता है, अनुभव होता है- समाधिकाल में अथवा गहन विचार काल में। अरे! और तो क्या-जो कुछ दृश्यमान जगत् का ज्ञान हो रहा है, उसी चेतन से ही तो हो रहा है।

144-मन्यमानस्तदाऽऽत्मानमनष्टो नष्टवान्मृषा।

नष्टोऽहङ्कारेण द्रष्टा नष्टवित्त इवातुरः।। 3.27.15।।

145-एवं प्रत्यवमृश्यासावात्मानं प्रतिपद्यते।

साहङ्कारस्य द्रव्यस्य योऽवस्थानमनुग्रहः।। 3.27.16।।

जाग्रत अवस्था में यह आत्मा भूतसूक्ष्मादि दृश्य वर्गके संसर्ग से द्रष्टारूप में स्पष्ट रूप से अनुभव में आता है; किन्तु सुषुप्ति के समय अपने उपाधिभूत अहङ्कार का नाश होने से वह भ्रमवश अपने को ही नष्ट हुआ मान लेता है और जिस प्रकार धन का नाश हो जाने पर मनुष्य अपने को भी नष्ट हुआ मानकर अत्यन्त व्याकुल हो जाता है उसी प्रकार वह भी अत्यन्त विवश होकर नष्टवत् हो जाता है। हे माताजी! इन सब बातों का मनन करके विवेकी पुरुष अपने आत्मस्वरूप का अनुभव कर लेता है, जो अहङ्कार के सहित सम्पूर्ण तत्त्वों का अधिष्ठान और प्रकाशक है।

तात्पर्य अर्थ-

शास्त्रकारों ने त्रिविध शरीर का वर्णन किये हैं- स्थूल, सूक्ष्म और कारण जाग्रतावस्थावाला स्थूलशरीर है, स्वप्नावस्थावाला सूक्ष्मशरीर है और सुषुप्ति अवस्थावाला कारणशरीर है। अर्थात्-जाग्रत अवस्था में अविनाशी स्वरूप, प्रंपञ्चशून्य अन्तरात्मा का, सर्वद्रष्टाका मैं के रूप में अनुभव सभी को स्पष्टरूप से होता है। और स्वप्नावस्था में भी जाग्रत जैसा अनुभव में आता है, जिसे ज्योतिर्मय आत्मा कहा गया है। ''**आत्मैवास्य ज्योतिर्भवतीत्यात्मनैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति**'' (बृ.उ. 4.3.6) अर्थात् उस समय इस पुरुष के लिये ज्योति रूप में आत्मा ही रहता, क्योंकि यह पुरुष उस आत्मज्योति से बैठता है और सभी ओर जाता है, कर्म करता है तथा कर्म करके नियत स्थान पर लौट आता है। किन्तु सुषुप्ति अवस्था में प्रकृति के कार्यरूप मन-बुद्धि अपने कारणरूप मूलाविद्या में एकीकरण भाव को प्राप्त हो जाने से अहङ्कार का नाश हो जाता है, और अहङ्कार के अभाव में भ्रमवश अपने को ही नष्ट हुआ मान लेता है। जिसे-नित्य प्रलय भी कहा जाता है। यथा प्रिय पुत्र के मरण को अपने में आरोपित करके मरणासन्न हो जाता है। यद्यपि अहंकार सूक्ष्मशरीर का हिस्सा है, अत: इसका नाश केवल आत्मज्ञान से ही होता है तथापि सुषुप्ति में उसके कार्य का अभाव होने से नाश का व्यवहार होता है। उपरोक्त व्ययहारों को विवेकी पुरुष गंभीरता पूर्वक विचार करके मिथ्या-कल्पना मात्र समझके इन्हीं शरीरों के माध्यम से अपने स्वस्वरूप आत्मा का अनुभव कर लेता है। जो कार्य-कारण रूप सम्पूर्ण जगत् का प्रकाशक एवं आश्रय है। श्रुति उस परमतत्त्व को ''**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**''(छा.3.14.1) इत्यादि शब्दों से कहा है। ''**तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति।**'' (मुं.2.2.7)

146-अनिमित्तनिमित्तेन स्वधर्मेणामलात्मना।

तीव्रया मयि भक्त्या च श्रुतसम्भृतया चिरम्।। 3.27.21।।

147-ज्ञानेन दृष्टतत्त्वेन वैराग्येण बलीयसा।

तपोयुक्तेन योगेन तीव्रेणात्मसमाधिना।। 3.27.22।।

148-प्रकृतिः पुरुषस्येह दह्यमाना त्वहर्निशम्।

तिरोभवित्री शनकैरग्रेर्योनिरिवारणिः।। 3.27.23।।

हे माताजी! जिस प्रकार अग्नि का उत्पत्ति स्थान अरणी अपने से ही उत्पन्न अग्नि से जलकर भस्म हो जाती है, उसी प्रकार निष्काम भाव से किये हुए स्वधर्मपालन द्वारा अन्तःकरण शुद्ध हो जाने से बहुत समय तक भगवत्कथा श्रवणद्वारा पुष्ट हुई मेरी तीव्र भक्ति से, तत्त्वसाक्षात्कार कराने वाले ज्ञान से, प्रबल वैराग्य से, व्रतनियमादि के सहित

किये हुए ध्यानाभ्यास से और चित्त की प्रगाढ़ एकाग्रता से पुरुष की प्रकृति (अविद्या) दिन-रात क्षीण होती हुई धीरे-धीरे लीन हो जाती है।

तात्पर्य अर्थ-

सत्कर्म, सत्साधन एवं सत्शास्त्रों के निरन्तर अभ्यास से अन्तःकरण की शुद्धि होती है और अन्तःकरण के शुद्ध हो जाने पर उसी अन्तःकरण में ज्ञान-वैराग्य रूप अग्नि प्रकट होती है, उसी अग्नि के द्वारा अन्तःकरण में स्थित अनादि कर्म-बीजवासना भूनकर जल के धीरे-धीरे नष्ट हो जाती है। फिर जीवात्मा निरिन्धन अग्नि के समान निर्मल हो जायेगा, अपने-आप में अवस्थित हो जाता है, सदा के लिये अथवा जीवात्मा के अनादि अविद्या-आवरण नष्ट हो जाता है। इसी का नाम है-विज्ञान रूपी नौका, जिससे आत्यन्तिक सुख-शान्ति की अनुभूति होती है।

149-भुक्तभोगा परित्यक्ता दृष्टदोषा च नित्यशः।
नेश्वरस्याशुभं धत्ते स्वे महिम्नि स्थितस्य च।। 3.27.24।।

फिर नित्यप्रति दोष दिखने से भोगकर त्यागी हुई वह प्रकृति अपने स्वरूप में स्थित और स्वतन्त्र (बन्धनमुक्त) पुरुषका कुछ भी बिगाड़ नहीं सकती।

तात्पर्य अर्थ-

जब साधक अनादि कर्म-बीजवासनाओं से मुक्त हो जाता है, तब प्रकृति और प्रकृति से उत्पन्न-सत्त्व-रजादि तीनों गुण भी उस आत्मा का अहित नहीं कर सकते। अर्थात् पुनः भोग या जन्म-मृत्यु के कारण नहीं बन सकते।

150-यथोल्मुकाद्विस्फुलिङ्गाद्धूमाद्वापि स्वसम्भवात्।
अप्यात्मत्वेनाभिमताद्यथाग्निः पृथगुल्मुकात्।। 3.28.40।।

151-भूतेन्द्रियान्तःकरणात्प्रधानाज्जीवसंज्ञितात्।
आत्मा तथा पृथग्द्रष्टा भगवान् ब्रह्मसंज्ञितः।। 3.28.41।।

जिस प्रकार जलती हुई लकड़ी की चिंगारी स्वयं अग्नि से प्रगट हुए धुएँ से तथा अग्निरूप मानी जाने वाली उस जलती हुई लकड़ी से भी अग्नि वास्तव में पृथक् ही है। उसी प्रकार भूत, इन्द्रिय और अन्तःकरण से तथा जीव कहलाने वाले उस आत्मा से उनका साक्षी-आत्मा अलग है, जिसे ब्रह्म नाम से कहा जाता है और पुरुषोत्तम भगवान् भी कहा जाता है।

तात्पर्य अर्थ-

विषय-पँचक, प्राण-पँचक, इन्द्रिय-पँचक और मन-बुद्धि इन (17) के सङ्घात को लिङ्गदेह (सूक्ष्मशरीर) कहा गया है, इस लिङ्गदेह से संयुक्त होने के कारण सर्वात्मा

ब्रह्म को ही जीवात्मा के नाम से जाना जाता है। सूक्ष्मशरीर का अस्तित्व तभी तक सिद्ध होता है, जब तक कर्म वासना है। और ज्ञानाग्नि के द्वारा वासना दग्धीभूत हो जाने पर लिङ्ग शरीर अपने कारण में विलीन हो जाता है, उस समय शेष बिम्बरूप परब्रह्म ही रह जाता है। और सङ्घातरूप सूक्ष्म-शरीर से रहित हो जाने पर उसी को सर्वात्मा-ब्रह्म के नाम से कहा गया है। यद्यपि-सर्वात्मा ब्रह्म और जीवात्मा भिन्न-भिन्न दो वस्तु न होते हुए भी सोपाधि-निरुपाधि भेद से दो नाम से जाना जाता है। जैसे-लकड़ी और धुआँ युक्त अग्नि को चिंगारी कहा जाता है, वास्तव में उस चिंगारी में अग्नि है, वह शुद्ध अग्नि से भिन्न नहीं है, फिर भी उपाधि संयोग से पृथक् नाम से जाना जाता है।

152-सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षेतानन्यभावेन भूतेष्विव तदात्मताम्।। 3.28.42।।

जिस प्रकार देह दृष्टि से-जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज चारों प्रकार के प्राणी पञ्चभूतमात्र हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण जीवों में आत्मा को और आत्मामें सम्पूर्ण जीवों को अनन्यभाव से अनुगत देखें।

तात्पर्य अर्थ-

व्यवहार के दृष्टि से दृश्य और द्रष्टा कहा जाता है, परमार्थ के दृष्टि से एक ही वस्तु सिद्ध होता है। क्योंकि-सुषुप्ति, मूर्च्छा, समाधि आदि काल में दृश्य का मिथ्यात्व सिद्ध होता है। अर्थात् दृश्य प्रपञ्च मनोमय मात्र है। और आत्मा-सभी अवस्था सभी प्राणिपदार्थों में एक है, जैसे-अनेक फूलों के बीचमें धागा एक है माला के दृष्टि से।

153-स्वयोनिषु यथा ज्योतिरेकं नाना प्रतीयते।
योनीनां गुणवैषम्यात्तथाऽऽत्मा प्रकृतौ स्थितः।। 3.28.43।।

जिस प्रकार एक ही अग्नि अपने पृथक्-पृथक् आश्रयों में उनकी विभिन्नता के कारण भिन्न-भिन्न आकार का दिखायी देती है, उसी प्रकार देव-मनुष्यादि शरीरों में रहने वाला एक ही आत्मा अपने-अपने आश्रयों के गुण भेद के कारण भिन्न-भिन्न प्रकार का भासता है।

तात्पर्य अर्थ-

पूर्व-पूर्व कर्मों के अनुसार-भिन्न-भिन्न योनियों की प्राप्ति, सुख-दुःख, धनी-निर्धनी, विद्वान्-अविद्वान्, सर्वाङ्ग-अङ्ग विहीन एवं अपङ्ग, पशु-पक्षी, कृमी-कीट आदि की प्राप्ति होती है और उसी के अनुसार उनका व्यवहार भी देखने में आता है। ऐसा होते हुए भी आत्मदर्शी ज्ञानी जन सम्पूर्ण जीवों में आत्मा को और आत्मा में समस्त जीवों को अनन्य भाव से अनुगत देखते हैं। क्योंकि आत्मा (ब्रह्म) ही जीवरूप में अन्तःकरण

उपाधि के कारण आभासित हो रहा है। प्रकृति का स्वतन्त्र कोई अस्तित्व नहीं है, माया-छायामय है, भ्रान्तिमय है, स्वप्नवत् है। इसलिये मिथ्या है, एक आत्मा ही सत्य-नित्य और सर्वत्र है "**सर्वं खाल्विदं ब्रह्म**" (छा.3.14.1), "**नेह नानास्ति किञ्चन**" (बृ.4.4.19) इत्यादि श्रुतियाँ साक्षी हैं। "**मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना। मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।।**", "**न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।।**" (गी-9.4/5)।

154- क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुष पुराणः, साक्षात्स्वयंज्योतिरजः परेशः।
नारायणो भगवान् वासुदेवः, स्वमाययाऽऽत्मन्यवधीयमानः।। 5.11.13।।

155- यथानिलः स्थावरजङ्गमानामात्मस्वरूपेण निविष्ट ईशेत्।
एवं परो भगवान् वासुदेवः, क्षेत्रज्ञ आत्मेदमनुप्रविष्टः।। 5.11.14।।

यह क्षेत्रज्ञ परमात्मा सर्व व्यापक, जगत् का आदि-कारण, परिपूर्ण, अपरोक्ष स्वयंप्रकाश, अजन्मा ब्रह्मादि का भी नियन्ता और अपने अधीन रहने वाली माया के द्वारा सबके अन्तःकरणों में रहकर जीवों को प्रेरित करने वाला समस्तभूतों का आश्रयरूप भगवान् वासुदेव हैं।। जिस प्रकार वायु सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गम प्राणियों में प्राणरूप से प्रविष्ट होकर उन्हें प्रेरित करती है, उसी प्रकार वह परमेश्वर भगवान् वासुदेव सर्वसाक्षी आत्मस्वरूप से इस सम्पूर्ण प्रपञ्च में ओत-प्रोत है।

तात्पर्य अर्थ-

कुछ लोगों के मन में, कुछ आचार्यों के मन में भ्राँति है कि आत्मा अनेक एवं अनन्त (असंख्य) हैं; क्योंकि प्रत्यक्ष अनुभव में आ रहा है कि; किसीका जन्म हो रहा है; तो किसी का मृत्यु, कोई विद्वान् है, तो कोई मूर्ख, कोई-धनी है, तो कोई निर्धन, कोई सुखी है, तो कोई दुःखी, इत्यादि-इत्यादि, इस प्रत्यक्ष प्रमाण का कोई लोप नहीं कर सकते, बाध नहीं कर सकते।

ऐसा अनुभव होने पर भी आत्मा एक-अद्वितीय हो सकता है और प्रत्यक्ष अनुभव का भी समाधान हो सकता है। यथा-एक ही वायुतत्त्व असंख्य प्राणियों के प्राण के रूप में प्राणन क्रिया करते हुए जीवन रक्षक वायु एक हो सकते हैं, एक ही सूर्य सर्वत्र प्रकाशित कर सकते हैं, एक ही अग्नि चराचर जगत् को अपनी उष्णता के द्वारा जीवन रक्षक बन सकती हैं; एक ही धागा सैकड़ों-हजारों फूलों का आश्रय बन सकती हैं, तो एक आत्मा- एक परमात्मा प्राणी मात्र का आश्रय-आधार, अधिष्ठान क्यों नहीं बन सकते, इसमें आपको क्या आपत्ति है, क्या विवशता है? मैं तो मानता हूँ कि एक ही आत्मा नाना-नाम-रूपों में प्रतीति का विषय बन रहा है। यथा एक ही स्वर्ण मिट्टी

आदि अनेकों नाम-रूपों में आभूषण या घट-मठआदि के नामों से जाना जाता है। **''यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातँ स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्''** (छा. 6.1.4)।

156-यदा क्षितावेव चराचरस्य, विदाम निष्ठां प्रभवं च नित्यम्।

तन्नामतोऽन्यद् व्यवहारमूलं, निरूप्यतां सत् क्रिययानुमेयम्।। 5.12.8।।

हम देखते हैं कि सम्पूर्ण चराचर भूत सर्वदा पृथ्वी से ही उत्पन्न होते हैं परिणत हो जाती हैं और पृथ्वी में ही लीन हो जाते हैं। अत: उनके क्रियाभेद के कारण जो अलग-अलग नाम पड़ गये हैं- बताओ तो, उनके सिवा व्यवहार का और क्या मूल है। किन्तु इनकी सत्ता क्षेत्रज्ञात्मा की सत्ता से ही है, स्वत: या परस्पर मिलकर भी नहीं है, ऐसा होने पर भी मन आदि क्षेत्र के साथ आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है। यह तो जीव की ही माया निर्मित उपाधि है। यह प्राय: संसारबन्धन में डालने वाले अशुद्ध कर्मों में ही प्रवृत्त कराते हुए कारण रूप से नित्य ही रहती हैं, जाग्रत और स्वप्न के समय वे प्रकट हो जाती हैं और सुषुप्ति में छिप जाती हैं। इन दोनों ही अवस्थाओं में क्षेत्रज्ञ, जो विशुद्ध चिन्मात्र है, मन की इन वृत्तियों को साक्षी रूप से देखता रहता है।

तात्पर्य अर्थ-

अचेतन शरीर से- चेतन आत्मा का किसी प्रकार से सम्बन्ध बन नहीं सकता; फिर भी देहाध्यास-तादात्म्यभाव देखने में (विचार करने पर) प्रत्यक्ष से सिद्ध होता है, उसका कारण है, अन्त:करण (मन-बुद्धि) अर्थात् वह तादात्म्य भाव या देहाध्यास में आत्मसंयोग नहीं अपितु अन्त:करण (मात्र) का संयोग है, मन के सम्बन्ध से होता है और अनुकूल प्रतिकूल परिस्थिति में सुख-दु:ख भी मन को ही होता है। आत्मा को नहीं।

मन प्राय: अशुभ कर्मों में ही प्रवृत्त रहा करता है; यह उसका स्वभाव है, वह भी गुणों के अधीन है; जिस गुण की प्रबलता होगी उसके अनुसार क्रिया होगी मन में और क्रिया-प्रवाहरूप से नित्य-निरन्तर होती रहती है। क्रिया प्राण का धर्म है और प्राण-मनका धर्म है और प्राण-मनका संयोग नित्य है, इसलिये मन में निरन्तर क्रिया देखी जाती है।

157-एवं निरुक्तं क्षितिशब्दवृत्तमसन्निधानात्परमाणवो ये।

अविद्यया मनसा कल्पितास्ते, येषां समूहेन कृतो विशेष:।। 5.12.9।।

158-एवं कृशं स्थूलमणुर्बृहद्यद्, असच्च सज्जीवमजीवमन्यत्।

द्रव्यस्वभावाशयकालकर्मनाम्नाजयावेहि कृतं द्वितीयम्।। 5.12.10।।

इसी प्रकार 'पृथ्वी', शब्द का व्यवहार मिथ्या ही है, वास्ताविक नहीं है, क्योंकि यह भी अपने उपादानकारण सूक्ष्म परमाणु में लीन हो जाती है। और जिनके मिलने से

पृथ्वी रूप कार्यकी सिद्धि होती है, वे परमाणु अविद्यावश मनसे ही कल्पना किये हुये हैं। वास्तव में उनकी भी सत्ता नहीं है। इसी प्रकार और भी जो कुछ पतला-मोटा, छोटा-बड़ा, कार्य-कारण तथा चेतन और अचेतन आदि गुणों से युक्त द्वैतप्रपञ्च है- उसे भी द्रव्य स्वभाव, आशय, काल और कर्म आदि नामोंवाली माया का (प्रकृति का) ही कार्य समझो। अत: जो कुछ भी व्यवहार देखने में आता है वह मनोमय है, मायामय है। यथा-स्वप्न का व्यवहार।

तात्पर्य अर्थ-

नाम-रूपात्मक-कार्य-कारणमय जगत् केवल व्यवहारिक है और व्यवहारिक होने से मिथ्या है। क्योंकि संयोग का नाम जगत् है और वियोग का नाम विनाश, संयोग -वियोग प्रकृतिका स्वभाव है। इसलिये स्वप्नवत् है, मृगतृष्णा है, मरुमरीचिका है। **''मायामात्रामिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः। इति ब्रूते श्रुतिः साक्षात्सुषुप्तावनुभूयते''** (वि.चू. 406)

159-ज्ञानं विशुद्धं परमार्थमेकमनन्तरं त्वबहिर्ब्रह्म सत्यम्।

प्रत्यक् प्रशान्तं भगवच्छब्दसंज्ञं यद्वासुदेवं कवयो वदन्ति।।5.12.11।।

विशुद्ध परमार्थरूप, अद्वितीय तथा भीतर-बाहर के भेद से रहित पूरिपूर्ण ज्ञान ही सत्य वस्तु है। वह सर्वान्तवर्ति और सर्वथा निर्विकार है। उसीका नाम 'भगवान्' है और उसी को पण्डितजन 'वासुदेव' भी कहते हैं।

160-अहं वै सर्वभूतानि भूतात्मा भूतभावनः।

शब्दब्रह्म परं ब्रह्म ममोभे शाश्वती तनू।। 6.16.51।।

मैं ही समस्त प्राणियों के रूप में हूँ, मैं ही उनका आत्मा हूँ और मैं ही पालनकर्ता भी हूँ। शब्दब्रह्म (वेद) और परब्रह्म दोनों ही मेरे सनातन रूप हैं।

तात्पर्य अर्थ-

ज्ञानस्वरूप आत्मा के विना किसी वस्तु का अस्तित्व ही नहीं हो सकता, इसलिये श्रुति का कहना है कि- **''सर्वं खल्विदं ब्रह्म''** (छा.3.14.1), **''नेह नानास्ति किञ्चन''** (बृ.4.4.19), **''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म''** (तै-2.1), **''न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते''** (गी.4.38)।

161-लोके विततमात्मानं लोकं चात्मनि सन्ततम्।

उभयं च मया व्याप्तं मयि चैवोभयं कृतम्।। 6.16.52।।

आत्मा, कार्य-कारणात्मक जगत् में व्याप्त है और कार्य-कारणात्मक जगत् आत्मा में स्थित है तथा इन दोनों में अधिष्ठानरूप से मैं व्याप्त हूँ और मुझमें ये दोनों कल्पित है।

तात्पर्य अर्थ-

आत्मा ज्ञान स्वरूप होने से; कार्य-कारणमय जगत् में अन्तःकरण द्वारा ओत-प्रोत है और जगत् आत्मा में (सूक्ष्म देह) में ओत-प्रोत है, कल्पित है। इसी कारण से अनादिकाल का असाध्यरोग जन्म-मृत्यु प्रवाहरूप से चला आ रहा है और जब तक आत्मा का साक्षात्-अपरोक्ष अनुभूति नहीं हो जाती; तब तक आगे भी अनन्तकालतक यह प्रवाह रूपी धारा रहेगी निर्बाध्यरूप से।

162-यथा सुषुप्तः पुरुषो विश्वं पश्यति चात्मनि।

आत्मानमेकदेशस्थं मन्यते स्वप्न उत्थितः।। 6.16.53।।

163-एवं जागरणादीनि जीवस्थानानि चात्मनः।

मायामात्राणि विज्ञाय तद्द्रष्टारं परं स्मरेत्।। 6.16.54।।

जैसे सोया हुआ पुरुष एक स्वप्न में दूसरे स्वप्न के होने पर सम्पूर्ण जगत् को अपने में ही देखता है और उस दूसरे स्वप्न के टूट जाने पर प्रथम स्वप्न में ही जागता है, तथा अपने को उस स्वप्न संसार के एक कोने में स्थित देखता है, परन्तु वास्तव में वह भी स्वप्न ही है, वैसे ही जीव की जाग्रतादि अवस्थाएँ परमेश्वर की माया है। इसलिये ऐसा जानकर सब के साक्षी मायातीत परमात्मा का ही स्मरण करना चाहिये।

तात्पर्य अर्थ-

शरीर, अन्तःकरण (मन-बुद्धि) रूप उपाधि के ही जाग्रत्-आदि अवस्था समझना चाहिये; आत्मा की नहीं। आत्मा तो गुणातीत, निर्विकार-निराकार है, इस लिये आत्मा के ये अवस्थाएँ असम्भव हैं। वास्तविकता तो यही है कि ये अवस्थाएँ भी मिथ्या हैं, कल्पनामात्र हैं। कर्मवासना के सिवाय और कुछ नहीं है। क्योंकि-समाधि, सुषुप्ति और मूर्छा की स्थिति में; प्रपंच का (द्वैत) का अभाव सिद्ध होता है।

164-येन प्रसुप्तः पुरुषः स्वापं वेदात्मनस्तदा।

सुखं च निर्गुणं ब्रह्म तमात्मानमवेहि माम्।। 6.16.55।।

सोया हुआ पुरुष जिसकी सहायता से अपने गाढी निद्रा में अतीन्द्रिय सुख का अनुभव करता है, वह निर्गुण ब्रह्म मैं ही हूँ, उसे तुम अपनी आत्मा समझो।

तात्पर्य अर्थ-

सुषुप्ति एक ऐसी अवस्था है, जहाँ पर न विषय सुख (आनन्द) का अनुभव है और न दुःख का सन्ताप। सत्त्वादि गुणों की विषमता से रहित होने से इस अवस्था को सम अवस्था कहा जाता है। यह सम-अवस्था स्वरूप का अन्तरात्मा का परिचायक है जिसे गुणातीत अवस्था भी कहा जाता है, भले ही वह सुषुप्ति क्षणिक ही क्यों न हो। इसी

को नित्य प्रलय भी कहते हैं। अर्थात्-विषमावस्था ही जगत् है, सुख-दु:ख, चिन्ता-शोक, भूख-प्यास और भयादिका कारण है। अतः सुषुप्ति अवस्था के माध्यम से निर्विकार निर्भय अपने आत्मा का खोज करो। क्योंकि आत्मा का स्वरूप सदा सम है। ''**अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च। नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः**'' (गी. 2.24)।

165-उभयं स्मरतः पुंसः प्रस्वापप्रतिबोधयोः।

अन्वेति व्यतिरिच्येत तज्ज्ञानं ब्रह्म तत्परम्।। 6.16.56।।

पुरुष निद्रा और जागृति-इन दोनों अवस्थाओं का अनुभव करने वाला है। वह उन अवस्थाओं में अनुगत होकर भी वास्तव में उनसे पृथक् है। वह सब अवस्थाओं में रहने वाला अखण्ड, एक-रस ज्ञान ही ब्रह्म है, वही पर ब्रह्म है, वही आपका स्वरूप है।

तात्पर्य अर्थ-

असङ्ग निर्विकार, निर्गुण आदि होते हुए भी अवस्था त्रय का अनुभव चैतन्यात्मा के सत्ता से ही मन-बुद्धि के द्वारा होता है; क्योंकि मन-बुद्धि जड़ांश होने से अवस्था त्रय आदि का अनुभव करने में असमर्थ है; मन-बुद्धि आत्मा के सत्ता से ही चैतन्यवत् व्यवहार कर रही है। अतः अवस्था त्रयवाले (अहंकार) का और अवस्थात्रयका अनुभव जिससे (मन बुद्धि से) हो रहा है, वह आपका स्वरूप (आत्मा का स्वरूप) नहीं है; बल्कि जिसके सत्ता से मन-बुद्धि अनुभव कर रहा है वह आपका स्वरूप है, सच्चिदानन्द आत्मा है, परब्रह्म है। ''**नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्। तमात्मस्थं योऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्**'' (क.उ. 2.2.13)।

166-यदेतद्विस्मृतं पुंसो मद्भावं भिन्नमात्मनः।

ततः संसार एतस्य देहाद्देहो मृतेर्मृतिः।। 6.16.57।।

167-लब्ध्वेह मानुषीं योनिं ज्ञानविज्ञानसम्भवाम्।

आत्मानं यो न बुद्ध्येत न क्वचिच्छममाप्नुयात्।। 6.16.58।।

जब जीव मेरे स्वरूप को भूल जाता है, तब वह अपने को अलग मान बैठता है और जन्म-पर-जन्म तथा मृत्यु-पर-मृत्यु प्राप्त होती है। यह मनुष्ययोनि ज्ञान और विज्ञान का मूल स्रोत है। जो इसे पाकर भी अपने आत्म-स्वरूप परमात्माको नहीं जान लेता, उसे कहीं भी किसी भी योनि में शान्ति नहीं मिल सकती।

तात्पर्य अर्थ-

प्रत्येक प्राणी आत्यन्तिक सुख-शान्ति के लिये दिन-रात प्रयत्नरत है, और उनका अधिकार भी है, किन्तु आजतक आत्यन्तिक सुख-शान्ति की प्राप्ति नहीं हुई। अनन्त

योनियों में जन्म प्राप्त करके भी उस सुख-शान्ति के लिये भटक रहे हैं और आगे भी अनन्तकालतक भटकता ही रहेगा। इसका कारण है स्वस्वरूप का विस्मरण। क्योंकि स्वस्वरूप से भिन्न अन्यत्र जड़ पदार्थों में मायामय जगत् में, सुख-शान्ति का अत्यन्त अभाव है, सुख-शान्ति से शून्य है। फिर भी अविद्यावशात् इन्हीं प्राणी-पदार्थों में प्राप्त करने का प्रयत्न दिन-रात कर रहे हैं। अतः आत्यन्तिक सुख-शान्ति, परमानन्दकी प्राप्ति के लिये-ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु आचार्य के द्वारा आत्म साक्षात्कार करना अत्यन्त आवश्यक है। अत:- **''उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत''** (का. 1.3.14)।

168-सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः।। 10.2.26।।

हे प्रभो! आप सत्यसङ्कल्प हैं। सत्य ही आपकी प्राप्तिका श्रेष्ठ साधन है। सृष्टि के पूर्व, प्रलय के पश्चात् और संसार की स्थिति के समय-इन असत्य अवस्थाओं में भी आप सत्य हैं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश-इन पाँच दृश्यमान सत्यों के आप ही कारण हैं। और उनमें अन्तर्यामीरूप से विराजमान भी हैं। आप इस दृश्यमान जगत् के परमार्थस्वरूप हैं। आप ही मधुर वाणी और सब दर्शन के प्रवर्तक हैं। हे भगवान् आप तो बस सत्यस्वरूप ही हैं। हम सब आपकी शरण में है।

तात्पर्य अर्थ-

इस क्षणभंगुर, विनाशशील, अनित्य-असत्य, मायामय, स्वप्नवत् जगत् में-नित्य, सत्य, अविनाशी, सदा-सर्वदा, एकरस रहनेवाले एक-अद्वितीय ही त्रिसत्य है। अर्थात्-जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं में; बालक, युवा, वृद्ध अवस्थाओं में; भूत; भविष्य, वर्तमान कालों में; सृजन, संहार और परिपालन आदि शक्तियों में सत्य एक मात्र चैतन्यात्मा ही है। सत्य-नित्य है बाकी सब-के-सब परिवर्तनशील है, नित्य-निरन्तर बदलने वाले हैं, इन सभी के बदल जाने पर भी आत्मा ज्यों-का-त्यों एक रस बना रहता है। **''अविनाशी तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्। विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति''** (गी. 2.17)।

169-त्वमेक एवास्य सतः प्रसूतिस्त्वं सन्निधानं त्वमनुग्रहश्च।
त्वन्मायया संवृतचेतसस्त्वां पश्यन्ति नाना न विपश्चितो ये।। 10.2.28 ।।

170-बिभर्षि रूपाण्यवबोध आत्मा, क्षेमाय लोकस्य चराचरस्य।
सत्त्वोपपन्नानि सुखावहानि, सतामभद्राणि मुहुः खलानाम्।। 10.2.29।।

इस शरीर रूपी वृक्ष की उत्पत्ति के आधार एकमात्र आप ही हैं। आप में ही इसका प्रलय होता है और आपके ही अनुग्रह से इसकी रक्षा भी होती है। जिसका चित्त

आपकी मायासे आवृत्त हो रहा है वह इस सत्य को समझने की शक्ति खो बैठा है, वे ही–उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करने वाले ब्रह्मादि देवताओं को अनेक देखते हैं। तत्त्वज्ञानी पुरुष तो सब के रूप में केवल आपका ही दर्शन करते हैं। वह आप ज्ञानस्वरूप आत्मा हैं। चराचर जगत् के कल्याण के लिये ही आप अनेकों रूप धारण करते हैं। आपके वे रूप विशुद्ध अप्राकृत सत्त्वमय होते हैं। और सन्तपुरुषों को बहुत सुख देते हैं। साथ ही दुष्टों को उनकी दुष्टता का दण्ड भी देते हैं। अतः उनके लिये आप अमङ्गल भी होते हैं।

तात्पर्य अर्थ-

इस शरीर का सर्वाधार आत्मा ही है, आत्मा के बिना एक क्षण भी इसका अस्तित्व नहीं। फिर भी ज्ञानावृत होने से, इस अस्तित्व विहीन शरीर में विमोहित हो जाने से नाम-रूपवाले प्रपँच को सत्य मान रहा है। जो कोई भी उस सत्य आत्मा का अनुभव कर लेता है। वह-आनन्द एवं सुखमय अपने को अनुभव करता है और जो आत्मा से अनभिज्ञ है वह-दुःख पर दुःख एवं जन्म-मृत्यु के चक्र में पड़ जाता है। **''आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा'', ''एतैर्विमोहमत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्''** (गी- 3.39/40)।

171-न नामरूपे गुणजन्मकर्मभिर्निरूपितव्ये तव तस्य साक्षिणः।
मनोवचोभ्यामनुमेयवर्त्मनो देव क्रियायां प्रतियन्त्यथापि हि।। 10.2.36।।

हे भगवन्! मन और वेद-वाणी के द्वारा केवल आत्मा के स्वरूप का अनुमान ज्ञान मात्र होता है। क्योंकि आप उनके द्वारा दृश्य नहीं, उनके साक्षी हैं। इस लिये गुण, जन्म और कर्म आदि के द्वारा आपके नाम और रूप का निरूपण नहीं किया जा सकता। फिर भी हे प्रभो! आपके भजन-उपासना आदि क्रियाओं के द्वारा साक्षात्कार तो करते ही हैं।

तात्पर्य अर्थ-

चैतन्यात्मा (कूटस्थ) आत्मा-निरुपाधिक है। अतः आत्मा का साक्षात्-अपरोक्ष अनुभव बुद्धि आदि इन्द्रियों के द्वारा करना असम्भव है। क्योंकि-गुणातीत निराकार निर्विशेष होने से इन्द्रियातीत है। फिर भी साधन चतुष्टय सम्पन्न एवं ध्यानयोगाभ्यासी मुमुक्षु साधक-ध्यान-समाधि अभ्यास के द्वारा प्रपञ्च शून्य अवस्था में अद्वितीय-आत्मा में चित्तवृत्तियों के शान्त हो जाने से शेष आत्मा ही बचा रहता है, यही उसकी अनुभूति है, साक्षात्कार करना है।

172-शृण्वन् गृणन् संस्मरयंश्च चिन्तयन्, नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते।
क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयोराविष्टचेता न भवाय कल्पते।। 10.2.37।।

जो पुरुष आपके मङ्गलमय नामों और रूपों का-श्रवण, कीर्तन, स्मरण और ध्यान करता है और आपके चरण कमलों की सेवा में ही अपना चित्त लगाये रहता है-उसे फिर जन्म-मृत्यु रूप संसार के चक्र में नहीं आना पड़ता है।

तात्पर्य अर्थ-

शुद्ध-बुद्ध मङ्गलमय, निर्विशेष, निरुपाधिक, अद्वितीय आत्मा-सर्वव्यापक का जो साक्षात्-अपरोक्ष अनुभव कर लेते हैं; वे साधक जन्म-मृत्यु के (गमनागमन के) चक्र में नहीं पड़ते, सदा-सर्वदा के लिये मुक्त हो जाते हैं। "**कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः। जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्**" (गी. 21.51)।

173-विदितोऽसि भवान् साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः।

केवलानुभवानन्दस्वरूपः सर्वबुद्धिदृक् ।।10.3.13।।

मैं समझ गया कि आप प्रकृति से अतीत साक्षात् पुरुषोत्तम हैं। आपका स्वरूप हैं केवल आनन्द और अनुभव। आप समस्त बुद्धियों के एक मात्र साक्षी हैं।

तात्पर्य अर्थ-

सर्वान्तरात्मा-गुणातीत एवं इन्द्रियातीत होने से बुद्धि का विषय नहीं बन सकता केवल-मात्र द्वन्द्वातीत अवस्था वासनातीत स्थिति ही उस निर्गुणात्मा का अनुभव है, ज्ञान प्राप्ति है। अथवा-आत्मा में बुद्धिवृत्तिका विलीन हो जाना ही उस आत्मा का प्रत्यक्षज्ञान है। "**त्रैगण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन, निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्**" (गी. 2.45)।

174-स एव स्वप्रकृत्येदं सृष्ट्वाग्रे त्रिगुणात्मकम्।

तदनु त्वं ह्यप्रविष्टः प्रविष्ट इव भाव्यसे।। 10.3.14।।

आप ही सर्गके आदि में अपनी प्रकृति से इस त्रिगुणमय जगत् की सृष्टि करते हैं। फिर उसमें प्रविष्ट न होने पर भी आप प्रविष्ट के समान जान पड़ते हैं।

तात्पर्य अर्थ-

जीवात्मा यानि लिङ्ग शरीर से युक्तात्मा, कर्म वासना के द्वारा इस स्थूल शरीर की रचना होती है। अथवा-स्त्री-पुरुषों का खाया हुआ अन्न-पान आदि के साथ वासनामय जीवात्मा का प्रवेश होने के पश्चात् इस स्थूल शरीर की रचना होती है। वास्तव में विचार करके देखा जाय तो; आत्मा सर्वव्यापक होने से पूर्व यानि सर्वदा प्रविष्ट है बिम्बरूप से, अथवा कर्म-वासना युक्त लिङ्गदेह का गर्भाशय में प्रवेश होता है। इसी को श्रुति कहती हैं। "**यदिदं किंच, तत्सृष्ट्वा, तदेवानुप्राविशदिति**" (तै.2.6)।

175-यथेमेऽविकृता भावास्तथा ते विकृतैः सह।

नानावीर्याः पृथग्भूता विराजं जनयन्ति हि।। 10.3.15।।

176-सन्निपत्य समुत्पाद्य दृश्यन्तेऽनुगता इव।

प्रागेव विद्यमानत्वान्न तेषामिह सम्भवः।। 10.3.16।।

जैसे जबतक महत्तत्त्व आदि कारण-तत्त्व पृथक्-पृथक् रहते हैं, तबतक उनकी शक्ति भी पृथक्-पृथक् होती है; जब वे इन्द्रियादि सोलह विकारों के साथ मिलते हैं, तभी इस ब्रह्माण्ड की रचना करते हैं और इसे उत्पन्न करके इसी में अनुप्रविष्ट-से-जान पड़ते हैं; परन्तु सच्ची बात तो यह है कि वे किसी भी पदार्थ में प्रवेश नहीं करते। ऐसा होने का कारण यह है कि उनसे बनी हुई जो भी वस्तु है, उनमें वे पहले से ही विद्यमान रहते हैं।

तात्पर्य अर्थ-

यदि आत्मा सामान्यरूप से सर्वत्र-सदैव विद्यमान है, फिर ज्ञान का विषय क्यों नहीं बनता, क्योंकि भूत सूक्ष्म (17) तत्त्वों के संयोग से स्थूल-शरीर निर्मित हो जाने पर उसी आत्मा का शरीर-इन्द्रियों के क्रिया-कलापों से अनुमान किया जाता है कि इसमें चेतन है यानि जीवित रहने से आत्मा का निश्चय होता है। **''यस्य सन्निधिमात्रेण देहेन्द्रियमनोधियः। विषयेषु स्वकीयेषु वर्तन्ते प्रेरिता इव''।।** (वि.चू.131।)

177-य आत्मनो दृश्यगुणेषु सन्निति, व्यवस्यते स्वव्यतिरेकतोऽबुधः।

विनानुवादं न च तन्मनीषितं, सम्यग् यतस्त्यक्तमुपाददत् पुमान्।। 10.3.18।।

जो अपने इन दृश्य गुणों को अपने से पृथक् मानकर सत्य समझता है, वह अज्ञानी है। क्योंकि विचार करने पर ये देह-गेह आदि पदार्थ वाग्विलास के सिवा और कुछ नहीं सिद्ध होते। विचार के द्वारा जिस वस्तु का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता, बल्कि जो बाधित हो जाती है। उसको सत्य मानने वाला पुरुष बुद्धिमान् कैसे हो सकता है?

तात्पर्य अर्थ-

चराचर जगत् में शक्ति-सामर्थ्य देखने में आता है, वह आत्मा-परमात्मा की शक्ति से भिन्न नहीं है, जैसे-शरीर इन्द्रियों में किसी प्रकार की शक्ति सामर्थ्य देखने में आ रहा है वह आत्मा की शक्ति ही है, शरीर इन्द्रियों की नहीं। अर्थात्-आत्मा ही विभिन्न नाम-रूपों में दृश्यमान हो रहा है, भेद का कारण अज्ञानता, अविवेकता, अदूरदर्शिता आदि को ही मानना होगा। यथा- विद्युत् एक शक्ति है, उस शक्ति द्वारा भिन्न-भिन्न हजारों कार्य देखने में आते हैं, इसका अभिप्राय यह नहीं कि वह शक्ति अनेक रूप वाली है। निमित्त कारण-उपाधि की भिन्नता से कार्य का भिन्न-भिन्न होना स्वभाविक है।

178-त्वत्तोऽस्य जन्मस्थितिसंयमान् विभो, वदन्त्यनीहादगुणादविक्रियात्।

त्वयीश्वरे ब्रह्मणि नो विरुध्यते, त्वदाश्रयत्वादुपचर्यते गुणैः।। 10.3.19।।

179-स त्वं त्रिलोकस्थितये स्वमायया, बिभर्षि शुक्लं खलु वर्णमात्मनः।

सर्गाय रक्तं रजसोपबृंहितं, कृष्णं च वर्णं तमसा जनात्यये।। 10.3.20।।

हे प्रभो! कहते हैं कि आप स्वयं समस्त क्रियाओं, गुणों और विकारों से रहित हैं। फिर भी इस जगत् की सृष्टि, स्थिति और प्रलय आपसे ही होते हैं। यह बात परम ऐश्वर्यशाली परब्रह्म परमात्मा, आपके लिये असंगत नहीं है। क्योंकि तीनों गुणों के आश्रय आप ही है, इसलिये उन गुणों के कार्य आदि का आपमें ही आरोपित किया जाता है। आप ही तीनों लोकों की रक्षा करने के लिये अपनी माया से सत्त्वमय शुक्लवर्ण (पोषणकारी विष्णु) का रूप धारण करते हैं, उत्पत्ति के लिये रजः प्रधान रक्तवर्ण (ब्रह्मा) का रूप और प्रलय के समय तमोगुण प्रधान कृष्णवर्ण (रुद्र) रूप को स्वीकार करते हैं।

तात्पर्य अर्थ-

ज्ञान-शक्ति, क्रिया-शक्ति और संहार (विनाश) शक्ति ये तीनों शक्तियाँ गुणों में पाया जाता है (स्वाभाविक) हैं; फिर भी ज्ञानस्वरूप तो परमात्मा (आत्मा) ही है। क्योंकि प्रकृति ज्ञान विहीन जड़ वस्तु है और ये तीनों गुण प्रकृति से उत्पन्न है। भगवद्गीता में कहा है- **''विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्''** 13.19 अर्थात्- तीनों गुण प्रकृति का विकार है, यथा-गायके मल-मूत्र दूधादि गाय का विकार है। अतः-चराचर जगत् में विद्यमान शक्ति जो अनुभव में आती है वह शक्ति परमात्मा की है।

180-कृष्ण-कृष्ण महायोगिंस्त्वमाद्यः पुरुषः परः।

व्यक्ताव्यक्तमिदं विश्वं रूपं ते ब्राह्मणा विदुः।। 10.10.29।।

हे सच्चिदानन्दस्वरूप! सबको अपनी ओर आकर्षित करने वाले हे परम योगेश्वर श्रीकृष्ण! आप प्रकृति से अतीत स्वयं पुरुषोत्तम हैं। वेदज्ञ ब्राह्मण जानते हैं कि यह व्यक्त और अव्यक्त सम्पूर्ण जगत् आपका ही रूप है।

तात्पर्य अर्थ-

ब्रह्मनिष्ठ तत्वज्ञानी को यह दृढ निश्चय है कि व्यक्त अव्यक्त सम्पूर्ण जगत् आत्मा से भिन्न नहीं है, अर्थात्-आत्मा ही अनन्त नाम-रूपों में विद्यमान है।

181-त्वमेकः सर्वभूतानां देहास्वात्मेन्द्रियेश्वरः।

त्वमेव कालो भगवान् विष्णुरव्यय ईश्वरः।। 10.10.30।।

182-त्वं महान् प्रकृतिः सूक्ष्मा रजःसत्त्वतमोमयी।

त्वमेव पुरुषोऽध्यक्षः सर्वक्षेत्रविकारवित्।। 10.10.31।।

आप ही समस्त प्राणियों के शरीर, प्राण, अन्तःकरण और इन्द्रियों के स्वामी हैं। तथा आप ही सर्वशक्तिमान् काल, सर्वव्यापक एवं अविनाशी ईश्वर हैं। आप ही

महतत्त्व और वह प्रकृति हैं, जो अत्यन्त सूक्ष्म एवं सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणरूपा हैं। आप ही समस्त सूक्ष्म और स्थूल शरीरों के कर्म, भाव, धर्म और सत्ता को जानने वाले सबके साक्षी परमात्मा हैं।

तात्पर्य अर्थ-

चैतन्यात्मा के बिना-शरीर मन-बुद्धि, प्राण, इन्द्रिय आदि एकक्षण भी स्थिर नहीं रह सकते, इतना ही नहीं यह विश्व प्रपञ्च भी आत्मा के बिना शून्य है।

183-गृह्यमाणैस्त्वमग्राह्यो विकारैः प्राकृतैर्गुणैः।

को न्विहार्हति विज्ञातुं प्राक् सिद्धं गुणसंवृतः।। 10.10.32।।

वृत्तियों से ग्रहण किये जाने वाले प्रकृति के गुणों और विकारों के द्वारा आप पकड़ में नहीं आ सकते। स्थूल और सूक्ष्म शरीर के आवरण से ढका हुआ ऐसा कौन सा पुरुष है, जो आपको जान सके ? क्योंकि आप तो उन शरीरों के पहले भी एकरस विद्यमान थे।

तात्पर्य अर्थ-

मन-बुद्धि प्रकृति के कार्य होने से जड़ (ज्ञान) शून्य है, इस लिये चैतन्यात्मा को मन-बुद्धि के द्वारा जाना नहीं जा सकता ''**यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह**'' (तै-2.4),''**नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा**''(क.उ. 2.3.12)इति श्रुतिः

184-तस्मै तुभ्यं भगवते वासुदेवाय वेधसे।

आत्मद्योतगुणैश्छन्नमहिम्ने ब्रह्मणे नमः।। 10.10.33।।

समस्त प्रपञ्चके विधाता भगवान् वासुदेव को हम नमस्कार करते हैं। हे प्रभो! आपके द्वारा प्रकाशित होने वाले गुणों से ही आपने अपनी महिमा छिपा कर रखी है। हे परब्रह्म स्वरूप श्री कृष्ण! हम आपको नमस्कार करते हैं।

तात्पर्य अर्थ-

आत्मा ज्ञानशक्ति से सम्पन्न (ज्ञानस्वरूप) होते हुए भी; शरीर इन्द्रियाँ, मन-बुद्धि, सत्त्व-आदि गुणों से ढ़क जाने से; शरीर इन्द्रियाँ आदि ही सब कुछ है, इससे भिन्न और कुछ है ही नहीं-ऐसे भ्रम होता है। इसीलिये इन विनाशशील के विनाश से हम मानते हैं कि आत्मा की विनाश, लेकिन वास्तव में आत्माजन्म-मृत्यु से सदा-सर्वदा रहित है। ''**न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे**'' (क.उ.1.2.18), ''**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते**'' (गी-13.31)।

185-यस्यावतारा ज्ञायन्ते शरीरेष्वशरीरिणः।

तैस्तैरतुल्यातिशयैर्वीर्यैर्देहिष्वसंगतैः।। 10.10.34।।

186-स भवान् सर्वलोकस्य भवाय विभवाय च।

अवतीर्णोऽशभागेन साम्प्रतं पतिराशिषाम्।। 10.10.35।।

आप प्राकृत शरीर से रहित हैं। फिर भी जब आप ऐसे पराक्रम प्रकट करते हैं, जो साधारण शरीरधारियों से शक्य नहीं हैं और जिससे बढ़कर तो क्या जिसके समान भी कोई नहीं कर सकता, तब उसके द्वारा उन शरीरों में आपके अवतारों का पता चल जाता है। हे प्रभो! आप ही समस्त लोकों के अभ्युदय और निःश्रेयस के लिये इस समय अपनी सम्पूर्ण शक्तियों से अवतीर्ण हुए हैं। आप समस्त अभिलाषाओं को पूर्ण करने वाले हैं।

तात्पर्य अर्थ-

शरीर से असम्बद्ध होते हुए भी शरीर-इन्द्रियों से जो कुछ व्यवहार देखने में आता है; वह सब आत्मा के सत्ता से ही हो रहा है, आत्म-सत्ता के बिना इस जड़ शरीर के द्वारा कोई भी व्यवहार सम्भव नहीं, इसी से आत्मा के विषय में ज्ञान होता है कि शरीर से भिन्न है आत्मा। **''देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा। तथा देहन्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति''** (गी. 2.13)।

187-तथापि भूमन् महिमागुणस्य ते, विबोद्धुमर्हत्यमलान्तरात्मभिः।

अविक्रियात् स्वानुभवादरूपतो, ह्यनन्यबोध्यात्मतया न चान्यथा ।। 10.14.6।।

हे अनन्त! आपके सगुण-निर्गुण दोनों स्वरूपों का ज्ञान कठिन होने पर भी निर्गुण स्वरूप की महिमा इन्द्रियों का प्रत्याहार करके (दमन करके) शुद्ध अन्तःकरण से जानी जा सकती है। जानने की प्रक्रिया यह है कि विशेष आकार के परित्याग पूर्वक अन्तःकरण का आत्माकार अखण्डाकार वृत्ति से आत्मा का साक्षात्कार किया जाता है। आत्माकारता, घट-पटादि रूपके समान ज्ञेय नहीं है, प्रत्युत आवरण का भङ्गमात्र है। यह साक्षात्कार है, यह ब्रह्म है, 'मैं ब्रह्म को जानता हूँ' इस प्रकार नहीं, किन्तु स्वयं प्रकाश रूप से ही होता है।

तात्पर्य अर्थ-

गुणातीत-अतीन्द्रिय, निर्विषय नीरूप होने के कारण चैतन्यात्मा का ज्ञान कर पाना दुर्गम-दुस्तर हो गया है। और साधन भी हमारे पास जानने का-बुद्धि आदि इन्द्रियाँ ही है; जो कि स्थूल का ही ज्ञान करने में समर्थ हैं। ऐसा होने पर भी शास्त्रज्ञ-विद्वज्जन शम-दम आदि साधनों के द्वारा ध्यान समाधि में आत्मसाक्षात्कार, अपरोक्ष अनुभव करते ही हैं। अथवा-विवेक-वैराग्य द्वारा प्रकृति लय करके अविद्याका निर्मूल स्थिति में स्थिर हो जाने पर अविद्या का सर्वथा भङ्ग हो जाने को भी आत्मसाक्षात्कार कहा गया है। **''अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद परोक्षज्ञानमेव तत्। अहं ब्रह्मेति चेद्वेद साक्षात्कारः स उच्यते।।।''** (वराहोप 2.4, पंचदशी 6.16) (इसी का नाम है अपरोक्ष ज्ञान)।

188-अत्रैव मायाधमनावतारे, ह्यस्य प्रपञ्चस्य बहिः स्फुटस्य।

कृत्स्नस्य चान्तर्जठरे जनन्या, मायात्वमेव प्रकटीकृतं ते।। 10.14.16।।

189-यस्य कुक्षाविदं सर्वं सात्मं भाति यथा तथा।

तत्त्वय्यपीह तत् सर्वं किमिदं मायया विना।। 10.14.17।।

माया का नाश करने वाले हे प्रभो! दूर की बात कौन करे-अभी इसी अवतार में आपने इस बाहर दिखने वाले जगत् को अपने पेट में ही दिखला दिया, जिसे देखकर माता यशोदा चकित हो गयी थी। इससे तो यही सिद्ध होता है कि यह सम्पूर्ण विश्व केवल आपकी माया ही माया है। जब आपके सहित यह सम्पूर्ण-विश्व जैसा बाहर दिखता है वैसा ही आपके उदर में भी दिखा, तब क्या यह सब आपकी माया के बिना ही आपमें प्रतीत हुआ? अवश्य ही आपकी लीला है।

तात्पर्य अर्थ-

सम्पूर्ण जगत् मनोमय है, मायामय है, आकाश के गन्धर्वनगर है, अर्थात्- स्वप्नवत् है- मिथ्या है। "**ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः**", "**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**"

190-अद्यैव त्वदृतेऽस्य किं मम न ते मायात्वमादर्शितम्

एकोऽसि प्रथमं ततो व्रजसुहृद् वत्साः समस्ता अपि।

तावन्तोऽसि चतुर्भुजास्तदखिलैः साकं मयोपासिता-

स्तावन्त्येव जगन्त्यभूस्तदमितं ब्रह्माद्वयं शिष्यते।। 10.14.18।।

उस दिनकी बात जाने दीजिये, आजकी ही लीजिये। क्या आप मेरे सामने अपने अतिरिक्त सम्पूर्ण विश्व को अपनी माया का खेल नहीं दिखलाया है? पहले आप अकेले थे। फिर सम्पूर्ण ग्वालबाल, बछड़े और छड़ी-छींके भी आप ही हो गये। उसके बाद मैंने देखा कि आपके वे सब रूप चतुर्भुज हैं और मेरे सहित सबके सब तत्त्व उनकी सेवा कर रहे हैं। आपने अलग-अलग उतने ही ब्रह्माण्ड़ों का रूप भी धारण कर लिया था। परन्तु अब आप केवल अपरिमित अद्वितीय ब्रह्मरूप से ही शेष रह गये हैं।

तात्पर्य अर्थ-

जिसप्रकार स्वप्न अवस्था में विविध प्रकार के दृश्य देखने में आते हैं और जगाने पर संपूर्ण दृश्य तिरोहित हो जाते हैं, तथा अकेला ही खुद शेष बचा रहता है। उसी प्रकार अपरिमित, अद्वितीय चैतन्यात्मा में ही अविद्या-आवरण सहित नाना भेद-नामरूप आदि तिरोहित हो जाता है और निरिन्धन अग्निवत् शेष आत्मा ही रह जाता है। "**ब्रह्मैव सर्वम्**" (तेजोबिन्दू-6.31), "**मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किंचन मृत्योः स मृत्युमाप्नोप्ति य इह नानेव पश्यति**"।। (बृ.उ. 4.4.19)

191-सुरेष्वृषिष्वीश तथैव नृष्वपि, तिर्यक्षु यादस्स्वपि तेऽजनस्य।

जन्मासतां दुर्मदनिग्रहाय, प्रभो विधातः सदनुग्रहाय च।। 10.14.20।।

हे प्रभो! आप सारे जगत के स्वामी और विधाता हैं। अजन्मा होने पर भी आप देवता, ऋषि, मनुष्य, पशु-पक्षी और जलचर आदि योनियों में अवतार ग्रहण करते हैं, इस लिये कि इन रूपों के द्वारा दुष्ट पुरुषों का घमण्ड तोड़ दें और सत्पुरुपों पर अनुग्रह करें।

तात्पर्य अर्थ-

अजन्मा आत्मा ही विविध नाम-रूपों में व्यवहृत हो रहा है। इसमें निमित्त है- अज्ञान, अविद्या, ना समझी। ''**हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्। नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्।।**''(क.2.2.2)।

192-को वेत्ति भूमन् भगवन् परात्मन्, योगेश्वरोतीर्भवतस्त्रिलोक्याम्।

क्व वा कथं वा कति वा कदेति, विस्तारयन् क्रीडसि योगमायाम्।। 10.14.21।।

हे भगवन्! आप अनन्त परमात्मा और योगेश्वर हैं। जिस समय आप अपनी योगमाया का विस्तार करके लीला करते हैं, उस समय त्रिलोकी में कौन ऐसा है, जो यह जान सके कि आपकी लीला कहाँ, किसलिये, कैसे, कब और कितनी होती है।

तात्पर्य अर्थ-

एक-अद्वितीय आत्मा जब शरीर से और कर्म संस्कारों से अज्ञान वश युक्त हो जाता है, तब-कभी-राजा, कभी-भिखारी, कभी-मायापति, कभी योगेश्वर तो कभी-कीट-पतङ्गों के रूप में नाना प्रकार के भावभङ्गियों से भी ग्रसित देखने में आता है, ये ही आत्मा की लीला है और इसी लीला-लीला में मन-बुद्धि, शरीर-इन्द्रियों को मैं-मेरा मानकर अनादि काल से जन्म-मृत्यु के बन्धन में बन्धा भी है। इस रहस्यमय लीला को कुछैक आत्मतत्त्वज्ञानी ठीक-ठीक समझकर इस अनादि बन्धन से मुक्त हो पाते हैं। ''**य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा।।**'' (छा.उ. 5.11.7.)।

193-तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम्।

त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते, मायात उद्यदपि यत्सदिवावभाति।।

10.14.22।।

इस लिये यह सम्पूर्ण जगत् स्वप्न के समान असत्य, अज्ञानरूप और दुःख पर दुःख देने वाला है। आप परमानन्द, परम ज्ञानस्वरूप एवं अनन्त हैं। यह माया से उत्पन्न एवं विलीन होने पर भी आप में आपकी सत्ता से सत्य के समान प्रतीत होता है।

तात्पर्य अर्थ-

आत्मा-परमानन्द, ज्ञानस्वरूप एवं आदि-अन्त से रहित अद्वितीय, अविनाशी होने से सुख-दुःख, भूख-प्यास, जन्म-मृत्यु आदि जो देखने में आता है; वह स्वप्नवत् मायामय होने से मिथ्या है। क्योंकि अज्ञानावरण से ही इस की प्रतीति है वास्तविक नहीं। **''मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्। तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्।।''** (श्वे. उप. 4.10)

194-आत्मानमेवात्मतयाविजानतां, तेनैव जातं निखिलं प्रपञ्चितम्।

ज्ञानेन भूयोऽपि च तत्प्रलीयते, रज्ज्वामहेर्भोगभवाभवौ यथा।। 10.14.25।।

195-अज्ञानसंज्ञौ भवबन्धमोक्षौ, द्वौ नाम नान्यौ स्त ऋतज्ञभावात्।

अजस्रचित्यात्मनि केवले परे, विचार्यमाणे तरणाविवाहनी।। 10.14.26।।

जो पुरुष परमात्मा को आत्मा के रूप में नहीं जानते, उन्हें उस अज्ञान के कारण ही इस नामरूपात्मक निखिल प्रपञ्च की उत्पत्ति का भ्रम हो जाता है किन्तु ज्ञान होते ही इसका आत्यन्तिक प्रलय हो जाता है। जैसे रस्सी में भ्रम के कारण ही साँप की प्रतीति होती है और भ्रम के निवृत्ति होते ही उसकी निवृत्ति हो जाती है। संसार सम्बन्धी बन्धन और उससे मोक्ष-ये दोनों ही नाम, अज्ञान से कल्पित हैं। वास्तव में ये अज्ञान के दो नाम हैं। ये सत्य और ज्ञान स्वरूप परमात्मा से भिन्न अस्तित्व वाले नहीं हो सकते। जैसे सूर्य में दिन और रात का भेद नहीं है, वैसे ही विचार करने पर अखण्ड चित्स्वरूप केवल शुद्ध आत्मतत्त्व में न बन्धन है और न तो मोक्ष।

तात्पर्य अर्थ-

सर्वत्र-सर्वव्यापक एकमेव अद्वितीय आत्मा में, बन्ध-मोक्ष कैसे सम्भव हो सकता है। अर्थात्-अज्ञानता के कारण अपने को बन्धन की प्रतीति होती है, इसलिये उस बन्धन की निवृत्ति भी उसके लिये अनिवार्य है, यथा-अन्धकार आवरण से ढ़के हुए वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान के लिये प्रकाश की अत्यन्त आवश्यकता है।

196-भूतमात्रेन्द्रियप्राणमनोबुद्ध्याशयात्मने।

त्रिगुणेनाभिमानेन गूढस्वात्मानुभूतये।। 10.16.42।।

197-नमोऽनन्ताय सूक्ष्माय कूटस्थाय विपश्चिते।

नानावादानुरोधाय वाच्यवाचकशक्तये।। 10.16.43।।

हे प्रभो! पञ्चभूत, उनकी तन्मात्राएँ, इन्द्रियाँ, प्राण, मन, बुद्धि और इन सबके संस्कारों का खजाना चित्त-ये सब आप ही हैं। तीनों गुण और उनके कार्यों में होने वाले अभिमान के द्वारा आपने अपने साक्षात्कार को छिपा रखा है। आप देश, काल और

वस्तुओं की सीमा से बाहर अनन्त हैं। सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और कार्य-कारणों के समस्त विकारों में भी एकरस, विकार रहित और सर्वज्ञ हैं। ईश्वर हैं कि नहीं है, सर्वज्ञ हैं कि अल्पज्ञ इत्यादि अनेक मतभेदों के अनुसार आप उन-उन मत वादियों को उन्हीं-उन्हीं रूपों में दर्शन देते हैं। समस्त शब्दों के अर्थ के रूप में तो आप हैं हीं, शब्दों के रूप में भी हैं तथा उन दोनों का सम्बन्ध जोड़ने वाली शक्ति भी आप ही हैं। हम आपको नमस्कार करती हैं।

तात्पर्य अर्थ-

जिस प्रकार घट, पट, मठ आदिके बाहर-भीतर आकाश सर्वत्र, नित्य, निरन्तर विद्यमान है, उसी प्रकार आत्मा शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, प्राणादि में व्याप्त होने से उनके कार्य सब आत्मा का ही कार्य माना जाता है। और लोक में भी यही प्रसिद्धि है कि मैं जा रहा हूँ, खा रहा हूँ, देख रहा हूँ, सुन रहा हूँ, इत्यादि। अर्थात् आत्मा के विना उपरोक्त व्यवहार होना असम्भव है, अत:- ''**आत्मैव सर्वम्**'' (छा.-7.25.2)। इस व्याख्या में एक प्रश्न रेखाँकित होता है- जब आत्मा ही सर्वत्र सब कुछ है; फिर प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय क्यों नहीं बनता ? ऐसी जिज्ञासा का समाधान में कहना होगा कि इसमें दो कारण है, (1) निर्विषय, निरवयव, निराकार, नीरूप, होने से आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञान का (इन्द्रिय, मन-बुद्धि का) विषय नहीं बन सकता। (2) प्रत्येक व्यवहार के साथ अहङ्कार जुड़ा हुआ है कि-मैंने यह किया, मैंने वह किया और मैं ऐसा हूँ, इन अहङ्कार के वृत्तियों से ही आत्मा ओझल हो गया है, तिरोहित हो गया है। जिस जिसके प्रति हम अहङ्कार करते हैं वही-वही प्रत्यक्षज्ञान का विषय बनता है। अन्य नहीं ''**एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः**''(प्र.उ.4.9)।

198-नमो गुणप्रदीपाय गुणात्मच्छादनाय च।
गुणवृत्त्युपलक्ष्याय गुणद्रष्ट्रे स्वसंविदे।। 10.16.46।।

199-अव्याकृतविहाराय सर्वव्याकृतसिद्धये।
हृषीकेश नमस्तेऽस्तु मुनये मौनशीलिने।। 10.16.47।।

आप अन्त:करण और उसकी वृत्तियों के प्रकाशक हैं और उन्हीं के द्वारा अपने-आपको ढक रखते हैं। उन अन्त:करण और वृत्तियों के द्वारा ही आपके स्वरूपका कुछ-कुछ संकेत भी मिलता है। आप उन गुणों और उनकी वृत्तियों के साक्षी तथा स्वयं प्रकाश स्वरूप हैं। हम आपको नमस्कार करती हैं। आप मूल प्रकृति में नित्य विहार करते रहते हैं। समस्त स्थूल और सूक्ष्म जगत् की सिद्धि आपसे ही होती है। हे हृषीकेश! आप मननशील आत्माराम हैं। मौन ही आपका स्वभाव है। आपको हमारा नमस्कार है।

तात्पर्य अर्थ-

जैसे अग्नि से उत्पन्न धुवाँ अग्नि को ही ढक देता है और अग्नि से ही उस धुवाँ का ज्ञान भी होता है। उसी प्रकार आत्मा से उत्पन्न मन-बुद्धि (अन्तःकरण)। अर्थात् -आत्मसंयोग से कर्मवासना और कर्मवासना से शरीर, मन-बुद्धि आदि इन्द्रियों को उत्पत्ति किये हुये हैं और वे ही शरीर, अन्तःकरण आदि ज्योतिर्मय आत्मा का आवरक भी बना हुआ है। तथा उसी आत्मा के द्वारा वह अन्तःकरण में चेतनता भी है और उसी चेतनता से निर्गुणात्मा का कुछ अनुमान भी किया जाता है। यह एक विलक्षण प्रक्रिया है। इसका अभिप्राय हुआ-आत्मशक्ति से सम्पूर्ण विश्व शक्तिमान् है। प्रकृति में जो शक्ति देखने में आती है; वह आत्मा की ही शक्ति है। **''यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्, यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्।।''** (गी-15. 12), **''धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च''**, **''आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्य-वैरिणा''** (गी. 3.38/39)।

200-परावरगतिज्ञाय सर्वाध्यक्षाय ते नमः।

अविश्वाय च विश्वाय तद्द्रष्ट्रेऽस्य च हेतवे।। 10.16.48।।

आप स्थूल, सूक्ष्म समस्त गतियों के जानने वाले तथा सबके साक्षी हैं। आप नामरूपात्मक विश्वप्रपञ्च के निषेध की अवधि तथा उसके अधिष्ठान होने के कारण विश्वरूप भी हैं। आप विश्व के अध्यास तथा अपवाद के साक्षी हैं, एवं अज्ञान के द्वारा उसकी सत्यत्व भ्रान्ति एवं स्वरूपज्ञान के द्वारा उसकी आत्यन्तिक निवृत्ति के भी कारण हैं। आपको हमारा नमस्कार है।

तात्पर्य अर्थ-

प्रकृति गुणमयी एवं सावयव होने के कारण नित्य-निरन्तर संयोग-वियोग-उत्पत्ति-विनाश, साकार-निराकार, सरूप-नीरूप, गतिशील-अगतिशील इत्यादि होना उसकी स्वभाव है। और आत्मा चेतन होने के कारण, प्रकृति में जो कुछ भी हो रहा है उनका स्वभावतः द्रष्टा है, साक्षी है, ज्ञाता है। यद्यपि निर्गुण होने से आत्मा में स्वाभाविक द्रष्टा-साक्षी आदि सिद्ध नहीं होता, फिर भी उसी प्रकृति के कार्यरूप अन्तःकरण के माध्यम से सम्भव है, अथवा द्रष्टा आदि का विशेषण लगाया जाता है। अथवा सर्वशक्तिमान-सर्वव्यापक होने से सब कुछ परमात्मा से हो रहा है या परमात्मा में हो रहा है, यथा-आकाश में सबकी गति।

201-त्वं ह्यस्य जन्मस्थितिसंयमान् प्रभो, गुणैरनीहोऽकृत कालशक्तिधृक्।

तत्तत्स्वभावान् प्रतिबोधयन् सतः,समीक्षयामोघविहार ईहसे।।10.16.49।।

हे प्रभो! यद्यपि कर्तापन न होने के कारण आप कोई भी कर्म नहीं करते, निष्क्रिय हैं, तथापि अनादि कालशक्ति को स्वीकार करके प्रकृति के गुणों के द्वारा आप इस विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय की लीला करते हैं। क्योंकि आपकी लीलाएँ अमोघ हैं। आप सत्य सङ्कल्प हैं। इसलिये जीवों के संस्कार रूप से छिपे हुए स्वभावों को अपनी दृष्टिमात्र से जाग्रत कर देते हैं।

तात्पर्य अर्थ-

चैतन्यात्मा को निर्गुण, निष्क्रिय, अजन्मा, अमर आदि शास्त्रों में कहा गया है, फिर भी गुण, क्रिया आदि लोक में दिखने में आता है, ऐसा क्यों ? समाधान-प्रकृति के गुण, क्रिया और उनके द्वारा विविध प्रकार के कर्म वासनाओं के फलरूप भोग (जन्म-मृत्यु) आदि को आत्मा में आरोपित करके कहा जाता है। वास्तविकता तो यह है कि-प्रकृति क्रिया शील एवं गुणमयी होने से संयोग-वियोग, उत्पत्ति, स्थिति और विनाश उसमें स्वाभाविक हैं। इसी का नाम है जन्म-मृत्यु, उत्पत्ति आदि। "**न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजते प्रभुः। न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते**" (गी. 5.14)

202-आत्मा ज्ञानमयः शुद्धो व्यतिरिक्तोऽगुणान्वयः।

सुषुप्तिस्वप्नजाग्रद्भिर्मायावृत्तिभिरीयते।। 10.47.31।।

आत्मा माया और माया के कार्यों से पृथक् है। वह विशुद्ध ज्ञानस्वरूप होने से जड़-प्रकृति, अनेक जीव तथा अपने ही अवान्तर भेदों से रहित सर्वथा शुद्ध है। कोई भी गुण उसका स्पर्श नहीं कर पाते। माया की तीन वृत्तियाँ है-सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत्। इनके द्वारा वही अखण्ड, अनन्त बोधस्वरूप आत्मा कभी प्राज्ञ तो कभी तैजस और कभी विश्व रूप से व नाम से प्रतीत होता है।

तात्पर्य अर्थ-

आत्मा इन्द्रियातीत होने से मन-बुद्धि इन्द्रियाँ आदि के ज्ञान का विषय न होने पर भी शरीर के सुषुप्ति आदि तीन अवस्थाओं के माध्यम से जाना जाता है, अनुमान किया जाता है कि जीवित हैं, अर्थात्-जड़ पदार्थों से भिन्न व्यवहार देखने में आ रहा है। अथवा यों कहें कि-शरीर में जड़ पदार्थों से भिन्न (ज्ञानपूर्वक) व्यवहार ही आत्मा का (चेतन का) ज्ञान है (जानना) है। जड़ पदार्थों में केवल मात्र क्रिया है और चैतन्यात्मायुक्त शरीरों में (प्राणी जगत्) में ज्ञान पूर्वक क्रिया है, यही विशेषता, चैतन्यात्मा का भेद है।

203-आत्मसृष्टमिदं विश्वमन्वाविश्य स्वशक्तिभिः।

ईयते बहुधा ब्रह्मन् श्रुतप्रत्यक्षगोचरम्।। 10.48.19।।

204-यथा हि भूतेषु चराचरेषु मह्यदयो योनिषु भान्ति नाना।

एवं भवान् केवलं आत्मयोनिष्वात्माऽऽत्मतन्त्रो बहुधा विभाति।। 10.48.20।।

हे परमात्मन्! आपने ही अपनी शक्ति से इसकी रचना की है और आप ही अपनी काल, माया आदि शक्तियों से इसमें प्रविष्ट हो कर जितनी भी वस्तुएँ देखी और सुनी जाती हैं उनके रूप में प्रतीत हो रहे हैं। जैसे पृथ्वी आदि कारणतत्त्वों से ही उनके कार्य स्थावर-जङ्गम शरीर बनते हैं; वे उनमें अनुप्रविष्ट से होकर अनेक रूपों में प्रतीत होते हैं, परन्तु वास्तव में वे कारणरूप ही हैं। इसी प्रकार हैं तो केवल आप ही परन्तु अपने कार्यरूप जगत् में स्वेच्छा से अनेक रूपों में प्रतीत होते हैं। यह भी आपके एक लीला ही है।

तात्पर्य अर्थ-

एक अद्वितीय आत्मा ही नानारूपों एवं नामों में प्रतीत हो रहा है। क्योंकि आत्मा के बिना चेतन के बिना, इस नाम-रूपों का सिद्धि ही कैसे होगी, स्वयं प्रकृति या प्रकृति के कार्य नाना नाम व रूपों वाले वस्तुएँ ज्ञान रहित हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो उनका कोई अस्तित्व ही नहीं है। "**स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्**" (छा.उ.6.1.4.)।

205-सृजस्यथो लुम्पसि पासि विश्वं, रजस्तमःसत्त्वगुणैः स्वशक्तिभिः।
न बध्यसे तद्गुणकर्मभिर्वा, ज्ञानात्मनस्ते क्व च बन्धहेतुः।। 10.48.21।।

हे प्रभो! आप रजोगुण, सत्त्वगुण और तमोगुणरूप अपनी शक्तियों से क्रमशः जगत् की रचना, पालन और संहार करते हैं; किन्तु आप उन गुणों से अथवा उनके द्वारा होने वाले कर्मों से बन्धन में नहीं पड़ते, क्योंकि आप शुद्ध ज्ञानस्वरूप हैं। ऐसी स्थिति में आपके लिये बन्धन का कारण ही क्या हो सकता है?

तात्पर्य अर्थ-

जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश में निमित्त है- सत्त्वादि गुण! रजोगुण की वृद्धि होने पर उत्पत्ति, सत्त्वगुण की वृद्धि होने पर स्थिति तथा तमोगुण की वृद्धि होने पर विनाश, इस उत्पत्ति आदि से आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि आत्मा-निर्गुण, निष्क्रिय हैं। "**न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे**", "**प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं**" इत्यादि (क. 1.2.18, बृहदा. 4.4.18), "**श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः।।**" (के.उ. 1.2)।

206-देहाद्युपाधेरनिरूपितत्वाद् भवो न साक्षान्न भिदाऽऽत्मनः स्यात्।
अतो न बन्धस्तव नैव मोक्षः स्यातां निकामस्त्वयि नोऽविवेकः।। 10.48.22।।

हे प्रभो! स्वयं आत्मवस्तु में स्थूलदेह, सूक्ष्मदेहादि उपाधियाँ न होने के कारण न तो उसमें जन्म-मृत्यु है और न किसी प्रकार का भेदभाव, यही कारण है कि न आपमें बन्धन है और न मोक्ष। आपमें अपने-अपने अभिप्राय के अनुसार बन्धन या मोक्ष की जो कुछ कल्पना होती है, उसका कारण केवल हमारा अविवेक ही है।

तात्पर्य अर्थ-

अज्ञानी एवं अविवेकी लोग आत्मा में बन्ध-मोक्ष या जन्म-मृत्यु की कल्पना करते हैं किन्तु विवेकसम्पन्न ज्ञानीकी दृष्टि में आत्मा में न बन्धन है और न मोक्ष और न जन्म-मृत्यु है। "**शुद्धोऽहमद्वयोऽहं**" (आ.प्र.उ-10), "**अविनाशी तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्**" (गी.2.17)।

207-मयि भक्तिर्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते।

दिष्ट्या यदासीन्मत्स्नेहो भवतीनां मदापनः।।10.82.45।।

208-अहं हि सर्वभूतानामादिरन्तोऽन्तरं बहिः।

भौतिकानां यथा खं वार्भूर्वायुर्ज्योतिरङ्गनाः 11.82.46।।

हे सखियों! यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुम सब लोगों को मेरा वह प्रेम प्राप्त हो चुका है, जो मेरी ही प्राप्ति कराने वाला है। क्योंकि मेरे प्रति की हुई प्रेम भक्ति प्राणियों को अमृतत्व (परमानन्द-धाम) प्रदान कराने में समर्थ है। हे प्यारी गोपियों! जैसे घट, पट आदि जितने भी भौतिक पदार्थ हैं, उनके आदि अन्त और मध्य में तथा बाहर और भीतर, उनके मूल कारण पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि तथा आकाश ही ओतप्रोत हो रहे हैं, वैसे ही जितने भी पदार्थ हैं, उनके पहले, पीछे, बीच में तथा बाहर और भीतर केवल मैं ही मैं हूँ।

209-एवं ह्येतानि भूतानि भूतेष्वात्माऽऽत्मना ततः।

उभयं मय्यथ परे पश्यताभातमक्षरे।। 10.82.47।।

इसी प्रकार सभी प्राणियों के शरीरों में यही पाँचों भूत कारण रूप से स्थित है और आत्मा भोक्ता के रूप में अथवा जीव के रूपमें स्थित हैं। परन्तु मैं इन दोनों से परे अविनाशी सत्य हूँ। ये दोनों मेरे अन्दर प्रतीत हो रहे हैं, तुम लोग ऐसा अनुभव करो।

तात्पर्य अर्थ-

स्वरूप में अनन्य प्रेम एवं दृढनिश्चय ही अमृतत्त्व की प्राप्ति का साधन है। क्योंकि सम्पूर्ण प्राणी-पदार्थों के रूपों में आत्मा ही प्रतीयमान हो रहा है। जैसे घट-पट, मठादि के नाम व रूपों में पञ्चमहाभूत ही अनुभव में आ रहे हैं। अर्थात्-आत्मा में जगत् और जगत् में आत्मा ओत-प्रोत हो रहा है; यथा सैन्धवघन "**ईशावास्यमिदँ सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।**"(ई.उ. 1), "**स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यँ स आत्मा।।**" (छा.6.8.7)।

210-तं क्लेशकर्मपरिपाकगुणप्रवाहैरव्याहतानुभवमीश्वरमद्वितीयम्।

प्राणादिभिः स्वविभवैरुपगूढमन्यो, मन्येत सूर्यमिव मेघहिमोपरागैः।। 10.84.33।

उनका ज्ञानमय स्वरूप अविद्या राग-द्वेष आदि पँचक्लेश, पुण्य-पापमय कर्म, सुख-दु:खादि कर्मफल तथा सत्त्वादि गुणों के प्रभाव से खण्डित नहीं होता है। वे स्वयं अद्वितीय परमात्मा है। जब वे अपने को अपनी ही शक्तियों प्राणादि से ढ़क लेते हैं, तब मूर्ख-लोग ऐसा समझते है कि वे ढ़क गये; जैसे बादल, कुहरा या ग्रहण से अपने नेत्रों के ढ़क जाने पर सूर्य को ढ़का हुआ मान लेते हैं।

तात्पर्य अर्थ-

आत्मा का ज्ञानमयस्वरूप किसी के द्वारा कभी तिरोहित नहीं होता है, फिर भी अज्ञानी-प्राण, मन, बुद्धि, देहादि को ही आत्मा या अपना स्वरूप मान करके सुखी-दु:खी एवं जन्म-मृत्यु आदि को स्वीकार करते हैं। जबकि श्रुति कहती हैं- ''**असङ्गो ह्य यात्मा।।**'' (नृसिंहोत्तरतापिन्यूप-9.8) और गीता भी कहती हैं- ''**न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूय:। अजो नित्य: शाश्वतोऽयं पुराणो, न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।**'' (गी. 2.20)।

211-यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद्यद् यथा यदा।
स्यादिदं भगवान् साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वर:।। 10.85.4।।

212-एतन्नानाविधं विश्वमात्मसृष्टमधोक्षज।
आत्मनानुप्रविश्यात्मन् प्राणो जीवो बिभर्ष्यज:।। 10.85.5।।

इस जगत् के आधार हे प्रभो! निर्माता और निर्माण सामग्री भी तुम्हीं हो। इस सारे जगत् के स्वामी तुम ही दोनों हो और तुम्हारी ही क्रीडा के लिये इसका निर्माण हुआ है। यह जिस समय, जिस रूप में जो कुछ रहता है, होता है- वह सब तुम्हीं हो। इस जगत् के प्रकृति रूप से भोग्य और पुरुषरूप से भोक्ता तथा दोनों से परे दोनों के नियामक साक्षात् भगवान् भी तुम्हीं हो। हे इन्द्रियातीत! जन्म, अस्तित्व आदि भाव विकारों से रहित हे परमात्मन्! इस चित्र-विचित्र जगत् को तुम्ही ने निर्माण किया है और स्वयं तुमने ही आत्म रूप से प्रवेश भी किया है। तुम प्राण (क्रिया शक्ति) और जीव (ज्ञानशक्ति) के रूप में इसका पालन-पोषण कर रहे हो।

तात्पर्य अर्थ-

जिस प्रकार स्वप्रकाल में वासनामय सूक्ष्मशरीर ही स्वप्न का आधार होकर सब कुछ यानि दृश्य-द्रष्टा, भोग्य-भोक्ता, शत्रु-मित्र, कर्ता और कर्म आदि के रूपों में हो जाता है। उसी प्रकार सच्चिदानन्द, ज्ञानस्वरूप आत्मा ही चराचर जगत् के रूप में भासित हो रहा है। क्योंकि प्रकृति के बिना तो आत्मा की सिद्धि हो सकती है, किन्तु आत्मा के बिना जगत् की सिद्धि हो ही नहीं सकती। यथा- देदिप्यमान सूर्य के अभाव

में जगत् की किसी प्रकार भी सिद्धि नहीं हो सकती। धूम के अभाव में भी अग्नि कि सिद्धि तो है, किन्तु अग्नि के बिना धूम की सिद्धि नहीं हो सकती।

213 प्राणादिनां विश्वसृजां शक्तयो याः परस्य ताः।
पारतन्त्र्याद् वै सादृश्याद् द्वयोश्चेष्टैव चेष्टताम्।। 10.85.6।।

क्रियाशक्तिप्रधान प्राणादि में जो जगत् की वस्तुओं की सृष्टि करने की सामर्थ्य है, वह उनका अपना सामर्थ्य नहीं, तुम्हारा ही है। क्योंकि वे तुम्हारे समान चेतन नहीं अचेतन हैं, स्वतन्त्र नहीं परतन्त्र हैं। अत: उन चेष्टाशील प्राणादि में चेष्ट मात्र होती हैं, शक्ति नहीं। शक्ति तो तुम्हारी ही है।

तात्पर्य अर्थ-

इस स्थूल शरीरगत प्राणके द्वारा प्राणन क्रिया, नेत्रादि इन्द्रियों के द्वारा-देखना, सुनना, बोलना, चलना आदि क्रियाएँ देखने में आ रहा है, वह सब उनकी नहीं, बल्कि आत्मशक्ति उनके द्वारा शक्तिमान होने से है, स्वत: नहीं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है- जिस दिन इस शरीर को मर गया कहा जाता है, उस दिन सब कुछ होते हुए भी कोई भी क्रियाएँ देखने में नहीं आती। ''**श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च। अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते**''।। (गी. 15.9)।

214-कान्तिस्तेजः प्रभा सत्ताचन्द्राग्न्यर्कर्क्षविद्युताम्।
यत् स्थैर्यं भूभृतां भूमेर्वृत्तिर्गन्धोऽर्थतो भवान्।।10.85.7।।

215-तर्पणं प्राणनमपां देवत्वं ताश्च तद्रसः।
ओजः सहो बलं चेष्टा गतिर्वायोस्तवेश्वर।। 10.85.8।।

हे प्रभो! चन्द्रमा की कान्ति, अग्नि का तेज, सूर्य की प्रभा, नक्षत्र और विद्युत आदि की स्फुरणरूप से सत्ता, पर्वतों की स्थिरता, पृथ्वी की साधारणशक्तिरूप वृत्ति और गन्धरूप गुण-ये सब वास्तव में तुम्हीं हो। हे परमेश्वर! जल में तृप्त करने, जीवन देने और शुद्ध करने की जो शक्तियाँ हैं, वे तुम्हारा ही स्वरूप हैं। जल और उसका रस भी तुम्हीं हो। हे प्रभो! इन्द्रियों की शक्ति, अन्त:करण की शक्ति, शरीर की शक्ति, उसका हिलना-डोलना, चलना-फिरना- ये वायु की शक्तियाँ तुम्हारी ही है।

तात्पर्य अर्थ-

शरीर, मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रियाँ तथा पृथ्वी आदि में गुण, क्रिया, शक्तियाँ एवं चेतनता देखने में आती हैं, वह उनकी नहीं; चेतन-आत्मा की हैं। इसी बात को भगवद्गीता में कहा है- ''**यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलं। यच्चन्द्रमसि यच्चग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्**''(15.12), ''**सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञान-मपोहनं च**'' (गी. 15.18)।

216-युवां न नः सुतौ साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरौ।

भूभारक्षत्रक्षपण अवतीर्णौ तथाऽऽत्थ ह।। 10.85.18।।

मैं जानता हूँ कि तुम दोनों मेरे पुत्र नहीं हो, सम्पूर्ण प्रकृति और जीवों के स्वामी हो। पृथ्वी के भारभूत राजाओं के नाश के लिये ही तुमने अवतार ग्रहण किया है। यह बात तुमने मुझसे कही भी थी।

तात्पर्य अर्थ-

यह मानव जीवन की प्राप्ति, सम्पूर्ण कर्मबीज-वासनाओं को ज्ञानाग्नि के द्वारा दग्ध करने के लिये है। कर्म बीज वासना के क्षपन हो जाने पर साक्षात् अपरोक्ष स्वस्वरूप की प्राप्ति कही गयी है। यह शुद्ध आत्मा ना किसी का पुत्र है, ना किसी का पिता-माता है और ना किसी का पति-पत्नी ही है तथा सेवक-स्वामी। मनः कल्पित नाम-रूप से ही व्यवहार काल में पुत्र-पिता आदि का व्यवहार होता है। प्रकृति के सापेक्षता में द्रष्टा-साक्षी आदि कहा जाता है, निरपेक्षता में केवल चैतन्य है। यथा-इन्धन रहित केवल अग्नि "**न जायते म्रियते वा विपाश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो**" (क.उ. 1.2.18) ऐसी स्थिति में कौन किसका माता-पिता-पुत्रादि बन सकता है।

217-वचो वः समवेतार्थं तातैतदुपमन्महे।

यन्नः पुत्रान् समुद्दिश्य तत्त्वग्राम उदाहृतः।।10.85.22।।

हे पिताजी! हम तो आपके पुत्र ही है। हमें लक्ष्य करके आपने यह ब्रह्मज्ञान का उपदेश किया है। हम आपकी एक-एक बात युक्तियुक्त मानते हैं।

तात्पर्य अर्थ-

मुमुक्षु-साधक को चाहिये कि अन्तरात्मा का स्वरूप में उस प्रकार का प्रेम साधना करना चाहिये, जैसे-आँखों के तारे-प्रिय पुत्र के प्रति माता-पिता प्रेम करते हैं, यथा-दशरथ, और नन्दबाबा ने किया था अपने बालकों के प्रति। क्योंकि प्रिय पुत्र ही उनका सर्वस्व है। ऐसे अपने अन्तरात्मा को ही सर्वस्व का लक्ष्य बना लेना चाहिये। "**स एवाधस्तात्स उपरिष्टात्स पश्चात्स पुरस्तात्स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदँ सर्वमित्यथातोऽहङ्कारादेश एवाहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं**" इत्यादि (छा. 7.25.1)

218-अहं यूयमसावार्य इमे च द्वारकौकसः।

सर्वोऽप्येवं यदुश्रेष्ठ विमृश्याः सचराचरम्।। 10.85.23।।

219-आत्मा ह्येकः स्वयंज्योतिर्नित्योऽन्यो निर्गुणो गुणैः।

आत्मसृष्टैस्तत्कृतेषु भूतेषु बहुधेयते।। 10.85.24।।

हे पिताजी! आप लोग, मैं, भैया बलराम जी, सारे द्वारिकावासी, सम्पूर्ण चराचर जगत्-सबके सब आपने जैसा कहा, वैसे ही है, सबको ब्रह्मरूप ही समझना चाहिये। हे पिताजी! आत्मा तो एक ही है। वह अपने में ही गुणों की सृष्टि कर लेता है और गुणों के द्वारा बनाये हुए पँचभूतों में आत्मा एक होने पर भी अनेक, स्वयं-प्रकाश होने पर भी प्रकाश्य-दृश्य, अपना स्वरूप होने पर भी अपने से भिन्न, नित्य होने पर भी अनित्य और निर्गुण होने पर भी सगुण के रूप में प्रतीत होता है।

तात्पर्य अर्थ-

आत्मा के भाव में अथवा आत्मा के अस्तित्व में ही सम्पूर्ण विश्व की अस्तित्व है। अथवा ऐसे कहें-आत्मा ही नाम-रूपों में प्रतिभासित हो रहा है। यथा-पृथ्वी ही घट, पट, मठ, पेड़, पहाड़ादि नानाविध नामों से व्यवहृत हो रही है।

220-नाद्य नो दर्शनं प्राप्तः परं परमपूरुषः।

यर्हीदं शक्तिभिः सृष्ट्वा प्रविष्टो ह्यात्मसत्तथा।।10.86.44।।

221-यथा शयानः पुरुषो मनसैवात्ममायया।

सृष्ट्वा लोकं परं स्वाप्नमनुविश्यावभासते।। 10.86.45।।

जैसे सोया हुआ पुरुष स्वप्नावस्था में अविद्यावश मन ही मन स्वप्न जगत् की सृष्टि कर लेता है और उसमें स्वयं उपस्थित होकर अनेक रूपों में अनेक कर्म करता हुआ प्रतीत होता है, वैसे ही आपने अपने में ही अपनी माया से जगत् की रचना कर ली है और अब इसमें प्रवेश करके अनेकों रूपों में प्रकाशित हो रहे हैं।

तात्पर्य अर्थ-

यह सम्पूर्ण जगत् विचार करने पर मनकी भावना ही सिद्ध होती है, अर्थात्-पूर्व-पूर्व जन्मों का संस्कारों को ही पुनरावृत्ति के द्वारा देखता है। यथा-पशु-पक्षी अपने भोग्यपदार्थों को मुख में या पेट में डालकर उसी को पुनः वापस करके जुगाली करते रहते हैं। तद्वत्-जाग्रत तथा स्वप्न में जो कुछ दृष्टि में आ रहा है; वह सबके-सब पूर्व जन्मों का संस्कार मात्र ही है। अथवा अज्ञानता की विलास मात्र है।

222-हृदिस्थोऽप्यतिदूरस्थः कर्मविक्षिप्तचेतसाम्।

आत्मशक्तिभिरग्राह्योऽप्यन्त्युपेतगुणात्मनाम्।।10.86.47।।

223-नमोऽस्तु तेऽध्यात्मविदां परमात्मने, अनात्मने स्वात्मविभक्तमृत्यवे।

सकारणाकारणलिङ्गमीयुषे, स्वमायया संवृतरुद्धदृष्टये।। 10.86.48।।

जिन लोगों का चित्त लौकिक-वैदिक आदि कर्मों की वासना से बहिर्मुख हो रहा है, उनके हृदय में रहने पर भी उनसे आप बहुत दूर हैं। किन्तु जिन लोगों ने आपके

गुणगाण से अपने अन्त:करण को सद्गुणसम्पन्न बना लिया है, उनके लिये चित्तवृत्तियों से अग्राह्य होने पर भी आप अत्यन्त निकट हैं। हे प्रभो! जो आत्मतत्त्वको जानने वाले हैं, उनके आत्मा के रूप में ही आप स्थित है और जो शरीर आदि को ही आत्मा मान लिये हैं, उनके लिये आप अनात्म को प्राप्त होने वाली मृत्यु के रूप में हैं। आप महत्तत्त्व आदि कार्यद्रव्य और प्रकृतिरूप कारण के नियामक हैं- शासक हैं। आपकी माया आपकी दृष्टिपर पर्दा नहीं डाल सकती किन्तु वह दूसरों की दृष्टि को ढक रखी है। ऐसे आपको मैं नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य अर्थ-

समस्त आस्तिकों का मानना है कि आत्मस्वरूप परमात्मा प्राणियों के हृदय में और बाहर-भीतर सदा-सर्वदा विराजमान है; फिर भी लोगों को साक्षात् अनुभव में क्यों नहीं आता? इसका अनेकों कारण हो सकते हैं- जैसे कि (1)- निर्विषय होने से, (2) निर्गुण होने से, (3) निराकर होने से, (4) बुद्धिवृत्ति विषयाकार होने से इत्यादि इन सभी कारणों में मुख्य कारण हो सकता है- बुद्धि की विषयाकारवृत्ति होनी। विषय यानि जगत् ही प्रतिक्षण अनुभव में आता है इसलिये जगताकार वृत्ति होने पर जगत से भिन्न वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता। जैसे-स्वप्नकाल में जाग्रत के पदार्थों का ज्ञान नहीं होता अत्यन्त समीप होने पर भी और जाग्रत काल में स्वप्न की वस्तुओं का ज्ञान नहीं होता। और दूसरी ओर इसके विपरीत जिन्होंने; सद्गुरु की कृपा प्रसाद एवं शास्त्रों का चिन्तन मनन में, नित्य-निरन्तर अभ्यास द्वारा मनको एकाग्र करके ध्यान-समाधि के माध्यम से आत्माकार वृत्ति बना ली उन्हें आत्मा ही सर्वत्र देखने में आता है; जगत् नहीं "**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**" (छा.-3.14.1), "**अहं ब्रह्मास्मि**" (बृ.-1.4.10), "**आत्मैव सर्वम्**" (छा-7.25.2)।

!! इति द्वितीयोऽध्याय: !!

अथ तृतीयोऽध्याय:- विदेह (कैवल्य) मुक्ति

(20) विदेहमुक्ति (कैवल्य) प्रकरणम्

1- **ब्रह्मन् ब्रह्मण्यनिर्देश्ये निर्गुणे गुणवृत्तय:।**
कथं चरन्ति श्रुतय: साक्षात्सदसत: परे।। 10.87.1।।

हे भगवन्! ब्रह्म कार्य और कारण से सर्वथा परे है। सत्त्व, रज और तम-ये तीनों गुण उसमें हैं नहीं। मन और वाणी से सङ्केतरूप में भी उसका निर्देश नहीं किया जा सकता। दूसरी ओर समस्त श्रुतियों का विषय गुण ही है। वे जिस विषय का वर्णन

करती हैं, उसके गुण, जाति, क्रिया अथवा रूढी का ही निर्देश करती हैं। ऐसी स्थिति में श्रुतियाँ निर्गुण ब्रह्मका प्रतिपादन किस प्रकार कर सकती है? क्योंकि निर्गुण वस्तु का स्वरूप तो उनकी पहुँच से परे हैं।

तात्पर्य अर्थ-

आत्मा-निर्गुण, निराकार, नीरूप, अप्रमेय, आदि होने के कारण मन-बुद्धि, इन्द्रियाँ उसे ग्रहण नहीं कर सकती; इसकी तो बात ही क्या! श्रुतियाँ भी प्रतिपादन, करने में असमर्थ हैं। इसलिये श्रुति-**'नेति-नेति'** (बृ-3.9.26) कहकर मौन हो जाती हैं। फिर भी निषेध वाक्य के द्वारा संकेत करती हैं- **''नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्, अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्य-मेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः''** इति (माण्डू. उ. 7)। कहने का अभिप्राय यह है कि आत्मा-निर्गुण-निराकार नीरूप, अप्रमेय, आदि होने के कारण निर्विषय है और निर्विषय होने से मन बुद्धि (अन्तःकरण) और श्रोत्रादि (ज्ञानेन्द्रियों) का विषय न होने से अग्राह्य है, अर्थात्-इन्द्रियातीत है वह आत्मा। इनकी तो बात ही क्या; श्रुतियाँ भी प्रत्यक्षरूप से प्रतिपादन करने में असमर्थ हैं। इसलिये- **''यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः''** (मु.उ. 1.1.6) इन्द्रियातीत होने से आगे कहना पड़ाः-**''सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यते''** (बृ-3.9.26) श्रुतियाँ ऐसा कहकर मौन हो जाती हैं। फिर भी अज्ञानियों के लिये निषेध वाक्यों के द्वारा आत्मतत्त्व का संकेत करती हैं- **''एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्म-स्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धम-चक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कम्''** (बृ.3.8.8) अर्थात्- हे गार्गि! आकाश के ओत-प्रोत स्थानरूप उस-इस तत्त्व को तो ब्रह्मवेत्ता पुरुष 'अक्षर' कहते हैं। वह अक्षर न स्थूल है, न सूक्ष्म है, न छोटा है, न बड़ा है, न लाल है, न जल का गुण द्रवरूप है, न छाया (प्रतिबिम्ब) अवस्तु के समान है, न अन्धेरा (नेत्र और सूर्य के मध्य में पृथ्वी का होना) अथवा बुद्धिगत अज्ञानता है, न गन्ध पृथ्वी का गुण है, न नेत्रवाला है, न श्रोत्रवाला है, न मनवाला है, न वाणीवाला है, न तेज (प्रकाश) सूर्य-अग्नि आदि के समान हैं, न प्राणवाला है, अर्थात्- न बाह्याभ्यान्तर इन्द्रियों के द्वारा देखने-सुनने वाला जीवात्मा है।

2- बुद्धीन्द्रियमनःप्राणान् जनानामसृजत्प्रभुः।
मात्रार्थं च भावार्थं च आत्मनेऽकल्पनाय च।। 10.87.2।।

हे परीक्षित्! भगवान् सर्वशक्तिमान् और गुणों के निधान हैं। श्रुतियाँ स्पष्टतः सगुण का ही निरूपण करती हैं, परन्तु विचार करने पर उनका तात्पर्य निर्गुण ही निकलता है। विचार करने के लिये ही भगवान ने जीवों के लिये बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ और प्राणों की सृष्टि की है। इनके द्वारा वे स्वेच्छा से- अर्थ, धर्म, काम अथवा मोक्ष का अर्जन कर सकते हैं। (प्राणों के द्वारा जीवन धारण, श्रोत्रादि इन्द्रियों के द्वारा महावाक्य आदि का श्रवण, मनके द्वारा मनन और बुद्धि के द्वारा निश्चय करने पर श्रुतियों के तात्पर्य निर्गुण स्वरूप का साक्षात्कार हो सकता है। इसलिये श्रुतियाँ सगुण का प्रतिपादक हो पर भी वस्तुतः निर्गुणपरक हैं)।

तात्पर्य अर्थ-

सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर निर्गुण, निराकार ही सगुण-साकार के रूप में इन्द्रिय ग्राह्य है, जो कुछ भी कार्य कारण के रूप में देखने में आ रहा है, वह सब एक-अद्वितीय तत्त्व ही नाना, नाम रूपों में भासमान हो रहा है। इस विषय में श्रुति प्रमाण है- **''द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च मर्त्यं चामृतं च स्थितं च यच्च सच्च त्यच्च** (2.3.1 बृ.उ.) अर्थात् ब्रह्म के दो रूप हैं- **'मूर्त'** सगुण, और-**'अमूर्त'** निर्गुण निराकार अथवा सगुण ही दो रूप हैं; मूर्तरूप पृथ्वी, जल और अग्नि। अमूर्त-वायु और आकाश **मर्त्यं**-जड़, विनाशशील, **अमृतं**- जीव, अविनाशी, **स्थितं**-स्थावर वृक्षादि, **यच्च**-जङ्गम मनुष्य, पशु, पक्षी आदि **'सच्च'** सत् त्रिकालाबाध्य अपरोक्ष की प्रतीति होती हैं, **'त्यच्च'** उसके विपरीत गुण स्वभाव वाले जड़ घट-पट, मठादि। मूर्त-अमूर्तरूप ब्रह्म के चार विशेषणों का यहाँ पर संकेत मिलता है, जैसे:- **''तत्र चतुष्टयविशेषणविशिष्टं मूर्तं तथाऽमूर्तं च'', ''कानि मूर्तविशेषणानि कानि चेतराणीति विभज्यते**? इति भाष्यम्। ऐसी जिज्ञासा होने पर आगे समाधान करते हैं भाष्यकार:- पञ्च महाभूतों में (पृथ्वी, जल और अग्नि) ये तीनों मूर्त संज्ञक हैं और वायु, आकाश ये दोनों अमूर्त संज्ञक हैं। (क) मूर्त का विशेषण हैं:- मर्त्य, स्थित और सत् इसी प्रकार (ख) अमूर्त, अमृत, यत् और त्यत्। इन मूर्त-अमूर्त के अन्तर्गत कार्य-कारण का सम्पूर्ण जगत् आ जाते हैं। इस प्रपंच का कोई अस्तित्व न होने से **''सर्वं खल्विदंब्रह्म''** (छा.3.14.1) कहा गया है, क्योंकि **''स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं''** (छा.6.1.4) इति। अथवा-मूर्तामूर्त कार्य-कारण भाव। अथवा-मूर्त आत्मा-सगुण-साकार और अमूर्त निर्गुण-निराकार। अथवा शरीर की दृष्टि से मूर्तामूर्त-अन्नमय कोश स्थूल शरीर और प्राणमय एवं मनोमय से युक्त विज्ञानमय कोश सूक्ष्मशरीर, अविद्यायुक्त आनन्दमय कोश कारणशरीर आदि पर भी विचार किया जा सकता है। अथवा-ध्यान समाधि अभ्यास कांल में नेति-नेति के द्वारा सर्वोपाधियों के निषेध हो जाने पर केवल-मात्र निर्विशेष अद्वितीय ब्रह्म ही शेष

रह जाता है, उसी ब्रह्मात्मा (परमात्मा) के दो रूपों का यहाँ पर जिस प्रकार व्याख्या की गयी है; उसे ध्यान से सुनें और एकाग्र चित्त से विचार करें- मन-वाणी के विषय न होने वाले परब्रह्म-परमात्मा; अविद्याध्यारोप के कारण-अथवा भक्तों के भावविशेषके कारण (निर्गुण-निराकार) ही सगुण-साकार के रूपों में वर्णन किया गया है। ताकि अज्ञजनों के बुद्धि में श्रद्धा-भक्तिका उदय हो सके। वस्तुत: निर्विषय आत्मा तो कभी भी मन-वाणी का विषय बन नहीं सकता; फिर भी जन सामान्य को बोध कराने के दृष्टिकोण से कार्य-कारण भाव का निर्देश किया गया है। जैसे-माता-पिता अपने नन्हे-मुन्हे उपद्रवी बालक को प्रसन्न करने के लिये (खेल-खिलौने का) प्रलोभन देकर उसके मनको शान्त करते हैं। अथवा भगवत्पाद आद्य शंकराचार्य का भाष्य-द्वे एवेत्यर्थ: ब्रह्मण: (परमात्मनो) **रूपं**-रूप्यते याभ्यामरूपं परं ब्रह्म अविद्याध्यारोप्यमाणाभ्याम्, के ते द्वे?-मूर्तं चैवामूर्तमेव च, अन्तर्णीतस्वात्मविशेषणे-मूर्तामूर्ते द्वे एवेत्यवधार्येते। कानि पुनस्तानि विशेषणानि मूर्तामूर्तयोरित्युच्यन्ते। मर्त्यं मरणधर्मी, अमृतं तद्विपरीतं अमरणधर्मी। स्थितं परिच्छिन्नं यत्स्थास्नु। यच्च यातीति यद् व्याप्यं परिच्छिन्नं, जंगमं। सच्च-सदित्यन्येभ्यो विशेष्यमाणासाधारणधर्मविशेषवत्, त्यच्च-तद्विपरीतं त्यदित्येव सर्वदा परोक्षेणाभिधानार्हम्। भावार्थ- ध्यान-समाधि काल में नेति-नेति के द्वारा सर्वोपाधियों का निषेध कर देने पर केवल निर्विशेष अद्वितीय ब्रह्म ही शेष रह जाता है, वही ब्रह्मात्मा (परमात्मा) का दो रूपों का यहाँ पर जिस प्रकार व्याख्या की गयी है, उसे ध्यान से श्रवण करें, एकाग्र चित्त से मनन करें। मन, वाणी के विषय न होने वाले परब्रह्म परमात्मा; अविद्याध्यासों के कारण अथवा भक्तों के भाव विशेष के कारण सगुण निर्गुण रूपों में वर्णन किया गया है। किन कारणों से अनिर्वचनीय आत्मा को मन-वाणी का विषय बनाया गया है? निर्विषय आत्मा तो कभी मन-वाणी का विषय बन ही नहीं सकता; फिर भी सामान्य अज्ञानीजनों को बोध कराने के दृष्टि कोण से कार्य-कारण भाव का निर्देश किया गया है। जैसे- पंचमहाभूत-(पृथ्वी, जलादि) कार्य, स्थूल, मूर्त (सगुण) और अणु-परमाणु आदि कारण। अति सूक्ष्म अमूर्त (निर्गुण) है, वह अमरणधर्मी अविनाशी व नित्य है। अत: जो स्थूल-मूर्त (सगुण) है वह मरणधर्मा है, विनाशी है, क्षणिक है तथा जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म है वह-अमरण धर्मी, नित्य, विनाशरहित है, अपरिच्छिन्न है। इसी प्रकार आध्यात्मिक दृष्टि-कोण से; स्थूल शरीरकार्य है (मूर्त है) सगुण है इसलिये मरणधर्मी हैं, अनित्य है, विनाशी है। जीवात्मा, उपाधि के कारण सगुण है(मूर्त) है, सुख-दु:ख, जन्म-मरणवाला है, कर्ता-भोक्ता है और निरुपाधिक आत्मा-परमात्मा, निर्गुण, (अमूर्त) है, अन्तीन्द्रिय है, जन्म-मरण, सुख-दु:ख से रहित है, अविनाशी है, कर्तृत्व-भोक्तृत्व रहित है, सर्वरूप है।

3- जय जय जह्यजामजित दोषगृभीतगुणां,
त्वमसि यदात्मना समवरुद्ध समस्तभगः।
अगजगदोकसामखिलशक्त्यवबोधक ते,
क्वचिदजयाऽऽत्मना च चरतोऽनुचरेन्निगमः।। 10.87.14।।

हे अजित! आप ही सर्व श्रेष्ठ है; आप पर कोई विजय प्राप्त नहीं कर सकता। आपकी जय हो-जय हो। हे प्रभो! आप स्वभाव से ही समस्त ऐश्वर्यों से पूर्ण हैं, इसलिये चराचर प्राणियों को फँसाने वाली माया का नाश कर दीजिये, हे प्रभो! इस गुणमयी माया ने जीवों के आनन्दादिमय सहज स्वरूप का आच्छादन करके उन्हें बन्धन में डालने के लिये ही दोषयुक्त सत्त्वादि गुणों को ग्रहण किया है। जगत् में जितनी भी साधन क्रिया आदि शक्तियाँ हैं, उन सबको जानने वाले आप ही हैं। इस लिये इस विषय में यदि प्रमाण पूछा जाय, तो आपकी श्वासभूता हम श्रुतियाँ ही प्रमाण है। यद्यपि हम आपका स्वरूपतः वर्णन करने में असमर्थ हैं; परन्तु जब कभी आप माया के द्वारा जगत् की सृष्टि करके सगुण हो जाते हैं या उसको निषेध करके स्वरूप स्थिति की लीला करते हैं, अथवा अपना सच्चिदानन्दस्वरूप श्री विग्रह प्रकट करके क्रीडा करते हैं, तभी हम यत्किञ्चित् आपका वर्णन करने में समर्थ होती हैं।

तात्पर्य अर्थ-

आत्मा स्वरूपतः ज्योतिर्मय ज्ञानस्वरूप होने से गुणों के द्वारा दूषित, एवं सावयव, क्षण-प्रतिक्षण विकारमयी प्रकृति के द्वारा (साथ होते हुए) भी दूषित नहीं हो सकता, विकार भाव को प्राप्त नहीं होता। फिर भी मुमुक्षु साधक जबतक प्रकृति, पुरुष का भेद दृष्टि, शरीर और आत्मा की भिन्नता, विषय सुख-की लिप्सा आदि की मन-बुद्धि में वृतियाँ बनती हैं, तबतक-इन्द्रिय, मन-बुद्धि, वाणी आदि पर संयमन पूर्वक जीवन यापन करना चाहिये। "**वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता**" (गी. 2.61) अथवाः- प्रज्ञा में (ज्ञानस्वरूप) आत्मा में सर्वभावरूप से प्रतिष्ठित हो जाने पर उनकी दृष्टि में आत्मा से भिन्न कोई दूसरी वस्तु की प्रतीति ही समाप्त हो जाती है। यही गुणातीत की स्थिति है और गुणतीत महापुरुष-बाह्याभ्यान्तर बन्धनों से सदा-सर्वदा के लिये (प्रारब्ध शेष होते हुये भी) मुक्त हो जाते हैं। "**प्रारब्धसूत्रग्रथितं शरीरं, प्रायातु वा तिष्ठतु गोरिव स्रक्। न तत्पुनः पश्यति तत्त्ववेत्तानन्दात्मनि ब्रह्मणि लीनवृत्तिः**" (वि.चू. 4.17) अर्थात्- गौ अपने गले में पड़ी हुई मालो के रहने अथवा गिरनकी ओर जैसे कुछ भी ध्यान नहीं देती, इसी प्रकार प्रारब्ध की धागा में पिरोया हुआ यह शरीर रहे अथवा जाय, जिसकी चित्तवृत्ति आनन्दस्वरूप ब्रह्म में लीन हो गयी है, वह तत्त्ववेत्ता फिर उसकी ओर नहीं देखता। "**व्यवहारो लौकिको वा शास्त्रीयो वान्यथापि वा। ममाकर्तुरलेपस्य यथारब्ध प्रवर्तताम्।।**" (पं.द-7.267)।

4- **बृहदुपलब्धमेतदवयन्त्यवशेषतया,**
यत उदयास्तमयौ विकृतेर्मृदि वाविकृतात्।
अत ऋषयो दधुस्त्वयि मनोवचनाचरितं,
कथमयथा भवन्ति भुवि दत्तपदानि नृणाम्।। 10.87.15।।

इसमें सन्देह नहीं कि हमारे द्वारा इन्द्र, वरुण आदि देवताओं का भी वर्णन किया जाता है, परन्तु हमारे (श्रुतियों के) सारे मन्त्र अथवा सभी मन्त्रद्रष्टा ऋषि; प्रतीत होने वाले इस सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्मस्वरूप ही अनुभव करते हैं। क्योंकि जिस समय यह सारा जगत् नहीं रहता, उस समय भी आप बचे रहते हैं। जैसे घट, शराव (मिट्टी का प्याला-सकोरा) आदि सभी विकार मिट्टी से ही उत्पन्न और उसी में लीन होते हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति और प्रलय आप में ही होती हैं। तब क्या आप पृथ्वी के समान विकारी हैं? नहीं-नहीं आप तो एक रस-निर्विकार हैं। इसी से तो यह जगत् आप में उत्पन्न नहीं, अपितु प्रतीत मात्र है। इसलिये जैसे घट, शराव आदि का वर्णन भी मिट्टी का ही वर्णन है, वैसे ही इन्द्र वरुण आदि देवताओं का वर्णन भी आपका ही वर्णन है। यही कारण है कि विचारशील ऋषि के द्वारा मन से जो कुछ सोचा जाता है और वाणी से जो कुछ कहा जाता है, उसे आप में ही स्थित, आपका ही स्वरूप देखते हैं। मनुष्य अपना पैर चाहे कहीं रखे, ईंट-पत्थर या खाट पर तब भी वह पृथ्वी पर ही है क्योंकि वे सब पृथ्वी स्वरूप ही हैं। इसलिये हम चाहे जिस नाम या जिस रूप का वर्णन करें वह आपका ही नाम और आपका ही रूप है।

तात्पर्य अर्थ-

आत्मा का नित्यत्व, निर्विकारत्व का प्रमाण है; तीनों अवस्थाएँ, क्योंकि अवस्थाएँ आती हैं और जाती हैं, चाहे वह अवस्था-जाग्रतादि मानसिक हो, चाहें बाल्यादि शारीरिक हों। क्योंकि-जाग्रत से-स्वप्न और स्वप्न से सुषुप्ति, तथा सुषुप्ति से पुनः जाग्रत इस प्रकार प्रतिदिन बदलते हुए अनादि काल से चले आ रही है। किन्तु आत्मा कूटस्थरूप से, द्रष्टारूप से एक रस अनन्तकाल से आजतक ज्यों-का-त्यों निर्विकार रूप से, अविचल रूप से स्थिर है। इसी प्रकार बाल्य से युवा और युवा से वृद्ध अवस्थाएँ बदल जाती हैं, किन्तु आत्मा इन सबके ज्ञाता रूप से (बने रहता) है बिना परिवर्तन के। इसी से आत्मतत्व-ज्ञानी जनों का या शास्त्रों का कहना है कि एकमात्र आत्मा का ही स्थिरत्व है, नाम-रूपात्मक जगत् का नहीं। **''देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा। तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति''।।** (गी. 2.13), **''नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। उभयोरपि दृष्टो- ऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।।''** (गी. 2.16),

''अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्। विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति।।'' (गी. 2.17) अर्थात्- जैसे इस जीवात्मा को देह में बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, उसी प्रकार-अन्य शरीरों की प्राप्ति होती हैं, उस संबन्ध में धीर पुरुष (आत्मज्ञानी) मोहित नहीं होते। असत् वस्तु की तो सत्ता ही नहीं है और सत् का कभी अभाव नहीं है। इन दोनों को जाननेवाले तो तत्त्वज्ञानी पुरुष ही होते हैं। नाश रहित तो उसको जानो जिससे यह सम्पूर्ण जगत् (दृश्यमान) व्याप्त है। इस अविनाशी-अव्ययका विनाश करने में कोई भी समर्थ नहीं है। नाश तो उसी का होता है, जो स्वप्नवत् मिथ्या-असत्य एवं अस्तित्त्व विहीन है। अतः श्रुतिः- **''स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसंगो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यत्येतमु हैवैते न तरत इत्यतः''** (बृ.उ. 4.4.22) **''य आत्माऽप्रहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघ- त्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वांश्च लोकानाप्नोति''** (छा. उ.8.7.1) **''अथात आत्मादेश एवात्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदँ सर्वमिति। स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति''** (छा. उ. 7. 25.2) अर्थात्- 'नेति-नेति' इत्यादि वाक्य से बतलाया गया वह, यह आत्मा अग्राह्य है, इसलिये वह ग्रहण नहीं किया जाता। वह अशीर्य है, अतः इसका नाश नहीं होता। वह असंग है, अतएव वह कहीं संसक्त नहीं होता। वह कहीं बँधा हुआ नहीं है, इसलिये वह दुःखी नहीं होता एवं उसका नाश भी नहीं होता। केवल इस आत्मज्ञानीको ही ये दोनों (धर्माधर्मसम्बन्धी) हर्षशोक नहीं सताते। जो आत्मा धर्मादिरूप पाप से रहित, बुढ़ापा से रहित, मृत्यु से रहित, शोक रहित, भूख, प्यास से रहित, सत्यकाम और सत्य संकल्प है। उसको (शास्त्र और आचार्य के उपदेशों से) खोजकर ज्ञान प्राप्त करना चाहिये, वह विशेषरूप से जानने योग्य है। जो उस आत्मतत्त्व को शास्त्र एवं गुरु के द्वारा उपदेश के माध्यम से विशेषरूप से जान लेता है, वह सम्पूर्ण लोकों को और सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त कर लेता है। अब आगे शुद्ध रूप से उस भूमात्मा का निर्देश किया जाता है।:- आत्मा ही नीचे है, आत्मा ही ऊपर है, आत्मा ही पीछे है, आत्मा ही आगे है, आत्मा ही दाहिनी ओर है, आत्मा ही बाँयी ओर है (विशेष क्या कहें) यह सब कुछ आत्मा ही है, वही यह इस प्रकार देखता हुआ, इस प्रकार मनन करता हुआ तथा इस प्रकार विशेषरूप से जानता हुआ आत्मरमणरूप आभ्यन्तर क्रीड़ा, देह-इन्द्रिय भिन्न पदार्थों के साथ बाह्य आत्मक्रीड़ा, मित्रादि के साथ आत्ममिथुन और आत्मानन्दवाला होता रहता है। वह-स्वराट् है, वह-निज रूप है। **''स्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्''** (छा.उ. 6.2.4)

5- इति तव सूरयस्त्र्यधिपतेऽखिललोकमल-
क्षपण कथामृताब्धिमवगाह्य तपांसि जहुः।
किमुत पुनः स्वधामविधुताशयकालगुणाः,
परम भजन्ति ये पदमजस्रसुखानुभवम्।। 1.87.16।।

हे भगवन्! लोग सत्त्व, रज, तम-इन तीनों गुणों की माया से बने हुए अच्छे-बूरे भावों या अच्छी बुरी क्रियाओं में उलझ जाया करते हैं, परन्तु आप तो उस माया नटी के स्वामी, सब को नचानेवाले हैं। इस लिये विचारशील पुरुष आपकी लीला कथा के अमृतसागर में गोते लगाते रहते हैं और इस प्रकार अपने सारे पाप-तापों को धो बहा देते हैं। क्योंकि आपकी लीला-कथा सभी जीवों के माया मल को नष्ट करने वाली है। हे पुरुषोत्तम! जिन महा पुरुषों ने आत्मज्ञान के द्वारा अन्तःकरण के राग-द्वेष आदि और शरीर के काल कृत जन्म-मरणादि दोष मिटा दिये हैं और निरन्तर आपके उस स्वरूप की अनुभूति में मग्र रहते हैं, जो अखण्ड आनन्दस्वरूप हैं, उन्होंने अपने पाप-तापों को सदा के लिये शान्त (भस्म) कर दिया है- इसके विषय में तो कहना ही क्या है।

तात्पर्य अर्थ-

जो तत्त्वज्ञानी एवं शान्तवृत्तिवाले; अपने स्वरूप में ही रत रहते हैं, परमानन्द का अनुभव करते हैं। इस स्थिति को प्राप्त साधक का विशेषण श्रुति स्वयं कहती है- "**आत्मरतिः आत्मक्रीडः**" (छा-7.25.2)। इसके विपरीत अज्ञजन-अपने ही मनकी भावनाओं, कामनाओं, वासनावृत्तियों में उलझकर सुख-दुःख, हानि-लाभ, जय-पराजय, मोह-ममता आदि के मोह-जाल में पड़ने के कारण जन्म-मृत्यु को प्राप्त होता है। यथा-कोशयारी '(रेशम) कीट, अपनी सुरक्षा के लिये घर बनाकर स्वयं बन्द हो कर मर जाता है। अन्य शास्त्रों में भी कहा गया है कि-"**पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति**" (यो.सू. 4.34) "**तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्**" (यो.सू.1.3) भावार्थः- प्रकृति से उत्पन्न- सत्त्व, रज और तम-इन तीनों गुण जबतक बुद्धि में रहेगा तब तक पुरुष को अर्थ (विषयोंका) भोग (सम्बन्ध ा) कराते रहेगा। विषयों का भोग; तभी तक कराने में गुण समर्थ है; जब तक अनात्म (मन, बुद्धि, प्राणादि) को आत्मा समझ रखें हैं बुद्धि में निश्चय कर रखे हैं। जिस दिन-आत्मा का स्वरूप और उस ज्ञानस्वरूप का दृढतापूर्वक ज्ञान हो जाय और उस ज्ञानस्वरूप आत्मा में अवस्थित हो जाने पर भोग्य-विषयों का सम्बन्ध कराने वाले गुण भी अपने कारण (प्रकृति) में विलीन हो जायेंगे इसी को **प्रतिप्रसवः** शब्द से कहा है। इसी बात को सूत्र में कहा गया है:- पुरुषार्थ शून्यानां गुणानां अर्थात्-यह गुण पुरुष को

अर्थ (विषयों का) भोग कराना बन्द कर देगा या बन्द हो जायेगा। वास्तव में प्रकृति का गहन विचार करने पर इसकी कोई अस्तित्त्व ही नहीं है, यथा- "**स्वरूपतः स्वच्छस्यापि स्फटिकस्य जपाकुसुमाद्यपाये स्वरूपप्रतिष्ठावत्**" स्फटिक-मणि अपने आप में, स्वभाव से स्वच्छ होने पर भी अथवा स्वच्छता अत्यन्त होने के कारण-अत्यन्त समिपस्थ जपाकुसुम के होने पर '**स्फटिकमणि**' जपाकुसुम के लाल रंग से लाल देखने में आता है, तो क्या स्फटिकमणि वास्तव में लाल हो गया? तो कहना पड़ेगा नहीं, क्योंकि जपाकुसुम के कारण वह मणि उसके रूप में आभासित हो रहा है। "**नभश्च रुधिराभासम्**"। "**जपाकुसुमाद्यपाये स्वरूपप्रतिष्ठावत्**" जपकुसुमादि को अपोहन (हटा दिये जाने पर) स्फटिकमणि अपने शुद्धस्वरूप में शेष रह जाता है। इसी प्रकार कार्य-कारणमय जगत् रूप उपाधियों का निषेध कर देने पर अपोहन कर देने पर बुद्धिगत अनादि अविद्या के अपोहन हो जाने पर आत्मा स्वरूप (आकाशवत्) शेष रह जाता है, इसका नाम है- शुद्धतम ज्ञान इसी को "**स्वरूपप्रतिष्ठा**" कहा है सूत्रकारने और श्रुति कहती हैं:- "**गताः कला पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु। कर्मणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति**" (मु.उ. 3.2.7) "**स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति**" (मु. 3.2.9) अर्थात्- देह के आरम्भक प्राणादि पन्द्रह-कलाएँ; अपने-अपने कारण में प्रतिष्ठित हो जाती हैं। चक्षुरादि इन्द्रियों के अधिष्ठाता सभी देवगण अपने प्रति देवता-आदित्यादि में लीन हो जाते हैं। उसके संचिदादि कर्म और विज्ञानमय '**आत्मा**' (जीवात्मा) सूक्ष्मशरीर ये सभी अविनाशी (निर्विकार, निराकार, निष्क्रिय) आत्मदेव में एकता को प्राप्त कर लेते हैं। (मानों घटस्थ जलगत आदित्य का प्रतिबिम्ब अम्बरस्थ सूर्य बिम्ब को प्राप्त हो गये हैं।) लोक में जो कोई उस परब्रह्म को जान लेता है; वह-ब्रह्म ही हो जाता है। इसी का नाम है- जीव ब्रह्म की एकता "**तयोर्विरोधोऽयमुपाधिकल्पितो, न वास्तवः कश्चिदुपाधिरेषः। ईशस्य माया महदादि कारणं, जीवस्य कार्यं शृणु पञ्चकोशम्**" (वि.चू. 145) **एतावुपाधी पर जीवयोस्तयोः सम्यङ्निरासे न परो न जीवः। राज्यं नरेन्द्रस्य भटस्य खेटक स्तयोरपोहे न भटो न राजा।।** (वि.चू. 246) भावार्थ:- जीव-ईश्वर के भेद का कारण है- माया और मायाकार्य (पञ्चकोश) ये दोनों ईश्वर और जीव के उपाधि हैं। इन दोनों उपाधियों का शास्त्र प्रमाण और अनुभव (युक्ति) प्रमाण के द्वारा बाधित हो जाने पर (निषिद्ध) हो जाने पर एक मात्र शुद्ध ब्रह्म ही शेष रह जाता है सर्वात्म रूप से (निर्विशेष) रूप से। जिस प्रकार राजा की राज्य उपाधि और सैनिक की ढालादि उपाधि को हटा देने पर न राजा रह जाता है और न सैनिक ही रह जाता है, केवल मात्र मनुष्य रह जाते हैं।

6- **दृतय इव श्वसन्त्यसुभृतो यदि तेऽनुविधा,**
महदहमादयोऽखण्डमसृजन् यदनुग्रहतः।
पुरुषविधोऽन्वयोऽत्र चरमोऽन्नमयादिषु यः,
सदसतः परं त्वमथ यदेष्ववशेषमृतम्।। 10.87.17।।

हे भगवन्! प्राणधारियों के जीवन की सफलता इसी में है कि वे आपका भजन-सेवा करें, आपकी आज्ञा का पालन करें, यदि वे ऐसा नहीं करते तो उनका जीवन व्यर्थ है और उनके शरीर में श्वास का चलना ठीक वैसा ही है जैसा लौहार की धौंकनी में हवाका आना-जाना। महत्तत्त्व, अहङ्कार आदि ने आपके अनुग्रह से आपके उनमें प्रवेश करने पर ही इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि की है। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय-इन पांचों कोशों में पुरुषरूप से रहने वाले, उनमें मैं-मैं की स्फूर्ति कराने वाले भी आप ही हैं। आपके ही अस्तित्व से उन कोशों के अस्तित्व का अनुभव होता है। उनके न रहने पर भी अन्तिम अवधिरूप से आप विराजमान रहते हैं। इस प्रकार सबमें अन्तिम और सबकी अवधि होने पर भी आप असंग ही हैं। क्योंकि वास्तव में जो कुछ वृत्तियों के द्वारा अस्ति अथवा नास्ति के रूप में अनुभव होता है उन समस्त कार्य-कारणों से आप परे हैं। नेति-नेति, के द्वारा इन सबका निषेध हो जाने पर भी आप ही शेष रहते हैं, क्योंकि आप उस निषेध के भी साक्षी हैं और वास्तव में आप ही एक मात्र सत्य हैं। इसलिये आपके भजन के बिना जीव का जीवन व्यर्थ है क्योंकि वह इस महान् सत्य से वञ्चित है।

तात्पर्य अर्थ-

इस मानव-जीवन की सफलता तो तभी समझनी चाहिये जब साधनपरायण होकर आत्म चिन्तन करते हुए प्रारब्धशेष व्यतीत करे और जहाँ तक हो सके इसी जीवन में जन्म-मृत्यु रूप संसार बन्धन से मुक्ति पाने के लिये पुरुषार्थ करें, यदि कदाचित् इस जीवन में मुक्त न हो सकें तो भी किया हुआ पुरुषार्थ व्यर्थ नहीं जायेगा; वह पुरुषार्थ पुनः मानव-जीवन प्राप्ति कराने में निमित्त बनकर कल्याण मार्ग को प्रशस्त करेगा। इस लिये अपने साधना एवं पुरुषार्थ में प्रमाद नहीं करना चाहिये, क्योंकि **''प्रमादो वै मृत्युः''** अर्थात् प्रमाद ही मृत्यु है। विषय भोग तो प्राणी मात्र को उपलब्ध है। जब जो कोई साधनापरायण होकर आत्म-चिन्तन करते हुए आत्ममय, आत्म-रति केवल मात्र हो जाय शेष प्रारब्ध पर्यन्त, ऐसी स्थिति को प्राप्त महापुरुष के लिये अनादि-अविद्याकृत जन्म-जन्मान्तरों के सञ्चित कर्म बीज वासनाओं का आत्यन्तिक विनाश हो जाता है, पुनः उद्भव शक्ति, सदा-सर्वदा के लिये अन्त हो जाती है। **''तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा**

अपहतमाप्मा ऽभयँ रूपम्। तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरमेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरं तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामँ रूपँ शोकान्तरम्'' (बृ.उ. 4.3.21) अर्थात्- उस इस पुरुष का रूप निःसन्देह कामना शून्य, पापरहित और अभयस्वरूप है। जैसे व्यवहार में किसी निर्धनी-अकिंचन व्यक्ति को अपार संपत्ति (लक्ष्मी) की (अनायास भाग्यवशात्) प्राप्त हो जाने पर व्यक्ति अन्धा हो जाता है, पागल हो जाता है, अर्थात् उस व्यक्ति को अतिशय-आनन्द विभोर हो जाने के कारण न कुछ बाह्य वस्तु को और न आभ्यन्तर वस्तु को ही जानता है ऐसे ही यह पुरुष साधक (जीवात्मा) प्रज्ञात्मा से आलिङ्गित हुआ परमार्थ दर्शन काल में न कुछ बाह्य विषय को जानता है और न आभ्यन्तर को ही। यह इसका आप्तकाम, आत्मकाम, अकाम और शोक रहित स्वरूप है। **''लक्ष्यालक्ष्यगतिं त्यक्त्वा यस्तिष्ठेत्केवलात्मना। शिव एव स्वयं साक्षादयं ब्रह्मविदुत्तमः''** (वि.चू. 554) जिन मुमुक्षु ने लक्ष्य अलक्ष्य, प्राप्ति-अप्राप्ति को और कामना की गति को त्याग करके एकमात्र स्वस्वरूप में, सर्वात्मभाव में बुद्धि वृत्ति को समाहित कर दिया है, वह ब्रह्मविद्-ब्रह्म ही हो जाता है। **''अनेन ज्ञानमाप्नोति संसारार्णवनाशनम्, तस्मादेवं विदित्वैनं कैवल्यं पदमश्नुते कैवल्यं पदमश्नुते।।''** (कैव. उ.2.5) अर्थात्- इस अद्वैत ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर अनेकानेक झञ्झावात -संसारसागर, शोकसागर का आत्यन्तिक नाश हो जाता है, इस शोकसागर के नाश का फलस्वरूप है- कैवल्यमुक्ति, विदेहमुक्ति। **''विगतो देहो देहसंबन्धो यस्य स विदेहः कैवल्यः मुक्तिः''**

7- **स्वकृतविचित्रयोनिषु विशन्निव हेतुतया,**
तरतमतश्चकास्स्यनलवत् स्वकृतानुकृतिः।
अथ वितथास्वमूष्ववितथं तव धाम समं,
विरजधियोऽन्वयन्त्यभिविपण्यव एकरसम्।। 10.87.19।।

हे भगवन्! आपने ही देवता, मनुष्य और पशु-पक्षी आदि योनियाँ बनायी हैं। यद्यपि-सर्वत्र सब रूपों में आप हैं ही, तथापि वास्तव में प्रवेश न करने पर भी आप ऐसे जान पड़ते हैं मानो कारणरूप से उसमें प्रविष्ट हुए हैं। साथ ही विभिन्न आकृतियों का अनुकरण करके कहीं उत्तम तो कहीं अधमरूप से प्रतीत होते हैं जैसे आग छोटी-बड़ी लकड़ियों के अनुसार बड़ी-छोटी, ठीक उसी प्रकार कर्मों के अनुसार प्रचुर अथवा अल्प परिमाण में या उत्तम-अधमरूप में प्रतीत होते हैं। इसलिये सन्त पुरुष लौकिक-पारलौकिक कर्मों की दुकानदारी से, उनके फलों से विरक्त हो जाते हैं और निर्मल बुद्धि से सत्य-असत्य, आत्मा-अनात्मा को पहचानकर जगत् के झूठे रूपों में नहीं फँसते; आपके सर्वत्र एकरस समभाव से सत्य स्वरूप का साक्षात्कार करते हैं।

तात्पर्य अर्थ-

समस्त योनियाँ जीवों के कर्मफलों का परिणाम स्वरूप हैं, और इसी के फलस्वरूप-आत्मा अकर्ता-अभोक्ता, निष्क्रिय, निर्विकार, निष्पाप आदि होते हुए भी कर्ता-भोक्ता, सुखी-दुःखी, पुण्यात्मा-पापात्मा, विकारी और क्रियाशील आदि का आरोप होता है। इसी बात को गंभीरता पूर्वक चिन्तन-मनन करके विवेकी, तत्त्वज्ञानी (आत्मज्ञानी) उस कर्म व्यापार से उपरत होकर उदासीन आदि भाव में केवल मात्र आत्म चिन्तन करते हुए सदा-सर्वदा के लिये इस संसार बन्धन से मुक्त हो जाते हैं। उपरोक्त विषय आद्य जगद्गुरु शंकराचार्य जी की वाणी से प्रमाणित होता है। "**न पुण्यं न पापं न सौख्यं न दुःखं, न मंत्रो न तीर्थो न वेदो न यज्ञः, अहं भोजनं नैव भोज्यं न भोक्ता, चिदानन्दरूपः शिवोहं शिवोहम्**" (निर्वाणषट्कम्-4), "**अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च**" (क.उ. 2.2.9) अर्थात्- जैसे एक ही प्रकाश स्वरूप अग्नि सम्पूर्ण भुवन में प्रविष्ट हुआ काष्ठादि भिन्न-भिन्न दाह्य पदार्थों के अनुरूप हो जाता है, वैसे ही एक ही ब्रह्मात्म तत्त्व सम्पूर्ण भूतों के भीतर अन्तरात्मा के रूप से है और आकाश के समान अपने अविनाशी रूप से बाहर भी सर्वत्र व्याप्त है। "**ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्**" (ई.उप.1)

8- **स्वकृतपुरेष्वमीष्वबहिरन्तरसंवरणं,**
तव पुरुषं वदन्त्यखिलशक्तिधृतोंऽशकृतम्।
इति नृगतिं विविच्य कवयो निगमावपनं,
भवत उपासतेऽङ्घ्रिमभवं भुवि विश्वसिताः। 10.87.20।।

हे प्रभो! जीव जिस शरीर में रहता है, वह उसके कर्म के द्वारा निर्मित होता है और वास्तव में उन शरीरों के कार्य-कारण रूप आवरणों से वह रहित है, क्योंकि वस्तुतः उन आवरणों की सत्ता ही नहीं है। तत्त्वज्ञानी पुरुष ऐसा कहते हैं कि समस्त शक्तियों को धारणकरने वाले आपका ही वह स्वरूप है। स्वरूप होने के कारण अंश न होने पर भी उसे अंश कहते हैं और निर्मित न होने पर भी निर्मित कहते हैं। इसी से बुद्धिमान् पुरुष जीव के वास्तविक स्वरूप पर विचार करके परम विश्वास के साथ आपके चरणकमलों की उपासना करते हैं। क्योंकि आपके चरण ही समस्त वैदिक कर्मों के समर्पण स्थान और मोक्ष-स्वरूप है।

तात्पर्य अर्थ-

प्राणियों को यानि जीवात्माओं को स्थूल शरीर कर्मों के अनुसार प्राप्त होता है, अर्थात्- शरीर और सुख-दुःख, ज्ञानी-अज्ञानी, धनी-निर्धनी आदि कर्मों का फल है।

इसी स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीररूप आवरणों से 'आत्मा' आवृत न होने पर भी आवृत जैसा लोगों को प्रतीत होता है, वह केवल अज्ञानमय है क्योंकि शरीरों का स्वतः सत्ता ही नहीं है। आत्मतत्त्वज्ञानी जनों का मानना है कि आत्मा की सत्ता ही शरीरेन्द्रियों की सत्ता है और यह भी उनका मानना है कि जीवात्मा परमात्मा निर्गुण ब्रह्म का ही स्वरूप है। निर्गुण ब्रह्म का स्वरूप होने से अंश नहीं हो सकते; फिर भी उपाधि के कारण अल्पज्ञता-सर्वज्ञता के भेद से अंश-अंशी की कल्पना भी कुछ मतवादी कर लेते हैं। उसी उपाधि के कारण, जन्म-मृत्यु का अध्यारोप भी कर लेते हैं। **''सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते। मायाबिम्बे वशीकृत्य तां स्यात्सर्वज्ञ ईश्वरः** (पं.द. 1.16) अर्थात्- प्रकाशरूप सत्त्वगुण की शुद्धि (अर्थात्) रज-तम से मलीन न होना और सत्त्व की अशुद्धि (अर्थात् रज तम से मलीन होना) इन दोनों कारणों से प्रकृति में क्रमशः-माया और अविद्या दो भेद हैं। अतः उनमें से विशुद्ध सत्त्वगुण प्रधान 'माया' और मलीन सत्त्वगुण प्रधान 'अविद्या' है। माया में प्रतिबिम्बित चिदात्मा-ब्रह्म, उस माया को अपने अधीन रखता हुआ, सर्वज्ञतादिगुणवान् ईश्वर होता है, अर्थात् माया के नियन्ता परब्रह्म ही ईश्वर होता है, अर्थात् माया के नियन्ता परब्रह्म को ईश्वर कहा गया है और:- **''अविद्यावशगस्त्वन्यस्तद्वैचित्र्यादनेकधा। सा कारणशरीरं स्यात्प्राज्ञस्तत्राभिमानवान्।।''** (पं.इ. 1.17) अविद्या में प्रतिबिम्बित तथा उसके अधीनस्थ हुए चिदात्मा को 'जीव' कहा-जाता है। वह जीव उपाधि रूप अविद्या की अशुद्धि के न्यूनाधिकरूप विचित्रता के कारण, देव, पशु, पक्षी आदि भेद से नाना प्रकार के होते हैं। इसके विपरीत आत्मतत्त्वज्ञ **'अहं ब्रह्मास्मि'** (बृ-1.4.10) भाव में स्थित होकर मन-बुद्धि की वृत्तियों को स्वरूप में आहुति कर देते हैं, यही कारण है कि जीवन मुक्ति एवं ब्रह्मानन्द के आनन्द से ओत-प्रोत रहते हैं।

9- **जनिमसतः सतो मृतिमुतात्मनि ये च भिदां,**
विपणमृतं स्मरन्त्युपदिशन्ति त आरुपितैः।
त्रिगुणमयः पुमानिति भिदा यदबोधकृता,
त्वयि न ततः परत्र स भवेदवबोधरसे।। 10.87.25।।

हे प्रभो! कुछ लोग मानते हैं कि असत् से जगत् की उत्पत्ति होती है और कुछ लोग कहते हैं कि सदात्मक दु:खों का नाश होने पर मुक्ति मिलती है। दूसरे लोग आत्मा को अनेक मानते हैं, तो कई लोग कर्म के द्वारा प्राप्त होने वाले लोक और परलोकरूप व्यवहार को सत्य मानते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि ये सभी बातें भ्रममूलक हैं और वे

आरोप करके ही ऐसा उपदेश करते हैं। पुरुष त्रिगुणमय है - इस प्रकार का भेदभाव केवल अज्ञान से ही होता है और आप अज्ञान से सर्वथा परे हैं। इसलिये ज्ञानस्वरूप आप में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं है।

तात्पर्य अर्थ-

भेदभाव का जनक हैं एकमात्र अज्ञान, और अज्ञानता से अनेकता का विस्तार होता है, जैसे- पृथ्वी-जलादि पँचमहाभूत; सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्रादि-ग्रह, दिन-रात; वनस्पति, पेड़, पौधे, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि योनियाँ; सुख-दु:ख, जन्म-मृत्यु, बन्धु-मोक्ष इत्यादि। अज्ञानता से ही समस्त प्रपँच का (विषम एवं भयानक जगत्) का फैलाव है, अथवा सत्यरूप में भासमान है। उस अज्ञानजनित का नाश-विनाश एवं भस्मसात् हो जाना निश्चित है; किन्तु जिस दिन ज्योतिर्मय-प्रकाशस्वरूप आत्मा का साक्षात्-अपरोक्ष अनुभूति होगी; उसी दिन-उसी क्षण अन्धकार रूप-अज्ञान का आत्यन्तिक नाश हो जायेगा, तब न किसी प्रकार का भेद-भाव रहेगा और न सुख-दु:ख रहेगा, न बन्ध-मोक्ष, न जन्म-मृत्यु का भय रहेगा। क्योंकि अज्ञानरूप-मोतियाबिन्दु बुद्धिरूप नेत्र में आ गया था, इसी से भिन्न-भिन्न प्रकार की वृत्तियाँ बनती रहीं और उसी वृत्तियों के कारण भेद की भावना बन जाती रही। "**आरब्धकर्म नानात्वादबुधानामन्यथाऽन्यथा**", "**अहं ब्रह्मेति विज्ञानात्कल्पकोटिशतार्जितम्। सञ्चितं विलयं याति प्रबोधात्स्वप्नकर्मवत्**" (वि.चू.448) अर्थात्- प्रारब्धकर्म (वासना) नानाप्रकार के होने से अज्ञजनों को यह जगत् नाना प्रकार का देखने में आता है, अथवा नानाप्रकार की कल्पना करते हैं सत्य मानकर के। किन्तु जब श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ वेदज्ञ के द्वारा शास्त्राध्ययन करते हैं तब- "**अहं ब्रह्मास्मि**" (बृ.1.4.10) का साक्षात् अनुभव हो जाने पर कल्पों (करोंड़ों जन्मों) अनादि काल के संचित कर्मों का वासनाबीज विलीन हो जाता है, नष्ट हो जाता है, जैसे-स्वप्नकाल में किये हुए कर्मों का नाश; जगने पर हो जाता है। श्रीमद्भगवगीता में भगवान् वासुदेव अर्जुन के प्रति कहा है :- "**यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन। ज्ञानाग्नि: सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा**"।। (गी. 4.37) अविद्याकृत अनादि-कर्मबीज वासनाओं की सञ्चित का आत्यन्तिक नाश हो जाने पर आत्मतत्त्व वेत्ता की फलाभिमुखी प्रारब्धशेष भी ज्ञान की दृष्टि से "**नेह नानास्ति किञ्चन**", "**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**" आत्मभिन्न नाना कुछ भी नहीं है, क्योंकि-तत्त्वदर्शी को सब-कुछ ब्रह्मात्म ही देखने में आ रहा है। "**यदज्ञानतो भाति विश्वं समस्तं, विनष्टं च सद्यो यदात्मप्रबोधे, मनोवागतीतं विशुद्धं विमुक्तं, परं ब्रह्म नित्यं तदेवाहमस्मि**" (विज्ञान नौका-4) अर्थात्- जो अज्ञानकाल में यह विश्व प्रपंच (जगत्) में सत्यत्व की प्रतीति

सा हो रही थी, वह सबकुछ (गुरु, शास्त्र और ईश्वर कृपा) से आत्म साक्षात्कार होते ही; मुमुक्षुओं के लिये उसी क्षण विनष्ट हो जाता है यथा-जल के बुलबुले वायु के वेग से फूटकर (नष्ट) होकर जलरूप हो गया, मन और वाणी भी आत्मरूप हो गया, समस्त प्रपंच के विमुक्त हो जाने पर-नित्य अविनाशी अपने परब्रह्म स्वरूप में वे अवस्थित हो जाते हैं। **''भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे''** (मु.उ. 2.2.8) भावार्थ:- (जो कारण रूप से तो पर और कार्य रूप से अपर है) उस परापर ब्रह्म तत्त्व का साक्षात्कार हो जाने पर इस जीवात्मा की (आत्मानात्माध्यासरूप) हृदय की ग्रन्थि टूट जाती है, ज्ञेय पदार्थ विषयक सम्पूर्ण सन्देह नष्ट हो जाते हैं और सभी कर्मों की बीजवासना-आत्यन्तिक नाश को प्राप्त हो जाती हैं। **''सर्वं कर्माखिलम् पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते''** (गी-4.33) सर्वं पद और अखिलम् पद ये दोनों पद समानार्थक हैं। अर्थात्- एक ही अर्थ का बोधक हैं। ऐसी स्थिति में पुनरुक्ति दोष की आशंका का आना स्वाभाविक है। इस पुनारुक्ति दोष की निवृत्ति के लिये भगवान् भाष्यकार लिखते हैं:- कथमादि शब्द से- **''यतः सर्वं कर्म-समस्तम् अखिलमप्रतिबद्धम्''** इसका अभिप्राय हुआ-किसी के प्रति विवश न हो, अर्थात्- भूत, भविष्यत् और वर्तमान के वैदिक-अवैदिकादि समस्त कर्मों को परिसमाप्त करने में स्वतन्त्र (स्वच्छन्द) हो, उसी का नाम है **'अखिलम्'** शब्द। अर्थात्- भूत, भविष्यत् और वर्तमान का अर्थ होगा:- सञ्चित, प्रारब्ध और क्रियमाण (वर्तमान) आदि समस्त कर्म संस्कारों का परिसमाप्ति का संकेत हैं; ऐसा समझना चाहिये। वह मेरा व्यक्तिगत विचार भाव है। **'परि'** उपसर्ग का संकेत भी वही है जो अखिल (अप्रतिबद्ध) का अर्थ किया गया है। अतः वृत्तियों को शान्त करने के लिये नित्यप्रतिदिन स्वाध्याय-सत्सङ्ग की आवश्यकता है। श्रुति कहती है- **''स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां मा प्रमदितव्यम्''** (तै-1.11.1) अर्थात्- अध्ययन और अध्यापन से प्रमाद कभी नहीं करना चाहिये।

10- **सदिव मनस्त्रिवृत्त्वयि विभात्यसदामनुजात्,**
सदभिमृशन्त्यशेषमिदमात्मतयाऽऽत्मविदः।
न हि विकृतिं त्यजन्ति कनकस्य तदात्मतया,
स्वकृतमनुप्रविष्टमिदमात्मतयावसितम्।। 10.87.26।।

यह त्रिगुणात्मक जगत् मनकी कल्पना मात्र है। केवल यही नहीं, परमात्मा और जगत् से पृथक् प्रतीत होनेवाला पुरुष भी कल्पना मात्र ही है। इस प्रकार वास्तव में असत् होने पर भी उनके सत्य अधिष्ठान रूपी आपकी सत्ता के कारण यह सत्य-सा-प्रतीत

हो रहा है। इस लिये भोक्ता, भोग्य और दोनों के सम्बन्ध को सिद्ध करने वाली इन्द्रियाँ आदि जितना भी जगत के रूप में है सबको आत्मज्ञानी पुरुष आत्मरूप से सत्य ही मानते हैं। सोने से बने हुए कड़े, कुण्डल आदि स्वर्णरूप ही तो है; इसलिये उनके इस रूप में जाननेवाला पुरुष उन्हें छोड़ता नहीं, वह समझता है कि यह भी सोना है। इसी प्रकार यह जगत् आत्मा में ही कल्पित, आत्मा-से ही व्याप्त है; इसलिये आत्मज्ञानी पुरुष इसे आत्मरूप ही मानते हैं।

तात्पर्य अर्थ-

यह दृष्टिगोचर जगत् केवल मात्र मनः कथित तो है ही और जीव संज्ञक आत्मा भी कल्पना मात्र है। क्योंकि बिम्ब से प्रतिबिम्ब पृथक् नहीं होते, कारण से कार्य पृथक् नहीं होता। इसी प्रकार जगत् और जगत् को सत्यापित करनेवाला (प्रतिबिम्ब) रूप जीवात्मा मिथ्या होने पर भी बिम्बरूप सर्वात्म चैतन्य की सत्ता से सत्य-सा-प्रतीत होता है। इस लिये आत्मज्ञानी पुरुष-भोग्य, भोक्ता और भोग करनेवाला साधनरूप अन्तर-बाह्येन्द्रियों को तथा जगत् को एक आत्मरूप ही देखते हैं। यथा-नदी, कूप और समुद्रादि के जल को जल मात्र रूप से देखनेवाले जहदजहदादि लक्षणाओं से विचार करके भिन्न-भिन्न नहीं मानते अर्थात् भेद बुद्धि नहीं करते, क्योंकि नाम और रूपों का कोई अस्तित्त्व नहीं है। **''स्यात् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्''** (छा. 6.2.4), **''ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत्। तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणां तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः''** (बृ.उ. 1.4.10) अर्थात्- विकार विस्तार तो केवल मनोवृत्ति के द्वारा वाणी में है, वस्तुतः सत्य तो केवल मिट्टी ही है, ना कि नामरूप सत्य है। सर्व प्रथम यह नामरूपात्मक जगत्, एक मात्र ब्रह्मरूप ही था। उस समय उसने अपने को जाना कि **''मैं ब्रह्म ही सर्वत्र हूँ सर्वरूप हूँ''** इसी विज्ञान से वह सर्वरूप हो गया। उसे देवताओं में से जिस-जिसने जाना वही तद्रूप हो गया। ऐसे ही ऋषियों में ओर मनुष्यों में से भी (जिस-जिसने उस ब्रह्म को उक्त प्रकार से जाना वह ब्रह्मरूप हो गया) ऋषि वामदेव ने उस तत्त्व को आत्मभाव से देखता हुआ ही जाना। **''तस्माद्वा इन्द्रोऽतितरामिवान्यान्देवान्स ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्श स ह्येनत्प्रथमो विदांचकार ब्रह्मेति''** (के. उ. 3.28)।

11- तव परि ये चरन्त्यखिलसत्त्वनिकेततया
त उत पदाऽऽक्रमन्त्यविगणय्य शिरो निर्ऋतेः।
परिवयसे पशूनिव गिरा विबुधानपि तां-
स्त्वयि कृतसौहृदाः खलु पुनन्ति न ये विमुखाः।।10.87.27।।

हे भगवन्! जो लोग यह समझते हैं, कि आप समस्त प्राणियों और पदार्थों के अधिष्ठान हैं, सबके आधार हैं और सर्वात्मभाव से आपका भजन सेवन करते हैं, वे मृत्यु को तुच्छ समझकर उसके सिरपर लात मारते हैं, अर्थात्-उसपर विजय प्राप्त कर लेते हैं। जो लोग आप से विमुख हैं, वे चाहे जितने बड़े विद्वान् हों उन्हें आप कर्मों का प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियों से पशुओं के समान बाँध लेते हैं। इसके विपरीत जिन्होंने आप के साथ प्रेम का सम्बन्ध जोड़ रखा है, वे न केवल अपने को बल्कि दूसरों को भी पवित्र कर देते हैं, जगत् के बन्धन से छुड़ा देते हैं। ऐसा सौभाग्य भला आप से विमुख लोगों को कैसे प्राप्त हो सकता है।

तात्पर्य अर्थ-

जो आत्मतत्त्वज्ञानी; चैतन्यात्मा को ही चराचर जगत् का अधिष्ठान मानकर एकाग्रमन से चिन्तन-मनन करते हैं; वे किसी से किसी प्रकार भयभीत नहीं होते। ''**यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचनेति**'' (तै-2.4), ''**आत्मा वा अरे द्रष्टव्यो श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो** '' (बृ-4.5.6) इति श्रुतिः, अर्थात्- जब मुमुक्षु वाणी और मन का अविषयभूत आनन्द स्वरूप ब्रह्म का अनुभव करते हैं तब वे न मरने की चिन्ता और न जीने की कामना करते हैं तथा न कुछ प्राप्ति की ही। क्योंकि- वह पुरुष उत्कृष्ट साधना के फलस्वरूप उस आनन्दमय ब्रह्मात्म का अनुभव किये हैं साक्षात्-अपरोक्षरूप में जिसे (सविकल्पक वस्तुओं को प्रकाशित करने वाली) मनके सहित वाणी उसे प्राप्त किये बिना ही लौट आती है। उस ब्रह्म के आनन्द को जानने वाला विद्वान् किसी से भयभीत नहीं होता। ''**यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः**'' (ई.उ.7) जिस काल में अथवा जिस अविनाशी आत्मा में सम्पूर्ण चराचर-जगत् को आत्मारूप से ब्रह्मरूप से अनुभव कर लेता है; तत्त्वदर्शी, उस काल में क्या शोक और क्या मोह हो सकता है? अर्थात्- नहीं। क्योंकि उस एकत्व एवं सर्वात्म दर्शी के लिये-आत्मभिन्न कुछ है ही नहीं, जिससे शोक, मोह, भयादि उत्पन्न हो। ''**स वा एष महानज आत्माजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयं ही वै ब्रह्म भवति य एवं वेद।**'' (बृ.उ. 4.4.25) वही यह अजन्मा आत्मा, महान्, अजर, अमर, अमृत एवं अभय ''ब्रह्मरूप'' हैं। अभय ही ब्रह्म है। यथावत् जाननेवाला अभयरूप ब्रह्म ही हो जाता है, इसमें किसी प्रकार सन्देह नहीं। ''**सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्**'' (छा. 6.2.1) और जिसने उस सर्वात्म (एकमेवाद्वितीय) आत्मा को नहीं जाना, साक्षात् अपरोक्षरूप से अनुभव नहीं किया, चिन्तन-मनन,

ध्यान-समाधि में प्रमाद करने वाले कर्मों के जालरूप-संस्कारों के बन्धन में बँध के जन्म मृत्यु को प्राप्त होते हैं। अर्थात् ऐसे लोग स्वयं तो कल्याण से वञ्चित हो जाते हैं और अन्यों के लिये भी ससांर बन्धन में बाँधने का हेतु बनते हैं। **''दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः''** (क.उ. 1.2.5) **''जेहि बन्धन में बँधे पितुमाता, पुत्र सिखावहिं कहि कुशलता''** (रा.मा.)।

12- स्थिरचरजातयः स्युरजयोत्थनिमित्तयुजो,
विहर उदीक्षया यदि परस्य विमुक्त ततः।
न हि परमस्य कश्चिदपरो न परश्च भवेद्,
वियत इवापदस्य तव शून्यतुलां दधतः।। 10.87.29।।

हे नित्यमुक्त! आप मायातीत हैं। फिर भी जब अपने ईक्षण मात्र से (संकल्प मात्र से) माया के साथ क्रीड़ा करते हैं तब आपका सङ्केत पाते ही जीवों के सूक्ष्मशरीर और उनके अनेक सुप्त कर्मसंस्कार जग जाते हैं तब ही चराचर प्राणियों की उत्पत्ति होती है। हे प्रभो! आप परम दयालु हैं। आकाश के समान सब में सम होने के कारण न तो आपके कोई अपना है और न तो कोई पराया। वास्तव में तो आपके स्वरूप में मन और वाणी की गति ही नहीं है। आपमें कार्य-कारणरूप प्रपञ्च का अभाव होने से बाह्यदृष्टि से आप शून्य के समान ही जान पड़ते हैं; परन्तु उस दृष्टि के भी अधिष्ठान होने के कारण आप परम सत्य है।

तात्पर्य अर्थ-

जो वस्तु कारण-कार्य भाव से रहित होती हैं, वह अपञ्चीकृत रूप है। अतः इन्द्रिय ग्राह्य नहीं हो सकती, और जो इन्द्रियग्राह्य नहीं होता; वे ही समभाव से स्थित सबमें-सर्वत्र व्याप्त होकर रहता है, वह तत्त्व नाम रूपों से भी रहित है; इसलिये न किसी से राग है और न किसी से द्वेष है उसका, अतः केवल शक्तिमान् मात्र हैं। इसी शक्तिमान् को कोई परमात्मा के नाम से जानते हैं और कोई जीवात्मा के नाम से कहते हैं, तो कोई-काल के रूप में भी स्मरण करते हैं **''अनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कम श्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखम्''** (बृ.उ. 3.8.9) अर्थात् वह आत्मा अन्तर्यामी न अकाशवाला है, न रसवाला है, न गन्धवाला है, न नेत्रवाला है, न श्रोत्रवाला है, न वाणी, न मन, न अग्नि, न प्राण, और न मुखादि वाला है, वह तो समस्त विशेषणों से रहित हैं, **'एकमेवाद्वितीय'** तत्त्व होने से **''असङ्गो ह्ययमात्मा''** है। अर्थात्- बाह्याभ्यान्तर इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य नहीं है। **''नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्''** (क.उ. 2.2.13), **''सत्यस्य सत्यं''** (बृ-2.1.10)।

13- अपरमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगता
स्तर्हि न शास्यतेति नियमो ध्रुव नेतरथा।
अजनि च यन्मयं तदविमुच्य नियन्तृ भवेत्,
सममनुजानतां यदमतं मतदुष्टतया।। 10.87.30।।

हे भगवन्! आप नित्य एक रस हैं। यदि जीव असंख्य हो और सब के सब नित्य एवं सर्व व्यापक हों तब तो वे आपके सामान ही हो जायेंगे, उस हालत में वे शासित हैं और आप शासक-यह बात बन नहीं सकती, और तब आप उसका नियन्त्रण कर ही नहीं सकते। उनका नियन्त्रण आप तभी कर सकते हैं, जब वे आपसे उत्पन्न एवं आपकी अपेक्षा न्यून हों। इसमें सन्देह नहीं कि ये सबके सब जीव तथा इनकी एकता या विभिन्नता आप से ही उत्पन्न हुई है। इस लिये आप उनमें कारण रूप से रहते हुए ही उनके नियामक हैं। वास्तव में आप उनमें समरूप से स्थित हैं। परन्तु यह जाना नहीं जा सकता कि आपका वह स्वरूप कैसा है। क्योंकि जो लोग ऐसा समझते हैं कि हमने जान लिया, उन्होंने वास्तव में आपको नहीं जाना; उन्होंने तो केवल अपनी बुद्धि के विषय को जाना है, जिससे आप परे हैं। और साथ ही मति के द्वारा जितनी वस्तुएँ जानी जाती हैं, वे वस्तुयें ही मतियों के विभिन्नता के कारण होती हैं; इस लिये उनकी दोषयुक्तता के कारण, एक मत के साथ दूसरे मतका विरोध प्रत्यक्ष ही है। अत एव आपका स्वरूप समस्त मतों से परे हैं।

तात्पर्य अर्थ-

नाना मत-पन्थ की विडम्बना का कारण है; प्रकृति-पुरुष और पुरुष में भी एकत्त्व-अनेकत्त्व। अब हम प्रथम विचार प्रकृति और पुरुष पर आरम्भ करते हैं:- महर्षि कपिल मुनि जी के मतानुसार पुरुष (जीवात्मा) और प्रकृति (त्रिगुणमयी एवं अव्यक्त) इन दोनों को नित्य और सत्य कहा है, क्योंकि दोनों के संयोग से समस्त व्यवहार हो रहा है और इसी का नाम संसार हैं। **''संसरणं या संसरति इति संसारः''**, नित्य क्रियाशील है प्रकृति और उसके विपरीत ज्ञान स्वरूप-आत्मा नित्य निष्क्रिय है। संसार शब्द केवल प्रकृति के लिये नहीं और न पुरुष के लिये ही है। व्यवहार ही संसार का दूसरारूप है और व्यवहार-पुरुष-प्रकृति का संयोगरूप है, क्योंकि व्यवहार के लिये-ज्ञान और क्रिया दोनों की एक साथ; एक ही काल में होना आवश्यक है। पुरुष केवल मात्र ज्ञान स्वरूप है और प्रकृति केवल-मात्र त्रिगुणात्मक होने से क्रियारूप है। ऐसी स्थिति में; एक दूसरे के अभाव में किसी भी प्रकार का व्यवहार होना असंभव है। तृतीया स्कन्ध में भगवान् कपिल ने; माता देवहुति के प्रति कहा है:- **''यत्तत्रिगुणमव्यक्तं**

नित्यं सदसदात्मकम्। प्रधानं प्रकृतिं प्राहुरविशेष विशेषवत्'' (भा.पु.3.26.10) अर्थात्- जो त्रिगुणात्मक, अव्यक्त, नित्य और कार्य-कारणरूप है तथा स्वयं निर्विशेष हो कर भी गुण-धर्मों का आश्रय है, उस प्रधान नामक तत्त्व को कारण प्रकृति कहते हैं। इस प्रकृति के कार्य '24' हैं- पाँच महाभूत, पाँच तन्मात्रा, चार अन्तःकारण और दस इन्द्रियाँ, इन '24' तत्त्व को विद्वानों ने कार्य कहा है। ''**अन्तः पुरुषरूपेण कालरूपेण यो बहिः, समन्वेत्येष सत्त्वानां भगवानात्ममायया**'' (भा.पु. 3.26.18) इस प्रकार जो अपनी मायाशक्ति के द्वारा सब प्राणियों के भीतर जीवरूप से और बाहर कालरूप से व्याप्त हैं, वे भगवान् ही पच्चीसवाँ तत्त्व हैं, ''**सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति, स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा। इदँ सर्वमसृजत। यदिदं किंच। तत्सृष्ट्वा। तदेवानुप्राविशत्**'' (तै.उ. 2.1.6) उस परमेश्वर ने कामना की ''मैं बहुत रूपों में उत्पन्न होऊँ'' इस लिये उसने विचाररूप तप किया और तप करने के बाद ही यह जो कुछ दृश्यमान जगत् है; इन सबकी रचना उसने की। इसे रचकर वह परमेश्वर इसी चराचर-जगत् में जीव भाव से प्रविष्ट हो गया। ''**स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत। सैषा विदृतिर्नाम द्वास्तदेतन्नान्दनम्**'' (ऐ.उ. 1.3.12) वह सृष्टिकर्ता ईश्वर इस मूर्धाको ही विदीर्णकर, इस रन्ध्रमार्ग से ही इस संघात में प्रविष्ट हो गया। ''**सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति**'' (छा.उ. 6.3.2) उस इस देवता ने ईक्षण किया। मैं जीवरूप से इन तीनों (तेज, जल और अन्न की योनिरूपा) देवता में अनुप्रविष्ट हो कर नाम और रूपों की अभिव्यक्ति करूँ। इन अनुप्रविश्य श्रुतियों का अभिप्राय हुआ कि पुरुष, प्रकृति के संयोग से ही नाम और रूपों की सिद्धि है तथा नाम-रूपों की सिद्धि होने पर ही नाना व्यवहारों की सिद्धि है। प्रकृति और पुरुष इन दोनों को नित्य-शाश्वत मानने वाले 'कपिलका' मत द्वैतवादी है। इस मतानुसार प्रकृति भोग्य व कर्त्री है और पुरुष अनुभविता होने से, भोगने वाला होने से 'भोक्ता' है। भोग्य पदार्थ नाना नामरूपों में होने के कारण; एक शरीर रूप साधन, के द्वारा उपभोग कर पाना भोक्ता के लिये असम्भव है, अतः- शरीररूप साधन का भी नाना होना आवश्यक है और तदनुरूप भोक्तृ (जीवात्मा) का भी होना अनिवार्य है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जीवात्मा नाना (असंख्य) है, तभी कर्मों का भोगरूप-सुख, दुःखादि की भी व्यवस्था बन सकेगी, अन्यथा नहीं। अर्थात् कपिलमत '**सांख्य**' नाना जीवात्मवादी है क्योंकि-लोगों के अनुभव में प्रत्यक्षरूप से सुखी-दुःखी, धनी-निर्धनी, बद्ध-मुक्त, जन्म-मृत्यु आदि की द्वन्द्वता देखने में आ रही है।

दूसरा विचार-'श्रुति' प्रमाणवादी वेदान्तियों का ''**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**'' (छा-3.14.1), ''**नेहनानास्ति किञ्चन**'' (बृ-4.4.9) अर्थात्- व्यवहार को युक्ति प्रमाण या

प्रत्यक्ष प्रमाण मानकर प्रकृति को नित्य-सत्य-शाश्वत मानना, स्वीकार करना असङ्गति का सूचक है। क्योंकि व्यवहार तो स्वप्न में भी होता है; किन्तु स्वाप्निक व्यवहार को कोई भी सत्य-नित्य नहीं स्वीकार करता, शायद महर्षि कपिल जी को भी स्वीकार्य न हो। रही बात-सुख-दु:ख, बद्धमुक्तादि की, जब श्रुति स्पष्ट कह रही है। **'नेहनानास्ति किञ्चन', 'एकमेवाद्वितीर्यम्',** तब मानना पड़ेगा कि सब जगत् मन:कल्पित वागिवलास मात्र है। दूसरी बात है- आत्मा निष्क्रिय, निराकार होने से कर्मों का होना अत्यन्त असम्भव है और कर्म हुए बिना आत्मा में भोतृत्व का आरोप करना अक्षम्य दोष माना जाता है। मान लो प्रत्यक्ष युक्ति प्रमाण के द्वारा सत्य-नित्य मान लेते हैं, तो ऐसी स्थिति में आत्मा को प्रकृति ही भोक्ता बनाती है, अर्थात् आत्मा को प्रकृति स्वभाव वश निरन्तर भोग कराती रहेगी। फिर तो जीवात्मा का संसार-बन्धन से मुक्त होना असम्भव हो जायेगा और यह श्रुति को स्वीकार्य नहीं है, इसलिये सभी पूर्वाचार्यों का विरोध एवं अपमान भी है। आद्यजगद्गुरू शंकराचार्य जी ने आत्मा (पुरुष) को एक स्वीकार किया है; अनेक नहीं, क्योंकि-अनन्त स्वीकार करने पर उन्हें बहुत बड़ी आपत्ति दिखाई पड़ती है, वह आपत्ति है-सर्वज्ञता-अल्पज्ञता, बुद्धिमान्-निर्बुद्धि, मैं और तू आदि की विषम भावना से राग-द्वेष और रागद्वेष से शत्रु-मित्रता की द्वन्द्व कभी समाप्त ही नहीं होगा और यही कारण है कि; जीवात्मा को अनादि काल के जगत् में दु:खसागर से आजतक मुक्ति नहीं मिल सकी और न भविष्य में कभी मुक्त होने की सम्भावना ही है। इन द्वैत-अद्वैत वाद के अन्तर्गत अन्य सभी मत-वादियों का प्राय: समावेश हो जाता है।

14- न घटत उद्भवः प्रकृतिपुरुषयोरजयो,
रुभययुजा भवन्त्यसुभृतो जलबुद्बुदवत्।
त्वयि त इमे ततो विविधनामगुणैः परमे,
सरित इवार्णवे मधुनि लिल्युरशेषरसाः।। 10.87.31।।

हे भगवन्! जीव आप से उत्पन्न होता है यह कहने का ऐसा अर्थ नहीं है कि आप परिणाम के द्वारा जीव बनते हैं, क्योंकि सिद्धान्त तो यह है कि प्रकृति और पुरुष दोनों ही अजन्मा हैं। अर्थात् उनका वास्तविक स्वरूप-जो आप हैं कभी वृत्तियों के अंदर उतरता नहीं, जन्म नहीं लेता। तब प्राणियों का जन्म कैसे होता है? अज्ञान के कारण प्रकृति को पुरुष और पुरुष को प्रकृति समझ लेने से, एक का दूसरे के साथ संयोग हो जाने से, अत: जन्म कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है जैसे जल से अलग बुलबुला, नाम रूप कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। परन्तु उपादान कारण जल और निमित्त-कारण वायु के संयोग-से उसकी सृष्टि हो जाती है। इसी प्रकार; प्रकृति में पुरुष और पुरुष में प्रकृति का अध्यास

(एक में दूसरे की कल्पना) हो जाने के कारण ही जीवों के विविध नाम और गुण रख लिये जाते हैं। अन्त में जैसे समुद्र में नदियाँ और मधु में समस्त पुष्पों के रस समा जाते हैं, वैसे ही वे सबके सब उपाधि रहित आप में समा जाते हैं। इस लिये जीवों की भिन्नता और उनका पृथक् अस्तित्व आपके द्वारा नियन्त्रित है। उनकी पृथक् स्वतन्त्रता और असर्वव्यापकता आदि वास्तविक सत्य को न जानने के कारण ही मानी जाती है।

तात्पर्य अर्थ-

अज्ञान से ही अनेकानेक भ्राँतियाँ और भ्राँति के साथ ही विपर्यय ज्ञान का उदय होता है। इसी कारण से जन्म-मृत्यु कि शृंखला अनादि काल से चली आ रही है। जैसे भ्रम से रस्सी में सर्प का ज्ञान, सीपी में चाँदी का ज्ञान होता है। लेकिन जब यथार्थ ज्ञान हो जाता है तब भ्रम से उदित सर्प और चाँदी अपने अधिष्ठान रस्सी तथा सीपी में ही विलीन हो जाता है। इसी प्रकार जब स्वस्वरूप का यानि एक अद्वितीय सर्वात्मा का अपरोक्षानुभूति होते ही भ्राँति का सर्वथा अन्त हो जाने पर शेष सर्वात्मा ही बचा रहता है। **''यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति। यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाऽक्षरात्संभवतीह विश्वम्''** (मु.उ. 1.2.7), **''गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रति देवतासु। कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति''** (मु. 3.2.7) जैसे लोक में प्रसिद्ध 'मकड़ी' (बाह्य साधनों के बिना ही) अपने शरीर से मुख के द्वारा तन्तुओं को बाहर निकालती है (जाल) बुनती है और निगल भी जाती है। जैसे पृथिवी में औषधियाँ उत्पन्न होती हैं और सजीव पुरुष में (उससे विलक्षण) केश, लोम आदि उत्पन्न होते हैं और उसी पृथिवी में औषधियाँ तथा लोम, केशादि शरीर के साथ विलीन हो जाते हैं। वैसे ही अक्षर-अविनाशी से समस्त जगत् की उत्पत्ति और विनाश हो जाते हैं। (विदेह-कैवल्यावस्था में) देह के आरम्भक प्राणादि पन्द्रह कलाएँ अपने-अपने कारण में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। चक्षुरादि इन्द्रियों के अधिष्ठाता सभी देवगण अपने प्रति देवता-आदित्यादि में लीन हो जाते हैं। उसके संचितादि कर्मबीजवासना और (प्रतिबिम्बरूप) जीवात्मा ये सभी अविनाशी परमात्मदेव में एकता को प्राप्त हो जाते हैं। मानो घटस्थ जलगत आदित्य प्रतिबिम्ब अम्बरस्थ सूर्य-बिम्ब को प्राप्त हो गया हों। **''अद्वये अभये शान्ते सर्व एकी भवन्त्यविशेषतां गच्छन्त्येकत्वमापद्यन्ते''** इति भाष्यः)।

15- नृषु तव मायया भ्रमममीष्ववगत्य भृशं,
त्वयि सुधियोऽभवे दधति भावमनुप्रभवम्।
कथमनुवर्ततां भवभयं तव यद् भ्रुकुटिः,
सृजति मुहुस्त्रिणेमिरभवच्छरणेषु भयम्।। 10.87.32।।

हे भगवन्! सभी जीव आपकी माया से भ्रम में भटक रहे हैं, अपने को आप से पृथक् मानकर जन्म-मृत्यु का चक्कर काट रहे हैं। परन्तु बुद्धिमान् पुरुष इस भ्रम को समझ लेते हैं और भक्तिभाव से आपकी शरण ग्रहण करते हैं, क्योंकि आप जन्म-मृत्यु के चक्कर से छुड़ाने वाले हैं। यद्यपि शीत, ग्रीष्म और वर्षा-इन तीन भागों वाला कालचक्र आपका भ्रूविलास मात्र है, जो सभी को भयभीत करता है। परन्तु वह उन्हीं को बार-बार भयभीत करता है, जो आपकी शरण नहीं लेते। जो आपके शरणागत भक्त हैं, उनहें भला जन्म-मृत्युरूप संसार का भय कैसे हो सकता है।

तात्पर्य अर्थ-

तत्त्वज्ञानी-सद्गुरु, आचार्य एवं शास्त्रों के द्वारा भ्राँतिमूलक प्रत्ययों का निवारण करके स्वस्वरूप का अपरोक्ष-ज्ञान ही भय मुक्त एवं मृत्यु के चक्र से छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय है। क्योंकि स्वरूप ही अजन्मा, अविक्रिय, निर्विकार, कार्य-कारण से रहित है, शाश्वत है। **''स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयँ ही वै ब्रह्म भवति य एवं वेद''** (बृ.उ. 4.4.25) वह यह अजन्मात्मा, महान्, अजर, अमर, अमृत एवं अभय ब्रह्मरूप है। अभय ही ब्रह्म है। जो कोई उक्त आत्मा को अभय ब्रह्म जानता है, वह अभय ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं। **''स ह्ययमीक्षांचक्रे यन्मदन्यन्नास्ति कस्मान्नु बिभेमीति तत एवास्य भयं वीयाय कस्माद्ध्यभेष्यद् द्वितीयाद्वै भयं भवति''** (बृ.उ. 1.4.2) उस प्रजापति ने यह विचार किया कि यदि मुझसे भिन्न कोई दूसरा नहीं है तो फिर 'मैं' किससे डर रहा हूँ? इतना विचार करते ही उसका भय निवृत्त हो गया, क्योंकि भय का कारण सदा दूसरा होता है। इस प्रकार विचार करने से भय सदा-सर्वदा के लिये मिट गया। (अतः आज भी आत्मैकत्व दर्शन ही भय से मुक्त कराने में निमित्त है) **''आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो''** (बृ. उ. 4.5.6)।

16- द्युपतय एव ते न ययुरन्तमनन्ततया,
त्वमपि यदन्तराण्डनिचया ननु सावरणाः।
ख इव रजांसि वान्ति वयसा सह यच्छ्रुतय-
स्त्वयि हि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधनाः।।10.87.41।।

हे भगवन्! स्वर्गादि लोकों के अधिपति इन्द्र, ब्रह्मा, प्रभृति भी आपकी थाह-आपका पार न पा सके; और आश्चर्य की बात तो यह है कि आप भी उसे नहीं जान सकते। क्योंकि जब अन्त है ही नहीं तब कोई जानेगा कैसे? हे प्रभो! जैसे आकाश में हवा से धूल के नन्हें-नन्हें कण उड़ते रहते हैं, वैसे ही आप में काल के वेग से अपने से उत्तर-उत्तर

सत्त्वादिगुणों के दुगुने-दुगुने सात आवरणों के सहित असंख्य ब्रह्माण्ड एक साथ ही घूमते रहते हैं। तब भला आपकी सीमा कैसे मिले? हम श्रुतियाँ भी आपके स्वरूप का साक्षात् वर्णन नहीं कर सकती, आपके अतिरिक्त वस्तुओं का निषेध करते-करते अन्त में अपना भी निषेध कर देती हैं और आप में ही अपनी सत्ता खोकर सफल हो जाती हैं।

तात्पर्य अर्थ-

स्वस्वरूप (सर्वात्मा) निर्गुण, निराकार, निरवयव आदि होने से मन-बुद्धि एवं शास्त्रों का विषय नहीं बन पाते, फिर भी अनुमान के द्वारा एवं निषेध आदि के द्वारा तथा निर्विषय वृत्ति-समाधि के माध्यम से तत्त्वज्ञानीजन अथवा देहेन्द्रियों की चेतनता के माध्यम से, उस आत्मा की सिद्धि तो करते ही हैं और यह युक्ति-युक्त भी है। क्योंकि घट, पट, मठ आदि के समान तो जानने का विषय ही नहीं है, इसलिये और कोई उपाय ही नहीं है; निषेध के अतिरिक्त। यथा-इन्धन के माध्यम से अथवा इन्धन के समाप्ति ही अग्नि जानना है, अग्नि की सिद्धि है। वैसे ही सगुण होने से उनके गुण के द्वारा भी जाना जाता है, (अनुमान) किया जाता है।

17- **नैतन्मनो विशति वागुत चक्षुरात्मा,**
प्राणेन्द्रियाणि च य यथानलमर्चिषः स्वाः।
शब्दोऽपि बोधकनिषेधरतयाऽऽत्ममूल-
मर्थोक्तमाह यदृते न निषेधसिद्धिः।। 11.3.36।।

जैसे चिंगारियाँ न तो अग्नि को प्रकाशित ही कर सकती है और न जला सकती ही हैं; वैसे ही उस परमात्मतत्त्वमें आपके स्वरूप में न तो मनकी गति है और न वाणी की, और न नेत्र उसे देख सकते और बुद्धि सोच नहीं सकती, प्राण और इन्द्रियाँ तो उसके पास तक नहीं फटक पातीं। नेति-नेति, इत्यादि श्रुतियों के शब्द भी वह यह है- इस रूप में उसका वर्णन नहीं करते, बल्कि उसको बोध कराने वाले जितने भी साधन हैं, उनका निषेध करके तात्पर्य रूप से अपना निषेध का मूल लक्षित करा देते हैं। क्योंकि यदि निषेध के आधार आत्मा की सत्ता नहीं तो निषेध कौन कर रहा है, निषेध की वृत्ति किसमें है- इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं होने से निषेध की ही सिद्धि न हो।

तात्पर्य अर्थ-

परब्रह्म-चैतन्यात्मा बाह्याभ्यान्तरेन्द्रियों के द्वारा न कभी प्रकाशित हुआ है और न कभी प्रकाशित होने वाला है, क्योंकि उनमें जो-ज्ञान, क्रिया आदि शक्तियाँ हैं; वह भी आत्मा (चेतन) की ही हैं। इतना ही नहीं 'गीता में' कहा है कि देहन्द्रियों से भिन्न पदार्थों में जो शक्तियाँ दिखाई देती हैं; वह भी सहकारी चैतन्य सत्ता का योग से ही है। तथा

श्रुति:- **''एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽत्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्रयया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः''** (क.उ. 1.3.12) यह आत्मा-अन्तर्यामिरूप से सम्पूर्ण भूतों में छिपा हुआ है, ऐसा होते हुए भी (किसी को आत्म रूप से) प्रकाशित नहीं होता। क्योंकि **''सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरम्''** कहा गया है श्रुतियों में, अतः सूक्ष्मदर्शी पुरुषों द्वारा संस्कृत (सूक्ष्म) किये हुये बुद्धि के द्वारा देखा जाता है। अर्थात् मन बुद्धि आदि इन्द्रियों का व्यापार शून्यता ही आत्मदर्शन है। **''यच्छेद्वाङ्मनसि प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि। ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्य च्छेच्छान्त आत्मनि''** (क. 1.3.13) **''तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति''** (क.उ. 2.1.15) **''नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा। अस्तीति बुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते''** (क.उ. 2.3.12) अर्थात्- उस आत्मा स्वरूप ब्रह्म में न सूर्य का प्रकाश पहुँचता है, न चन्द्रमा तारों का वहाँ प्रकाश जा पाता है, न विद्युत की चमक ही चमकती है, तो फिर इस अग्नि का प्रकाश कैसे पहुंच सकता है। उस आत्मा के प्रकाशित (सत्ता) होने पर ही सब कुछ प्रकाशमान है, (प्रकाशित) होता है। **''यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्। यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्''** (गी. 15.12)।

यहाँ पर एक प्रश्न रेखाङ्कित होता है कि-जिस आत्मा से सबकुछ प्रकाशित हो रहा है; फिरभी वह प्रकाश में क्या नहीं आता? इसका समाधान है- जैसे सबको देखनेवाली आँख को देखने का दूसरा कोई साधन नहीं है, यदि कदाचित् देखना या देखा भी जायगा तो उसी आँख के माध्यम से देखा जा सकता है और कोई उपाय नहीं है। सूर्य को देखना हो तो सूर्य के प्रकाश से ही देखा जा सकता है। तद्वत् उस परब्रह्मात्मा को **''अहं ब्रह्मास्मि''** के पुनरावृत्ति अभ्यास के द्वारा अनुभूति का संकेत मिलता है, पूर्वाचार्यों एवं शास्त्रों के द्वारा **''यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं मन्वीत तत्केन कं विजानीयाद्ये-नेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्''**, **''स एष नेति नेत्यात्मा''** (बृ.उ. 2.4.14) **''ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं''**, **''यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः। क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत''** (गी. 12.3,13.33)।

18- सत्त्वं रजस्तम इति त्रिवृदेकमादौ,
सूत्रं महानहमिति प्रवदन्ति जीवम्।
ज्ञानक्रियार्थफलरूपतयोरुशक्ति,
ब्रह्मैव भाति सदसच्च तयोः परं यत्।। 11.3.37।।

19- नात्मा जजान न मरिष्यति नैधतेऽसौ,
न क्षीयते सवनविद् व्यभिचारिणां हि,

सर्वत्र शश्वदनपाय्युपलब्धिमात्रं,

प्राणो यथेन्द्रियबलेन विकल्पितं सत्।। 11.3.38।।

जब सृष्टि नहीं थी तब केवल एक वही था। सृष्टि का निरूपण करने के लिये उसी को त्रिगुणमयी (सत्त्वरजस्तम) प्रकृति कहकर वर्णन किया गया है। फिर उसी को ज्ञान प्रधान होने से महत्तत्त्व (बुद्धि), क्रिया प्रधान होने से सूत्रात्मा (प्राण) और जीवकी उपाधि होने से अहङ्कार के रूप में वर्णन किया गया। वास्तव में जितनी भी शक्तियाँ हैं- चाहे वे इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवताओं के रूप में हो, चाहें इन्द्रियों के, उनके विषयों के अथवा विषयों के प्रकाशक के रूप में हों- सबका सब वह ब्रह्म ही है। क्योंकि ब्रह्म शक्ति अनन्त है। कहाँ तक कहूँ? जो कुछ दृश्य-अदृश्य, कार्य-कारण, सत्य और असत्य हैं- सब कुछ ब्रह्म है, उनसे परे जो कुछ है, वह भी ब्रह्म ही है।

वह ब्रह्म स्वरूप आत्मा न तो कभी जन्म लेता है और न मरता है। वह न तो बढता है और न घटता ही है। जितने भी परिवर्तनशील पदार्थ हैं- चाहे वे क्रिया, सङ्कल्प और उनके अभाव के रूप में ही क्यों न हों सबकी भूत, भविष्य और वर्तमान सत्ता का वह साक्षी है। सब में है। देश, काल और वस्तु से अपरिच्छिन्न है, अविनाशी है। वह उपलब्धि कराने वाला है, फिर भी उपलब्धि का विषय नहीं है। केवल उपलब्धि स्वरूप ज्ञानस्वरूप है। जैसे प्राण तो एक रहता है, परन्तु स्थान भेद से अथवा क्रियाभेद से अनेक हो जाते हैं, वैसे ही ज्ञान एक होने पर भी इन्द्रियों के सहयोग से उसमें अनेकता की कल्पना हो जाती है।

तात्पर्य अर्थ-

''आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः'' (बृ.उ.-1.4.1/17), **''सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्''** (छा.उ.-6.2.1), **''स तपस्तप्त्वा। इदँ सर्वमसृजत। यदिदं किंच। तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्, तदनुप्रविश्य। सच्च त्यच्चाभवत्''** (तै.उ.-2.6) उपरोक्त श्लोकों में इन श्रुतियों पर विचार किया गया है। इन श्रुतियों का संकेत है कि आत्मा का ही एकमात्र अस्तित्व है, आत्मा से भिन्न दृश्यमान जगत् प्रतीतिमात्र है, मृगमरीचिका है, स्वप्नवत् है। केवल-मात्र अनादि कर्म संस्कार है, अज्ञानता का मूर्तिमान प्रतीक है। **''नेह नानास्ति किंचन''**, **''अयमात्म ब्रह्म''** (मां-2), **''प्रज्ञानं ब्रह्म''** (ऐतरेय-5.3) इति श्रुतिः। माण्डूक्य श्रुति के अनुसार मुख्य रूप से आत्मा (सर्वात्मा) का तीन भेद से शास्त्रों में व्याख्या मिलती हैं। जीवात्मा, परमात्मा (ईश्वर) और कूटस्थात्मा (निर्विकार निर्गुण निर्विशेषात्मा)। इसी आत्मा को अवस्था त्रय के अनुसार जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति के प्रकाशक अभिमानी होने पर क्रमशः विश्वात्मा, तैजसात्मा और प्राज्ञात्मा के नाम से कहा गया है। गौड़पादाचार्य का कहना है कि- **''बहिष्प्रज्ञो विभुर्विश्वो**

ह्यन्तः प्रज्ञस्तु तैजसः। घनप्रज्ञस्तथा प्राज्ञ एक एव त्रिधा स्मृतः।।''(मा.का.1) अर्थात्- विश्वात्मा बहिष्प्रज्ञ है, तैजसात्मा अन्त:प्रज्ञ है, तथा प्राज्ञात्मा प्रज्ञानधन है। इस प्रकार एक ही आत्मा को तीन प्रकार कहा गया है। स्थूल शरीर का स्थूल भोग, स्थूल इन्द्रिय स्थूल पदार्थ युक्त पाञ्चभौतिक व्यवहार; सूक्ष्मशरीर का सूक्ष्मभोग, सूक्ष्म मन वासनामय व्यवहार और तीसरा कारणशरीर का सुखभोग, अविद्यामय से युक्त स्वरूप व्यवहार है। क्योंकि सम्पूर्ण मनेन्द्रियाँ अपने अविद्यारूपा मूल प्रकृति से युक्त हो जाने से भौतिक और वासनामय व्यवहार शून्य अवस्था को प्राप्त हो जाता है। भाष्यकार का कहना है- **''यद्यपि प्राणाभिमाने सति व्याकृततैव, तथापि पिण्डपरिच्छिन्नविशेषाभिमाननिरोधः''** अर्थात्- इन्द्रिय व्यवहार के अभाव में (सुषुप्ति) काल में भी प्राण की प्राणन क्रिया देखने में आती है। इसीलिये श्रुति कहती हैं- **''प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः''** (छा-6.8.3), **''एषोऽस्य परम आनन्दः''** (बृ-4.3.32) अर्थात्- हे सोम्य! प्राण के बन्धन में बँधे होने के कारण जीवात्मा: व्यवहार रहित-सुषुप्ति काल में भी अव्याकृतरूप से बँधे रहते हैं। अर्थात् इस अवस्था को मुक्त अवस्था नहीं कहा जा सकता। इतना तो अवश्य है कि उस काल में उतने देर के लिये सुख-दु:ख, भूख-प्यास आदि से मुक्त रहता है, इस लिये आनन्दमय कोश कहा गया है। **''सुषुप्तस्थान एकी भूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः''** (मा.उ. 5) वह सुषुप्ति ही जिसका स्थान है तथा जो एकीभूत है उत्कृष्ट ज्ञानस्वरूप होता हुआ ही आनन्दमय है और आनन्दका भोक्ता-चेतनारूप मुखवाला है, वही प्राज्ञात्मा है (स्वरूप भूत) है। इसी को तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा है:- **''तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोदो उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा''** (तै-2.5) और भगवन्भाष्यकार का कहना है। **''पञ्चानामपि कोशानां निषेधे युक्तितः श्रुतेः। तन्निषेधावधिः साक्षी बोधरूपोऽवशिष्यते, योऽयमात्मा स्वयं ज्योतिः पञ्चकोशविलक्षणः।''** (वि.चू. 213) श्रुति के अनुकूल युक्तियों से भी पाँचों कोशों का निषेध कर देने पर उनके निषेध की अवधि रूप (शुद्ध) बोधस्वरूप साक्षी-आत्मा वच रहता है। वह जो आत्मा स्वयं प्रकाश स्वरूप आदि अन्नमयादि पाँचों कोशों में सदा-सर्वदा पृथक् है। अत: प्राणमय से युक्त और षड्भावविकारों से ग्रस्त अन्नमयकोश; स्थूलशरीर है। और जन्ममृत्यु आदि से ग्रस्त है, प्राणमय और मनोमय से युक्त विज्ञानमय कोश, सूक्ष्मशरीर कहा गया है, यह शरीर कर्मवासनाओं से ओत-प्रोत होने के कारण गमनागमन का निमित्त है, (शरीर धारण कराने में) कारण है आनन्दमयकोशवाला कारण शरीर अविद्या (मूल प्रकृति का) विकार-महा आवरणरूप है, जड़ता का पराकाष्ठा है। **''नैवायमानन्दमयः परात्मा, सोपाधिकत्वात्प्रकृतेर्विकारात् घटादिवत् इति**

दृष्टान्तः'', ''जायतेऽस्ति वृद्धिः विपरिणाम, अपक्षय विनाशः इति षड्भावविकाराः तदनुस्मृता'' (निघण्टुः) प्राणमय कोश युक्त अन्नमय कोश स्थूल शरीर जन्म-मृत्यु आदि षड् भाव विकारों से ग्रस्त है; प्राणमय और मनोमय कोश युक्त विज्ञानमय कोश सूक्ष्मशरीर कर्मवासनाओं से ओत-प्रोत होने से गमनागमन का निमित्त (शरीर धारण कराने में) कारण है; तो आनन्दमय कोशवाला कारण शरीर अविद्या अज्ञानमय है, जिससे आत्मा आवृत है।

20- **अण्डेषु पेशिषु तरुष्वविनिश्चितेषु, प्राणो हि जीवमुपधावति तत्र तत्र।**
सन्ने यदिन्द्रियगणेऽहमि च प्रसुप्ते, कूटस्थ आशयमृते तदनुस्मृतिर्नः।। 11.3.39।।

जगत् में चार प्रकार के जीव होते हैं- अण्डज-अंडा फोड़कर पैदो होने वाले पक्षी, साँप आदि; जरायुज-नाल में बँधे पैदा होने वाले पशु-मनुष्य; उद्भिज्ज-धरती फोड़कर निकलने वाले वृक्ष, वनस्पति आदि और स्वेदज-पसीने से (गन्दगी) से उत्पन्न होने वाले खटमल, जूँ आदि। इन सभी शरीरों में प्राणशक्ति जीव के पीछे लगी रहती है। शरीर के भिन्न-भिन्न होने पर भी प्राण एक ही रहता है। सुषुप्ति अवस्था में जब इन्द्रियाँ निश्चेष्ट हो जाती है; अहङ्कार भी सो जाता है (लीन) हो जाता है, अर्थात् लिङ्गशरीर भी निष्क्रिय हो जाता है, उस समय यदि कूटस्थ आत्मा भी न हो तो इस बात की पीछे से स्मृति ही कैसे हो कि मैं सुख से सोया था! पीछे होने वाली यह स्मृति ही उस समय आत्मा के अस्तित्व को प्रमाणित करती है।

तात्पर्य अर्थ-

शरीरमें जो भी व्यापार या व्यवहार हो रहा है, अथवा अनुभव में आता है; वह सब इन्द्रियजन्य हैं। इतना अवश्य समझ लेना चाहिये कि इन्द्रियजन्य व्यवहार आत्म सत्ता के बिना नहीं। आत्मसत्ता का अभिप्राय यह भी नहीं समझना चाहिये कि -आत्मा ही व्यवहारों का कर्ता है, अर्थात् आत्मा को कर्ता नहीं बनाया जा सकता, किन्तु निमित्त अवश्य कहा जा सकता है। जाग्रत, स्वप्न का सम्पूर्ण व्यवहार इन्द्रियों के माध्यम से ही होता है। इसी प्रकार सुषुप्ति पश्चात् स्मरण को भी (सुखानुभूति) को भी समझ लेना चाहिये।

अथवा प्राणशक्ति मनुष्य आदि समस्त प्राणि जगत् के भिन्न-भिन्न शरीरों में होने पर भी एक ही है और वह प्राणशक्ति प्रत्येक अवस्थाओं में अपनी कार्य (क्रिया) नित्य-निरन्तर सदा-सर्वदा स्वाभाविक रूप से होती रहती है। अवस्था चाहे सुषुप्ति, मूर्छा, समाधि, जाग्रत, स्वप्न; बालक, वृद्ध, युवा आदि क्यों न हों; किन्तु प्राणन क्रिया अपना कार्य करती रहती है अविरुद्धरूप से। इसी प्रकार चैतन्यात्मा भिन्न-भिन्न शरीरों में (कर्मवासनाओं प्रारब्ध) के अनुसार होने पर भी सब में एक ही आत्मा होते हुए भी

विकारी शरीर में विकार आने पर आत्मा विकार शून्य ही रहता है। शरीर के मृत्यु से भी उस आत्मा की मृत्यु नहीं होती। इसीलिये आत्मा को कूटस्थ कहा गया है। जैसा कि गीता में कहा गया है:- "**अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः। शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते।**" (गी. 3.31) और श्रुति कहती हैं- "**य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वांश्च लोकानाप्नोति**" (छा. उ. 8.7.1) "**आत्मैव सर्वम्**" (छा-7.25.2), "**ब्रह्मैव सर्वम्**" (तै.बि.उ-6.31)।

21- स्वमायया सृष्टमिदं सदसल्लक्षणं विभुः।
प्रविष्ट ईयते तत्तत्स्वरूपोऽग्निरिवैधसि।। 11.7.47।।

साधक पुरुष को इसका विचार करना चाहिये कि जैसे- अग्नि लंबी, चौड़ी, टेढ़ी-सीधी लकड़ियों में रहकर उनके समान ही सीधी-टेड़ी या लंबी, चौड़ी दिखाई देती है, वास्तव में वह वैसी है नहीं; वैसे ही-सर्वव्यापक आत्मा भी अपनी माया से रचे हुए कार्य-कारणरूप जगत्में व्याप्त होने के कारण उन-उन वस्तुओं के नामरूपों से कोई सम्बन्ध न होने पर भी उनके रूप में प्रतीत होने लगता है।

तात्पर्य अर्थ-

"**एकमेवाद्वितीयम्**" आत्मा निर्विकार निराकार, नीरूप आदि होने पर भी; शरीर मनेन्द्रियाँ उपाधि एवं शुभाशुभ कर्म वासनाओं के कारण; विकारी-सा प्रतीत होता है, (सुखी-दुःखी, जन्म-मृत्यु, छोटा-बड़ा, मनुष्य, पशु पक्षी, कृमि-कीट, पेड़-वनस्पति आदि नाना प्रकार) नाम-रूपों में प्रतिभासित हो रहा है। यथा-अग्नि-लकड़ी, लौह आदि में जैसी आकृति होती है, उसी प्रकार देखने में आती है। वास्तव में उसकी न कोई आकृति है और न कोई रूप ही है। फिर भी इन्धन संयोग से भिन्न-भिन्न रूपों में (आकृतियों) में दिखाई देती है।

22- विसर्गाद्याः श्मशानान्ता भावा देहस्य नात्मनः।
कलानामिव चन्द्रस्य कालेनाव्यक्तवर्त्मना।। 11.7.48।।

23- कालेन ह्योघवेगेन भूतानां प्रभवाप्ययौ।
नित्यावपि न दृश्येते आत्मनोऽग्नेर्यथार्चिषाम्।। 11.7.49।।

मैंने चन्द्रमा से यह शिक्षा ग्रहण की है कि यद्यपि जिसकी गति नहीं जानी जा सकती, उस काल के प्रवाह से चन्द्रमा की कलाएँ घटती-बढ़ती रहती हैं, तथापि चन्द्रमा तो चन्द्रमा ही है, वह न घटता है और न बढ़ता ही है; वैसे है- जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त जितनी भी अवस्थाएँ हैं, वे सब शरीर की हैं, आत्मा से उनका कोई भी सम्बन्ध नहीं है।

जैसे आग की लपट अथवा दीपक की लौ; क्षण-क्षण में उत्पन्न और नष्ट होती रहती है। उनका यह क्रम चलता रहता है, परन्तु दीखायी नहीं पड़ता; वैसे ही जल प्रवाह के समान वेगवान् काल के द्वारा क्षण-क्षण में प्राणियों के शरीर की उत्पत्ति और विनाश होता रहता है, परन्तु अज्ञान-वश वह दिखायीनहीं पड़ता।

तात्पर्य अर्थ-

यह कारण-कार्यमय जगत् अत्यन्त क्षणभंगुर है, उसकी क्षणभंगुरता को मनुष्य अपने में (आत्मा में) आरोपित करके कहता है कि, मैं बालक हूँ, मैं कुमार हूँ, मैं-युवा हूँ, मैं वद्ध हूँ, मैं मरनेवाला हूँ (मर जाऊँगा), इत्यादि। स्वभाववश शरीर में ऐसा (उपरोक्त) विकार आने पर भी या विकृत होने पर भी, आत्मा में, स्वस्वरूप में किसी प्रकार वह भाव विकार स्पर्श नहीं कर सकते, क्योंकि-श्रुति कहती हैं **''सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः।।''** (क.उ. 2.2.11) और गीता में अर्जुन के प्रति भगवान् वासुदेव जी ने कहा है:-**''अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः। शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते।।''**(13.31), **''योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः। सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते।।''**(5.7), **''किंचित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुष इत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य।।''** (बृ.उ. 4.3.15) इत्यादि श्रुति-स्मृतिः। अर्थात् वह भावविकार- शरीरेन्द्रियाँ मन-बुद्धि आदि तक ही सीमित रहता है, आत्मा असङ्ग होने से कोई भी विकार का आना सम्भव नहीं है। फिर भी अज्ञानवश समझ नहीं पाते इसी कारण **''पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्।''** (भज गोविन्दम्) को प्राप्त होता है। भगवान् बुद्ध का कहना है:- **''सर्वं क्षणिकं क्षणिकम्''।।**

24- एक एवाद्वितीयोऽभूदात्माधारोऽखिलाश्रयः।
कालेनात्मानुभावेन साम्यं नीतासु शक्तिषु।
सत्त्वादिष्वादिपुरुषः प्रधानपुरुषेश्वरः।। 11.9.17।।

25- परावराणां परम आस्ते कैवल्यसंज्ञितः।
केवलानुभवानन्दसन्दोहो निरुपाधिकः।। 11.9.18।।

परमात्माने काल शक्ति के द्वारा प्रपञ्च को नष्ट कर उसे अपने में लीन कर लिया और सजातीय-विजातीय तथा स्वगतभेद से भी शून्य अकेले ही शेष रह गये। इस लिये परमात्मा सबका अधिष्ठान है, सबके आश्रय है; परन्तु स्वयं अपने ही आश्रय-अपने आधार से रहते हैं, अर्थात् उनका कोई आधार नहीं है। वे प्रकृति और पुरुष दोनों के,

नियामक, कार्य और कारणात्मक जगत् के आदि कारण परमात्मा अपने काल शक्ति के प्रभाव से सत्त्व-रज आदि समस्त शक्तियों को साम्यावस्था में पहुँचा देते हैं और स्वयं कैवल्य-रूप से एक और अद्वितीयरूप से विराजमान रहते हैं। वे केवल अनुभवस्वरूप और आनन्दमात्र हैं। किसी भी प्रकार की उपाधि का उनसे सम्बन्ध नहीं है।

तात्पर्य अर्थ-

साधक जब ध्यान-योगाभ्यास समाधि स्थिति के द्वारा असम्प्रज्ञात में स्थित हो जाते हैं, तब उस समय गुण एवं मन-बुद्धि आदि इन्द्रियाँ भी अपना कार्य करने में असमर्थ हो जाती हैं, ऐसी स्थिति में आत्मा स्वयं कैवल्यरूप से एक और अद्वितीय रूप से शेष रह जाने पर वे केवलमात्र अनुभव स्वरूप अनुभवगम्य तथा आनन्दघन निर्विशेष निरुपाधिक, अनिर्वचनीय रूप से रह जाता है। जैसा कि योग-सूत्र में कहा गया है:- **''मिथ्याज्ञानवासनारूपसंस्कारबीजरहितोऽसम्प्रज्ञातसमाधिर्भवतिः'', ''निर्विचार वैशारद्येऽध्यात्मप्रसादो यस्मिन् सति पुरुषः स्वरूपमात्रनिष्ठः केवलो भवति''** (योगसूत्र पर चन्द्रिका) अर्थात्- मिथ्याज्ञानरूप जो वासना, उसके संस्कार से रहित होती है; उसी को 'असम्प्रज्ञात समाधि के नाम से जाना जाता है इस लिये आगे कहा- जिसे असम्प्रज्ञान योग के सिद्ध हो जाने पर केवल ज्योतिस्वरूप आत्मा ही शेष बच रहेगा। उसे उस अवस्था में अविद्या की भी निर्मूलरूप से निवृत्ति हो जाती हैं, अर्थात्- लिङ्गशरीर और कारण शरीर का भी यह अभाव अवस्था है। उस निर्विशेष सर्वात्मा का अनुभव का उपाय है- नेति-नेति के द्वारा: **''स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मण अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाश मसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रम- नन्तरमबाह्यं''** (बृ.उ. 3.8.8) आकाश के भी ओत-प्रोत स्थानरूप उस इस तत्त्व को ब्रह्मवेत्ता पुरुष '**अक्षर**' कहते हैं:-

26- विलक्षणः स्थूलसूक्ष्माद् देहादात्मेक्षिता स्वदृक्।
यथाग्निर्दारुणो दाह्याद् दाहकोऽन्यः प्रकाशकः।। 11.10.8।।

27- निरोधोत्पत्त्यणुबृहन्नानात्वं तत्कृतान् गुणान्।
अन्तःप्रविष्ट आधत्त एवं देहगुणान् परः।। 11.10.9।।

हे उद्धव! जैसे जलने वाली लकड़ी से उसे जलाने और प्रकाशित करने वाली आग सर्वथा भिन्न है। ठीक उसी प्रकार विचार करने पर ज्ञात होता है कि पञ्चमहाभूतों का बना स्थूल शरीर और मन-बुद्धि आदि सत्रह तत्त्वों का समूह सूक्ष्म शरीर ये दोनों ही दृश्य और जड़ है। तथा उनको जानने और प्रकाशित करने वाला-आत्मा-साक्षी एवं स्वयं प्रकाशमान है। शरीर अनित्य, अनेक एवं जड़ है। आत्मा नित्य, एक एवं चेतन

है। इस प्रकार देह की अपेक्षा आत्मा में महान् विलक्षणता है। अतएव देह से आत्मा भिन्न है। जब आग लकड़ी में उत्पन्न होती है तब लकड़ी के लम्बी-छोटी, मोटी-पतली और अनेकता आदि सभी गुण वह अग्नि स्वयं ग्रहण कर लेती है, उन रूपों से रूप वाली हो जाती है। परन्तु सच पूछो तो लकड़ी के उन गुणों से आग का कोई सम्बन्ध नहीं है। वैसे ही जब आत्मा अपने को शरीर मान लेता है तब वह देह के जड़ता, अनित्यता स्थूलता, अनेकता आदि गुणों से सर्वथा रहित होने पर भी उनसे युक्त-सा जान पड़ता है।

तात्पर्य अर्थ-

जब तक स्वस्वरूप का यथार्थज्ञान और दृढ़ निश्चय तथा नाम-रूपात्मक जगत् के प्रति मिथ्यात्त्व बुद्धिपर संशय (अनिश्चितता), जैसे कि न्याय दर्शनकार ने कहा है:- **''एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानाधर्मवैशिष्टयावगाहि ज्ञानं संशयः, यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वेति''** अर्थ- एक धर्मी में विरुद्ध नाना धर्मों के वैशिष्ट्य (सम्बन्ध) को विषय करने वाला जो ज्ञान है; उसे संशय कहते हैं। जैसे कोई व्यक्ति स्थाणु (सुखा हुआ पुरुपाकार वृक्ष) को देखकर उसमें संदेह करता है- **''अयं स्थाणुर्वा पुरुषो वेति''**। इस प्रकार जब तक अनिर्णित बुद्धि बनी रहेगी; तबतक-विकारी, विनाशशील, जड़ शरीर के गुण-धर्मों को अपने में आरोपित करके जन्म-मृत्यु, भूख-प्यास, सुख-दुःख, हर्ष-शोक आदि से युक्त मान लेते हैं। यह अज्ञान की चरम सीमा है। गीता कहती है- **''संशयात्मा विनश्यति''** (गी.-4.40), **''यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति''** (क.उ. 2.1.10) स्वस्वरूप का यथार्थ बोध का न होना ही संसार बन्धन है, गमनागमन में निमित्त है। जो इस (देहेन्द्रियसंघातरूपलोक) में भास रहा है, वही अन्यत्र सर्वव्यापक सर्वत्र भी है आकाशवत् और जो अन्यत्र है वही इस संघात में है, **''द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते''** (मुं-3.1.1) कहा है। (ऐसा होने पर भी) जो मनुष्य इस तत्त्व में नानात्व देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है। जब कि अन्य श्रुति कहती है- **''असङ्गो ह्ययमात्मा''** (नृसिंहोत्तरतापिन्युप.-9.8) आत्मा का किसी से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। जैसे वायु अनेक प्रकार के सुगन्धित पुष्पों की वाटिका में से होकर निकलती हों अथवा गन्दे-नाले से फिर भी वायु उनके गुण-दोषों से कभी किसी प्रकार दूषित नहीं होती। अर्थात्-उनके गुण-दोषों को अपनाते नहीं।

28- वैशारदी सातिविशुद्धबुद्धिर्धुनोति मायां गुणसम्प्रसूताम्।
गुणांश्च सन्दह्य यदात्ममेतत्, स्वयं च शाम्यत्यसमिद् यथाग्निः।। 11.10.13।।

बुद्धिमान् शिष्य ही सद्‌गुरुके द्वारा जो अत्यन्त विशुद्ध-ज्ञान प्राप्त करता है, वह गुणों से निर्मित हुई विषयों की माया-जाल को भस्म कर देता है। तत्पश्चात् वे गुण भी

भस्म हो जाते हैं, जिनसे कि यह संसार निर्मित हुआ है। इस प्रकार सबके भस्म हो जाने पर; जब आत्मा के अतिरिक्त वस्तु शेष नहीं रह जाती, तब वह ज्ञानाग्नि भी शान्त हो जाती है, जैसे-समिधा न होने पर आग बुझ जाती है, शान्त हो जाती हैं।

तात्पर्य अर्थ-

निर्विशेष, निराकार एवं महाकाशवत् प्रशान्त-आत्माका ज्ञान; श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानी, सगुरु के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है, या प्राप्त होता है, अन्य उपाय (साधनों) से नहीं। उसी ज्ञान से मूलाविद्या के सहित प्रकृति के स्वभावरूप गुणों का और गुणों से निर्मित-कार्य-कारणरूप (स्थूल सूक्ष्मादि शरीर प्रपञ्च जगत् का भी विनाश यानि अभाव) हो जाता है। इस प्रकार सब कुछ का अभाव हो जाने पर उस समय शेष निर्विकार आत्मा ही रह जाता है। वास्तव में विचार करके देखा जाय तो आत्मा से भिन्न नाना भेदरूप प्रपञ्च-जगत् न पहले था और न आज है तथा न भविष्य में रहेगा। फिर भी उसका प्रतीति हो रही है; वह अज्ञानता में एवं भ्राँति से है, इसलिये स्वप्नवत्, मरुमरीचिकावत्, रज्जू-सर्पवत् है। इस बात से (युक्ति से) स्पष्ट है कि आत्मा कर्तृत्व-भोक्तृत्व से सर्वथा रहित है, यह सिद्ध होता है। **''आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचन मिषत्''** (ऐ.उ. 1.1) अर्थ:- नाम-रूप और कर्मों के भेद से भिन्न-भिन्न प्रतीत होने वाला; जो यह जगत् सृष्टि से पूर्व-सर्व श्रेष्ठ, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् क्षुधा-पिपासादि एवं सजातीय, विजातीय, स्वगतादि सब प्रकार के भेदों से (संसारिक धर्मों से) रहित, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव, जन्म-जरा-मृत्यु से रहित, अमृत, अभय और अद्वय आत्मा ही था। भाष्य:- **आत्माऽऽप्नोतेरत्तेरततेर्वा परः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरशनायादिसर्वसंसारधर्मवर्जितो नित्य शुद्धबुद्धमुक्तस्वभावो-ऽजोऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयोऽद्वयो वा इदं यदुक्तं नामरूपकर्मभेदभिन्नं जगदात्मैवैकोऽग्रे जगतः सृष्टेः प्रागासीत्।** और गीता अध्याय-5 में आया है- **''न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः। न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते।।''** (5.14)।

29- गुणेषु वर्तमानोऽपि देहजेष्वनपावृत्तः।
गुणेन बद्ध्यते देही बद्ध्यते वा कथं विभोः।। 11.10.35।।

30- एतदच्युत में ब्रूहि प्रश्नं प्रश्नविदांवर।
नित्यमुक्तो नित्यबद्ध एक एवेति मे भ्रमः।। 11.10.37।।

हे भगवन्! यह जीव देह-आदिरूप गुणों में ही रह-रहा है (आसक्त हो रहे हैं)। फिर देह से होने वाले कर्मों या सुख-दुःखादिरूप फलों में क्यों नहीं बँधता है? अथवा यह आत्मा; गुणों से निर्लिप्त है, देहादि के सम्पर्क से सर्वथा रहित है, फिर इसे बन्धन की

प्राप्ति कैसे होती है? हे अच्युत! प्रश्न का मर्म जाननेवालों में आप सर्वश्रेष्ठ हैं, इस लिये आप इस प्रश्न का उत्तर देने की अवश्य कृपा करें। क्योंकि-कैसे एक ही आत्मा अनादि गुणों के संसर्ग से नित्यबद्ध भी मालूम पड़ता है और असङ्ग होने के कारण नित्यमुक्त भी? इस बात को लेकर मुझे भ्रम हो रहा है और दूसरों को भी भ्रम हो सकता है।

तात्पर्य अर्थ-

लोग प्रश्न करते हैं भी तो; सांसारिक विषयों की प्राप्ति के लिये, अथवा-शारीरिक, मानसिक या पारिवारिक-दु:ख निवृत्ति के लिये, जबकि यह सब अपने-अपने पूर्व-पूर्व कर्मों का फल होने से अवश्यमेव भोगना है "**अवश्यम्भाविनो भावा भवन्ति महतामपि**" (हितोपदेश प्रबोधनी) इसे कोई टाल भी नहीं सकते; हाँ-ग्रह-दशादि की शान्ति निमित्त कुछ उपाय अवश्य हो सकता है। तत्त्वज्ञानियों से यदि प्रश्न करना हो तो-आत्म-कल्याण के लिये तथा बन्ध-मोक्ष, जीवात्मा-परमात्मा, परब्रह्म-सर्वात्मा, जगत् आदि विषयों के सत्यत्त्व-मिथ्यात्त्व के जानने के लिये करना चाहिये। यथा:- "**शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः प्रपच्छ। कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति**" (मु. उ. 1.1.3) शौनक ने भारद्वाज के शिष्य (आचार्य) अंगिरा के पास विधि पूर्वक जाकर पूछा:- हे भगवन्! किस एक वस्तु के जानलेने पर यह सब कुछ ज्ञातव्य पदार्थों का ज्ञान हो जाता है? अर्थात् जिसे जानने के बाद फिर जानना शेष नहीं रह जाता।

नारदमुनि जी ने विरक्त एवं ज्ञान-विज्ञान में शिरोमणी, अवधूत सनत्कुमार जी के पास शिष्य रूप में करबद्ध निवेदन किया कि:- हे भगवन्! मैंने चारों वेद, इतिहास, अठारह पुराण, चौदह-कल्प, गणितादि विद्या एवं भारतीय दर्शनों; आदि का अध्ययन किया है, मैं ने सुना है कि आप जैसे तत्त्वज्ञानियों से शास्त्रों का अध्ययन कर लेने पर आत्मा शोक से रहित हो जाता है। किन्तु हे भगवन्! मैं तो शोक करता हूँ। अतः मुझ शोकग्रस्त को शोक से मुक्त करा दें, अर्थात् मुझे अभय प्राप्त करा देवें। "**सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मविच्छ्रुतँ ह्येव मे भगवदृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति**" (छा. उ. 7.1.3) इति श्रुतिः।

31- बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः।
गुणस्य मायामूलत्वान्न मे मोक्षो न बन्धनम्।। 11.11.1।।

32- शोकमोहौ सुखं दुःखं देहापत्तिश्च मायया।
स्वप्नो यथाऽऽत्मनः ख्यातिः संसृतिर्न तु वास्तवी।। 11.11.2।।

हे प्यारे उद्धव! आत्मा बद्ध है या मुक्त है, इस प्रकार की व्याख्या या व्यवहार मेरे अधीन रहने वाले सत्त्वादि गुणों की उपाधि से ही होता है। वस्तुतः- तत्त्वदृष्टि से नहीं।

सभी गुण माया मूलक है, इन्द्रजाल है- जादू के खेल के समान हैं। इसलिये न मेरा मोक्ष है, न तो मेरा बन्धन ही है। हे उद्धव! शरीर धारियों को मुक्ति का अनुभव कराने वाली आत्मविद्या और बन्धनका अनुभव कराने वाली अविद्या है, ये दोनों ही मेरी अनादि शक्तियाँ हैं। मेरी माया से ही उनकी रचना हुई है, इनका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है।

तात्पर्य अर्थ-

आत्मा-निरपेक्ष, निराकार, निरवयव, अजन्मा आदि स्वरूपवाला होने से उसमें न बन्धन का 'दोषारोपण' बन सकता है और नहि मुक्तिका 'सरताज' पहनाया (बाँधा) जा सकता है। ये दोनों ही आत्मा में मिथ्या ही अध्यारोप पूर्वक अपवाद के लिये है। अर्थात्- एक अनेक, बन्ध-मोक्ष, गुणी-निर्गुणी इत्यादि शब्दावली; सापेक्ष विषय बनता है, एक दूसरे की अपेक्षा में कहा जाता है और वह भी व्यावहारिक है। वस्तुतः-आत्मा मन, बुद्धि, वाणी आदि का विषय न होने से 'अनिर्वचनीय' है। क्योंकि व्यवहार में निमित्त (इन्द्रियाँ, वाणी और मन) आदि ही होते हैं ये तीनों व्यवहार का साधनभूत है विषय प्राप्ति में, 'आत्मा' निर्विषय, निर्विशेष है, इसलिये श्रुति कहती हैं:- "**यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह**" (तै.उ.2.9), "**अरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कम्**" (बृ.उ.3.8.8), "**अदृश्यमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं।।**" (मां-7) इसलिये आगे कहा :- "**न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।।**" (मुं-1.3.8) अर्थः- जहाँ से मन के सहित वाणी उस आत्मा को प्राप्त किये बिना लौट आती है। वह आत्मा न जल का गुण द्रवरूप है, न पृथ्वी के गुण गन्धवाला है, न श्रोत्र नेत्रवाला है, न मन-बुद्धिवाला है, न वाणीवाला है और न अग्नि के गुणधर्मवाला है। अतः वह तो अदृश्य है, अतएव अव्यवहार्य है, कमेन्द्रियों का विषय न होने से अग्राह्य है, लिङ्गरहित होने से अचिन्त्य है, अतः वाणी का विषय न होने से अव्यपदेश्य है, (कुछ भी कहा नहीं जा सकता) और जाग्रदादि अवस्थाओं में अव्याभिचारी होने के कारण '**एकात्मप्रत्ययसारं**' है, इसलिये प्रपञ्चका उपशमरूप-शान्त, शिव (मंगलमय) और अद्वैत स्वरूप है। विद्या-अविद्या (ज्ञान-अज्ञान) ये दोनों ही केवलमात्र मनकी कल्पना ही है, बुद्धि वृत्ति है। मनके शान्त हो जाने पर ज्ञान-अज्ञान इन दोनों का भी अभाव हो जाता है, क्योंकि ज्ञान-अज्ञान तो वस्तु की अपेक्षा से कहा जाता है।

33- एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते।
बन्धोऽस्याविद्ययानादिर्विद्यया च तथेतरः।। 11.11.4।।

34- अथ बद्धस्य मुक्तस्य वैलक्षण्यं वदामि ते।
विरुद्धधर्मिणोस्तात स्थितयोरेकधर्मिणि।। 11.11.5।।

हे प्रिय उद्धव! तुमतो स्वयं बड़े बुद्धिमान् हो, विचार करो; जीव तो एक ही है। वह व्यवहार के लिये ही मेरे अंश के रूप में कल्पित हुआ है, वस्तुत: मेरा स्वरूप ही है। आत्मज्ञान से सम्पन्न होने पर उसे मुक्त कहते हैं और आत्मा का ज्ञान न होने पर वह बद्ध। यह अज्ञान अनादि होने से बन्धन भी अनादि कहलाता है। इस प्रकार मुझ एक ही धर्मी में रहने पर भी जो शोक और आनन्दरूप विरुद्ध धर्मवाले जान पड़ते हैं, उन बद्ध और मुक्तजीव के भेद मैं बतलाता हूँ।

तात्पर्य अर्थ-

अज्ञानता से व्यवहार और व्यवहार एवं उपाधि भेद से एक ही आत्मा अनेक योनियों के नाम से जाना जाता है; जिससे व्यवहार की सिद्धि होती है। यथा-एक ही जल, फेन, बुदबुद, तरङ्ग, ओले (बर्फ) आदि के नामों से जाना जाता है, अथवा एक ही मिट्टी-घड़ा, सकोरा, सुराही, मठादि के नाना नाम रूपों में जाना जाता है, या व्यवहार देखने में आता है। **''यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्''** (छा. उ. 6.1.4) इसी प्रकार सर्वात्म ब्रह्म में उपाधि एवं विद्या-अविद्या के कारण एक अद्वितीय में नानात्व के व्यवहार की कल्पना की जाती है। जैसे महाकाश का व्यवहार (घटाकाश, मठाकाश, हृदयाकाश) आदि। उपरोक्त आकाश के उपाधियों को हटा देने पर 'महाकाश' ही रह जाता है, तद्वत् पञ्चकोशादि उपाधियों का विचार से निरस्त कर देने पर- **''एकमेवाद्वितीयम्''** (छा. -6.2.1) शेष रह जाता है। **''न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्तः इत्येषा परमार्थता।।''** (मां.का-2.32)।

35- सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ, यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे।
एकस्तयोः खादति पिप्पलान्नमन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयान्।। 11.11.6।।

36- आत्मानमन्यं च स वेद विद्वानपिप्पलादो न तु पिप्पलादः। 11.11.7।।

जीव और ईश्वर बद्ध और मुक्त के भेद से भिन्न-भिन्न होने पर भी एक ही शरीर में नियन्ता और नित्यन्त्रित के रूप से स्थित है। ऐसा समझो कि शरीर एक वृक्ष है, इसमें हृदय को घोसला बनाकर जीव और ईश्वर नाम के दो पक्षी रहते हैं। वे दोनों चेतन होने के कारण समान हैं और कभी न बिछुड़ने के कारण सखा है। इनके निवास करने का कारण केवल लीला है। इतनी समानता होने पर भी जीव तो शरीररूप वृक्ष के फल खाकर-सुख-दुःख आदि का अनुभव करता है, परन्तु ईश्वर उन्हें न भोगकर कर्मफल (सुख-दुःख) आदि से असङ्ग और उसका साक्षीमात्र रहता है। अभोक्ता होने पर भी ईश्वर की यह विलक्षणता है कि वह ज्ञान ऐश्वर्य आनन्द और सामर्थ्य आदि में स्वभाव

सिद्ध होने से भोक्ता जीव से अत्यन्त श्रेष्ठ है। साथ ही एक यह भी विलक्षणता है कि अभोक्ता ईश्वर तो अपने वास्तविक स्वरूप और इसके अतिरिक्त जगत् को भी जानता है, किन्तु भोक्ता जीव न अपने वास्तविक स्वरूप को जानता है और न अपने से अतिरिक्त का इन दोनों में जीव तो अविद्या युक्त होने के कारण नित्य बद्ध है और ईश्वर विद्यास्वरूप होने के कारण नित्य मुक्त है।

तात्पर्य अर्थ-

11.11.6 और 11.11.7 ये दोनों श्लोक अथर्ववेदीय मुण्डक 3.1.1 और 3.1.2 श्रुति का अर्थतः संग्रह है शब्दतः श्रुति इस प्रकार है- "**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।। समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः।।**" (मुं-3.1.1/2) अर्थात्- इस संसार रूप अथवा शरीररूप वृक्ष में एक ही आत्मा दो रूपों में (सामान्य और विशेषरूप से, विद्यमान हैं। जिसे हम-जीवात्मा और परमात्मा के नामों से जानते हैं। स्थूल शरीर हृदयस्थ परिच्छिन्न स्थान, संकुचित स्थान में अनुभव होनेवाले को जीवात्मा, इसी को सूक्ष्मशरीरादि के नामों से भी जाना जाता है। जैसा कि:- "**अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।।**" (क. उ.2.3.17), "**अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति। ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते।।**" (क.उ. 2.1.12) और श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा है:- "**अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः। हृदा मनीषी मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति।।**" (3.13), "**अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः संकल्पाहंकारसमन्वितो यः।।**" (5.8)।

अर्थः- अङ्गुष्ठमात्र-अन्तरात्मा '**पुरुष**' सदा जीवों के हृदय में स्थित है। जो अङ्गुष्ठ परिमाण पुरुष है वह हृदयकमल के मध्य में स्थित है, उसे भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान का शासक जानकर ज्ञानी-पुरुष अपने शरीर रक्षा की इच्छा नहीं करता। यह अँगुष्ठमात्र पुरुष-अन्तरात्मा, सर्वदा जीवों के हृदय में स्थित है, ज्ञानाध्यक्ष एवं हृदयस्थ मन के द्वारा सुरक्षित है। जो कोई उसे जानते हैं; वे मुक्त हो जाते हैं। अँगुष्ठ के बराबर परिमाणवाला, सूर्य के समान ज्योतिस्वरूप बुद्धि के 'गुण'-संकल्प, अहंकारादि से युक्त है। दूसरा शरीर के बाहर-भीतर समरूप से ऊपर-नीचे, दाएँ-बाएँ सर्वत्र ओत-प्रोत रूप से व्याप्त करके रहने वाले को परमात्मा या कूटस्थात्मा भी कहा जाता है, इसी को उपाधिभेद से और निरुपाधिक भेद से-सगुणात्मा और निर्गुणात्मा के नामों से भी जाना जाता है। सगुणात्मा पुनः दो रूपों में विभक्त हैं:- स्थूल शरीर वाला (मनुष्य, पशु, पक्षी)

आदि और सूक्ष्मशरीरवाला (गमनागमन एवं कर्म-भोग-सुख-दुःखों का अनुभव कराने में भी निमित्त है। दूसरी बात है:- स्थूल शरीर साधनरूप है और सूक्ष्मशरीर साध्य यानि भोक्तारूप है। स्थूल-जन्म मृत्यु से सदा-सर्वदा ग्रस्त है, इस लिये दुःख स्वरूप है, **''शरीरं व्याधिमंदिरम्''** (वा.रा.) ऐसा विद्वानों का मानना है। इसके विपरीत सूक्ष्मशरीर जन्म-मृत्यु, आधिव्याधि से निर्मुक्त है, षड्भावविकार से अस्पृष्ट है, किन्तु कर्म-बीज वासनामय है। इन दोनों पर विचार शुक्ल यजुर्वेदीय (बृ.उ. अ. 2. ब्रा. 3) में कहा गया है विस्तार पूर्वक। **''द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च मर्त्यं चामृतं च स्थितं च यच्च सच्च त्यच्च।।''** (बृ-2.3.1) अर्थात् सर्वात्मब्रह्म के दो रूप हैं। मूर्त और अमूर्त क्रमशः- मर्त्य और अमृत, स्थावर और जंगम, सत् और त्यत् हैं। जो प्राण से भिन्न है तथा देहान्तर्गत आकाश से भिन्न है, यही शरीर में मूर्त (जीवात्मा) है, यही मर्त्यं है, यही स्थावर है और यही सत् है। शेष विचार पूर्व में बताया है।

37- इन्द्रियैरिन्द्रियार्थेषु गुणैरपि गुणेषु च।
गृह्यमाणेष्वहंकुर्यान्न विद्वान् यस्त्वविक्रियः।। 11.11.9।।

38- दैवाधीने शरीरेऽस्मिन् गुणभाव्येन कर्मणा।
वर्तमानोऽबुधस्तत्र कर्तास्मीति निबद्ध्यते।। 11.11.10।।

व्यवहार में इन्द्रियाँ; शब्द, स्पर्शादि विषयों को ग्रहण करती हैं, क्योंकि यह तो नियम है कि-गुण ही गुण को ग्रहण करते हैं, आत्मा नहीं। इस लिये जिसने अपने निर्विकार आत्मस्वरूप को समझ लिया है वह उन विषयों के ग्रहण-त्याग में किसी प्रकार का अभिमान नहीं करता। यह शरीर प्रारब्ध के अधीन है। इससे शारीरिक और मानसिक जितने भी कर्म होते हैं, गुणों की प्रेरणा से ही होते हैं। अज्ञानी पुरुष झूठमूठ अपने को उन-ग्रहण त्यागादि कर्मों का कर्ता मान लिया है और उसी अभिमान के कारण बँध जाता है।

तात्पर्य अर्थ-

इसी भागवत महापुराण के स्कन्ध 3.25.15 में आया है:-**''चेतः खल्वस्य बन्धाय मुक्तये चात्मनो मतम्। गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये।।''**

जीवों के बन्धन और मुक्ति में एकमात्र निमित्त है तो गुणों का संयोग जो मन से हो जाता है। (यहाँ गुणों का अभिप्राय है-शब्दादि) जब मन (अन्तःकरण) शब्दादि विषयों में या विषयोंके साथ संसक्त (विषयाकार) हो जाता है; तब बन्धन का अनुभव करता है, अथवा बन्धा हुआ अपने को अनुभव करता है, यथा पिंजरे में बन्द पक्षी या जेलखाने में बन्द मनुष्य। जब मनुष्य श्रवण, मनन, निर्दिध्यासन तथा विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति,

मुमुक्षुता आदि साधन परायण होकर परिपक्वताको प्राप्त कर लेता है, स्वस्वरूपमें तदाकार हो जाता है; तब वह मनुष्य (साधक) अपने को मुक्त अनुभव करता है:- **''न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता।।''** (वि.चू. 575) यदि 'गुणेषु' का अर्थ- सत्त्व, रज और तम करते हैं, तो कहना पड़ेगा- **''तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः। गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते।।''** (गी. 3.28), **''प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।।''** (गी.3.27)।

अर्थः- हे महाबाहो! गुणों और कर्मों को विभाग करके (अलग-अलग) करके तत्त्व से जानने वाला ज्ञानी जन सम्पूर्ण गुण ही गुणों में वरताव (व्यवहार) कर रहे हैं- ऐसा मानकर उनमें आसक्त नहीं होता, क्योंकि सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किये जाते हैं, या होते है। परन्तु अज्ञानता से पूर्ण अन्तःकरणवाला अज्ञानी मनुष्य 'मैं' कर्ता हूँ ऐसा मान लेता है। यह गुण विकारों से युक्तपूर्ण प्रकृति का स्वभाव है, प्रकृति का गुण-दोष है, अतः इन्हीं गुणों के द्वारा अव्यक्त प्रकृति को अनुमान करके जाना जाता है। अर्थात्- जो कुछ व्यक्तरूप में दृष्टिगोचर हो रहे हैं; वह सबके सब प्रकृति का गुण हैं। जैसा कि गीता अध्याय 13.19 में कहा गया है:- **''विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्।''** निष्क्रिय, निर्विकार-स्वस्वरूप को न जानना ही महान् अज्ञानका द्योतक है और इसी अज्ञान के कारण-परधर्म-गुण एवं कर्मों को अपने में आरोपित करके अभिमान पूर्वक कहता है कि- 'मैं' कर्मों को करने वाला हूँ और उन कर्मों का सुख-दुःख रूप फलों को भोगनेवाला भोक्ता भी मैं ही हूँ। तथा उसी कर्मों में आसक्त होने के कारण अपने आप में बन्धन का एवं सुख-दुःखों का अनुभव भी करता हूँ। ये ही विषयाध्यास का संस्कार-जीवात्मा का बन्धनरूप बेड़ी (पाशबन्धन) है।

39- स एष जीवो विवरप्रसूतिः प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः।
मनोमयं सूक्ष्ममुपेत्य रूपं मात्रा स्वरो वर्ण इति स्थविष्ठः।। 11.12.17।।

40- यथानलः खेऽनिलबन्धुरूष्मा, बलेन दारुण्यधिमथ्यमानः।
अणुः प्रजातो हविषा समिध्यते, तथैव मे व्यक्तिरियं हि वाणी।। 11.12.18।।

हे प्रिय उद्धव! जिस परमात्मा का परोक्षरूप से वर्णन किया जाता है, वह साक्षात् अपरोक्ष- प्रत्यक्ष ही है, क्योंकि वे ही निखिल वस्तुओं को सत्ता-स्फूर्ति जीवनदान करने वाले हैं, वे ही पहले अनाहत-नादस्वरूप परा वाणी नामक प्राण के साथ मूलाधार चक्रमें प्रवेश करते हैं। उसके बाद मणिपूर चक्र (नाभिस्थान) में आकर पश्यन्ति वाणी का मनोमय सूक्ष्मरूप धारण करते हैं। तदनन्तर कण्ठदेश में स्थित विशुद्धि नामक चक्र में

आते हैं और वहाँ मध्यमा वाणी के रूप में व्यक्त होते हैं, फिर क्रमशः मुख में आकर ह्रस्व-दीर्घादि मात्रा, उदात्त-अनुदात्त आदि स्वरों तथा ककारादि वर्णरूप स्थूल-वैखरी वाणी का रूप ग्रहण-कर लेते है।

तात्पर्य अर्थ-

आत्मा ही प्राण की गति है और मन-वाणी की भी गति (शक्तिरूप क्रिया) आत्मा-परमात्मा ही है। अर्थात् शरीर, मन, वाणी आदि में जो कुछ चेष्टाएँ हो रही हैं; वे सब आत्मसत्ता से ही हो रही हैं। श्रुति कहती है:-''**श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचँ स उ प्राणस्य प्राणश्चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः**'' (के. 1.2), ''**यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि**'' (1.4), ''**यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतं।**'' (1.5), ''**यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूँषि पश्यति**'' (1.6) ''**यच्छ्रोत्रेन न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम्**'' (1.7), ''**यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते**'' (1.8) इत्यादि। अर्थ:- जो श्रोत्रका-श्रोत्र, मनका मन और वाणी का-वाणी है, वही प्राण का प्राण तथा चक्षुका चक्षु है। उसे जानकर धीर पुरुष-इस लोक से मुक्त हो जाता है। जो वाणी से प्रकाशित नहीं होता, किन्तु जिससे वाणी प्रकशित होती है; उसी को तू ब्रह्म जानो। जिसे कोई मनसे-मंनन नहीं कर सकता, किन्तु जिससे मन मनन करने में समर्थ होता है, उसी को तू ब्रह्म जान। जिसे (कोई) नेत्र से नहीं देखता; किन्तु जिससे नेत्र भी देखने में सक्षम होता है। इसी प्रकार-श्रोत्र प्राणादि भी जिसकी सत्ता मात्र से अपने-अपने व्यवहार में प्रवृत्त होते है; वही आत्मा है। जैसा कि कठ श्रुति में आया है:- ''**तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति**'' (2.2.15) उसके (आत्मा) के प्रकाशित होने पर ही सब कुछ प्रकाशित होता है, अर्थात्-उसके (आत्मा) के प्रकाश से ही यह सब भासता है। बृहदारण्यक श्रुति का इस विषय में कहना है कि:- ''**एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि निमेषा मुहूर्ता अहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्ति एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यः प्रतीच्योऽन्या यां यां च दिशमन्वेतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ददतो मनुष्याः प्रशँसन्ति यजमानं देवा दर्वि पितरोऽन्वायत्ताः।।**'' (बृ.3.8.9) अर्थात्- हे गार्गि! इसी अक्षर (आत्मा) के प्रशासन में सूर्य चन्द्र विशेषरूप से धारण किये हुए स्थित हैं (स्थिर) हैं। जैसे-सर्व साधारण प्राणियों के जीवन हित में प्रकाश प्रदान करते हुए स्थिर हैं, दीपवत्। ''**स्यातां साधारणसर्वप्राणिप्रकाशोपकारकत्वाल्लौकिकप्रदीपवत्**'' भाष्यम्। इसी अक्षर के ही प्रशासन में निमेष, मुहूर्त, दिन-रात, पक्ष, मास, ऋतु और हे

गार्गि! इस अक्षर के ही प्रशासन में पूर्व दिशा की ओर बहने वाली नदियाँ एवं अन्य नदियों को भी जिस-जिस दिशा की ओर अनुप्रवृत कर दी गयी है, उस दिशा का अनुसरण आज भी करती रहती हैं। उसी अक्षर के प्रशासन में दाता स्वर्णादिका दान करता है और प्रशंसा करने वाले प्रशंसा करते हैं, देवगण यजमान का, पितृगण दर्वी होम का अनुवर्तन करते हैं।

41- **यस्मिन्निदं प्रोतमशेषमोतं, पटो यथा तन्तुवितानसंस्थः।**
य एष संसारतरुः पुराणः, कर्मात्मकः पुष्पफले प्रसूते।। 11.12.21।।

जैसे धागों के ताने-बानें में वस्त्र ओत-प्रोत रहता है। वैसे ही यह समस्त विश्व परमात्मा में ही ओत-प्रोत है। जैसे सूत के बिना वस्त्र का अस्तित्व नहीं है; किन्तु सूत वस्त्र के बिना भी रह सकता है, वैसे ही इस जगत् के न होने पर भी परमात्मा रहता है; किन्तु इस जगत् का परमात्मा के बिना कोई अस्तित्व नहीं है। यह संसारवृक्ष अनादि प्रवाहरूपसे नित्य है। इसका स्वरूप ही है- कर्म की परम्परा तथा इस वृक्ष के फल-फूल है मोक्ष और भोग।

तात्पर्य अर्थ-

एक ही परमात्मा व्यवहार की दृष्टि से जगत् और परमार्थ की दृष्टि से आत्मा कहा गया है। क्योंकि आत्मा के विषय में श्रुति का कहना है:- **''अदृश्यमव्यवहार्यमग्राह्य-मलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतम्''** (मा. उ. 7) जैसे- कारण दृष्टि से सूत और कार्य दृष्टि से वस्त्र के नाम से जाना जाता है। यह कार्य जगत् प्रवाह रूप से अनादि होते हुए भी विनाशी है। अर्थात्- जिसकी उत्पत्ति होती है; उसकी विनष्ट होना भी अत्यन्त-अनिवार्य है। वास्तव में सच पूछो तो-उत्पत्ति के साथ ही विनाश का उदय होता है, आगे-पीछे नहीं, जन्म के साथ-मृत्यु, संयोग के साथ-वियोग, लाभ के साथ-हानि इस विषय को विवेकी पुरुष तत्क्षण समझ लेते हैं, अविवेकी पुरुष के लिये अत्यन्त कठिन है। क्योंकि वे समझते हैं, कि-उत्पत्ति और विनाश, जन्म और मृत्यु, संयोग और वियोगादि, एक साथ दोनों का रहना कैसे सम्भव है? और प्रत्यक्ष देखने में आ रहा है- जन्म आज हुआ है और मृत्यु उसकी वर्षों बाद होती है। मकान आज बना है और उसका विनाश वर्षों बाद होता है, इसी प्रकार संयोग-ध न (द्रव्य) का, पति-पत्नी का, पिता पुत्र इत्यादि का आज हुआ है और वियोग वर्षों बाद होता है; यह सबका अनुभव है। इसी का नाम है तमसावृत बुद्धि, बाल बुद्धि, पशुबुद्धि एवं मूढता-अज्ञानता की चरमसीमा। अरे भाई! किञ्चित् समझने का प्रयत्न करोगे तो निश्चित ही समझ में आ जायेगा। मैं आपको समझाने का प्रयत्न करता हूँ; कदाचित् समझ में आ जावे:- प्रत्येक वस्तुओं की दो सिरा होती है, जिसे छोर या

किनारा (तीर) आदि के नामों से भी जाना जाता है। जैसे आपके हाथ में एक डण्डा (लाठी) है, उसमें दो छोर है, वह दोनों छोर जब से डण्डा के रूप में बना है तब से आज तक है कि नहीं? इसी प्रकार आपके शरीर, शरीर-रक्षक-वस्त्र, जूता चप्पल, टोपी आदि का भी दो छोर है और जब तक वह वस्तु रहेगी तब तक उसकी किनारें भी बनी रहेंगी। इसी प्रकार नदी, पेड-पहाड, घट-मठादि सभी के दो किनारे हैं और तभी से हैं साथ-साथ दोनों छोर, दो छोर के बिना कोई वस्तु होती ही नहीं। शायद उपरोक्त युक्तियों से आपको समझ में आ गया होगा ऐसी आशा मैं करता हूँ। यह प्रपञ्च-जगत् अज्ञान-निद्रा में स्वप्न देखनेवालों के लिये है; स्वस्वरूप में स्थित एवं जगने वाले आत्मज्ञानियों के लिये-सर्वत्र प्रकाशस्वरूप-आत्मा ही आत्मा है, (दिन ही दिन) है। "**वाचा वक्तुमशक्यमेव मनसा मन्तुं न वा शक्यते, स्वानन्दामृतपूरपूरितपरब्रह्माम्बुधेर्वैभवम्। अम्भोराशिविशीर्णवार्षिकशिलाभावं भजन्मे मनो, यस्यांशांशलवे विलीन-मधुनानन्दात्मना निर्वृत्तम्।।**" (वि.चू. 483) अर्थ:- जैसे (ग्रीष्मकाल में) हिमशिला (बर्फ के) चट्टान प्रतिवर्ष पिघलकर चलराशि (समुद्र में) मिलकर एकी भाव को प्राप्त हो जाता है। उसीप्रकार हिमशिलावत् अवस्था को प्राप्त हुआ मेरा मन भी-जिस आनन्दामृतसमुद्र के एक अंशके भी अंश में लीन होकर अब अति-आनन्दरूप से स्थित हो गया है, उस आत्मानन्दरूप अमृतप्रवाह से परिपूर्ण परब्रह्मसमुद्र का वैभव (महिमा-शक्ति) का वर्णन-कथन; वाणी के द्वारा नहीं कहा जा सकता और मन के द्वारा-मनन, नहीं किया जा सकता, बुद्धि से निश्चय नहीं किया जा सकता। इस विषय में श्रुतियों का कहना है:- "**प्राणो ह्येषो यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन्विद्वान्भवते नातिवादी। आत्मक्रीड आत्मरतिः।।**" (मु.उ. 3.1.4), "**तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासनम्।।**" (बृ.उ. 2.5.19), "**तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति सर्वमात्मानं पश्यति।।**" (बृ.उ. 4.4.23)।

यह जो प्राणो के प्राण परमेश्वर है, वह सम्पूर्ण भूतों के रूप में विद्यमान है। इसे साक्षात्कार करके तत्त्वज्ञानी अतिवादी नहीं होता, वाद-विवादों से रहित होता है, क्योंकि आत्म-ज्ञानी आत्मा से भिन्न वस्तु को देखता ही नहीं। यह आत्मज्ञानी तो आत्मा में, अपने आप में ही क्रीड़ा करने वाला और आत्मा में स्वस्वरूप में ही रतिवाला, आत्मा में ही रमण करने वाला होता है। वह यह ब्रह्म कारण रहित, कार्य रहित किसी प्रकार विजातीय द्रव्य संसर्गशून्य और अबाह्य है। यह आत्मा ही सबका अनुभव करानेवाला परमात्मा है। बस इतना ही सम्पूर्ण वेदान्तों का उपदेश है। अथवा यों कहें- अज्ञानियों के

लिये संसार है और ज्ञानियों के लिये- "**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**" (छा-3.14.1) हैं। "**ब्रह्मैव सर्वं**" (तेजोबिन्दूप.-6.31), "**आत्मैव सर्वम्**" (छा.-7.25.2), "**नेह नानास्ति किञ्चन**" (बृ-4.4.19) भाव में स्थित हो जाते हैं।

42- एवं गुरूपासनयैकभक्त्या, विद्याकुठारेण शितेन धीरः।
विवृश्च्य जीवाशयमप्रमत्तः, सम्पद्य चात्मानमथ त्यजास्त्रम्।। 11.11.24।।

अतः हे उद्धव! तुम इसप्रकार गुरुदेव की उपासनारूप अनन्य भक्ति के द्वारा प्राप्त; अपने-ज्ञान की कुल्हाड़ी (परशु) को तीखी (पैंनी) करलो और उसके द्वारा धैर्य एवं सावधानी पूर्वक जीवभाव को काट डालो फिर परमात्मा रूप होकर उस अखण्डाकार वृत्तिरुप अस्त्रों को भी छोड़ दो और अपने अखण्ड (अद्वितीय) स्वरूप में ही स्थित ही रहो।

तात्पर्य अर्थ-

मुमुक्षु साधु को चाहिये कि; शास्त्र एवं सद्गुरु के द्वारा प्राप्त अपने-स्वरूप ज्ञानरूप असङ्ग अस्त्र-शास्त्रों के द्वारा अनादिकाल की अज्ञानता को, विषयाध्यास को-देहाध्यास को एवं जीवभाव की वृत्तियों को अत्यन्त दृढ़तापूर्वक (निर्दयता पूर्वक) जड़मूल से नष्ट कर देना चाहिये। उसके नष्ट हो जाने के बाद बुद्धिगत ब्रह्माकार वृत्तिको भी स्वरूप में स्थिर कर दो और निरधिष्ठानरूप स्वयमेव शेष रह जायेगा। जैसा कि गीता में कहा गया है:- "**अश्वत्थमेनं सुविरुढ़मूलमसङ्गशस्त्रेण दृढ़ेन छित्त्वा**"। (गी-15.3) आगे कहा:- "**ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।**" (गी-15.4) यह संसाररूप वृक्ष के जड़ें मजबूती के साथ अत्यन्त गहराई में गया हुआ है। इस वृक्ष का फल अत्यन्त विषैले हैं, इस वृक्ष के फल को देखनेमात्र से ही मनुष्य बेहोसी (मूर्च्छित) हो जाते हैं और खोलने पर तो मृत्यु ही समझो। "**विषं भवतु मा भूद्वा फणाटोपो भयङ्करः**" (पंचतन्त्र) अर्थात्- जैसे विशाल फणवाला शेषनाग में जहरीली विष वाला हो या न हो, फिर भी भयंकर है ही, वैसे हि इस संसाररूप वृक्ष का फलों (सुख-दु:ख) में अनुराग (प्रेम) करना-अपने मृत्यु को आमन्त्रित करना।

43- अहं योगस्य सांख्यस्य सत्यस्यर्तस्य तेजसः।
परायणं द्विजश्रेष्ठा श्रियः कीर्तेर्दमस्य च।। 11.13.39।।

44- मां भजन्ति गुणाः सर्वे निर्गुणं निरपेक्षकम्।
सुहृदं प्रियमात्मानं साम्यासङ्गादयोऽगुणाः।। 11.13.40।।

हे विप्रवरों मैं योग, सांख्य, सत्य, ऋत (मधुरभाषण), तेज, श्री, कीर्ति और दम, (इन्द्रियनिग्रह) इन सबकी परम गति-परम-अधिष्ठान हूँ। मैं समस्त गुणों से रहित हूँ। और किसी की अपेक्षा नहीं रखता फिर भी साम्य, असङ्गता आदि सभी गुण मेरे ही

सेवन करते हैं, मुझमें ही प्रतिष्ठित हैं; क्योंकि मैं सबका हितैषी, सुहृद, प्रियतम और आत्मा हूँ । सच पूछो तो गुण कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि वे सत्त्वादि गुणों के परिणाम नहीं है अपितु नित्य हैं, स्वरूपभूत हैं।

तात्पर्य अर्थ-

सांख्य के प्रकृति-पुरुषपर विस्तृत व्याख्या और योग के अष्टाङ्गोंपर विशाल व्याख्या एवं अन्य समस्त-दर्शनों की विभिन्न युक्ति-युक्त विशाल वर्णन श्रुतियों की ही व्याख्या हैं और आज वर्तमान में जो हो रहा है; उन सभीके अधिष्ठानरूप आत्मा ही है। **''सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाँसि सर्वाणि च यद्वदन्ति यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति। ''एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्। एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्।।''** (क. 1.2.15/16) सभी वेद जिसको बतलाते हैं, जिसकी प्राप्ति के लिये सभी तपों को करते हैं, एवं जिसकी इच्छा करते हुए ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते हैं, उस पद को मैं (यमराज) तुम्हे (हे नचिकेता!) संक्षेप में कहता हूँ। यह अक्षर ही अपर ब्रह्म है, एवं-यह अक्षर ही परब्रह्म है, आगे कहा:- **''एतदालम्बनँ श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्। एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते।।''** (क. 1.2.17) यही श्रेष्ठ आलम्बन है, यही पर आलम्बन है। इसी आलम्बन को जानकर पुरुष परब्रह्म में स्थित हो महिमान्वित होता है। **''यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति। यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाऽक्षरात्संभवतीह विश्वम्।।''** (मु.उ. 1.1.7) जैसे मकड़ी (ऊर्णनाभि) अपने से (लार से) धागे उत्पन्न कर लेती है व निगल भी लेती हैं, जैसे पृथिवी में ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं और जैसे सजीव पुरुष में (उससे विलक्षण) केश ओर लोम उत्पन्न होते हैं, वैसे ही उस अक्षर से समस्त जगत् उत्पन्न होते हैं। क्रमशः अभिन्ननिमित्तोपादानकारणता, केवलोपादानकारणता और केवल निमित्तकारणता दर्शाने के लिये तीन दृष्टान्त दिया गया है अथवा विद्वद्वर्य ऋषि-महर्षियों के अन्तरात्मा के सत्ता से ही वेद-वेदांगों का विस्तार हुआ है। यद्यपि आत्मा-निर्गुण, निराकार, निर्विषय, निष्क्रिय आदि होने पर भी; जो प्राणी-पदार्थों में गुण-शक्ति देखने में आता है, वह सबके-सब आत्मसत्ता से ही है। क्योंकि जो भी पदार्थ हैं; वह जड़ है, अज्ञान स्वरूप है।

45- एक एव परो ह्यात्मा भूतेष्वात्मन्यवस्थितः।
यथेन्दुरुदपात्रेषु भूतान्येकात्मकानि च।। 11.18.32।।

जैसे एक ही चन्द्रमा जल से भरे हुए भिन्न-भिन्न पात्रों में; अलग-अलग दिखायी देता हैं, वैसे ही एक ही परमात्मा समस्त प्राणियों में और अपने में भी स्थित है। सबकी आत्मा तो एक ही है। पञ्चभूतों से निर्मित शरीर भी सबके एक ही हैं; क्योंकि कारणदृष्टि से सब पाञ्चभौतिक ही तो है, भले ही कार्यदृष्टि से अलग-अलग हों।

तात्पर्य अर्थ-

प्राय: कुछ विद्वान् लोगों को एवं विभिन्न सिद्धान्तवादियों को एक आत्मा स्वीकार करने में आपत्तिजनक (आश्चर्यजनक दमघुटन-सा होने लगता है, अजीव सा मालूम) होता है। क्योंकि उन लोगों को संशय (आपत्ति) इस बात पर है कि-सुख-दुःख, जन्म-मृत्यु, धनी-निर्धनी, बन्ध-मोक्ष इत्यादि की व्यवस्था कैसे और किस प्रकार होगी? मैं आप लोगों से एवं विद्वद्वर्य आचार्यों से जानना चाहूँगा कि एक बीज के नाना भेद, एक ही मिट्टी के नाना (पृथिवी) घटपटादि नामरूप भेद, इसी प्रकार-जल, अग्नि, वायु, आकाश आदि के नाना नामरूपों के भेदों पर उन सभी मान्यवर विद्वानों को क्यों नहीं आश्चर्य होता? जो कि प्रत्यक्ष देखने में आ रहा है और व्यवहार भी हो रहा है, अतः **'एकमेवाद्वितीय'** ही सत्य है।

मेरे विचार से तो-सुख-दुःख, जन्म-मृत्यु, बँध-मोक्ष आदि यह सब तो भिन्न-भिन्न प्रारब्ध कर्म वासना बीजों के अनुसार होना स्वभाविक है, इस पर संशय या आश्चर्य होने की कोई बात ही नहीं है। हमारा कहना श्रुति-आश्रित है, जैसा कि:- **''यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातँ स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्। यथा सोम्यैकेन लोहमाणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम्।''** (छा. उ. 6.1.4/5) हे सोम्य! लोक में जिस प्रकार मृतिका के एक पिण्ड द्वारा सम्पूर्ण मृतिका के कार्य समूह का ज्ञान हो जाता है, विकार तो केवल वाणी के आधार-नाम मात्र ही है, वाणी का आश्रय (आलम्बन) है, वाग्विलासमात्र है। वस्तुतः सत्य तो केवल मृत्तिका ही है। इसी प्रकार एक सुवर्णपिण्ड के द्वारा सम्पूर्ण सुवर्णमय पदार्थ जान लिये जाते हैं, क्योंकि नाना आभूषणों के नाम रूप व्यावहारिक है, यह विकार वाणी पर आधारित है, सत्य तो केवल सुवर्ण ही है। **''सर्वं खल्विदंब्रह्म''** (छा.3.14.1), **''आत्मैव सर्वं''** (छा-7.25.2), **''नान्यदतोऽति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञात्रेतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति''** (बृ.उ. 3.8.11) इत्यादि और आप लोगों का कथन-निरर्थक-अनर्थक है, विलापमात्र है, यथा:- **''लंका स्त्रीणां पुनश्चक्रे विलापाचार्यकं शरैः''** (रघुवंश-12. 78)।

46- त्वत्तः परावृत्तधियः स्वकृतैः कर्मभिः प्रभो।
उच्चावचान् यथा देहान् गृह्णन्ति विसृजन्ति च।। 11.22.34।।

47- तन्ममाख्याहि गोविन्द दुर्विभाव्यमनात्मभिः।
न ह्येतत् प्रायशो लोके विद्वांसः सन्ति वञ्चिताः।।22.35।।

हे भगवन्! आपसे विमुख जीव अपने किये हुए पुण्य-पापों के फलस्वरूप ऊँची-नीचीं योनियों में जाते-आते रहते हैं। अब प्रश्न यह होता है कि व्यापक आत्मा का एक शरीर से दूसरे शरीर में जाना, अकर्ता का कर्म-करना और नित्य-वस्तु का जन्म-मरण कैसे संभव है? हे गोविन्द! जो लोग आत्मज्ञान से रहित हैं, वे तो इस विषय को ठीक-ठीक सोच भी नहीं सकते और इस विषय के विद्वान् संसार में प्रायः मिलते नहीं, क्योंकि सभी लोग आपकी माया की भूल-भुलैया में पड़े हुए हैं। इस लिये आप ही कृपा करके मुझे इसका रहस्य समझायें।

तात्पर्य अर्थ-

यहाँ पर भगवान् वासुदेव जी सद्गुरु हैं और उद्धवजी जिज्ञासु (मुमुक्षु) शिष्य है, तद्वत्-सभी जिज्ञासु शिष्यों का परम कर्तव्य है कि- अपने सद्गुरु के पास जाकर शरणागत होकर; सुविनम्र-भाव से प्रश्न करके-आत्मा क्या है और अनात्मतत्त्व क्या है? तथा आत्मा-अनात्मा का अनुभव कैसे होगा? और होगा तो किस रूप में होगा? इस बात को अच्छी प्रकार से (भली भाँति) समझकर निश्चय कर लेना चाहिये, क्योंकि यह विषय अत्यन्त गूढ़ एवं सूक्ष्म अति सूक्ष्म है, इसलिये विषयाकार, देहाध्यास, अनादि काल से मनके वृत्तियों को (हृदयग्रन्थि को) सदा के लिये नष्टध्वस्त करने के लिये आत्मतत्त्वज्ञानी, आत्मनिष्ठ (शास्त्र सम्मत) सद्गुरु की आवश्यकता होगी; तभी उस हृदय ग्रन्थि का उन्मूलन होगा। इस विषय में श्रुति का कहना है:- **''भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।।''** (मु. 2.2.8), **''मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय। तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति।।''** (मु. 2.2.7) उस परापर (समस्त कार्य-कारणरूप) ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार हो जाने पर इस जीवात्मा की आत्मानात्माध्यास रूप हृदय की ग्रन्थि नष्ट हो जाती है। ज्ञेय पदार्थविषयक सम्पूर्ण सन्देहों का निवारण (बाध) हो जाता है और उस आत्मतत्त्वज्ञानी के सभी कर्म क्षीण हो जाते हैं। लेकिन अज्ञानी के लिये वह-मनोमय तथा प्राणमय विशिष्ट सूक्ष्मशरीर को ले जाने वाला है। यहाँ पर पुरुष का अभिप्राय होगा- 'जीवात्मा' (सर्वात्म चैतन्य सत्ता-युक्त सूक्ष्मशरीर को ही शास्त्रों में यत्र तत्र सर्वत्र 'जीवात्मा' के लिये प्रयोग का संकेत मिलता है।) किन्तु मनोमय, विज्ञानमय, प्राणमयादि से युक्त सूक्ष्म शरीर को पुनर्जन्म के लिये (पुनः स्थूल शरीर-प्राप्ति कराने में निमित्त) मानना होगा-कर्मबीजवासना (प्रारब्ध कर्म) को, क्योंकि सूक्ष्मशरीर कर्मबीजवासना का आश्रय है और कर्मफल-भोग को भोगनेवाला-भोक्ता भी है, अतः स्थूलशरीर; केवल-मात्र भोग कराने का साधन है। **''तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य! प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किंचेह**

करोत्ययम्।।'' (बृ. 4.4.6) एक स्थूल देह से दूसरे स्थूलदेह में ले जाने वाला पुरुष हृदय में रहकर अन्नमयशरीर में स्थित है। उसका अनुभव हो जाने पर ही तत्त्वज्ञानी पुरुष उस तत्त्व का सम्यक् साक्षात्कार कर लेते हैं। जो कि सम्पूर्ण अनर्थ-दुःखादि से रहित आनन्द-स्वरूप अमृत-ब्रह्मतत्त्व प्रकाशित हो रहा है।

चैतन्यात्मा के विषय में नाना मत (विचार) है, (मतभेद) हैः- द्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, केवलाद्वैतवाद, अद्वैतवाद इत्यादि नाना पुष्प रूपी वाद में आत्मा पिरोया हुआ है, यथाः- सूत में मणिरत्न या फूल पिरोया हो। सर्वव्यापक एवं सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने से यह आत्मा-अनिर्देश्य, अचिन्त्य, अव्यवहार्य है, अतः अनिर्वचनीय है, **''यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह''** (तै-2.4) श्रुति कहती है, ऐसी स्थिति में बड़े-बड़े विद्वानों को भी समोह हो जाता है। उषस्त चाक्रायण जैसे विद्वान् को कहना पड़ाः- **''य आत्मा सर्वान्तरस्तं में व्याचक्ष्वेत्येष त आत्मा सर्वान्तरः कतमो याज्ञवल्क्य''** (बृ. 3.4.2) इसी प्रकार इसी उपनिषद् में जनकने भी कहा- **''किं ज्योतिरयं पुरुष इति''** (बृ-3.3.2) यह प्रसंग ज्योतिर्ब्राह्मण का है। कठोपनिषद् में आया हैः- **''येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके''** (कठ-1.1.20) ऐसे ही देवराज इन्द्र के विषयों में आया है। उस इस आत्मा को भली-भाँति समझने के लिये देवराज इन्द्र को (101) वर्ष लगा, वह भी कठिन तपपूर्वक कालक्षपण से हुआ, कालक्षपण से जान लिया।

48- मनः कर्ममयं नृणामिन्द्रियैः पञ्चभिर्युतम्।
लोकाल्लोकं प्रयात्यन्य आत्मा तदनुवर्तते।। 11.22.36।।

49- ध्यायन् मनोऽनुविषयान् दृष्टान् वानुश्रुतानाथ।
उद्यत् सीदत् कर्मतन्त्रं स्मृतिस्तदनु शाम्यति'' ।।11.22.37।।

हे प्रिय उद्धव! मनुष्यों का मन; कर्म-संस्कारों का पुञ्ज है। उन संस्कारों के अनुसार भोग प्राप्त करने के लिये उसके साथ पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ भी लगी हुई हैं, उसी का नाम है लिङ्गशरीर; वही कर्मों के अनुसार एक शरीर से दूसरे शरीर में, एक लोक से दूसरे लोक में आता जाता है। आत्मा इस लिङ्ग शरीर से सर्वथा पृथक् है। उसका आना-जाना नहीं होता; परन्तु जब वह अपने को लिङ्गशरीर मान लेता है, उसी में अहङ्कार कर लेता है; तब उसे भी आना-जाना प्रतीत-सा होने लगता है। मन कर्मों के अधीन है। वह देखे हुए या सुने हुए विषयों का चिन्तन करने लगता है और क्षण-भर में ही उनमें तदाकार हो जाता है तथा उन्हीं पूर्वचिन्तित विषयों में लीन हो जाता है। धीरे-धीरे उसकी स्मृति-पूर्वापरका अनुसन्धान भी नष्ट हो जाता है।

तात्पर्य अर्थ-

अपना किया हुआ-शुभाशुभ कर्मों का सुख-दुःखादिरूप फल भोगने के लिये स्थूलकार्य शरीर की प्राप्ति का नाम है जन्म और फल भोग अनन्तर स्थूल शरीर का विघटन ही मृत्यु है। अर्थात्- आकाशादि सूक्ष्म भूतों का परस्पर आपस में मिलन (संयोग) रूप स्थूला का नाम है- स्थूलशरीर का जन्म और इनके (सूक्ष्म भूतों) के पुनः वियोग का नाम है- मृत्यु। ''**नभोनभस्वद्दहनाम्बुभूमयः, सूक्ष्माणि भूतानि भवन्ति तानि परस्परांशैर्मिलितानि भूत्वा, स्थूलानि च स्थूलशरीरहेतवः।।**'' (वि.चू.75) अथवा-पुनर्जन्म का आरम्भक-फलाभिमुखी कर्म संस्कारों का बीजवासना और भूतसूक्ष्मों का संगठन होना जन्म है तथा इन दोनों का विघटन ही मृत्यु है इन संयोग एवं वियोग में निमित्त है- सत्त्वादि गुण और भिन्न-भिन्न योनियों में गमनागमन-क्रिया कराने में निमित्त है; प्राणवायु (जो पञ्च विधरूपों में विभक्त हैं तथा आत्मसत्ता से कर्तृत्व-भोतृत्व में निमित्त है- 17 तत्वों का समूह लिङ्गदेह। जैसाकि-गीता में आया है- ''**पुरुषः प्रकृतिस्थो ही भङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्। कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**'' (गी. 13. 21) प्रकृति में स्थित पुरुष (जीव) ही प्रकृतिजन्य गुणों का (विषयों) का भोक्ता बनता है और गुणों का (सत्त्वादि) का संग (संयोग) ही जीवात्मा का ऊँची-नीची योनियों में पुनः-पुनः जन्म लेने का कारण है।

50- विषयाभिनिवेशेन नात्मानं यत् स्मरेत् पुनः।
जन्तोर्वै कस्यचिद्धेतोर्मृत्युरत्यन्तविस्मृतिः।। 11.22.38।।

51- जन्म त्वात्मतया पुंसः सर्वभावेन भूरिद।
विषयस्वीकृतिं प्राहुर्यथा स्वप्नमनोरथः।। 11.22.39।।

उन देवादि शरीरों में इसका इतना अभिनिवेश, इतनी तल्लीनता हो जाती है कि जीव को अपने पूर्व शरीर का स्मरण भी नहीं रहता। किसी भी प्रकार से शरीर को सर्वथा भूल जाना ही मृत्यु है। हे उदार-उद्धव! जब यह जीव किसी भी शरीर को अभेद-भाव से 'मैं' के रूप में स्वीकार कर लेता है, तब उसे ही जन्म कहते हैं। ठीक वैसे ही; जैसे-स्वप्न कालीन और मनोरथ कालीन शरीर में अभिमान करना ही; स्वप्न और मनोरथ कहा जाता है।

तात्पर्य अर्थः-

यह क्रियाशील-जगत् (प्रकृति) का स्वभाव है-उत्पत्ति और विनाश, उसमें कारण (निमित्त) है-सत्त्वादिगुण और गुण ही स्वभाव है प्रकृतिका अर्थात्- गुण या स्वभाव से भिन्न प्रकृति नहीं है, इसी से सतत् (निरन्तर) उत्पत्ति-विनाश की श्रृङ्खला अनवरतरूप से अनादिकाल से चली आ रही है, जल प्रवाहवत् एवं दीपज्योतिवत्। यह गूढ़ रहस्य

सामान्य लोगों के समझमें नहीं आ रहा है कि हमारी मृत्यु-क्षण-क्षण; प्रतिक्षण हो रही है बल्कि उनको आश्चर्य होता है कि-मेरी मृत्यु तो अभीतक हुई नहीं है, यदि मृत्यु हुई होती तो 'मैं' देखता, सुनता, बोलता कैसे ? मैंने तो अपनी मृत्यु कभी देखी नहीं; जब से मेरा जन्म हुआ है; तबसे, 'मैं' वही का वही हूँ और मेरा जिन-जिन प्राणी पदार्थों से सम्बन्ध है; वह भी यथावत् बना हुआ है, अर्थात्- उनका भी विनाश मैंने देखा नहीं। अरे भाई ! तुम्हारे पास देखने के लिये वह आँख नहीं है; जिससे तुम देख सको, तो भला कैसे देख पाओगे, जिनके पास वह-प्रज्ञा रूपी चक्षु है; उनके तो प्रतिक्षण ही उत्पत्ति विनाश की क्रीड़ा-लीलारूप क्रिया (व्यवहार) देखने में आ रही है। उनको इस विषय में किञ्चिन्मात्र भी संशय नहीं है।

जन्म तथा मृत्यु की परिभाषा है:- कारणद्वय का संयोग, कारण द्वय है:- निमित्त-कारण और दूसरा उपादान-कारण, इन दोनों का संयोग जन्म है तथा इन दोनों का विच्छेद वियोग होना ही मृत्यु है यहाँ पर निमित्तकारण है आकाशवत् सर्वव्यापक, सर्वज्ञ-सर्वान्तरात्मा-अन्तर्यामी, की सत्तारूप-प्रतिविम्ब और अनुकूल वातावरण है-उपादान कारण। (अनुकूल वातावरण कहने का मेरा अभिप्राय है- वर्तमान प्रारब्ध (फलाभिमुखी) कर्मवासना बीज का आगमन जैसे दिन के पीछे रात्रि का अंधेरा का आगमन।) गीता अध्याय 8.18 में कहा है भगवान्:- "**अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसञ्ज्ञके।।**" भावार्थ:- प्रजापति की निद्रावस्था "**प्रजायाः पतिः स प्रजापतिः**" अर्थात्- प्रजा का जो सृजन, पालन आदि करने वाला हो वह प्रजापति है। उसकी निद्रावस्था को अव्यक्त कहा जाता है। (अव्यक्त शब्द से प्रकृति (प्रधान), जैसा कि गीता अ.2 में आया है- "**अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत, अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना।।**" महत्तत्त्व को (बुद्धि) को, सूक्ष्मशरीर को, "**बुद्धेरिवाव्यक्तमुदाहरन्ति।।**" (दध.13.60), "**महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।।**" (क.2.3) हिरण्यगर्भ, ईश्वर, और आत्मा (ब्रह्म) आदि को जाना जाता है। उस अव्यक्त से स्थावर-जंगमादि सभी प्राणि-पदार्थों की उत्पत्ति होती है (व्यक्त) होता है। और उसी अव्यक्त में सम्पूर्ण चराचर जगत् विलीन भी हो जाते हैं। उस अव्यक्त में- जीव, उनके अज्ञान और अज्ञान के कारण (हेतु) किये हुए-शुभाशुभ कर्मों की बीज-वासना भी पहले से विद्यमान ही होती हैं। जीवों के स्थूलशरीर एवं भोगों की रचना कर्मानुसार होती हैं तथा वर्तमान देहका अवसान (अन्त) और नवीन देह की प्राप्ति भी कर्मबीजवासना (प्रारब्ध) अनुसार ही पूर्व से निश्चित है। बृहदारण्यकोपनिषद् (अ.4.4.3) में आया है, पुनर्जन्म के विषय में:- "**यद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसहँरत्येवमेवायमात्मेदँ**

शरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसँहरति'' भावार्थः- जैसे घास पर चलने वाले (तृण जलूका) जोंक नामक कीड़ा एक तृण के अन्तिम भाग पर पहुँचकर दूसरे तृणरूप आश्रय को पकड़कर अपने शरीर को सिकोड़-लेता है, वैसे ही यह जीवात्मा (कर्म संस्कारों का आश्रय भूत सूक्ष्म शरीर) इस वर्तमान शरीर को अचेतन करके दूसरे शरीर रूप आश्रय का आधार लेकर अपना वर्तमान इस शरीर का उपसंहार करता (छोड़ देता) है, अर्थात् जिस शरीर का आधार लिया उसी शरीर में आत्म-भाव (अपनापन) करने लगता है। यही देहान्तर प्राप्ति की विधि है। इस श्रुति का भाव है पूर्वशरीर की मृत्यु और पुनर्भोगायतन-नवीन शरीर की प्राप्ति। **''स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा। इदं सर्वमसृजत। यदिदं किंच। तत्सृष्ट्वा। तदेवानुप्राविशत्''** (तै.2.6) भावार्थः- स= उस परमेश्वर ने विचाररूप तप किया और तप करने के बाद ही यह जो कुछ जगत् दृश्यमान है; इन सबकी रचना की, तत्पश्चात् वह परमेश्वर जीवरूप से प्रविष्ट हो गया। जो ऐश्वर्यवान् हो उसे शास्त्रों ने ईश्वर नाम से सम्बोधित किया हैं। यह ईश्वर-अधिदेव और अध्यात्मरूपों में भी प्रायः जाना जाता है, इन दोनों में से **'अधिभूत'** का अर्थ तो हम कर चुके हैं; अब आगे **'अध्यात्म'** के अर्थ पर विचार करते हैं। स= (वह सूक्ष्मशरीर ने) अपने आश्रयरूप पूर्वके स्थूल देह को छोड़ने के बाद तप किया, अर्थात् फलाभिमुखी-कर्म सँस्कारानुसार (उस समय वे सर्वप्रथम आकाश को प्राप्त होते हैं, आकाश से वायु को, फिर वे धूम होते हैं और धूम होकर पुनः बादल रूप हो जाते हैं। वही बादल-मेघ होकर बरसता है और उस जलविन्दु के साथ वह सूक्ष्मात्मा (जीव) पृथ्वी पर आकर-धान, जौ, औषधि, वनस्पति, तिल और उड़दादि होकर उत्पन्न होते है। पश्चात् आगे जाता है; वह निश्चय ही उसके लिये अत्यन्त कष्टप्रद होता है। जो प्राणी उस अन्न को खाता है और जो वीर्य सेचन करता है; तद्रूप ही हो जाता है।) यह उस जीवात्मा का (सूक्ष्मदेह) का कठिन से कठिन तप है। यह प्रसंग छा. उ. अ. 5.10.5.6) में आया है- **''तस्मिन्यावत्संपातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाभ्रं भवति। अभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति त इह व्रीहिर्वा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाष इति जायन्तेऽतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिंचति तद्भूय एव भवति।।''** (छा.उ. 5.10.5/6) तपके पश्चात् कर्मानुसार शरीर की रचना की और मैं-मेरा की भावना करके तादात्म्यता को प्राप्त करता है।

52- स्वप्नं मनोरथं चेत्थं प्राक्तनं न स्मरत्यसौ।

तत्र पूर्वमिवात्मानमपूर्वं चानुपश्यति।। 11.22.40।।

यह वर्तमान देह में जीव जैसे पूर्व देहका स्मरण नहीं करता, वैसे ही स्वप्न या मनोरथ में स्थित जीव भी पहले के स्वप्न और वर्तमान को स्मरण नहीं करता, प्रत्युत वर्तमान स्वप्न और मनोरथ में पूर्व सिद्ध होने पर भी अपने को नवीन-सा ही समझता है।

तात्पर्य अर्थ-

जाग्रत अवस्था में स्थूल इन्द्रियों का स्थूल प्राणी पदार्थों के साथ व्यवहार होता है और स्वप्न अवस्था में देवतारूप (सूर्य, इन्द्र) आदि देवताओं द्वारा प्राणी-पदार्थों के केवलमात्र वासनामय-संस्कारों के साथ व्यवहार होता है। इन व्यवहारों में आत्मा का (कूटस्थ आत्मा) का; केवल सत्ता सबन्ध मात्र है, व्यवहाररूप क्रिया का संबन्ध नहीं, क्योंकि-वह निष्क्रिय, निरवयव, निराकार एवं निर्गुण है। "**मायाख्या कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ। यथेच्छं पिबतां द्वैतं तत्त्वं त्वद्वैतमेव हि।।**" (पं-6.236), "**स वा एष एतस्मिन्संप्रसादे रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याऽऽद्रवति बुद्धान्तायैव स यत्तत्र किंचित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुषः।।**" (बृ.उ. 4.3.16) अर्थात् वह यह स्वयं ज्योतिस्वरूप आत्मा असङ्ग-निर्लिप्त होते हुए भी स्वप्नकाल में या जाग्रत में लिप्तवान सा प्रतीत होता है, यथा-जलपूर्णघट स्थित सूर्य प्रतिविम्ब जल के हिलने पर हिलता हुआ सा और जल के मटमैला होने पर मटमैला-सा प्रतीत होता है। तद्वत् शुद्ध-बुद्ध, निर्विकार, निष्क्रिय सर्व आत्मा भी कर्मबीजवासनामय-सूक्ष्मशरीर के संयोग से प्रतीतिका विषय बन जाता है, सूक्ष्मशरीरगत (स्थित) आत्मा सुखी-दुःखी, क्षुधा, पिपासा, जन्म, मृत्यु इत्यादिवाला देखने में आ रहा है। वास्तव में यह सब लिङ्गदेह का धर्म है। इस असत्य-जगत् को (प्रपंच को) सत्य की भावना करके इन्द्रियों के द्वारा नानाविध व्यवहार से उत्पन्न संस्कारों का ही पुनः पुनः स्वप्न में जगत का अनुभव करता है। और पुनः पुनः नवीन कर्म करता रहता है। यही आत्मा का अनादि बन्धन है, यह बन्धन तब तक रहेगा, जब तक देहाध्यास की अज्ञानता बनी रहेगी। उस देहाध्यासरूप अज्ञानता के सर्वथा विनाश का एक ही उपाय है, वह है वेदान्तज्ञान द्वारा स्वस्वरूप ज्ञान और उस ज्ञान में सदा-सर्वदा बुद्धिवृत्ति स्थित रहे। "**चिदात्मनि सदानन्दे देहारूढामहंधियम्। निवेश्य लिङ्गमुत्सृज्य केवलो भव सर्वदा।।**" (वि.चू. 29.1), "**यत्रैष जगदाभासो दर्पणान्तः पुरं यथा। तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा कृतकृत्यो भविष्यसि।।**" (वि.चू. 292)।

देह में व्याप्त हुई अहंबुद्धि को नित्यानन्दस्वरूप चिदात्मा में स्थित करके सूक्ष्मशरीर के अभिमानको छोड़कर सदा अद्वितीय रूप से स्थित रहो। यह चराचर जगत् जिस चैतन्यात्मा में प्रतिबिम्बित हो रहा है; वह उसी प्रकार है- जैसे दर्पण में नगर-गाँवादि के छाया की प्रतिति, वह ब्रह्म ही मैं हूँ, ऐसा ज्ञात हो जाने पर वह कृत कृत्य हो जायेगा।

53- इन्द्रियायनसृष्ट्येदं त्रैविध्यं भाति वस्तुनि।
बहिरन्तर्भिदाहेतुर्जनोऽसज्जनकृद् यथा। 11.22.41।।

इन्द्रियों के आश्रय मन या शरीर की सृष्टि से आत्मवस्तु में यह उत्तम, मध्यम और अधम (कनिष्ठ) की त्रिविधता भासती है। उसमें अभिमान करने से ही बाह्य और आभ्यन्तर भेदों का हेतु मालूम पड़ता है, जैसे दुष्ट पुत्र को उत्पन्न करने वाला पिता; पुत्र के शत्रु-मित्र आदि के लिये भेद का हेतु हो जाता है।

तात्पर्य अर्थ-

कुछ लोगों के मन में यह संशय है कि जो एक और व्यापक है; ऐसे आत्मा (ब्रह्म) में उत्तम, मध्यम और अधमता (कनिष्टता), अथवा-सुखी-दु:खी, धनी-निर्धनी ज्ञानी-अज्ञानी, कृमी-कीट, पतङ्ग और पशु-पक्षी, जन्म-मृत्यु आदि की व्यवस्था कैसी सम्भव होगी ? उस संशय ग्रस्त व्यक्तियों में मैं जानना चाहूँगा कि एक ही मिट्टी, एक ही कपास, एक ही सोना (स्वर्ण), एक ही व्यक्ति, एक ही-बीज इत्यादि में; उत्तम; मध्यम और अधमतादि नाना भेद, नाना नाम-रूप, नाना व्यवहारों में सम्पादित होने वाली वस्तुएँ रहती है। इसकी क्या समाधान है ?

इसी प्रकार एक और सर्व व्यापक होते हुये भी इह आत्मा-में शरीर-इन्द्रियाँ और कर्मसंस्कार रूप बीजवासनाओं आदि उपाधियों के भेद से उत्तम, मध्यम और अधमतादि की व्यवस्था क्यों नहीं सम्भव है। वस्तुतत्त्व तो यह है कि एकमात्र अज्ञानता रूपी ग्रह से ग्रसित है जिसकी बुद्धि उसी को नानात्त्व की, उत्तम-मध्यम-अधमादि की प्रतीति भ्रान्ति से होती है, उन्हीं लोगों को नानात्त्व की शङ्का होती है। ऐसे शङ्कालुओं के लिये श्रुति कहती है:- "**मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति**", "**मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन।।**" (क.उ. 2.1.10/11) अर्थात्- जो इस (देह-इन्द्रिय संघातरूप लोक) में भास रहा है; वही ब्रह्मात्मा अन्यत्र भी विज्ञानघनरूप है, तथा जो अन्यत्र है वही इस संघात में है। (ऐसा होने पर भी) जो मनुष्य इस तत्त्व में नानात्व देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है, अर्थात् बारबार जन्म-मृत्यु को प्राप्त होता है। मन से ही यह (एकरस ब्रह्म) प्राप्त करने योग्य है, इस ब्रह्म तत्व में नाना अणुमात्र कुछ भी नहीं।

54- नित्यदा ह्यङ्ग भूतानि भवन्ति न भवन्ति च।
कालेनालक्ष्यवेगेन सूक्ष्मत्वात्तन्नदृश्यते।। 11.22.42।।

55- यथार्चिषां स्रोतसां च फलानां वा वनस्पतेः।
तथैव सर्वभूतानां वयोऽवस्थादायः कृताः।। 11.22.43।।

हे प्यारे उद्धव ! काल की गति सूक्ष्म अति सूक्ष्म है, इसलिये उसे साधारणतः देखा नहीं जा सकता। अति सूक्ष्म होने के कारण ही प्रतिक्षण होने वाले जन्म-मरण देखने में

नहीं आते अर्थात् साधारणत: बुद्धि का विषय नहीं बन पाते। जैसे-ज्योति, प्रदीप, या नदियों का प्रवाह (धारा), सूर्यरश्मि की गति इत्यादि काल के प्रभाव से प्राय: दिखाई नहीं पड़ते, अथवा-वृक्षों के फलों की विशेष विशेष अवस्थाएँ बदलती रहती हैं, वैसे ही समस्त प्राणियों के शरीर की आयु, अवस्था आदि भी बदलती रहती हैं।

तात्पर्य अर्थ-

सम्पूर्ण विश्व भूत-भौतिकमय हैं और भूत-भौतिक होने के कारण पूर्ण-रूप से जन्म-मृत्यु से ग्रसित हैं और इस लिये प्रतिक्षण मृत्यु हो रही है तथा प्रतिक्षण जन्म भी हो रहा है, किन्तु लोगों की दृष्टि में प्राय: यह रहस्य अगम्य एवं अविज्ञेय हैं, इस रहस्य को सूक्ष्म (प्रखर) बुद्धिवाला मनुष्य ही समझने में सक्षम हो सकता हैं, क्योंकि यह प्रस्तुत विषय नेत्रादि बाह्येन्द्रियों का विषय नहीं है। तर्क एवं अनुमान का विषय है, अथवा-वैज्ञानिकों द्वारा अनुसंधान के माध्यम से निर्मित यन्त्रों का विषय है। भगवान्‌बुद्ध को लगा कि यह संसार मनुष्यों के बुद्धि को भ्रमित कर रहा है, इस भ्रम का छेदन करना मेरा परम कर्तव्य बनता है, अत: **''सर्वं स्वलक्षणम्-स्वलक्षणम् सर्वं क्षणिकं-क्षणिकम् सर्वं दु:ख-दु:खम् सर्वं शून्यं-शून्यम्'', ''अभिज्ञाश्छेदपातानां क्रियन्ते नन्दनद्रुमा:''** तर्क एक गवेषणा है, प्रबलतर विचार है। यथा कठवल्ली में नचिकेता कहते हैं: **''येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीय:''**। और आगे कहा:- **यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत् योऽयं वरो गुढमनुप्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते''** (क. 1.1.20/29) अर्थात्- मृत मनुष्य के विषय में जो यह संशय होता है,कि- शरीर के साथ जीवात्मा भी मर जाता है; या जीवित रहता है? आपसे शिक्षित हुआ 'मैं' इसे जानूँ बस यही वरों में ही मेरा तीसरा वर है। हे मृत्यो! जिसके सम्बन्ध में ऐसा सन्देह करते हैं तथा महान् परलोक के विषय में जो निश्चित विज्ञान है। (जाने योग्य) है; वह हमें बतलावें। यह जो अत्यन्त गहन और दुर्विवेचनीय को प्राप्त (मेरा) वर है, इससे भिन्न और कोई वर नचिकेता नहीं माँगना चाहता। **''याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदं सर्वं मृत्योरन्नं का स्वित्सा देवता यस्य मृत्युरन्नमिति''** (बृ.उ. 3.2.10) हे याज्ञवल्क्य! (ऐसा आर्तभाग ने) कहा:- यह जो कुछ भी व्यक्त-अव्यक्तरूप जगत् है; वह सब मृत्यु का अन्न है। परन्तु जिसका अन्न मृत्यु भी है, ऐसा देवता कौन है? इसका नाम है- गवेषणा, तर्क-अनुसंधान, किसी प्राणि-पदार्थों की अर्थ प्राप्ति की तीव्रगति-तीव्रजिज्ञासा-पिपासा। वैज्ञानिकों का भी यह मानना है कि कार्य कारणमय विश्व (जगत्), अनन्त ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीवाणु सहित ब्रह्मा पर्यन्त के शरीर एवं चराचर अनन्त ब्रह्माण्ड के प्राणि पदार्थों से जितने अंश में परमाणु

(Electrons) आदि बाहर निर्गमण होते हैं; उतने ही अंश में लगभग प्रवेश भी होते रहते हैं। यथा-जल प्रवाह। इसी को हमारे शास्त्रीय भाषा में **"जायतेऽस्ति वर्धते विपरिणमते"** आदि षड्भाव विकारों के नाम से जाना जाता है। किन्तु आत्मा में किञ्चिन्मात्र भी परिवर्तन नहीं होता **"प्रशान्तमाद्यन्तविहीनमक्रियं, निरन्तरानन्दरसस्वरूपम्"** (वि. चू. 239), **"अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।"** (गी.2.25)।

56- मा स्वस्य कर्मबीजेन जायते सोऽप्ययं पुमान्।
म्रियते वामरो भ्रान्त्या यथाग्निर्दारुसंयुतः।। 11.22.45।।

यद्यपि वह भ्रान्तपुरुष भी अपने कर्मों के बीजद्वारा न पैदा होता है और न तो मरता ही है; वह भी अजन्मा और अमर है, फिर भी भ्रान्ति से वह उत्पन्न होता सा है और मरता सा भी है, जैसे कि काष्ठ से युक्त अग्नि पैदा होती सी है और नष्ट भी होती-सी दिखायी पड़ती है।

तात्पर्य अर्थ-

आत्मा की जन्म-मृत्यु केवलमात्र भ्रान्ति से है, न कि वास्तविक, वस्तुतथ्य तो यह है कि स्थूल-शरीर को स्वस्वरूप मान लेने से उसके जन्ममृत्यु को भी अपना मानना स्वाभाविक है, यही चैतन्यात्मा का जन्म-मृत्यु है। यथा-रक्तवर्ण का फूल के संयोग से शुद्ध-स्फटिकमणि रक्तवर्णमयी दिखायी देती है, जलपूर्ण घटगत सूर्यप्रतिबिम्ब, जल के हिलने से (तरंग होने से) हिलता-जैसा दिखाई पड़ता हैं। **"न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।"** (गी.2.20) शरीर तीन हैः- स्थूल, सूक्ष्म और कारण (क) स्थूल शरीर नित्य प्रतिक्षण-जन्म-मृत्युवाला है, और सूक्ष्म शरीर का आश्रय एवं भोगायतन (भोगनेका साधन) है।(ख) 17 तत्त्व के सूक्ष्म शरीर-जन्म-मृत्यु से रहित है और कर्मफलोंको सुख-दुःख को भोगने वाला है क्योंकि स्थूल शरीर को व्याप्त करके रहता है। इसकी मृत्यु केवल वेदान्तके (उपनिषद्) के आत्म-स्वरूप ज्ञान द्वारां ही होती है और तत्क्षण होती है, यह अकाट्य सत्य है; इसमें कोई संशय नहीं है। (ग) कारण शरीर-जिसे मूलाविद्या के नाम से जाना जाता है, सभी प्रकार के अविद्या एवं अज्ञानों का कारण तथा समस्त अनर्थों का बीजभूत-प्रपञ्च (जगत्) का कारण है, सांख्य दर्शन के प्रणेतृ (प्रणेता) के मतानुसार प्रधान या मूल-प्रकृति है। यह मूल-प्रकृति-अव्याकृत होने से अनिर्वचनीय है। भगवान् आद्यजगद्गुरु शंकराचार्य जी के मतानुसार यह प्रधान मायामात्र हैः- **"अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा। कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते।।"** (वि.चू. 110)।

जो अव्यक्त नामवाली त्रिगुणात्मिका अनादि अविद्या परमेश्वर की परा शक्ति है, वही माया है; जिससे यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है। बुद्धिमान् जन इसके कार्य से ही इसका अनुमान करते हैं। अतः- "**सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो, भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो। साङ्गाप्यनङ्गाप्युभयात्मिका नो, महाद्भुतानिर्वचनीयरूपा।।**" (वि.चू.111) इसलिये वह न सत् है, न असत् है और न(सदसत्) उभयरूप है,न भिन्न है, न अभिन्न है और न(भिन्नाभिन्न) उभयरूप है, न अंगसहित है, न अंगरहित है और न (सांगानंग) उभयरूप ही है, किन्तु अत्यन्त अद्भुत और अनिर्वचनीय रूपा (जो कहीं न जो सके) ऐसी है।

57- यथाम्भसा प्रचलता तरवोऽपि चला इव।
चक्षुषा भ्राम्यमाणेन दृश्यते भ्रमतीव भूः।। 11.22.53।।

58- यथा मनोरथधियो विषयानुभवो मृषा।
स्वप्नदृष्टाश्च दाशार्ह तथा संसार आत्मनः।।11.22.54।।

जैसे नदी- तालाब आदि के जल के हिलने या चंचल होने पर उसमें प्रतिबिम्बित तटके वृक्ष भी उसके साथ हिलते-डोलते से जान पड़ते हैं, जैसे घुमाये जानेवाले नेत्र के साथ-साथ पृथ्वी भी घूमती सी दिखायी देती है। जैसे मनके द्वारा सोचे गये तथा स्वप्न में देखे गये-भोग्य पदार्थ आदि सर्वथा अलीक ही होते हैं, वैसे ही दाशार्ह! आत्मा का विषयानुभवरूप संसार भी सर्वथा असत्य है। आत्मा तो नित्य, शुद्ध-बुद्ध, मुक्तस्वभाव ही है।

तात्पर्य-अर्थ

कर्ता-भोक्ता, सुख-दुःख, जन्म-मरण-इत्यादि सब के सब शरीर-इन्द्रियाँ, मन-बुद्धि आदि संघात में है न कि चैतन्यात्मा में। फिर भी आत्मसत्ता प्रतिक्षण होने के कारण आत्मा में ही अज्ञानवश आरोपित किया जाता है। यथा-लौह से, तेल से या जल से-जलगया मेरा पैर, हाथ इसका नाम है मिथ्यारोप, क्योंकि लौह आदि स्वभाव शीतल (ठण्ड) है फिर वह कैसे जलायेगा। वस्तु-तथ्य तो यह है- ऊष्ण-स्वभाव वाले अग्नि संयोग से लोहा या जल आदि के द्वारा जल जाते हैं, अर्थात् लोहा आदि माध्यम है जलाने में। वेदान्त निष्णात आत्मज्ञानियों का मानना हैं कि-यह मायामय दृश्यमान-चराचर जगत् स्वप्नवत् है, जपाकुसुमवत् एवं वंध्यापुत्रवत् है। एक-अद्वितीय आत्मा, सत्य, नित्य, शुद्ध-बुद्ध, मङ्गलस्वरूप है। "**स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो नहि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्जतेऽसितो न हि व्यथते।।**" (बृ.उ. 4.4.22) इत्यादि वाक्य से बतलाया गया वह यह आत्मा अग्राह्य होने से ग्रहण नहीं किया जा सकता, वह

अशीर्य है, अतः उसका नाश नहीं होता, वह असङ्ग है, अत एव वह कहीं संसक्त नहीं होता। वह शुद्ध-नित्य, निर्विकार होने से कभी भी किसी भी काल में दुःखों में लिपायमान नहीं होता। **''ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः''** (वेदान्तडिण्डिम:67)।

59- अनीह आत्मा मनसा समीहता, हिरण्मयो मत्सखा उद्विचष्टे।
मनः स्वलिङ्ग परिगृह्य कामान्, जुषन्निवोद्धो गुणसङ्गतोऽसौ।। 11.23.45।।

मन ही समस्त चेष्टाएँ करता है। उसके साथ रहने पर भी आत्मा निष्क्रिय ही है। वह ज्ञानशक्तिप्रधान है, वह जीव का सनातन सखा है और अपने अलुप्त ज्ञान से सब-कुछ देखता है, मनके द्वारा ही उसकी अभिव्यक्ति होती है। जब वह मनको स्वीकार करके उसके द्वारा विषयों का भोक्ता बन बैठता है, तब मनके साथ आसक्ति होने के कारण वह उससे बँध-सा जाता है।

तात्पर्य अर्थ-

चैतन्यात्मा को सभी दार्शनिकों ने अपने-अपने दर्शन में अथवा-प्रवचनों में निष्क्रिय, निर्विकार, निःसङ्ग और निर्गुण-निराकार आदि शब्दों से सम्बोधित किये हैं। (चार्वाक आचार्यों को छोड़कर) ऐसी स्थिति में निष्पाप आत्मा को कर्ता-भोक्ता मानकर बलात् दोषारोपण से कलङ्कित करना, महान् अन्याय ही नहि, अपितु घोरतम अपराध एवं आत्मघात भी है। अपने विवेक हीनता-जडता की परिचय देना है। आत्मा केवलमात्र सम्पूर्ण बाह्याभ्यन्तर इन्द्रियों का प्रकाशक एवं सत्ता प्रदाता है।

सूक्ष्मशरीर ही शुभाशुभ कर्मों का कर्ता एवं भोक्ता है; क्योंकि कर्मबीज-वासनाओं का आधारभूत (आश्रय) है। अतः जन्म-मृत्यु की परंपरा में निमित्त भी इसी को समझना चाहिये, तथा कर्मों के संस्कारनुसार-ऊँची-नीची-नाना योनियों की प्राप्ति के लिये गतियाँ भी लिङ्ग देह को ही होती है तथा कर्मों के अनुपात में ही शरीरों की प्राप्ति हो जाने पर कर्मफल (भोगों) का आस्वाद करने से भोक्तापने की सिद्धि होती है और यह प्रक्रिया जल-प्रवाहवत् अविच्छिन्नरूप से अनादि कालों से चली आ रही है। प्रस्तुत विषयपर सामवेदीय श्रुति में विस्पष्टरूप से वर्णन किया गया है और अन्य श्रुतियों में भी वर्णित है:- **''तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्त कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा। अथैतयोः पथोर्न कतरेण चन, तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयँ स्थानं तेनासौ लोको न संपूर्यते।''** (छा. 5.10.7/8) अर्थ- कर्मों के संस्कार युक्त जीवों में से जो शुभाचरण वाले होते हैं, वे शीघ्र ही उत्तम योनिको प्राप्त

होते हैं, अर्थात् वे मनुष्य योनि को प्राप्त करते हैं, मनुष्यों में भी ब्राह्मण-क्षत्रिययोनि को और शुभाचरण न्यून संस्कारवाले वैश्य एवं शूद्रयोनि को प्राप्त होते हैं और जो अशुभ आचरण वाले होते हैं; वे कुत्ते, सूकरादि-पशुयोनियों को प्राप्त करते हैं।

60- आसीज्ज्ञानमथो ह्यर्थ एकमेवाविकल्पितम्।
यदा विवेकनिपुणा आदौ कृतयुगेऽयुगे।। 11.24.2।।

61- तन्मायाफलरूपेण केवलं निर्विकल्पितम्।
वाङ्मनोऽगोचरं द्विधा समभवद् बृहत्।। 11.24.3।।

युगों से पूर्व; प्रलय काल में आदि सत्ययुग में और जब मनुष्य विवेकनिपुण होते हैं- तब इन सभी अवस्थाओं में यह सम्पूर्ण दृश्य और द्रष्टा, जगत् और जीव विकल्पशून्य, किसी प्रकार के भेदभाव से रहित केवल ब्रह्म ही होते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि ब्रह्म में किसी प्रकार का विकल्प नहीं है। वह केवल अद्वितीय सत्य हैं, मन और वाणी की उसमें गति नहीं है। वह ब्रह्म ही माया और उसके प्रतिबिम्बित जीव के रूप में दृश्य और द्रष्टा के रूप में दो भागों में विभक्त सा हो गया है।

तात्पर्य अर्थ-

जैसे-सुषुप्ति, समाधि, मूर्च्छादि में यह भेदयुक्त जगत् की शून्यता देखी जाती है, अनुभव में आता है। उस समय 'मैं' के रूप में केवल मात्र आत्मा ही शेष होता है। उसी प्रकार दृश्यमान जगत् से पूर्व भी एकमात्र परमात्मा ही था। इसीलिये कहा गया है कि वह-यह आत्मा मन, वाणी के पहुँच से रहित हैं। क्योंकि मन-वाणी की जो गति एवं शक्तिरूप मन्तृत्त्व-वक्तृत्व है; वह भी आत्मप्रसादेन है। जैसा कि तैत्तिरीय श्रुति में आया है:- "**यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्, न बिभेति कुतश्चनेति।।**" (तै. उप 2.9), "**नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।।**" (क. 2.3.12), "**यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्। यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्।।**" (गी.15.12), "**सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।।**" (छा.6.2.1), "**ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति।।**" (बृ. 1.4.10)।

62- तयोरेकतरो ह्यर्थः प्रकृतिः सोभयात्मिका।
ज्ञानं त्वन्यतमो भावः पुरुषः सोऽभिधीयते।। 11.24.4।।

उनमें से एक वस्तु को प्रकृति कहते हैं। उसी ने जगत् में कार्य और कारण का रूप धारण किया है। दूसरी वस्तु को; जो ज्ञान स्वरूप है, उसे पुरुष कहते हैं।

तात्पर्य अर्थ-

यह संसार या संसार की व्याख्या दो प्रकार की जाती है और यह शास्त्रीय परंपरा भी है, जिसे व्यास और समास के नामों से जाना जाता है। "**विव्यास वेदान्यस्मात्स तस्माद् व्यासः इति स्मृतः**" अथवा "**वि-विशेषेण आसो विस्तारो यस्य इति व्यास**" जिसलिये वेदों का विभाग पूर्वक विस्तार किया है इसलिये व्यास नाम से स्मृत है अथवा विशेष प्रकार की व्याख्या जिस कि की गयी हो; उसे व्यास कहना चाहिये। महर्षि व्यासजी का पूर्व नाम- कृष्णद्वैपायन है, इनकी माता-सत्यवती और पिता-महर्षि पराशर जी थे। कृष्णद्वैपायन जी ने सर्व प्रथम-वेदों के मन्त्रों को क्रमबद्ध करके वर्तमान रूप को दिया, (जिसे-ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद) आदि के नामों से प्रसिद्ध है। इतना ही नहीं, वेदों की व्याख्यारूप महाभारत, तथा '18' पुराणों की रचयिता होने के कारण बाद में वही (कृष्णद्वैपायन) ही व्यास के नाम से प्रसिद्ध हुए। व्यास यानि-विकास, विस्तार, फैलाव, विस्तृत व्याख्या आदि और इसके विपरीत स्वरूप को समास कहा जाता है, जैसा कि-बीजों की दो रूप प्रसिद्ध है:- (क) बीजरूप और (ख) वृक्षरूप। वृक्षरूप व्यास है, बीजरूप समास है। नाना नाम रूप संसार ही व्यास है और इन्द्रियों के माध्यम से उपभोग किये गये संस्कार का हृदयगत स्थित बीज-वासना ही समास है। "**एष धर्मस्य वो योनिः समासेन प्रकीर्तिताः**" (मनुस्मृतिः) इसी प्रकार बृहदारण्यकोपनिषद में कहा गया है:- "**त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेत्योमिति**" (3.9.1) देवताओं की (3306) महिमा की संख्या-विशेषण में कहा गया है, वस्तुतः तो देवताओं की संख्या (33) ही है। कहीं-कहीं (कोटि) शब्द का भी प्रयोग किया जाता है, जिसका अर्थ संख्या-करोड़ अर्थ में अथवा प्रकार अर्थ में भी किया जाता है। यहाँ पर कहने का मेरा अभिप्राय है; देवताओं का प्रकार (33) है, उत्तम, मध्यम और कनिष्ट अधिकार क्षेत्र (पदों) में विभक्त हैं। अब आगे समास-अर्थ में समझें:- "**कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति षडित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति त्रय इत्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति द्वावित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येत्यध्यर्ध इत्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येत्येक इत्योमिति।**" (बृ.उ. 3.9.1) अर्थात्- 3306 देवताओं की व्यास संख्या को समास (संकोच) किया 33 में और 33 को फिर संकोच किया गया शाकल्य के पूछने पर 'छः' ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा! पुनः शाकल्य के प्रश्न करने पर याज्ञवल्क्य ने उत्तर में कहा:- 'तीन' है। तत्पश्चात् 'दो' और दो के बाद- 'डेढ़' तथा पुनः प्रश्न किये जाने पर याज्ञवल्क्यने कहा 'एक'। "**कतमे ते त्रयस्त्रिंशदित्यष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्त एकत्रिंशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशाविति।** (बृ.उ. 3.9.2) अर्थात्- वसु-8,

रुद्र-11, आदित्य 12, ये (31) देवगण हैं और इन्द्र एवं प्रजापति इन दोनों के सहित (33) हो जाते हैं। अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य तथा द्युलोक ये 'छ:' देवगण हैं। 'तीन' लोक-(भूर्,भूव:, स्व:) भूर्लोक, अन्तरिक्षलोक, स्वर्ग (लोक)। 'दो'-अन्न और प्राण। 'डेढ़'- वायु (वायु को डेढ क्यों कहा गया ? ऐसा जिज्ञासा होने पर; समाधान है:- क्योंकि इसी में यह सब जगत् अधि=ऋद्धिको विकास को प्राप्त होता है, अत: यह वायु अध्यर्ध (डेढ) है। एक-'प्राण' वह प्राण ब्रह्मस्वरूप है, क्योंकि-स्थूलदेह की निष्चेष्टावस्था में भी प्राण की गति देखी जाती है और जीव के गमनागमन में मुख्य भूमिका रहती हैं, इसीलिये प्राण को ब्रह्म की संज्ञा दी गयी है। भगवान् कपिल के सांख्य मतानुसार समस्त ब्रह्माण्डरूपविश्व का पुरुष और प्रकृति ही समास है, उत्तर मीमाँसा आदि अनेकों शास्त्रों के रचयिता महर्षि व्यास जी के मतानुसार एक परब्रह्मपरमात्मा ही अनन्त नाम-रूप से तीनों लोक में दृश्यमान है। "**ईशावास्यमिदँ सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।।**" (ईशा.1), "**स तपस्तप्त्वा इदँ सर्वमसृजत। यदिदं किंच। तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।।**" (तै.उ.2.1), इत्यादि श्रुतियाँ भी एकमेवाद्वितीयम् परमात्मा की ही सिद्धि करती हैं। "**आत्मैवेदमग्र आसीत पुरुषविध:**" (बृ.उ.1.4.1), "**स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदँ सर्वं तत्सत्यँ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति।।**" (छा.उ. 6.8.7) वह यह जो जगत् के मूल कारण में अणुता बतलायी गयी है, एतद्रूप ही सम्पूर्ण जगत् है। वह सत्य है, वही आत्मा है और हे श्वेतकेतो! तू भी वही है। यह सब समास (संकोच) की व्याख्या है।

63- यस्तु यस्यादिरन्तश्च स वै मध्यं च तस्य सन्।
विकारो व्यवहारार्थो यथा तैजसपार्थिवा:।।11.24.17।।

64- यदुपादाय पूर्वस्तु भावो विकुरुतेऽपरम्।
आदिरन्तो यदा यस्य तत् सत्यमभिधीयते।। 11.24.18।।

जिसके आदि-अन्त में जो है, वही बीच में भी है और वही सत्य है। विकार तो केवल व्यवहार के लिये की हुई कल्पना मात्र है। जैसे कंगन-कुण्डल आदि सोने के विकार है और घड़े-सकोरे आदि मिट्टी के विकार है पहले सोना या मिट्टी ही थे; बाद में भी सोना या मिट्टी ही रहेगा। अत: बीच में भी वे सोना या मिट्टी ही है। पूर्ववर्ति कारण (महत्तत्त्व आदि) भी जिस अपने परम कारण प्रकृति में ही उपादान बनकर अपर (अहंकार आदि) कार्य-वर्ग की सृष्टि करते हैं, वह भी उनकी अपेक्षा परम सत्य हैं। तात्पर्य यह किं-जब जो जिस किसी भी कार्य के आदि और अन्त में विद्यमान रहता है, वही सत्य है। "**नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको**" (क.उ.2.2.13), "**श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचँ स उ प्राणस्य प्राणश्चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीरा:**

प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।'' (के.उ. 1.2) जो एक आत्मा-सत्य के -सत्य है, नित्यों के नित्य है, तथा चेतनों का भी चेतन है। श्रोत्रादि बाह्येन्द्रियाँ तथा मनादि चतुष्टय अन्तः-इन्द्रियाँ जिससे प्रेरित होकर अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त होते है; वहीं-अनन्त ब्रह्माण्ड की आत्मा है। (अर्थात् मन, वाणी, प्राण तथा श्रोत्रादि में श्रवण, मनन, प्राणनादि का सामर्थ्य जिससे है उसे जानकर) धीर पुरुष इस लोक से (इस प्रपञ्च मायामय जगत् से) सदा सर्वदा के लिये मुक्त हो जाते हैं। **''यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते। यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्। यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूँषि पश्यति। यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम्। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि''** (के. उ. 1.4-8) अर्थात्- जिससे-वाणी, मन, बुद्धि, चक्षु, श्रोत्रादि अपने-अपने अभिष्ट विषयों में प्रवेश करती है; उसी को तू ब्रह्म जान।

65- अन्ने प्रलीयते मर्त्यमन्नं धानासु लीयते।
धाना भूमौ प्रलीयन्ते भूमिर्गन्धे प्रलीयते।। 11.24.22।।

66- अप्सु प्रलीयते गन्ध आपश्च स्वगुणे रसे।
लीयते ज्योतिषि रसो ज्योती रूपे प्रलीयते।। 11.24.22।।

67- रूपं वायौ स च स्पर्शे लीयते सोऽपि चाम्बरे।
अम्बरं शब्दतन्मात्र इन्द्रियाणि स्वयोनिषु।। 11.24.24।।

68- योनिर्वैकारिके सौम्य लीयते मनसीश्वरे।
शब्दो भूतादिमप्येति भूतादिर्महति प्रभुः।। 11.24.25।।

69- स लीयते महान् स्वेषु गुणेषु गुणवत्तमः।
तेऽव्यक्ते संप्रलीयन्ते तत् काले लीयतेऽव्यये।। 11.24.26।।

70- कालो मायामये जीवे जीव आत्मनि मय्यजे।
आत्मा केवल आत्मस्थो विकल्पापायलक्षणः।। 11.24.27।।

लीन (एक-दूसरे में मिल जाना) **''यथा-नद्याः सागरे लीनः''** होने की प्रक्रिया यह है कि:- प्राणियों के शरीर-अन्न में, अन्न-बीज में, बीज भूमि में और भूमि-गन्धतन्मात्रा में लीन हो जाती है। गन्धतन्मात्रा-जल में, जल-अपने कारण रसतन्मात्रा में, रसतन्मात्रा-तेज में, तेज-रूपतन्मात्रा में, रूपतन्मात्रा-वायु में, वायु-स्पर्शतन्मात्रा में, स्पर्शतन्मात्रा आकाश में तथा आकाश शब्दतन्मात्रा में, शब्दतन्मात्रा पञ्चभूतों के कारण-तामस-अहङ्कार में लीन हो जाता है। इन्द्रियाँ अपने-अपने कारण देवताओं में और अन्ततः राजस-अहङ्कार में समा जाती हैं। सोम्य! राजस-अहङ्कार अपने नियन्ता सात्त्विक अहङ्काररूप मन में और संपूर्ण जगत् को मोहित करने में समर्थ त्रिविध अहङ्कार-महत्तत्त्व में लीन हो जाता

है। ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति विशिष्ट महत्तत्त्व अपने कारण गुणों में लीन हो जाता है। गुण अपने कारण-अव्यक्त प्रकृति में और प्रकृति अपने प्रेरक-अविनाशी काल में लीन हो जाती है। मायामय-काल-जीव में और जीव मुझ अजन्मा-आत्मा में लीन हो जाता है। आत्मा किसी में लीन नहीं होता, वह उपाधि रहित अपने-स्वरूप में ही स्थित रहता है। वह जगत् की सृष्टि और प्रलय का अधिष्ठान एवं अवधि है।

तात्पर्य अर्थ-

निर्बीज समाधि एवं असम्प्रज्ञात समाधि, वासनाशून्य समाधि में स्थित होने के लिये, अथवा **''सर्वं खल्विदं ब्रह्म''** (छा-3.14.1) रूप स्वस्वरूप में स्थित होने के लिये यह प्रकृति लय प्रक्रिया अत्युत्तम साधन है- मुमुक्षु साधकों के लिये। इस साधन को गम्भीरता पूर्वक विचार करने की अवश्यकता है। इस साधन का आरम्भ अन्नमयकोश-स्थूल शरीर से ही करना चाहिये; क्योंकि इसको 'मैं मेरा' मानकर समस्त अनर्थका कार्य होता है, अतः अनर्थों का मूल कारण भी यह स्थूल शरीर पाँच भौतिक होने से अन्त में अपने-अपने कारण में विलीन हो जाता है या हो जायेगा। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, और आकाश- ये पाँच भूत हैं। पृथ्वी गन्धगुण-वाली है, अर्थात् पृथ्वी अपने कारणरूप गन्ध तन्मात्रा में विलीन हो जाती हैं। अन्ततोगत्वा गन्धतन्मात्रा का कारण जल है, इस लिये गन्धतन्मात्रा को जल में विलीन कर देना चाहिये। इसी प्रकार जलादि महाभूतों को अपने-अपने कारणभूत तन्मात्राओं में विलय करें और इन्द्रियों को इन्द्रियों के देवताओं तथा प्राण, मन-बुद्धि आदि सभी कार्यों को क्रमशः उन-उनके कारणों में विलीन कर देने पर कार्य-कारण रहित निर्विकार अजन्मा-अविनाशी आत्मा ही शेष बच जाता है, वही आपका स्वरूप है, आपकी आत्मा है, स्व है। इन श्लोकों की टीका (व्याख्या) पूर्व टीकाकारों ने विस्तार पूर्वक व्याख्या करके स्पष्ट कर दिये हैं, इसलिये मैं पुनः विस्तार न करके समास में अपना भाव-व्यञ्जना व्यक्त किया है।

71- एवमन्वीक्षमाणस्य कथं वैकल्पिको भ्रमः।
मनसो हृदि तिष्ठेत व्योम्नीवार्कोदये तमः।। 11.24.28।।

72- एष सांख्यविधिः प्रोक्तः संशयग्रन्थिभेदनः।
प्रतिलोमानुलोमाभ्यां परावरदृशा मया।। 11.24.29।।

हे उद्धव जी! जो इस प्रकार विवेक दृष्टि से देखता है, उसके चित्त में यह प्रपञ्च का भ्रम हो नहीं सकता। यदि कदाचित् उसकी स्फूर्ति हो भी जाय; तो वह अधिक कालतक हृदयमें ठहर नहीं सकता, जैसे-सूर्योदय होने पर आकाश में अन्धकार ठहर नहीं सकता हे उद्धव जी! 'मैं' कार्य और कारण दोनों का ही साक्षी हूँ। मैंने तुम्हें सृष्टि से

प्रलय औ प्रलय से सृष्टितक की सांख्य विधि बतला दी। इससे सन्देह की ग्रन्थी कट जाती है और पुरुष अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है।

तात्पर्य अर्थ-

जगत् के प्रति नित्यत्त्व-सत्यत्त्व का भ्रम तभी तक बना रहेगा; जबतक-जिस किसी के मन में भेदस्वरूप प्रपञ्च का एवं कार्य-कारणरूप-सङ्कोच-विकास का यथार्थ (विवेक-पूर्वक) ज्ञान नहि हुआ है। अर्थात् जगत् के वास्तविक स्वरूप को जान लेने के बाद फिर इस मायामय जगत् के प्रति व्यामोह नष्ट हो जायेगा सदा-सर्वदा-के लिये और स्वस्वरूप का (स्वयंका) साक्षात्-अपरोक्ष अनुभव अनायास ही हो जायेगा तथा स्वस्वरूप के अनुभूति हो जाने पर विजातीय जगत् का पुनः स्मरण भी नहीं होगा। क्योंकि अन्तःकरण विशुद्ध हो जाने से वृत्तिशून्य हो जाता है। श्रुतियाँ कहती हैं: ''**भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।**'' (मु.उ. 2.2.8) ''**आत्मारामो भवति**'' (त्रि.म.ना-1.5), ''**आत्मरतिर्भवति, आत्मक्रीडो भवति**'' (छा-7.25.2), ''**सर्वात्मा भवति**'' (बृ-1.4.10), ''**ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नाऽपरः**'' (वेदान्तडिण्डिमः 67)।

73- आत्मैव तदिदं विश्वं सृज्यते सृजति प्रभुः।
त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः।।11.28.6।।

हे उद्धव जी! जो कुछ प्रत्यक्ष या परोक्ष वस्तु हैं, वह आत्मा ही है। वही सर्व-शक्तिमान् भी हैं। जो कुछ विश्व-सृष्टि प्रतीत हो रही है, इसका वह निमित्त-कारण तो है ही, उपादान-कारण भी है। अर्थात् वही विश्व बनता है और वही बनाता भी है, वही-रक्षक है और रक्षिता भी वही है। सर्वात्मा भगवान् ही इसका संहार करते हैं और जिसका संहार होता है वह भी वे ही हैं।

तात्पर्य अर्थ-

श्रुतियाँ कहती हैं:- ''**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**'' (छा-3.14.1), ''**ब्रह्मैव सर्वम्**'' (तेजोबिन्दूप.-6.31), ''**आत्मैव सर्वम्**'' (छा-7.25.2), ''**एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म**'' (छा-6.2.1) यह जो कुछ दिख रहा है, वह सबके-सब ब्रह्म ही है अथवा मन कल्पित है, वाग्विलास है। इस प्रपञ्च के ज्ञाता, द्रष्टा, श्रोता ही सत्य, नित्य, अविनाशी हैं, बुद्धिगत भ्रांति के कारण नानात्त्व की प्रतीति हो रही है, यथा-स्वप्र में कुछ न होने पर भी; नानात्त्व की प्रतीति है, इतना ही नहीं, अपितु सुखी-दुःखी भी होते हैं। जगजाने पर अपने को प्रपञ्चशून्य अकेले अनुभव करते हैं और साथ ही स्वप्न को मिथ्या भी समझते हैं। ''**स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमृतोऽभयो ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयँ हि वै ब्रह्म**

भवति य एवं वेद।।'' (बृ.उ. 4.4.25) वही यह अजन्मात्मा, महान् अजर, अमर, अमृत एवं अभय ब्रह्मरूप है। अभय ही ब्रह्म है। जो कोई उक्त आत्मा को अभय ब्रह्म जानता है, वह-अभय ब्रह्मरूप ही होता है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं। **''अथात आत्मादेश एवात्मैवाध- स्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदँ सर्वमिति। स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति।।''** (छा.उ. 7. 25.2) इत्यादि श्रुतियों का मत एवं आदेश है।

74- एतद् विद्वान् मदुदितं ज्ञानविज्ञाननैपुणम्।
न निन्दति न च स्तौति लोके चरति सूर्यवत्।।11.28.8।।

हे उद्धव जी! तुमसे मैंने ज्ञान और विज्ञान की उत्तम स्थिति का वर्णन किया है। जो मनुष्य मेरे इन वचनों का रहस्य जान लेता है, वह न तो किसी की प्रशंसा करते हैं और न निन्दा। वह जगत् में सूर्य के समान सम भाव में विचरता रहता है।

तात्पर्य अर्थ-

आध्यात्मिक दृष्टिकोण से ज्ञान-विज्ञान की उच्चतम स्थिति को विद्वानों ने सर्वात्मभाव का अपरोक्ष रूप से साक्षात्कार करके स्वस्वरूप में, स्वयं में सदा-सर्वदा के लिये अविस्थित हो जाना ही असम्प्रज्ञात समाधि, वासनाशून्य समाधि में स्थित को स्वीकारा है। जहाँपर द्रष्टा-दृश्य-दर्शन, ध्याता-ध्यान-ध्येय आदि त्रिपुटियों का सर्वथा अन्त हो जाता है। शेषरूप से निर्विशेष आत्मा ही रह जाता है। यथाः- सूर्य अनेकानेक विविध पुष्पों से सुसज्जित एवं सुगन्धित-वाटिका और गन्दी-नाली को विना पक्षपात के समभाव से प्रकाशित करता है। **''सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः।।''** (क.उ. 2.2.11) जैसे (अपने प्रकाश से लोकों का उपकार करता हुआ भी सूर्य सम्पूर्ण लोकों का नेत्र होकर) आध्यात्मिक (मानसिक, वाचिक एवं शारीरिक) आदि पापों के दोष से तथा अपवित्र पदार्थों के संसर्ग से होने वाले नेत्र सम्बन्धी बाह्य दोषों से लिप्त नहीं होता। वैसे ही सम्पूर्ण भूतों का अन्तरात्मा एक होते हुए भी (भ्रमजन्य) संसार के दुःखों से लिप्त नहीं होता, बल्कि असङ्ग ही रहता है। **''किंचित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुष इति।।''** (बृ.उ. 4.3.15), **''अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः। शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते।। यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते। सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते।।''** (गी. 13.31/32)।

75- नैवात्मनो न देहस्य संसृतिर्द्रष्टृदृश्ययोः।

अनात्मस्वदृशोरीश कस्य स्यादुपलभ्यते।। 11.28.10।।

76- आत्माव्ययोऽगुणः शुद्धः स्वयंज्योतिरनावृतः।

अग्निवद्दारुवदचिद्देहः कस्येह संसृतिः।।11.28.11।।

हे भगवन्! आत्मा है द्रष्टा, देह है दृश्य। आत्मा स्वयं प्रकाशक है और देह है जड़, ऐसी स्थिति में जन्म-मृत्यु रूप संसार न शरीर को हो सकता है और आत्मा को, परन्तु इसका होना भी उपलब्ध होता है। तब यह होता किसको है? आत्मा तो अविनाशी, प्राकृत-अप्राकृत गुणों से रहित, शुद्ध स्वयंप्रकाश और सभी प्रकार के आवरणों से रहित है; तथा शरीर विनाशी, सगुण, अशुद्ध, परतन्त्र, प्रकाश्य और आवृत्त है। आत्मा अग्नि के समान प्रकाशमान है, तो शरीर काष्ठ की तरह अचेतन है। फिर यह जन्म-मृत्युरूप संसार है किसे?

तात्पर्य अर्थ-

इतिहास से हमें यही शिक्षा मिलती है कि-मानव जीवन में कैसे अपने सद्गुरु-आचार्य से कैसी जिज्ञासा करके अपने या मानवमात्र के जीवनोपयोगी- कल्याणार्थ एवं आत्मा-परमात्मा, अनात्मा (संसार), बन्ध-मोक्ष, किसको है और कैसे है? जीवात्मा का बन्धन वास्तविक नहि है तो उस बन्ध से मुक्त होने के लिये क्या उपाय है?। अथवा:- जीवन में क्या-ग्रहणीय है और क्या त्याज्य है? तथा भागवत धर्म को अपनानेवाले साधकों का लोकाचार (बोल-चाल एवं उठने-बैठने, चलने-फिरने आदि) कैसा होना चाहिये? **''स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव। स्थितधीः कि प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्।।''** (गी. 2.54)।

77- यावद् देहेन्द्रियप्राणैरात्मनः सन्निकर्षम्।

संसारः फलवांस्तावदपदार्थोऽप्यविवेकिनः।। 11.28.12।।

78- अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते।

ध्यातो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा 11.28.13।।

79- यथा ह्यप्रतिबुद्धस्य प्रस्वापो बह्वनर्थभृत्।

स एव प्रतिबुद्धस्य न वै मोहाय कल्पते।। 11.28.14।।

वस्तुतः हे उद्धवजी! संसार का अस्तित्व नहीं है, तथापि जब तक देह-इन्द्रिय और प्राणों के साथ आत्मा के सम्बन्ध की भ्रान्ति है, तबतक अविवेकी पुरुष को वह सत्य-सा स्फुरित होता है। जैसे-स्वप्न में अनेकों विपत्तियाँ आती हैं, पर वास्तव में वे हैं नहीं फिर भी स्वप्न काल में उसका अस्तित्व नहीं मिटता, वैसे ही संसार के न होने पर भी

जो उसमें प्रतीत होनेवाले विषयों का चिन्तन करते रहते हैं, उनके जन्म-मृत्युरूप संसार की निवृत्ति नहीं होती। पहले उसे बड़ी-बड़ी विपत्तियों का सामना करना पड़ता है; परन्तु जब उसकी नींद टूट जाती है, वह जग जाता है, तब न तो स्वप्नकी विपत्तियाँ रहती हैं और न उनके कारण होने वाले मोह आदि विकार ही शेष रहता है। केवलमात्र निद्रा से पूर्व में जो था वासनामय जाग्रत का संसार वही पुनः देखने में आता है।

तात्पर्य अर्थ-

कर्मों का अनादि बीजवासनारूप संस्कार जब तक मनमें (अन्तःकरण में) बैठी रहती है, अर्थात्-ज्ञानाग्नि के द्वारा दग्ध न कर दिया जाता है, तबतक यह संसार का सत्यत्व-नित्यत्व की ग्रन्थि (भ्रान्ति) भी बनी रहती है और यह स्वाभाविक है। अतः मुमुक्षु साधक को चाहिये कि शास्त्र और आत्मनिष्ठ सद्गुरुके द्वारा प्रचण्ड-सूर्यरूप ज्ञानको अर्जित करके हृदयस्थित-अनादि बीजवासनारूप संस्कार को भस्मसात् कर देना चाहिये। **''यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन। ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मासात्कुरुते तथा।।''** (गी. 4.37), **''पुरुषार्थशून्यानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति।।''** (यो.सू. 4.34) त्रिगुणात्मक प्रकृति तभी तक पुरुष (जीवात्मा) को विषयों का भोग (सुख-दुःख) का अनुभव कराती रहती हैं जबतक स्वस्वरूपमें चितिशक्ति में प्रतिष्ठितता यानि अवस्थिति नहीं हो जाती। स्वस्वरूप में अवस्थित हो जाने के बाद- वह प्रकृति-पुरुषार्थ शून्य हो जाती है, अर्थात् जन्म-मरण रहित चितिशक्ति को किसी प्रकार के सुख-दुःख रूप भोगानुभव कराने में असमर्थ हो जाती है। क्योंकि जिन गुणों के माध्यम से अनुभव कराती थी वे प्रकृति में ही लीन हो जाते हैं (प्रतिप्रसव हो जाते हैं वे गुण), इसी का नाम है- कैवल्य (विदेह कैवल्य मुक्ति) **''अनेन ज्ञानमाप्नोति संसारार्णवनाशनम्। तस्मादेवं विदित्वैनं कैवल्यं फलमश्नुते कैवल्यं फलमश्नुत इति।।''** (कै.उ. 2.5) अर्थात् जो कोई साधक सम्पूर्ण संसार-सागर के नाशक-आत्मज्ञान को (शास्त्र एवं सद्गुरु के) माध्यम से अपरोक्ष रूप से प्राप्त (अनुभव) कर लेता है, वह अधिकारी पुरुष सदा-सर्वदा के लिये संसार के कारण भ्रान्ति से मुक्त हो जाता है। (विदेह कैवल्य प्राप्त हो जाता है, मोक्ष को प्राप्त हो जाता है।) भगवान् भाष्यकार का कहना है:- **''अनात्मवासनाजालैस्तिरोभूतात्मवासना। नित्यात्मनिष्ठया तेषां नाशे स्वयं स्फुटा भातिः।। यथा यथा प्रत्यगवस्थितं मनस्तथा तथा मुञ्चति बाह्यवासनाः। निःशेषमोक्षे सति वासनानामात्मानुभूतिः प्रतिबन्धशून्या।।''** (वि.चू.276/277) अनात्मवासनाओं के समूह से आत्मवासना छिप गयी है; इसलिये निरन्तर आत्मनिष्ठा में स्थित होने पर पूर्व वासना की (अनात्मवासना

की) निवृत्ति हो जाती है और निवृत हो जाने पर स्वस्वरूप स्पष्ट भासने लगता है, अनुभूति होने लगती है। मन जैसे-जैसे अन्तर्मुख होता जाता है, वैसे वैसे ही वह बाह्य वासनाओं को छोड़ता जाता है (छूटता जाता) है। जिस समय वासनाओं से पूर्णतया छुटकारा मिल जाता है, उस समय अविद्या आदि प्रतिबन्ध शून्य स्वयं के आत्मा का अनुभव होने लगता हैं।

80- शोकहर्षभयक्रोधलोभमोह स्पृहादयः।

अहंकारस्य दृश्यन्ते जन्ममृत्युश्च नात्मनः।। 11.28.15।।

81- देहेन्द्रियप्राणमनोऽभिमानो, जीवोऽन्तरात्मागुणकर्ममूर्तिः।

सूत्रं महानित्युरुधेवगीतः, संसार आधावति कालतन्त्रः।।11.28.16।।

हे उद्धवजी! अहङ्कार ही शोक, हर्ष, भय, क्रोध, लोभ मोह, स्पृहा और जन्म-मृत्यु का शिकार बनता है। आत्मा से तो इनका कोई सम्बन्ध ही नहीं रहता। हे उद्धव जी! देह-इन्द्रिय, प्राण और मन में स्थित आत्मा ही जब उनका अभिमान कर लेता है उन्हें अपना-स्वरूप मान लेता है- तब उसका नाम 'जीव' हो जाता है। (इस सूक्ष्माति-सूक्ष्म आत्मा का मूर्तिरूप ही गुण और कर्मों का बना हुआ लिङ्गशरीर है।) उसे ही कहीं सूत्रात्मा कहा जाता है और कहीं महत्तत्त्व, उसके और भी अनेकों नाम हैं। वही कालरूप परमेश्वर के अधीन होकर जन्म-मृत्युरूप संसार में इधर-उधर (नाना योनियों में) भटकता रहता है।

तात्पर्य अर्थ-

सूक्ष्मशरीर मुख्यरूप से (17) तत्त्वों का माना जाता है, वैसे तो इसका विस्तार करके किसी किसी आचार्यों ने (19 से 27 और विस्तारवादी 29 तक भी स्वीकार किया है।) वे सब प्रकृति के सूक्ष्माँश (तन्मात्राएँ) है इसलिये वे तन्मात्राएँ अत्यधिक स्वच्छ भी होती हैं और स्वच्छता होने के कारण ही उसमें बाह्याभ्यान्तर सर्वव्यापक आत्मा प्रतिबिम्बित होता है। उसी समुदाय का नाम जीव है, जीवात्मा के नाम से इहलोक और परलोकों में प्रसिद्ध है।) सर्वव्यापक आत्मा के प्रतिबिम्ब के प्रभाव से प्रभावित होकर यह लिङ्गशरीर में चेतनता आ जाती है, चेतनसा-ज्ञानमय व्यवहार होने लगता है। अर्थात्-चेतनवत्-ज्ञानवान् यानि ज्ञानविधि से इन्द्रियों के द्वार समस्त व्यवहार होता है या अनुभव में आता है। इसी का नाम है- चिज्जड़ ग्रान्थि, जड़--चेतन का सम्बन्ध। **''जड़ चेतन ग्रन्थि पड़ गयी। छूटन अधिक अधिक उलझयी''** (रा.मा) इसी पुरुष-प्रकृति के संयोग से अहङ्कार का उदय होता है और इसी अहंकार से सृष्टि, स्थिति और प्रलयरूप संसार का भी प्रकटीकरण है। हर्ष-शोकादि मनोविकार तथा पुनः पुनः जन्म मृत्यु आदि का अनुभव का कर्ता (अनुभवितृ) होने से कर्तृत्व-भोक्तृत्व भी इसी में सिद्ध

होते हैं। आत्मा इन सभी से रहित होने से निर्लिप्त है, इस लिये सुख-दुःख का भोक्ता एवं जन्म-मृत्यु का शिकार जीवात्मा नहीं बन सकता। क्योंकि श्रुति निषेध करती है इन सभी का:- "**एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पो**" (छा. 8.1.5) यह आत्मा धर्माधर्म से शून्य, जरावस्था से रहित, मृत्यु हीन, शोक रहित, क्षुधा-पिपासा से शून्य, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है। "**स एष नेति नेति आत्मा-देशो**"

82- अमूलमेतद् बहुरूपरूपितं, मनोवचः प्राणशरीरकर्म।
ज्ञानासिनोपासनया शितेन, च्छित्त्वा मुनिर्गां विचरत्यतृष्णः।। 11.28.17।।

वास्तव में मन, वाणी, प्राण और शरीर अहंकार के ही कार्य हैं। यह है तो निर्मूल परन्तु देवता, मनुष्यादि अनेक रूपों में इसकी प्रतीति होती है। मननशील पुरुष उपासना की सानपर चढ़ाकर ज्ञानकी तलवार को अत्यन्त तीखी (पैनी) बना देता है और उसके द्वारा देहाभिमान का अहंकार का मूलोच्छेदन करके पृथ्वी में निर्द्वन्द होकर विचरता है। फिर उसमें किसी प्रकार की आशा-तृष्णा नहीं रहती।

तात्पर्य अर्थ-

आत्मोपासना के द्वारा प्राप्त ज्ञान-वैराग्य की तलवार की धार को तीक्ष्ण करके अहङ्काररूप दैत्यवृत्ति को नष्ट कर देना चाहिये, क्योंकि यह अहंकार वृत्ति ही जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख एवं नाना विध कर्मों का जनक है। इस शत्रु के संहार हो जाने पर ही मुमुक्षु-साधक अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में समर्थ हो सकते हैं; अन्यथा नहीं। भगवान् आद्यशङ्कराचार्य जी प्रस्तुत प्रसंगपर लिखते हैं:- "**सन्त्यन्ये प्रतिबन्धाः पुंसः संसारहेतवो दृष्टाः। तेषामेकं मूलं प्रथमविकारो भवत्यहङ्कारः।। यावत्स्यात्स्वस्य सम्बन्धोऽहङ्कारेण दुरात्मना। तावन्न लेशमात्रापि मुक्तिवार्ता विलक्षण।।**" (वि. चू. 299/300) पुरुष (जीवात्मा) को इस संसार-बन्धन की प्राप्ति के कारण रूप और भी अनेक प्रतिबन्ध है; किन्तु उन सबका मूल प्रथम विकार अहंकार ही है। (क्योंकि अन्य-समस्त अनात्मभावों का प्रादुर्भाव इसी से होता है)। जब तक इस दुरात्मा अहंकार से आत्मा का सम्बन्ध है (बना रहेगा) तब तक मुक्ति जैसे विलक्षण बात की लेशमात्र भी आशा नहीं रखनी चाहिये।

83- ज्ञानं विवेको निगमस्तपश्च प्रत्यक्षमैतिह्यमथानुमानम्।
आद्यन्तयोरस्य यदेव केवलं, कालश्च हेतुश्च तदेव मध्ये।। 11.28.18।।

आत्मा और अनात्मा के स्वरूप को पृथक्-पृथक् भली भाँति समझ लेना ज्ञान है, क्योंकि विवेक होते ही द्वैत का अस्तित्व मिट जाता है। उसका साधन है तपस्या के द्वारा शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान तथा श्रवण आदि को जीवन में

अपनाना-तपस्या है। इन साधनों के द्वारा हृदय को शुद्ध करके वेदादिशास्त्रों का श्रवण करना। इनके अतिरिक्त श्रवणानुकूल युक्तियाँ, महापुरुषों के उपदेश और इन दोनों से अविरुद्ध स्वानुभूति भी प्रमाण है। सबका सार यही निकलता है कि इस संसार के आदि में जो था अन्त में जो रहेगा, जो इसका मूल कारण और प्रकाश है, वही अद्वितीय, उपाधि शून्य परमात्मा ही बीच में भी है। उसके अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं है।

तात्पय अर्थ-

व्यवहार की दृष्टिकोण से ज्ञान और विवेक ये दोनों एक ही सिक्का के दो पहलू जैसा है। अर्थात् ज्ञान के अभाव में विवेक का कोई अस्तित्व नहीं और विवेक के अभाव में ज्ञान का अस्तित्व नहीं प्रतीत होता। अर्थात् ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं, सहयोगी हैं। जहाँ विवेक ओर ज्ञान की एकता है, वहाँ वैराग्य का उदय (प्रादुर्भाव) होना स्वभाविक है। इन तीनों की प्राप्ति के लिये सच्छास्त्रों का स्वाध्याय-प्रवचन, एवं आत्मतत्त्व ज्ञानियों का अमृतमय उपदेश का श्रवण-मनन तथा स्वयं की दृढ़ता पूर्वक प्रयत्न की आवश्यकता होगी। उपरोक्त सभी साधनों का संयोग हो जाने पर जन्म-मृत्यु रूप संसार का अस्तित्व समाप्त हो जाता है और अद्वितीय रूप से स्वयं आत्मा ही शेष रह जाता है।

84- यथा हिरण्यं स्वकृतं पुरस्तात्, पश्चाच्च सर्वस्य हिरणमयस्य।
तदेव मध्ये व्यवहार्यमाणं, नानापदेशैरहमस्य तद्वत्।। 11.28.19।।

हे उद्धव जी! सोने के कंगन, कुण्डल आदि बहुत से आभूषण बनते हैं, परन्तु जब वे गहने नहीं बने थे तब भी सोना था और आभूषण बनकर बिगड़ जायगा; तब भी सोना ही रहेगा। इस लिये जब बीच में उसके कंगन-कुण्डल आदि अनेकों नाम रखकर व्यवहार किया जाता है, तब भी सोना ही है। ठीक वैसे ही जाग्रत का आदि, अन्त और मध्य में भी 'मैं' ही हूँ। वास्तव में 'मैं' ही सत्य नित्य तत्त्व हूँ।

तात्पर्य अर्थ-

इस प्रपँच जगत् का अस्तित्व तीनों कालों में न होने पर भी अनुभव में आता है, प्रत्यक्ष- का विषय बन रहा है, इसका एक मात्र कारण है; अनादि अविद्यावश किये गये कर्मों के संस्कार रूप बीजवासना है। अथवा-समस्त चराचर जगत् रज्जू-सर्पवत् है। यह आत्मा ही ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के रूपों में अवभासित हो रहा है। मिट्टी ही घटादि के रूपों में प्रतीति का विषय बन रहा है। **''स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद्यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति तस्योपनिषत्सत्यस्य सत्यमिति''** (बृ.उ. 2.1.20) भावार्थः- उर्णनाभि (मकड़ी) लोक में जैसे तन्तुओं पर ऊपर की ओर जाती है तथा एक ही अग्नि से

जैसे-अनेकों क्षुद्र चिंगरियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार इस आत्मा से सम्पूर्ण-प्राण, सम्पूर्ण लोक, सभी देवगण, सभी-भूत (जड़-चेतन प्राणी), **(बीजधारी भूतेषु किं नांकुरा बहुलीकरोति)** अनेकरूप से उत्पन्न होते हैं। वह सत्य का सत्य है, वही उस आत्मा की रहस्यमय उपनिषद् है।

85- विज्ञानमेतत्त्रियवस्थमङ्ग, गुणत्रयं कारणकार्यकर्तृ।
समन्वयेन व्यतिरेकतश्च येनैव तुर्येण तदेव सत्यम्।। 11.28.20।।

हे उद्धव जी! मन के तीन अवस्थाएँ होती है:- जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति, इन अवस्थाओं के कारण तीनों गुण ही हैं, (सत्त्व, रजस् और तमस्)। जगत् के भी तीन भेद है:- अध्यात्म (इन्द्रियाँ), अधिभूत (पृथिव्यादि), और अधिदैव (कर्ता) ये सभी त्रिविधताएँ जिसकी सत्ता से सत्य के समान प्रतीति का विषय बन रहे हैं और समाधि आदि में यह त्रिविधता न रहने पर भी जिसकी सत्ता बनी रहती हैं, वह तुरीयतत्त्व इन तीनों से भिन्न और इनमें अनुगत (चौथा) ब्रह्मतत्त्व ही सत्य है।

तात्पर्य अर्थ-

जो भी विकारी सावयव एवं गुणमय होता है, वह तत्त्व-परिवर्तनशील, विनाशशील, क्षणभङ्गुर होता है जैसे शरीर; किसी दिन उत्पन्न हुआ और कुछ काल बाद विनाश को प्राप्त हो जाता है। वैसे तो चराचर जगत्-नित्य-निरन्तर उत्पत्ति और विनाश को प्राप्त हो रहा है। दीपशिखा एवं जल प्रवाहवत् प्रतीयमान असत्य पदार्थों में जो असङ्ग और अनुगत भी हैं; वही आत्मा की चौथी तुरीय अवस्था (चतुष्पाद) हैं वही ब्रह्मतत्त्व है और वही सत्य-नित्य है, वही निर्विकार तत्त्व आपकी आत्मा है, आपका स्वरूप है। इस प्रासंगिक विषयपर माण्डूक्योपनिषद् में विस्तृत व्याख्या है:- **''जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः .... वैश्वानरोऽकारः प्रथमः पादः। स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः तैजसो उकारो......... द्वितीयः पादः। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन......... चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः।। नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।।''**(मा.उ.3-7) **''सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोंकारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति''** (मा.उ.8) **अत एव शान्तं शिवं यतोऽद्वैतं भेदविकल्परहितं चतुर्थं तुरीयं मन्यन्ते। प्रतीयमान पादत्रयवैलक्षण्यात्। स आत्मा विज्ञेय** इति भाष्यं। वह यह आत्मा अक्षर के अनुरोध से ओंकार स्वरूप है और वह मात्राओं को आश्रय करके स्थित रहता है। इस लिये आत्मा के पाद ही ओंकार की मात्राएँ हैं और ओंकार की मात्राएँ ही आत्मा के पाद हैं, अकार, उकार और मकार-ये ही प्रणव की मात्राएँ हैं।

86- अविद्यमानोऽप्यवभासते यो, वैकारिको राजससर्ग एषः।
ब्रह्म स्वयं ज्योतिरतो विभाति, ब्रह्मेन्द्रियार्थात्मविकारचित्रम्''।।11.28.22।।
87- न यत् पुरस्तादुत यन्न पश्चान्मध्ये च तन्न व्यपदेशमात्रम्।
भूतं प्रसिद्धं च परेण यद् यत्, तदेव तत् स्यादिति मे मनीषा।। 11.28.21।।

यह जो विकारमयी राजस सृष्टि है, यह न होने पर भी दिख रही है। यह स्वयंप्रकाश ब्रह्म ही है। इसलिये इन्द्रिय, विषय, मन और पञ्चमहाभूतादि जितने चित्र-विचित्र नाम-रूप हैं, उनके रूप में ब्रह्म ही प्रतीत-सा हो रहा है। जो उत्पत्ति से पूर्व नहीं था और प्रलय के पश्चात् भी नहीं रहेगा, ऐसा समझना चाहिये कि बीच में भी वह नहीं है, केवलमात्र कल्पना है, नाम-मात्र है। यह निश्चित सत्य है कि जो पदार्थ जिससे बनता है और जिसके द्वारा प्रकाशित होता है; वही उसका वास्तविक स्वरूप है वही उसकी परमार्थ-सत्ता है, यह मेरा दृढ़ निश्चय है।

तात्पर्य अर्थ-

यह जगत् प्रतिक्षण इन्द्रियों के विषय होने पर भी तीनों कालों में (भूत, भविष्य, और वर्तमान में) मिथ्या है, यथा-रज्जु में सर्प की प्रतीति । और जगत् के मिथ्यात्त्व को जो जानता है (ज्ञाता है); वही एकमात्र एक अद्वितीय सत्य है, नित्य है, ज्ञानस्वरूप है, वह अपना स्वरूप है। परमात्मा ही नाना-नामरूपों में दृष्टिगोचर हो रहा है। **''अनेकरूपरूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे''** (महाभारत विष्णुसहस्रनाम) दूसरा न होने पर भी भिन्न सा प्रतीत हो रहा है; वह उसी प्रकार है- जैसे जल ही-ओला-पाला, तरङ्ग, बुदबुदा आदि के नाम-रूपों से जाना जाता है। जैसा कि कठोपनिषद् में श्रुति वाक्य है:- **''हँस शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्। नृषद्वरसदृतसद्वयोमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्।।''** (2.2.2) अर्थात् हंस एक पक्षी- का नाम है, इस पक्षी का कवि एवं महकवियों ने अपने-अपने भावानुसार गद्य-पद्य में भावव्यक्त किये हैं अनेक विशेषणों से जैसे- **''हंसः संप्रति पाण्डवा इव वनादज्ञातचर्या गताः''** भावार्थ- पाँचों पाण्डव परमहंस (परमविरक्त) के रूप में वन में अज्ञातवास किये। यहाँ पर विरक्ती का विशेषण आया और कवि कबीर का कहना है- **''हंसबगु देखा एक रंग, चरे हर्यालि ताल। हंस क्षीरते जानिये वगु ही धरेंगे काल।।''** भावार्थः- हंस और बगला ये दोनों पक्षी रूपी एक जाति में से हैं तथा दोनों का स्वरूपाकार एक सा (समानता) है, किन्तु आचरण इन दोनों के अलग-अलग व अत्यन्त विपरीत है, इसी आचरण के कारण इन दोनों का एक दूसरे से बिल्कुल विपरीतता है, इसी आचरण से हंस-बक का पहचान होता है, जिसे कबीर ने स्पष्ट किया। वह विपरीतता यह है:-

''**हंस क्षीरते जानिये**'' का अर्थ है- दूध में मिश्रित जलांश का त्यागकर दूधांश का ग्रहण करना और '**बगु धरेंगे काल**' का अर्थ है:- कपटी, छलिया, दम्भी, डोंगी, दिखावापन विशेषणों से युक्त जो हो उसे बगुला (बक) कहा जाता है। ''**चरे हर्यालि ताल**'' का अर्थ है:- कैलास पर्वत के नीचे मानसरोवर है, उस सरोवर में 'हंस' और 'बक' दोनों निवास करते हैं, मानसरोवर के दर्शनार्थी शिवजी के दुग्धाभिषेक जो करते हैं; अपने-अपने मनोकामना पूर्ति के लिये वह दुग्ध बहकर मानसरोवर के जल में मिल जाता है, उस मिला हुआ दुग्ध को हंस खा लेता है वह हंस का आहार हो जाता है, बगला वहीं पर होते हुए भी; दुग्ध-फलादि का त्याग करके मानसरोवर में स्थित मछलियों का ग्रहण करता है, वही उसका आहार है। इन्हीं आहारों से दोनों की पहचान होती है। कबीर का अभिप्राय: विवेकवती बुद्धि से है ''**कैलाशशिखरे राम मनसा निर्मितं सरः, ब्रह्मणा प्रागिदं यस्मात्तदभून्मानसं सरः।**'' (योगवासिष्ठ)।

88- **नात्मा वपुः पार्थिवमिन्द्रियाणि, देवा ह्यसुर्वायुजलं हुताशः।**
मनोऽन्नमात्रं धिषणा च सत्त्वमहङ्कृतिः खं क्षितिरर्थसाम्यम्।। 11.28.24।।

निषेध करने की प्रक्रिया यह है कि पृथ्वी का विकार होने के कारण शरीर; आत्मा नहीं है। इन्द्रियाँ, उनके-अधिष्ठातृ-देवता, प्राण, वायु, जल-अग्नि एवं मन भी आत्मा नहीं है; क्योंकि इनका धारण-पोषण शरीर के समान ही अन्न के द्वारा होता है। बुद्धि, चित्त, अहङ्कार, आकाश, पृथ्वी, शब्दादि विषय और गुणों कि साम्यावस्था प्रकृति भी आत्मा नहीं हैं, क्योंकि ये सब के सब दृश्य एवं जड़ हैं।

तात्पर्य अर्थ-

स्वयं के , आत्मा-परमात्मा को यथार्थरूप से जानने या समझने का उपाय है:- साधन सम्पन्न मुमुक्षु साधक को चाहिये कि ब्रह्मात्म-निष्ठ अपने सद्गुरु-आचार्य एवं शास्त्रों के स्वाध्याय द्वारा प्राप्त विवेक, ज्ञान-वैराग्य के माध्यम से ध्यान-समाधि में स्थित होकर सबसे पहले जड़के जड़ता स्वरूप और चेतन के चैतन्यतापर गम्भीरता पूर्वक विचार करें; फिर कारण-कार्य लय प्रक्रिया द्वारा जड़पदार्थों को जिस-जिस कारणों का कार्य है; उन-उन कार्यों को उनके कारणों में लय (विलीन) कर देने पर शेष चेतन-आत्मा आपका-स्वरूप के रह जाने पर पुनः लय प्रक्रिया के साधन भूता बुद्धि वृत्ति को भी आत्मा में स्वस्वरूप में प्रशान्त करके अपने-आपमें, सर्वात्मभाव में स्थिर हो जाय। जहाँपर-दिन-रात, मैं-तू, यह-वह, आदि समस्त प्रपञ्च का अवसान हो जाता है, उपशम हो जाता है। पातञ्जल योगदर्शन में आया है:- ''**मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां**'' (यो.सू. 33) मोक्षाकांक्षी साधकों के लिये इस सूत्र के द्वारा महत्त्वपूर्ण चार साधनों का संकेत जिक्र किया है; महर्षि पतञ्जलि ने। उन साधनों पर किंचित् विचार करते हैं:-

(क) **मैत्री- अन्येषु साधु सम्बन्धः यस्य सा, गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च** (पा. सू. 5.1.124) **सूत्रेण मित्रशब्दात् भावे ष्यञि कृते मैत्र्यम् इति जाते स्त्रीत्वविवक्षायां षिद्गौरादिभ्यश्च** (4.9.49) **इति ङीष् प्रत्यये मैत्र्य+ई इति स्थिते यस्येति चेति अलोपे, हलस्तद्धितस्य इत्यनेन यलोपे च कृते मैत्रीति रूपं।**'' अर्थात् जिसका दूसरों के साथ सम सम्बन्ध या साधु सम्बन्ध हो उसे मैत्री कहना चाहिये। अथवा- ''**तन्मित्रमापदि सुखे च समक्रियं यत्**'' (भर्तृ) अर्थात्- मित्र (मित्रता) उसे कहना चाहिये- आपत्ति (घोर संकट) के समय पर भी सुख पहुँचाने में तत्पर रहे, अथवा जो अतिशय कष्ट के समयपर भी सम्यक प्रकार से व्यवहार करते हुए सुख देने का यत्न करता है वह मित्र है। (ख) **करुणा- प्राणिमात्रस्य अनुकंपाम् करोति सा करुणा** अर्थात्- प्राणिमात्र के प्रति जो कोई पक्षपात रहित कृपा-दया करता है, वह करुणा है। ''**श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्त्वा चैवावधार्यताम् आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां मा समाचरेत्।।**'' (पद्मपुराण सृष्टिखण्ड-19.357) अर्थात्- सभी धर्मों के धर्म को सुनो और सुनकर मनन करके धारण करो, वही परम धर्म है:- अपने आत्मा के प्रतिकूल जैसे हमें स्वीकार्य नहीं, उसी प्रकार अन्य प्राणियों के प्रति उनके प्रतिकूल आचरण नहीं करना चाहिये। अथवा-समस्त प्राणिमात्र को अपने ही आत्मा समझकर उनके प्रतिकूल आचरण न करो। इसी को गाँधी जी ने सङ्क्षेप में कहा है ''**अहिंसा परमो धर्म**''। (ग) **मुदित**- अर्थात्- आनन्द, हर्ष, प्रसन्नतादि का नाम है; मुदित। आनन्द-प्रसन्नता आपका स्वरूप है, परब्रह्मात्मा है, जिस आत्मा से परब्रह्म से चराचर जगत् मनोरञ्जनका विषय बन रहा है, ''**रसो वै सः। रसँ ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति**'' (तै-2.7) ऐसी श्रुति कहती हैं:- वह परमात्मा रसस्वरूप है, चराचर जगत् का मधुरतम रस है, उस रस को प्राप्त करके आनन्दी हो जाता है प्राणि। भगवान् भाष्यकार अपने भाष्य में लिखते है:- ''**विद्वांसो नूनं ब्रह्मैव रसस्तेषाम्**'', ''**यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह**'', ''**आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चनेति**'' (तै-2.9; इति समुदितार्थः। (घ) **उपेक्षा**- उपेक्षा और अपेक्षा। ये दोनों शब्द उसी प्रकार परस्पर सापेक्ष है; जैसे-यद्-तद्। उपेक्षा का अर्थ होता है- अवहेलना करना प्रमाद उदासीनता-लापरवाह, अर्थात् उस व्यक्ति या वस्तु को आवश्यकता न समझना। और अपेक्षा का अर्थ होगा उपेक्षा के ठीक विपरीत, यथा- अंधकार के विपरीत-प्रकाश। ''**कुर्यामुपेक्षां हतजीवितेऽस्मिन्**'' अर्थात्-जीते हुए भी व्यक्ति मरा हुआ जैसा है, अत:पुरुषार्थहीन व्यक्ति का उपेक्षा कर देना चाहिये तथा निकम्मी वस्तु की उपेक्षा-कर देना बुद्धिमत्ता है, यथा-कूड़ा-करकट को कोई बुद्धिमान् सम्भालकर नहीं रखते।

''ईशा वास्यसिदँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्।'' इसी श्रुति का भाव है- **''मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणाम्''**। अभिप्राय है- जो 'साधक' मायामय प्रपञ्च के प्रति उदासीनता-उपेक्षा करके प्राणी मात्र के प्रति मित्रता और करुणा को जीवन में आत्मसात् कर लेता है तो मुदित-प्रसन्नता का उदय होना स्वाभाविक है। अर्थात् फिर प्रसन्नता-आनन्द की अपेक्षा करने की आवश्यकता नहीं रह जाती और आनन्दमय जीवन का होना ही धन्य-धन्यता है, अहो भाग्यता है, कृत-कृत्यता है, साधना की पूर्णता है।

89- यदि स्म पश्यत्यसदिन्द्रियार्थं, नानानुमानेन विरुद्धमन्यत्।
न मन्यते वस्तुतया मनीषी, स्वाप्नं यथोत्थाय तिरोदधानम्''।।11.28.32।।

90- पूर्वं गृहीतं गुणकर्मचित्रमज्ञानमात्मन्यविविक्तमङ्ग।
विवर्तते तत् पुनरीक्षयैव, न गृह्यते नापि विसृज्य आत्मा।। 11.28.33।।

91- यथा हि भानोरुदयो नृचक्षुषां, तमो विहन्यान्न तु सद् विधत्ते।
एवं समीक्षा निपुणा सती मे, हन्यात्तमिस्रं पुरुषस्य बुद्धेः।। 11.28.34।।

ज्ञानी पुरुष की दृष्टि में इन्द्रियों के विविध बाह्य विषय सर्वथा असत् हैं। यदि कदाचि त वे आते भी हैं तो वह उन्हें अपने आत्मा से भिन्न नहीं मानता, क्योंकि वे श्रुतियों, प्रमाणों और स्वानुभूति से सिद्ध नहीं होते। जैसे नीद टूट जाने पर स्वप्न में देखे हुए और जगने पर तिरोहित हुए पदार्थों को कोई सत्य नहीं मानता, वैसे ही ज्ञानी पुरुष भी अपने से भिन्न प्रतीयमान पदार्थों को सत्य नहीं मानते। हे उद्धवजी! (इसका यह अर्थ नहीं है कि अज्ञानी ने आत्मा का त्यागकर दिया है और ज्ञानी उसको ग्रहण करता है। इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि- अनेकों प्रकार के गुण और कर्मों से युक्त देहेन्द्रिय आदि पदार्थों को पहले अज्ञान के कारण आत्मा से अभिन्न मान लिया था, उनका विवेक नहीं था। अब-आत्मदृष्टि हो जाने पर अज्ञान और उसके कार्यों की निवृत्ति हो जाती है। इस लिये अज्ञान की निवृत्ति ही अभिष्ट है। वृत्तियों के द्वारा न तो आत्मा का ग्रहण हो सकता है और न त्याग। जैसे सूर्य उदय होकर मनुष्यों के नेत्रों के समिपस्थ अन्धकार की परदा को हटा देता है, किसी नयी वस्तु की उत्पत्ति नहीं करता वैसे ही मेरे स्वरूप का दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान पुरुष के बुद्धिगत अज्ञान रूपी आवरण को नष्ट कर देता हैं वह अपरोक्षज्ञान-इदंरूप से किसी वस्तु का अनुभव नहीं करता।

तात्पर्य अर्थ-

भौतिक वादी एवं देहाध्यास वादियों का कथन है, कि-देहेन्द्रियाँ तथा भौतिक पदार्थों के अतिरिक्त आत्मा-परमात्मा आदि की कल्पना करना बकवास मात्र है,

वाग्विलासमात्र है, तो दूसरी ओर आत्मतत्त्वज्ञानी अद्वैत वादी का श्रुति सङ्गत कथन है- कि शुद्धात्मा-परमात्मा से भिन्न-नानात्व जगत् कारण-कार्य सहित मिथ्या है, वाग्विलास है। ऐसी स्थिति में हमारे समक्ष अद्वैत सिद्धान्त की पुष्टि कैसे होगी? इस वाद-विवाद का क्या समाधान है? इसका समाधान यही है कि जो भी भौतिक पदार्थ होंगे वह सबके-सब कारण-कार्य भाव से युक्त एवं सावयव होंगे, तथा भाव-विकार से ग्रस्त होंगे, जो विकारी होते हैं वे अनित्य एवं विनाशशील होते हैं। इसलिये इसका किसी प्रकार अस्तित्त्व ही नहीं, इस पक्ष में या इस बात की सिद्धि में श्रुति-स्मृतियाँ प्रमाण है और युक्ति से भी सिद्ध होता है। **''नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्।।''** (क.उ. 2.2.13) अर्थात्- जो अनित्य पदार्थों में नित्य ब्रह्मादि (समस्त) चेतन-प्राणियों का भी चेतन (अन्तरात्मा) है और जो अकेला ही (संकल्पमात्र से सांसारिक) प्राणियों की कामनाएँ पूर्ण करता है। जो धीर-पुरुष अपनी बुद्धि में (हृदय में) स्थित उस नित्य चैतन्य आत्मा को देखते हैं उन्हीं को नित्य शाश्वत शान्ति मिलती है; औरों को नहीं। **''सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।।''** (छा.उ. 6.2.1), **''स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदँ सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति।।''** (छा. उ. 6.9.4) अर्थात्- हे सोम्य! उत्पत्ति से पहले यह दृष्टिगोचर-नामरूपात्मक जगत् (सजातीय, विजातीय, स्वगत भेद शून्य) एकमात्र अद्वितीय सत् (अविनाशी आत्मा ही था। वह यह जो अणुरूप पदार्थ है, एतद्रूप ही यह सब कुछ है, वही सत्य है, वही आत्मा है, किं बहुना हे श्वेतकेतो! तू भी वही है। **''यद्वैतन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति, न ही द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत् ।।''** (बृ.उ. 4.3.23), **''यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।।''** (क.उ. 2.1.10) अर्थात्- वह जो सुषुप्ति में नहीं देखता है, निःसन्देह उस अवस्था में भी देखता हुआ ही नहीं देखता है, क्योंकि द्रष्टा की दृष्टि का कभी लोप नहीं होता। वह तो अविनाशी है। उस अवस्था में उससे भिन्न कोई अन्य वस्तु नहीं रह जाती, जिसे कि वह देखे। जो इस देहेन्द्रिय संघातरूपलोक में भास रहा है; वही ब्रह्म अन्यत्र (इस देहादि से परे नित्य विज्ञान-घनरूप) भी है, तथा जो अन्यत्र है; वही इस संघात में है। ऐसा होने पर भी जो मनुष्य इस तत्त्व में नानात्व देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है। अर्थात्-बारंबार जन्मता-मरता है। **''अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्। विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति।।''** (गी. 2.17) अर्थात्- हे अर्जुन! यह आत्मा-अविनाशी एवं चराचर-जगत् को व्याप्त किये हुए हैं ऐसा तु जान, उस अविनाशी तत्त्व को; विनाश

करने में समर्थ कोई भी वस्तु नहीं हैं, क्योंकि- **'अव्ययस्यास्य'** यह आत्मा अव्यय (व्यय से रहित) है **'क्षरभावः शून्यमयम्'**, **''श्रुतिस्मृतिभिर्नामैवास्य कथयति'** इति। अतः दो वस्तु यानी द्वैत की किसी भी स्थिति में सिद्धि नहीं हो सकती; अपितु एक ही अद्वैत की सिद्धि होती है। 'दो' द्वैत के समर्थकों में मुख्य हैं:- 1- महर्षिकपिलजीका (सांख्या)। 2- मध्वाचार्य जी का (द्वैतवाद)। 3- विष्णुस्वामी जी एवं वल्लभाचार्य जी का (शुद्धाद्वैतवाद)। 4- निम्बार्काचार्य जी का (द्वैताद्वैवाद)। 5- चैतन्यमहाप्रभुजी का (अचिन्त्य भेदाभेदवाद)। वास्तव में बुद्धिगत अविद्या अज्ञान की पराकाष्ठा की स्थिति ही द्वैत की जननी है और उस अविद्या की निवृत्ति स्वतः अद्वैत-अद्वितीय आत्मतत्त्व की सिद्धि है।

92- एष स्वयं ज्योतिरजोऽप्रमेयो, महानुभूतिः सकलानुभूतिः।
एकोऽद्वितीयो वचसां विरामो, येनेषिता वागसवश्चरन्ति।। 11.28.35।।

हे उद्धव जी! आत्मा नित्य अपरोक्ष है, उसकी प्राप्ति नहीं करनी पड़ती। वह स्वयं प्रकाशस्वरूप है। उसमें अज्ञान आदि किसी प्रकार के विकार नहीं है। वह जन्म रहित है अर्थात्- कभी किसी प्रकार भी वृत्ति में आरूढ़ नहीं होती। इसलिये अप्रमेय है। ज्ञान आदि के द्वारा उसका संस्कार नहीं किया जा सकता। आत्मा में देश, काल और वस्तुकृत परिच्छेद न होने के कारण जन्म, अस्तित्व, वृद्धि, परिर्वतन, ह्रास और विनाश उसका स्पर्श भी नहीं कर सकते। सबकी और सब प्रकार की अनुभूतियाँ आत्मस्वरूप ही हैं। जब मन और वाणी आत्मा को अपना अविषय समझकर निवृत्त हो जाते हैं तब वही सजातीय, विजातीय और स्वगत भेदों से शून्य एक अद्वितीय रह जाता है। व्यवहार दृष्टि से उसके स्वरूप का वाणी और प्राणादि के प्रवर्तक के रूप में निरूपण किया जाता है।

तात्पर्य अर्थ-

उस अप्रमेय आत्मा के सम्बन्ध में श्रुतियाँ कहीं है:- **''स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्धमलोहितमस्नेहमच्छायमवाय्व-नाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुख-ममात्रमनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति किंचन न तदश्नाति कश्चन।''** (बृ.उ. 3.8.8)

हे गार्गि! आकाश में ओत-प्रोत उस-इस तत्त्व को तो ब्रह्मवेत्ता पुरुष 'अक्षर' कहते हैं। वह-अक्षर न स्थूल है, न सूक्ष्म है, न छोटा है, न बड़ा है, न लाल है, न जलका गुण द्रवरूप है, न छाया है, न अन्धेरा है, न गन्ध है , न श्रोत्रवाला है, न नेत्रवाला है, न मन वाला है, न तेजवाला है, न प्राणवाला है, न मुखवाला है, न मापवाला है, उसमें न अन्दर

है, न बाहर है, कि बहुना न वह स्वयं कुछ खाता है, न उसे कोई खाता है, (तात्पर्य यह है कि- न वह विशेषणरूप है और न विशेषणवाला है। यह तो समस्त विशेषणों से रहित एक अद्वितीय तत्त्व है। **''य आत्माऽयहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः'** (छा. उ. 8.7.1) जो आत्मा धर्माधर्मरूप पाप से रहित है, बुढापा से रहित है, मृत्यु से रहित, शोक से रहित, भूख-प्यास से रहित, सत्यकाम और सत्य-संकल्प है। उसकी (शास्त्र और आचार्य एवं सद्गुरु के उपदेशों द्वारा) खोजकर ज्ञान प्राप्त करना चाहिये, वह विशेष रूप से जानने योग्य है। **''यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः''** (मु.उ. 1.1.6) वह आत्मा अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण, चक्षु-श्रोत्र से रहित है, ऐसे ही हाथ-पैर से भी रहित है, नित्य, विभु सर्वव्यापक अत्यन्त सूक्ष्म और अव्यय है तथा जो सम्पूर्ण भूतों का कारण है उसे विवेकी पुरुष सभी ओर देखते हैं, अर्थात् सर्वरूपों में आत्मा ही है। इत्यादि श्रुतियों की कथन है।

93- एतावानात्मसंमोहो यद् विकल्पस्तु केवले।
आत्मन्नृते स्वमात्मानमवलम्बो न यस्य हि।। 11.28.36।।

94- यन्नामाकृतिभिर्ग्राह्यं पञ्चवर्णमबाधितम्।
व्यर्थेनाप्यर्थवादोऽयं द्वयं पण्डितमानिनाम्।। 11.28.37।।

हे उद्धव जी! अद्वितीय आत्मतत्त्व में अर्थहीन नामों के द्वारा विविधता मानलेना ही मनका भ्रम है अज्ञान है। सचमुच यह बहुत बड़ा मोह है, क्योंकि अपने आत्मा के अतिरिक्त उस भ्रम का और कोई अधिष्ठान नहीं है। अधिष्ठान-सत्ता में अध्यस्त की सत्ता ही नहीं है। इसलिये सब कुछ आत्मा ही है। बहुत से पण्डिताभिमानी लोग ऐसा कहते हैं कि यह पाञ्च भौतिक द्वैत ही भिन्न-नामों और रूपों के रूप में इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किया जाता है-, क्योंकि तत्त्वतः तो इन्द्रियों की पृथक् सत्ता ही सिद्ध नहीं होती, फिर वे किसी को कैसे प्रमाणित करेंगी।

तात्पर्य अर्थ-

नाम, रूप आदि की कल्पना केवल-मात्र व्यवहार के लिये की जाती है; ना कि वास्तवविकता के लिये। नाम-रूप की कल्पना हम कुछ भी कर सकते हैं। कोई जरूरी नहीं कि-घट, पट, मठादि नाम ही वास्तविक है, क्योंकि देश काल की भाषानुसार वस्तुओं के नाम-रूपादि बदलते रहते हैं, एक ही द्रव्य को अनेक नामों से जाना जाता है:- जैसे सूर्य के द्वादश नामों की कल्पना की गयी है शास्त्रों में, इसके अतिरिक्त और

भी अनेकों नामों से जाना जाता है:- भास्कर, मार्तण्ड, तपन, रवि, दिनेश, दिनकर, दिवाकर, भानु आदि-आदि। ऐसे काल्पनिक नाम-रूपों के आधार पर कोई वस्तु की नित्यता एवं द्वैत की सिद्धि करना या मानना महाभ्रम तथा बुद्धि हीनता का परिचायक है, विक्षिप्तता का द्योतक है। एक अद्वितीय आत्मा ही सत्य-नित्य एवं निर्विकल्प तत्त्व है और कल्पना का भी आधार (अधिष्ठान) आत्मतत्त्व ही है तथा आधार के अतिरिक्त आधेय का कोई अस्तित्त्व ही नहीं है, यथा स्वप्नदृश्य मनः कल्पित है। "**स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा। तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः।।**" (मा.का. 2.31) जैसे स्वप्न में मायामय जगत् देखने में आता है वह वैसे है:- जैसे आकाशमण्डल में गन्धर्वनगर देखे जाते हैं और देखते ही देखते अकस्मात् उसी आकाशमण्डल में विलीन होता देखा जाता है। वैसे ही वेदान्त विशेषज्ञ, वेदान्त दर्शी-सत्पुरुषों ने स्वयं में इस जगत् को देखते हैं या देखा है। "**तमःश्वभ्रनिभं दृष्टं वर्षबुद्बुदसंनिभम् नाशप्रायं सुखाद्धीनं नाशोत्तरमभावगम्**", "**यथा स्वप्ने द्वयाभासं स्पन्दते मायया मनः। तथा जाग्रद्द्वयाभासं स्पन्दते मायया मनः।।**" (मा.का. 3.29), **मनोदृश्यमिदं द्वैतं यत्किंचित्सचराचरम्। मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते।।**" (मा.का. 3.31) जैसे स्वप्नावस्था में माया के द्वारा ही मन ग्राह्य-ग्राहकरूप द्वैताभासरूप से स्फुरित होता है, वैसे ही जाग्रत् काल में भी यह मन माया से (नाना रूपों) में स्फुरित होता है। मन से देखने योग्य यह जो कुछ जड़-चेतन द्वैत है, वह-मनोदृश्य मन ही है, क्योंकि मन के अमनीभाव (निरोध) हो जाने पर समाधि-सुषुप्ति आदि अवस्था में द्वैत उपलब्ध नहीं होता। "**तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधि**" (यो.सू.1.15) "**योगश्चित्त-वृत्तिनिरोधः**" (यो.सू.1.2) उस मनके वृत्तियों का निरोध कर देने पर भी सभी इन्द्रियों का निरोध हो जाता है और मनोन्द्रियों का निरोध हो जाने पर निर्बीज (वासना शून्य) समाधि की सिद्धि हो जाती है। वृत्तियों के निरोध हो जाने पर वह वृत्तियाँ स्वरूपस्थ हो जायेंगी, आत्मारूप हो जायेंगी "**तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्**" (यो.सू.1.3) इसी का नाम है योग, जैसा कि महर्षि पतञ्जलि ने कहा है:- "**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**", "**सर्वासां चित्तवृत्तीनां स्वकारणे प्रविलयाद् निर्बीजः**", "**तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्।।**" (यो.सू. 2.25) तद्भावात्- मनोविकार वृत्तियों के अभाव होने से, संयोगाभावो यानि द्रष्टा दृष्य का संयोगरूप जन्म-मृत्यु का अभाव हो जायेगा, हानं तद्दृशेः दृष्टि में आने वाले जगत् के त्याग हो जाने से दृशि यानी द्रष्टा का ही कैवल्यम्-यानि विदेह मुक्ति है। इस मन-इन्द्रिय के विषय में भगवान् वासु देव ने अर्जुन के प्रति गीता में कहा है:- "**सङ्कल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः। मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः।।** 6.24।। **शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या**

धृतिगृहीतया। आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।।'' (6.25) अर्थात्- मनके संकल्प से वृत्ति से उत्पन्न होने वाली सम्पूर्ण कामनाओं का सर्वथा त्याग करके और मन से ही इन्द्रिय समूह को सभी ओर से हटाकर धैर्ययुक्त बुद्धि के द्वारा (दु:खालय संसार से) धीरे-धीरे उपराम हो जाय और उस मन-बुद्धि को परमात्मस्वरूप में (स्वरूप में) सम्यक्प्रकार से स्थापन करके फिर कुछ भी चिन्तन न करें। **''मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय। निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।।''** (गी. 12.8) मुझमें तू मनको स्थापन कर और मुझमें ही बुद्धि को प्रविष्ट कर; इसके बाद तू मुझमें ही निवास करेगा; इसमें कोई संशय नहीं है। श्रुति का भी यह अनुमति है:- **''यस्त्वविज्ञावान्भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः। न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति''** (क.1.3.7) भावार्थ:- जो अविज्ञानवान् अनियन्त्रित चित्त वाला है और सदा अपवित्र रहनेवाला सारथि (बुद्धि) होता है, ऐसे सारथि के द्वारा वह रथी (जीवात्मा) उस परम पदको प्राप्त नहीं कर सकता, बल्कि जन्म-मरण रूप संसार को प्राप्त होता है। **''मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः''**।।

95- **बुद्धीन्द्रियार्थरूपेण ज्ञानं भाति तदाश्रयम्।**
दृश्यत्वाव्यतिरेकाभ्यामाद्यन्तवदवस्तु यत्।। 12.4.23।।

96- **दीपश्चक्षुश्च रूपं च ज्योतिषो न पृथग् भवेत्।**
एवं धीः खानि मात्रश्च न स्युरन्यतमादृतात्।। 12.4.24।।

हे परीक्षित् बुद्धि, इन्द्रिय और उनके विषयों के रूप में उनका अधिष्ठान ज्ञानस्वरूप वस्तु ही भासित हो रही है। उन सबका तो आदि भी है और अन्त भी, इसलिये वे सब सत्य नहीं है। वे दृश्य हैं और अपने अधिष्ठान से भिन्न उनकी सत्ता भी नहीं है। इसलिये वे सर्वथा मिथ्या-मायामात्र है। जैसे दीपक, नेत्र और रूप-ये तीनों तेज से भिन्न नहीं हैं, वैसे ही बुद्धि, इन्द्रिय और इनके विषय-तन्मात्राएँ भी अपने अधिष्ठानस्वरूप ब्रह्म से भिन्न नहीं है; यद्यपि वह ब्रह्म इनसे सर्वथा भिन्न है, (रज्जुरूप अधिष्ठान में अध्यस्त सर्प अपने अधिष्ठान से पृथक् नहीं है, परन्तु अध्यस्त सर्प से अधिष्ठान का कोई सम्बन्ध नहीं है।)।

तात्पर्य अर्थ-

कर्म-वासनाओं का अध्यास ही अधिष्ठान में वस्तु के रूप में अध्यस्त हो रहा है वास्तव में कोई पदार्थ नहीं है, देखे-सुने, या भोगे हुये के संस्कारमात्र हैं, और ये संस्कार ही विशाल कार्य-कारणमय जगत् के रूप में प्रतिभासित हो रहे हैं, अपने अधिष्ठान में अधिष्ठान से भिन्न अध्यस्तवस्तु का कोई सत्ता नहीं होता। यथा-समाधि, सुषुप्ति आदि उदाहरण हैं। आद्यजगद्गुरु शंकराचार्य जी का कहना है:-**''तमो द्वाभ्यां रजः सत्त्वात्सत्त्वं**

शुद्धेन नश्यति। तस्मात्सत्त्वमवष्टभ्य स्वाध्यासापनयं कुरु।। प्रारब्धं पुष्यति वपुरिति निश्चित्य निश्चलः। धैर्यमालम्ब्य यत्नेन स्वाध्यासापनयं कुरु।। नाहं जीवः परं ब्रह्मेत्येतद्व्यावृत्तिपूर्वकम्। वासनावेगतः प्राप्तस्वाध्यासापनयं कुरु।।'' (वि.चू. 279 से 281)।

रजोगुण और सत्त्वगुण से तमोगुण को तथा सत्त्वगुण से रजोगुण को नष्ट करके सत्त्वगुण आत्मज्ञान (स्वरूपज्ञान) से नष्ट हो जाता है, इस लिये शुद्ध सत्त्व (आत्मा) का आश्रय लेकर अपने अनादि अध्यासका सर्वथा त्याग करना चाहिये। प्रारब्ध ही शरीर का भरण-पोषण करता है; ऐसा निश्चय कर निश्चल भाव से धैर्य-धारण करके यत्नपूर्वक अपने अध्यास-वासना को नष्ट करे। मैं जीव नहीं हूँ; परब्रह्म हूँ, इस प्रकार पुनः पुनः अभ्यास के द्वारा अपने में जीवभाव का अध्यास को निषेध करते हुए, वासना के वेग से प्राप्त हुए जीवत्व के अध्यास को भी सदा के लिये मिटाया जा सकता है।

97- बुद्धेर्जागरणं स्वप्नः सुषुप्तिरिति चोच्यते।
मायामात्रमिदं राजन् नानात्वं प्रत्यगात्मनि।। 12.4.25।।

हे परीक्षित्! जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीनों अवस्थाएँ बुद्धिकी ही है। अतः इनके कारण अन्तरात्मा में जो विश्व, तैजस और प्राज्ञरूप नानात्वकी प्रतीति होती है, वह केवल मायामात्र है। बुद्धिगत नानात्वका (एक मात्र) सत्य आत्म से कोई सम्बन्ध नहीं है।

तात्पर्य अर्थ-

मन-बुद्धि, जब बाह्य इन्द्रियाँरूप साधनों से व्यवहार होता है; तब उसे हम जाग्रत् अवस्था के नाम से जानते हैं और जब वे ही मन, बुद्धि के द्वारा किया हुआ व्यवहार का स्मरण-चिन्तन होता है, (वह व्यवहार वर्तमान का किया हुआ हो अथवा दूर से दूर का व्यवहार किया हुआ हो) उस चिन्तन मनन को हम-स्वप्न कहते हैं। तथा जब मन, बुद्धि अन्तःकरण व्यवहार से उपरत होकर शान्त स्थिति में हो जाता है, अपने कारण के साथ तदात्मभाव को प्राप्त कर लेता है, तब हम उसे ही सुषुप्ति के नाम से जानते हैं। तत्-तत् अवस्थाओं को प्राप्त हुए उस मन-बुद्धि के ही आत्मसंयोग से क्रमशः-विश्वात्मा, तैजसात्मा और प्रज्ञात्मा के नामों से भी कहा जाता है। इन तीनों (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति। विश्व, तैजस और प्राज्ञ) अवस्थाओं में निमित्त हैः- सत्त्वादि गुणों के प्रभाव से ही प्रभावित होकर लिङ्गदेह; तत्-तत् अवस्था को प्राप्त होता है। क्योंकि लिङ्गदेह विकारी है। और अवस्थात्रय विकार रूप फल है, परिणाम है। इससे यह सिद्ध होता है कि चैतन्यात्मा निर्विकार होने से कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि से सर्वथा रहित है, अर्थात्-कर्तृत्व-भोक्तृत्व की सिद्धि लिङ्गशरीर में (जीवात्मा) में हो रही है, सदा-सर्वदा प्रकाशस्वरूप, ज्ञानस्वरूप परमात्मा में नहीं। **''ज्ञातृज्ञानज्ञेयभेदः परमात्मनि न विद्यते। चिदांनन्दैकरूपत्वा-**

द्दीप्यते स्वयमेव हि।।'' (वि.चू. 2.41), **''ज्ञातृज्ञानज्ञेयशून्यमनन्तं निर्विकल्पकम्। केवलाखण्डचिन्मात्रं परं तत्त्वं विदुर्बुधाः।।''** (वि.चू. 241), **''निर्गुणं निष्कलं सूक्ष्मं निर्विकल्पं निरञ्जनम्। एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन।।''** (वि.चू. 469), **''व्यवहारो लौकिको वा शास्त्रीयो वान्यथापि वा। ममाकर्तुरलेपस्य यथारब्धं प्रवर्तताम्।।''** (पञ्च द.-7.267,14.54), **''न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः। न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते''** (गी. 5.14)।

अर्थात्- ज्ञाता ज्ञानकरनेवाला, ज्ञान (जानना) और ज्ञेय (जाननेयोग्य विषय) इन सभी भेदों से परमात्मा सदा-सर्वदा भिन्न है, अर्थात्- उपरोक्त नाना भेद परमात्मा में न कभी थे और न वर्तमान में है, न भविष्य में भेदों की कल्पना की जा सकती है। क्योंकि वह आत्मा चित्स्वरूप, आनन्दमय, एकमेवाद्वितीयरूप है और स्वयं प्रकाशस्वरूप है। निर्गुण, निष्क्रिय, निर्विकल्प और निरञ्जन आदि विशेषणों से युक्त होने से निर्विकार, नित्यशुद्ध और विमुक्त है ('वि' विशेषेण मुक्तः इति विमुक्तः) तथा एक और अखण्ड आनन्दमय है। तत्त्वज्ञानी-जीवन्मुक्त पुरुष लौकिक व्यवहार (आचरण), अथवा शास्त्रीय आचरण (कथा-प्रवचनादि वा देवी-देवार्चना) करते हुए भी उनकी विशुद्ध बुद्धि में यही दृढ़ निश्चय रहता है।

आत्मतत्त्व आदि-अन्त से रहित, नित्य-आविनाशी वस्तु है, एक और अद्वितीय है। तथा उसके विपरीत प्रत्यक्ष का विषय एवं ग्राह्य-यह जगत् कार्य-कारणमय होने से विकारी तथा आदि-अन्तवाला है, आदि अन्त से युक्त होने से अनित्य एवं मिथ्या है, आभास मात्र है। यदि कहो कि प्रत्यक्ष अनुभव में आनेवाली वस्तु कैसे असत्य हो सकता है। श्रीमान् जी मेरे प्रिय आत्मन्! विचार करो कि-जब आप जाग्रत् और निद्रा के सन्धिकाल में इस प्रपञ्च का अवलोकन करते हैं जिसे स्वप्न कहा जाता है, उस समय भी तो प्रत्यक्ष और सत्य मानकर मुझ आत्मा में कोई कार्य (व्यवहार) हो ही नहीं रहा है। क्योंकि-अकर्ता होने से निर्लिप्त है, जो कुछ आचरण हो रहा है; वह सब के सब जैसा प्रारब्ध है वैसा बना है अथवा-प्रारब्ध से प्रेरित होकर शरीर-संघात, मन व इन्द्रियों के व्यवहार हो रहा है। परमात्मा किसी प्राणी या मनुष्यों को शुभाशुभ कर्म करने की प्रेरणा नहीं करते। बल्कि मनुष्य किसी प्रकार के कर्मों को करने में स्वतन्त्र हैं। अतः कर्तापन प्राणी (मनुष्य) में है, जीव में है। कर्म और कर्मफल के संयोग भी जीव के साथ है, आत्मा में न कर्म है न कर्मफल-भोग का संयोग है। अतः इसका त्याग करने का दायित्व भी जीव (सूक्ष्मदेह) का ही है। जीव ही अज्ञानवश-प्रकृति के साथ सम्बन्ध जोड़कर कर्मों का कर्ता एवं सुख-दुःख का भोक्ता बनता है।

98- यत् सामान्यविशेषाभ्यामुपलभ्येत स भ्रमः।
अन्योन्यापाश्रयात् सर्वमाद्यन्तवदवस्तु यत्।। (12.4.28)

99- विकारः ख्यायमानोऽपि प्रत्यगात्मानमन्तरा।
न निरूप्योऽस्त्यणुरपि स्याच्चेच्चित्सम आत्मवत्।। (12.4.29)

ब्रह्म में यह कार्य-कारण भाव भी वास्तविक नहीं हैं। क्योंकि देखो कारण तो सामान्य वस्तु है और कार्य विशेष वस्तु है। इस प्रकार का जो भेद दिखायी पड़ता है, वह केवलमात्र भ्रम ही है। इसका हेतु यह है कि-सामान्य और विशेष भाव आपेक्षिक हैं, अन्योन्याश्रित हैं। विशेष के बिना सामान्य और सामान्य के बिना विशेष की स्थिति नहीं हो सकती। कार्य और कारण भाव का आदि और अन्त दोनों ही मिलते हैं, इसलिये भी वह स्वाप्निक भेद-भाव के समान सर्वथा अवस्तु हैं। इसमें संदेह नहीं कि यह प्रपञ्चरूप विकार स्वाप्निक विकार के समान ही प्रतीत हो रहा है, तो भी यह अपने अधिष्ठान ब्रह्मस्वरूप आत्मा से भिन्न नहीं है। कोई चाहे भी तो आत्मा से भिन्न रूप में अणुमात्र भी इसका निरूपण नहीं कर सकता। यदि आत्मा से पृथक् इसकी सत्ता मानी भी जाय; तो यह भी वह चिद्रूप आत्मा के समान स्वयं प्रकाश होगा और ऐसी स्थिति में वह आत्मा की भाँति ही एकरूप सिद्ध होगा।

तात्पर्य अर्थ-

स्वप्न में विशेष के विना सुख-दुःख के अथाह-सागर में गोता लगाते हैं कि नहीं, और नींद टूट जाने पर अथवा सुषुप्ति (गहरी नींद) की अवस्था में, वह प्रत्यक्ष अनुभव किया हुआ प्राणी-पदार्थ कहाँ गया, कहाँ खो गया। आप-अपने को-स्वयं को अकेले ही अनुभव करते हैं और तत्-क्षण विचार करते हैं कि अरे; 'मैं' स्वप्न देख रहा था, अर्थात् जो कुछ स्वप्नकाल में देखा था, और सुख-दुःख का अनुभव किया था वह सब-के-सब तत्-क्षण मिथ्या में परिणत हो जाता है, बदल जाता है। क्योंकि जग-जाने पर या सुषुप्ति की स्थिति में, न कोई शत्रु रह जाता है और न तो मित्र, न कोई प्रिय-अप्रिय प्राणी-पदार्थ ही रह जाते हैं। इसका अर्थ हुआ जो प्रत्यक्ष अनुभव किया था; वह सब-के-सब मिथ्या, असत्य हो जाता है और यह मानवमात्र का अनुभव है। इसी प्रकार जो जाग्रत में देखने में आ रहा है; वह भी अज्ञानवश मोहरूपी निद्रा के कारण दिख रहा है। जैसा कि रामचरित्र मानस में गोस्वामी तुलसीजी महाराज का कहना है:- **''मोह निशा सब सोवन हारा देखै हि स्वप्न अनेक प्रकारा।।''** अर्जुन मोहरूपी अज्ञानता से ग्रसित है, उस अज्ञान से उत्पन्न रात्रीरूपी मोह को दूर करने के लिये भगवद्गीता अ. 2. 69 में भगवान् वासुदेव जी ने कहा:- **''या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी**

यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।।'' अर्थात्:- सम्पूर्ण प्राणियों की जो सोने के लिये रात्रि है, (परमात्मा से विमुखता है), उसमें संयमी-तत्त्वज्ञानी पुरुष जागते हैं और जिसमें सब प्राणी जागते हैं, अर्थात्:- भोग और संग्रह में लगे रहते हैं; वह दिन भी तत्त्व को जानने वाले मुनि, ज्ञानी की दृष्टि में रात्रि-यानी अज्ञानता रूपी रात्री है। श्रुतियाँ कहती हैं:- ''**प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरं....... तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामँ रूपँ शोकान्तरम्।। अत्र पिताऽपिता भवति माताऽमाता लोका अलोका देवा अदेवा वेदा अवेदाः।''** (बृ.उ. 4.3.21/22)

यह पुरुष (जीवात्मा) लिङ्गदेह प्राज्ञात्मा से आलिङ्गित हुआ परमार्थ दर्शन काल में न कुछ बाह्य विषय को जानता है और न आभ्यन्तर को ही, यह इसका आप्त काम, आत्मकाम, अकाम और शोक रहित स्वरूप है। अतः उस सुषुप्ति अवस्था में पिता में पितृत्व, माता में मातृत्व, लोकों में भोग्यत्व, देवों में पूज्यत्व, वेदों में स्वाध्यायत्व नहीं रह जाता। ''**स्वप्ने स जीवः सुख-दुःखभोक्ता स्वमायया कल्पितजीवलोके। सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति।।''** (कै.3.1.13) अर्थात्:- ईश्वर ही अपनी माया के द्वारा कल्पित जीव (जीवभाव को प्राप्त) संसाररूप स्वप्न में सुख और दु:ख का भोक्ता हो जाता है और अज्ञानरूप तम (अन्धकार) से अभिभूत हुआ वही जीव सुषुप्ति काल में सभी-स्थूल-सूक्ष्म प्रपंच के स्व कारण में विलीन हो जाने पर अविद्यारूप तम से रहित स्थिति में स्वस्वरूप सुख को प्राप्त करता है, यही स्थिति विदेह-कैवल्य मुक्ति है। योग सूत्र के अन्तर्गत महर्षि पतञ्जलि का कहना है:- ''**तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्** (यो.सू. 2.25)

'तदभावात्' मुमुक्षु साधक योगाभ्यास के द्वारा जन्म-मृत्यु के मूलकारण अविद्या की निवृत्ति करने में समर्थ हो जाता है, और अविद्या के अभाव से अनागतरूप दु:खों का अन्त हो जाता है, अर्थात्- जन्म-मृत्युरूपी संयोग; सदा-सर्वदा के लिये समाप्त हो जाता है, इस स्थिति में विदेह-कैवल्य मुक्ति का आनन्द, निर्विशेष आनन्द, तथा साक्षात् अपरोक्षरूप अनुभव का आनन्द प्राप्त हो जाता है।

100-न हि सत्यस्य नानात्वमविद्वान् यदि मन्यते।
नानात्वछिद्रयोर्यद्वज्ज्योतिषोर्वातयोरिव।।12.4.30।।

परन्तु इतना तो सर्वथा निश्चित है कि परमार्थ सत्य वस्तु में नानात्व की गन्ध भी नहीं है। यदि कहो-अज्ञानी परमार्थ-सत्य वस्तु में नानात्व स्वीकार करता है, तो उसका वह मानना वैसे ही है; जैसे-महाकाश और घटाकाशका, आकाश स्थित सूर्य और जल में प्रतिबिम्बित सूर्य का तथा बाह्य वायु और आन्तर वायु का भेद मानना।

तात्पर्य अर्थ-

आत्म-तत्त्व से भिन्न कोई पदार्थ न होने पर भी; यदि कोई अज्ञानता के कारण मानता है कि द्वैत के विना व्यवहार का होना असम्भव है और व्यवहार का न होना-शून्यता है। "**भूतानामभावः शून्यः**"। पहली बात तो यह है कि व्यवहार कभी सत्य होता ही नहीं और न सत्य होना संभव है। इस बात को इस प्रसङ्ग को सभी दार्शनिकों ने आचार्यों ने गहन विचार कर स्वीकार किये हैं और कहा है कि-यह दृश्यमान प्रपंच स्वप्नवत् है और प्रपंच का दूसरा नाम है-व्यवहार। एकमात्र (नास्तिक) भौतिकवादी को छोड़कर। और दूसरी बात यह है कि आत्मा से भिन पदार्थों को मानना उसका उसी प्रकार है, जैसे-नेत्रगत मोतिया बिन्द आदि दोषों के कारण वस्तु एक होते हुए भी अनेक सा प्रतीत होने से अनेकता मानना, इसी प्रकार बुद्धिगत अज्ञान-अविद्यारूप आवरण दोष के आजाने से उनको भ्रम होता है कि नानात्व जो मैं अनुभव कर रहा हूँ वह सत्य है। यथाः- स्थाणु में-प्रेत, रज्जू में-सर्प, सीप में-रजत आदि की भ्रान्तिवश प्रतीति होती है। भगवान् भाष्यकार का कहना हैः- "**अत्यन्तविविक्तयोर्धर्मधर्मिणोर्मिथ्याज्ञाननिमित्तयोः सत्यानृते मिथुनीकृत्य, अहमिदं ममेदमिति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः।**" (ब्र.सू. अ. भाष्य) अर्थाध्यास और ज्ञानाध्यास के भेद से अध्यास दो प्रकार का है। इनमें 'मनुष्योऽहं' ऐसा अभिमान होता है; इस अध्यास को 'लोक' शब्द से कहा गया है और उसके विषय में व्यवहाराभिमान को ज्ञानाध्यास कहा है; जिसे 'व्यवहार' पद से दिखलाया गया है। अनात्मा में जड़त्त्व है और आत्मा में चैतन्यादि धर्म स्वभाव से रहते हैं। ये दोनों ही अत्यन्त भिन्न होने पर भी; इन दोनों का भेदग्रहण न होने के कारण आत्मा-अनात्मा का तादात्म्य और अन्य के धर्म अन्य में भासने लग जाते हैं, ऐसा सामान्य लोक व्यवहार में देखा जाता है। आत्मा सत्य है और अनात्मा मिथ्या है। सत्य आत्मा में अनात्मा का स्वरूप एवं संसर्ग दोनों ही अध्यस्त है, किन्तु अनात्मा अहंकारादि में सत्य आत्मा का स्वरूप अध्यस्त नहीं है, संसर्गमात्र अध्यस्त है। इसलिए अन्योन्याध्यास मानने पर 'शून्य वाद' का प्रसङ्ग आ जायेगा ऐसी आशंका नहीं कर सकते। तथापि कोई कहे कि अध्यास, मिथुनीकरण और व्यवहार ये तीनों शब्द समानार्थक है; फिर भी अध्यास एवं मिथुनीकृत्य इन दोनों पदों में क्त्वा प्रत्यय का प्रयोग कर फर्क क्यों किया गया है? इसका समाधान हैः- अध्यास-व्यक्तियों के भिन्न-भिन्न होने के कारण पूर्व-पूर्व अध्यास उत्तरोत्तर अध्यास का संस्कार द्वारा हेतु बतलाने के लिये ही पूर्वकालिक क्रिया में क्त्वा प्रत्यय का प्रयोग हुआ है, जिसे भाष्यकार ने नैसर्गिक पद से स्पष्ट किया है। प्रत्यगात्मा में कार्यकारण भाव से अध्यास का प्रवाह अनादि है, यह कल्पना भी निरस्त हो जाती है, क्योंकि प्रत्यगात्मा साक्षात् ब्रह्म ही है। फिर भी उत्तरोत्तर अध्यास में पूर्व-पूर्व

अध्यास-संस्कार द्वारा कारण विद्यमान है। पूर्व पूर्व भ्रम ज्ञान जन्य संस्कार को अध्यास का हेतु मानने में लाघव है और पूर्व प्रमा जन्य संस्कार को हेतु मानने में गौरव है। अतः उत्तर अध्यास का पूर्व अध्यासजन्य संस्कार कारण है और यह अनादि प्रवाह प्रतीत हो रहा है। श्रुति कहती है:- **''यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति'', ''नेह नानास्ति किंचन''** (क.उ. 2.1.10/11)

101-यदैवमेतेन विवेकहेतिना, मायामयाहङ्करणात्मबन्धनम्।

छित्त्वाच्युतात्मानुभवोऽवतिष्ठते, तमाहुरात्यन्तिकमङ्ग सम्प्लवम्।।12.4.34।।

हे प्रिय परीक्षित्! जब जीव विवेक के खड्ग से मायामय अहङ्कार का बन्धन काट देता है, तब यह अपने एकरस आत्मस्वरूप के साक्षात्कार में स्थित हो जाता है। आत्मा की यह मायामुक्त वास्तविक स्थिति ही आत्यन्तिक प्रलय कही जाती है।

तात्पर्य अर्थ-

साधन-चतुष्टय युक्त होकर ज्ञान प्राप्ति द्वारा इस दृश्यमान कारण-कार्यमय विश्वप्रपञ्च से सदा-सर्वदा के लिये मुक्त हो जाना ही स्वस्वरूप में स्थित होना है और इसी का नाम आत्यन्तिक प्रलय भी है। विद्वद्वर्य मुमुक्षु साधकों का परमोद्देश्य एवं चरमलक्ष्य भी यही है। सद्-असद् विवेकी आचार्यों ने प्रलय की व्याख्या चार प्रकार से कि हैं:- नित्य, नैमित्तिक, प्राकृतिक और आत्यन्तिक (1) नित्य-प्रति दिन की रात्रि (24 घण्टों में होने वाली) अथवा सुषुप्ति अवस्था को नित्य प्रलय कहा गया है। (2) नैमित्तिक-किसी कारण विशेष से प्रपञ्च का ज्ञानाभाव होना, जैसे-मूर्छा, समाधि आदि काल में शून्यता की स्थिति में रहना, नैमित्तिक प्रलय कहा गया है। (3) प्राकृतिक-प्रकृति के तीनों गुणों की साम्यावस्था (सम स्थिति) को प्राप्त होना, अथवा-प्रारब्ध भोग की समाप्ति (इस स्थूल शरीर का अन्त और वासनामय लिङ्गशरीर (महत्तत्त्व) का शेष रह जाना, जब-तक पुनर्जन्म की प्राप्ति न हो जाय तब तक की स्थिति को प्रकृति का प्रलय कहते हैं, जिसे महाप्रलय के नाम से भी जाना जाता है। **''प्रलयः सुखदुःखाद्यैर्गाढमिन्द्रियमूर्छनम्''** (प्रतापाद्रीय) **''प्रारब्धाः प्रलयाय मासवद् अहो विक्रेतुमेते वयम्''** आत्यन्तिक प्रलय इस श्लोक में वर्णित है।

102-त्वं तु राजन् मरिष्येति पशुबुद्धिमिमां जहि।

न जातः प्रागभूतोऽद्य देहवत्त्वं न नङ्क्ष्यसि।। 12.5.2।।

103-न भविष्यसि भूत्वा त्वं पुत्रपौत्रादिरूपवान्।

बीजाङ्कुरवद् देहादेर्व्यतिरिक्तो यथानलः।। 12.5.3।।

104-स्वप्ने यथा शिरश्छेदं पञ्चत्वाद्यात्मनः स्वयम्।

यस्मात् पश्यति देहस्य तत आत्मा ह्यजोऽमरः।।12.5.4।।

हे राजन्! अब तुम यह पशुओं की सी अविवेकमूलक धारणा छोड़ दो कि मैं मरूँगा; जैसे शरीर पहले नहीं था और अब पैदा हुआ है और फिर नष्ट हो जायगा, वैसे ही तुम भी पहले नहीं थे, तुम्हारा जन्म हुआ, तुम मर जाओगे यह बात नहीं। जैसे बीज से अङ्कुर और अङ्कुर से बीज की उत्पत्ति होती है, वैसे ही एक देह से दूसरे देह की और तीसरे की उत्पत्ति होती है। किन्तु तुम न तो किसी से उत्पन्न हुए हो और न तो आगे पुत्र-पौत्रादिकों के शरीरों के रूप में उत्पन्न होओगे। अजी! जैसे आग लकड़ी से सर्वथा अलग रहती है, लकड़ी की उत्पत्ति और विनाश से अग्नि सर्वथा भिन्न है, वैसे ही तुम भी शरीरादि से सर्वथा अलग हो। स्वप्नावस्था में जैसे अनुभव होता है कि मेरा शिर कट गया है और 'मैं' मर गया हूँ, मुझे लोग श्मशान में अग्निसंस्कार (अन्तिम संस्कार) करके जला रहे हैं। परन्तु ये सब शरीर की ही अवस्थाएँ दिखती हैं, आत्मा की नहीं। देखने वाला तो उन अवस्थाओं से सर्वथा परे जन्म और मृत्यु से रहित, शुद्ध परमात्मतत्त्वस्वरूप है।

तात्पर्य अर्थ-

प्रकृति विकारमय एवं गुणमयी होने के कारण संघटन-विघटन होना उनका स्वभाव है, इसीका नाम है-जन्म-मृत्यु। वास्तव में विचार करके देखा जाय तो; न जड़का नष्ट होना सिद्ध होता है और न चेतन आत्मा का, चैतन्य आत्मा निर्विकार, निरवयवस्वरूप होने से-नित्य, विशुद्ध एवं अविनाशी है, (जन्म-मृत्यु से सर्वदा रहित है)। गमनागमन (एकशरीर से दूसरे शरीर की प्राप्ति) वासनामय सूक्ष्मशरीर का धर्म है, न कि आत्मा का। वासनामय लिङ्गशरीर का दूसरा नाम है- तैजसात्मा और नाना विध शुभाशुभ कर्मों का फलस्वरूप सुख-दुःखों का भोक्ता भी वही है। भगवद्पाद आद्यशंकराचार्य जी का कहना है:- **''नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्''** (मु.-1.1.6) तथा श्रुतियों का कहना है:- **''एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवम्। विरजः पर आकाशादज आत्मा महान्ध्रुवः''** (बृ.उ. 4.4.20)

अर्थात्:- मुमुक्षु साधक को आचार्यों के उपदेश के बाद (उस ब्रह्म को) आकाश के समान अन्तर-बाहर शून्य एकमात्र विज्ञानघनरूप से ही देखना चाहिये। यह ब्रह्म किसी प्रमाण का विषय नहीं, ध्रुव, निर्मल आकाश से भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म, अजन्मा महान् और अविनाशी है। **''स व एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्माभयं वै ब्रह्म भवति य एवं वेद''** (बृ.उ. 4.4.25)।

वही यह अजन्मा आत्मा महान्, अजर अमर अमृत एवं अभय ब्रह्मरूप है। अभय ही ब्रह्म है। जो कोई उक्त आत्मा को अभय ब्रह्म जानता है, वह अभय ब्रह्मस्वरूप ही हो

जाता है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं। **''न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे''** (का.उ. 1.2.18) **''नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतेरेषाम्।''** (का. 2.2.13) जो अनित्य पदार्थों में नित्य ब्रह्मादि चेतन प्राणियों में भी चेतन है और जो अकेला ही (संकल्प मात्र से सांसारिक) अनेको पदार्थों की कामनाएँ पूर्ण करता है। जो धीर-पुरुष अपनी बुद्धि में स्थित उस नित्य चैतन्य आत्मा को अनुभव कर लेता है; उन्हीं को नित्य शाश्वत-शान्ति मिलती है; दूसरों को नहीं।

105-घटे भिन्ने यथाऽऽकाश आकाशः स्याद् यथा पुरा।
एवं देहे मृते जीवो ब्रह्म सम्पद्यते पुनः।। 12.5.5।।

106-मनः सृजति वै देहान् गुणान् कर्माणि चात्मनः।
तन्मनः सृजते माया ततो जीवस्य संसृतिः।। 12.5.6।।

जैसे- घड़ा फूट जाने पर आकाश पहले की भाँति अखण्ड रहता है, परन्तु घटाकाशताकी निवृत्ति हो जाती है और लोगों को ऐसा प्रतीत होता है कि वह महाकाश में मिल गया है। वास्तव में तो मिला हुआ था ही, वैसे ही-देह पात हो जाने पर ऐसा मालूम होता है; मानो जीव ब्रह्म हो गया। वास्तव में तो वह ब्रह्म था ही, उसकी अब्रह्मता तो प्रतीति मात्र थी। मन ही आत्मा के लिये शरीर, विषय और कर्मों की कल्पना कर लेता है; और उस मन की सृष्टि करती है- माया (अविद्या)। वास्तव में माया ही इस जीव के संसार चक्र में पड़ने का मूल कारण है।

तात्पर्य अर्थ-

प्रकृति के विकाररूप कार्य-सत्वादि गुणों से युक्त मनकी कल्पना ही शरीर, विषय, शुभाशुभ कर्म और दृश्यमान जगत् है। यह कल्पना ही जीवात्मा के लिये चक्रव्यूहरूप जन्म-मृत्यु का बन्धन बन गया है, ब्रह्मपाश बन गया है। इस बन्धनरूप मन के भ्रम से मुक्ति पाने के लिये उपाय एकमात्र-शास्त्र और ब्रह्मनिष्ठ-आत्मज्ञानी सद्गुरु के द्वारा प्राप्त यथार्थ ज्ञान है। **''ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः''**, **''ज्ञानादेव तु (कैवल्यम्ः विमुच्यते)।।''** (यो.त-16), **''वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः। ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे''** (मु. 3.2.6), **''स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।।''** (मु. 3.2.9) ज्ञान के बिना किसी की मुक्ति नहीं हो सकती। वेदान्त के विचार से उत्पन्न विज्ञान के द्वारा जिन्होंने ज्ञातव्य परमात्मा का भली-भाँति से निश्चय कर लिया है, वे (ब्रह्मनिष्ठ-स्वरूप) संन्यास योग

से युक्त विशुद्धान्तःकरणवाले पुरुष ब्रह्मलोक में शरीर त्यागते समय अत्यन्त उत्कृष्ट, अमरणधर्मी ब्रह्मभाव को प्राप्त-कर लेते हैं और फिर वे सभी ओर से मुक्त हो जाते हैं। लोक में जो कोई उस ब्रह्मतत्त्व को जान लेते हैं; वे ब्रह्म ही हो जाते हैं। "**यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि। दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः। मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय। तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति।।**" (मु. 2.2.7), "**भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।।**", "**हिरण्ममये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्। तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः**" (मु.2. 2.9/10) यह जो सर्वज्ञ और सर्ववित् है ओर जिसकी यह प्रसिद्ध विभूति भूलोक में स्थित है; वह यह आत्मा दिव्य ब्रह्मपुर हृदयाकाश में विद्यमान है। वह मनोमय तथा प्राण और सूक्ष्म-शरीर को एक स्थूल देह से ले जाने वाला पुरुष हृदय में रहकर अन्नमय शरीर में स्थित है। जो कि सम्पूर्ण अनर्थ-दुःखादि से रहित आनन्दस्वरूप अमृत ब्रह्मतत्त्व प्रकाशित हो रहा है। जो (कारणरूप से पर और कार्यरूप से अपर है) वह परापर ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार हो जाने पर इस जीवकी आत्मानात्माध्यासरूप अथवा कर्मों की बीजरूप संस्कारों की हृदय की ग्रन्थि टूट जाती है। ज्ञेय पदार्थ विषयक सम्पूर्ण संदेह नष्ट हो जाते हैं। और इसके सभी कर्म क्षीण हो जाते हैं। रह गयी प्रारब्ध फलाभिमुखी (जो फल देने में तत्पर हैं) कर्मसंस्कारों की बात। उसमें भी कुछ विद्वानों का मानना है:- प्रारब्ध कर्मों का फल भोग करने पर ही समाप्त होता है, अतः आत्मज्ञानी को भी, जीवन्मुक्त पुरुष को भी जबतक प्रारब्ध शेष तबतक-शारीरिक-मानसिक कर्म भोगों को भोगना ही पड़ेगा और कुछ विद्वानों की दृष्टि में आत्मसाक्षात्कार करके स्वप्रकाश ज्योतिर्मय स्वरूप में बुद्धिवृत्ति स्थित हो गयी है, ऐसे महापुरुषों के दृष्टि में न शरीर है, न प्रारब्ध और न आत्मा के अतिरिक्त यह भयावह संसार ही रह जाता है, जिसे भोग करना ही पड़े। "**नेह नानास्ति किंचन**" (बृ-4.4.19), "**अदृश्यमव्यवहार्य-मग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं**" (मां-7), "**एकमेवाद्वितीयम्**" (छा-6.2.1) इत्यादि श्रुति वाक्य हैं। स्मृति का भी यह मत है:- "**न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः। न कर्मफलसंयोगः स्वभावस्तु प्रवर्तते।।**" (गी. 5.14), "**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते।।**" (13.31), "**वर्तमानेऽपि देहेऽस्मिञ्छायावदनुवर्तिनि। अहंताममताभावो जीवन्मुक्तस्य लक्षणम्।।**" (वि. चू. 4.32), "**एवं विदेहकैवल्यं सन्मात्रत्वमखण्डितम्, ब्रह्मभावं प्रपद्यैष यतिर्नावर्तते पुनः।।**" इत्यादि श्रुति-स्मृति द्वारा प्राप्त ज्ञान में अवस्थित हो जाना ही भवबन्धन से मुक्ति है।

107-स्नेहाधिष्ठानवर्त्यग्नि संयोगो यावदीयते।

ततो दीपस्य दीपत्वमेवं देहकृतो भवः।।

रजःसत्त्वतमोवृत्त्या जायतेऽथ विनश्यति।। 12.5.7।।

108-न तत्रात्मा स्वयं ज्योतिर्यो व्यक्ताव्यक्तयोः परः।

आकाश इव चाधारो ध्रुवोऽनन्तोपमस्ततः।। 12.5.8।।

जब तक तेल, दीया, बत्ती और अग्नि का संयोग रहता है, तभी तक दीपक में दीपकपना है; वैसे हीः- उनके ही समान जबतक आत्मा का (जीवात्माका) कर्म, मन, शरीर और इनमें रहने वाले चैतन्याध्यास के साथ सम्बन्ध रहता है; तभी तक उसे जन्म-मृत्यु के चक्र संसार में भटकना पड़ता है और रजोगुण, सत्त्वगुण तथा तमोगुण की वृत्तियों से उसे उत्पन्न, स्थित एवं विनष्ट होना पड़ता है। परन्तु जैसे दीपक के बुझ जाने पर भी तेज का विनाश नहीं होता, वैसे ही संसार का नाश हो जाने पर भी स्वयं-प्रकाश आत्मा का नाश नहीं होता। क्योंकि वह कार्य और कारण, व्यक्त और अव्यक्त इन सब से भिन्न है (रहित है) वह अनन्त है। सच-मुच आत्मा की उपमा; आत्मा ही है दूसरा नहीं हो सकती।

तात्पर्य अर्थ-

जन्म-मृत्यु के सुख-दुःख का कारण है-शुभाशुभ कर्मों के मनः स्थित संस्कार, ये संस्कार जबतक मन (अन्तःकरण) में रहते हैं, तबतक कर्मों का फलरूप-जन्म-मृत्यु और उसके कारण होने वाले सुख-दुःखादि से मुक्ति पाना असम्भव है। संस्कारों के विनाश के लिये ज्ञानाग्नि और विषयों से दृढ़ विवेकपूर्वक वैराग्य की महती आवश्यकता है। वैसे तो श्रुति-स्मृतियों के अनुसार आत्मा स्वयं प्रकाश, अजन्मा-अविनाशी, अद्वितीय है। "**न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे**" (गी.2.20) "**य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः।।**" (छा. उ. 8.7.1) अर्थात्- जो आत्मा पाप से रहित है, शारीरिक धर्म-जन्म-मृत्यु, बाल्य, कौमार, वृद्ध एवं आधि-व्याधि आदि है, मनका धर्म-सुख-दुःख, शोक-चिन्ता नाना विध कल्पनादि है और भूख-प्यास, चलना-धावना, उठना-बैठना, बोलना आदि क्रिया प्राण का धर्म है। उक्त विकारों से रहित-सत्यकाम सत्यसंकल्परूप आत्मा को जानने-समझने के लिये प्रयत्न करना चाहिये। वह आत्मा स्वयं से भिन्न नहीं; अभिन्न है, समरूप से सर्वत्र, सदा है, सदा रहेगा। "**अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्। विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति।।**" (गी. 2.17) "**य**

एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्। उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।।'' (गी. 2.19)

हे अर्जुन! अविनाशी तो उसको जान, जिससे सम्पूर्ण संसार व्याप्त है। इस अविनाशी का विनाश कोई भी कभी भी नहीं कर सकते; क्योंकि यह आत्मा (चैतन्य) व्यय रहित-अव्यय और शाश्वत है। **''अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे''**, **''यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः।।''** ई.उ.7।

विद्यागुरु- श्री स्वामी रामानन्द सरस्वती जी, ओंकारेश्वर।

पुस्तक प्राप्ति स्थान-

श्री अद्वैत साधना कुटीर
विस्थापित-निर्मल ब्लॉक बी-II
प्लाट नं0 151, पो0 वीरभद्र, ऋषिकेश

साधना सदन
शंकराचार्य चौक के निकट, कनखल, हरिद्वार

सत्यं साधना कुटीर
वार्ड नं0 3, पो0 कैलास गेट, मुनि की रेती,
ऋषिकेश-249137 (उत्तराखण्ड)

मूल्य- 500/-